

भाग १

मधुर रस

स्वरूप
और
विकास

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली ६

पटना ६

मधुर रस सैद्धान्तिक विवेचन

३

पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध (१९६४ ई०)

मधुर रस

स्वरूप

और

विकास

मूल्य ₹० १८ ००



© डा० रामस्वाय चौधरी अभिनव

प्रथम संस्करण

१९६८



प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली ६



मुद्रक

नवीन प्रस दिल्ली ६



आवरण सजा

रिफार्मा स्टुडियो दिल्ली ६

‘पिवतु सोम्य मधु’

‘समुद्राद्भूमिमधुमां उदारवुषांशुना सममृतत्वमानत ।’

—ऋग्वे

‘स एव रसाना रसतम परम परार्थे ।’

—छान्दोग्योपनिषद्

‘रसो व स । रसश्च ह्येवाय लब्धवानदी भवति । एष
ह्येवान्दधति ।’

—तत्तिरीयोपनिषद्

‘एकाकी नारमत आत्मान द्वेधा व्यभजत् पतिश्च पत्नी
चाभवत् ।’

—वेदीपनिषद्

मुह्यरसेषु पुरा य सक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगव भवितरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुर ॥

—श्री रूपगोस्वामी

हम तुम बीच नया नहि कोई ।

तुमहि सो कन्त नारि हम सोई ॥

—सन्त कबीर

प्रकृति पुरुष का प्रणय निवेदन,
जोष ब्रह्म का प्रेमोल्लास !
भवत भामिनी औ भगवन् का
शाश्वत आनन्द-केलि विलास !।

मधुराख्या रस-आदि, सुधाणव,
अति दुलभ दुग्धम्य महान् !
तुम्हें समर्पित है श्री राधे !
देवि, प्रिया, सहचरी ! प्राण !।

तुम्हारा ही—
'अमिनव'

भारतीय वाङ्मय का विपुल साहित्य भाण्डार आदि रसात्मक निचा भक्ति रस राट मधुर रस से ओत प्रोत है। विभिन्न युगों के अन्तर्गत विविध धर्म साधना मार्गों के साहित्य में मधुर रस का जसा वन्यपूर्ण स्वरूप विधान किया गया है—वह अत्यन्त दुर्लभ है। साधकों सतो एव भक्तों ने अपनी अमरवाणियों में प्रकृति और पुरुष की प्रणय लीला जीवात्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय और प्रमोदलास तथा भक्त भावनी और भगवान् के सास्वत आनन्द के लिये विलास की जसी मामिक अभियोजना की है उन्हें देखते हुए सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इनके अन्तर्गत जिस निर्व्य मनोराग की शक्ति उदभावनाएँ की गयी हैं—उनका मूलभूत रस क्या है ? इसे देवविषयक रति जय भाव कहना या अलौकिक शृंगार मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि जिसमें सवसा एव स्वतन्त्र रस की सिद्धि के सारे तत्त्व विद्यमान हैं तथा रसास्वाद कराने की अप्रतिम क्षमता हो—उसे मात्र भाव कहना असंगत-सा प्रतीत होता है। इसी तरह शृंगार के पीछे 'अलौकिक' विनयन के जोड़ देने से भी सतोष नहीं होता क्योंकि इसकी अपनी सीमाएँ हैं जो भक्ति रस राट मधुर रस से उसी तरह एकदम मेल नहीं खाती जिस तरह मानव के पीछे अति या अलौकिक विनयन जोड़ देने से वह ब्रह्म का पर्याय नहीं बन सकता। प्रस्तुत शोध प्रबंध इही जिज्ञासाओं की मधुर परिणति है।

विषय का उद्बोधन

मधुर रस मानव मन की सहज वृत्ति की सर्वोत्तम परिणति है। यह भक्त और भगवान् ब्रह्म और उसकी शक्तियों के पारस्परिक मधुर भाव वधन की उत्कृष्टतम अभिव्यञ्जना है। इस मधुर रस की सम्प्राप्ति के लिए अनुरागी मन की आतुरता, उसके निस्सीम आनन्द पयोनिधि में निमग्न होकर सन्तत रसास्वादन करने की आकांक्षा सभी देसा और सभी कालों में पायी जाती है। इसके उद्बोधन के लिए मादुक भक्तों एव सन्तों द्वारा ब्रह्म की ऐश्वर्य माधुरी के साथ साथ उसकी लीला माधुरी की बड़ी ही कोमल एव कमनीय कल्पना की गयी है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सत्तुविध पुरुषार्थ के अतिरिक्त प्रेमा पुनर्था 'महान्' की महनीय उद्भावना की गयी है।

भगवान् की यह लीला क्या है ? इसका रहस्य क्या है ? यह मतलाना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह स्वयं ही रहस्य भी है और उसका समाधान भी, साधन भी है और साध्य भी। इसका मधुर आस्वाद गूँगे के गुड़ के स्वाद के समान अनिर्वचनीय अर्थात् केवल अनुभवैवगम्य है। इसकी जानने के लिए प्रेम वृष्टि अपेक्षित है जिससे बेलने पर ज्ञान द्वारा अगम्य ब्रह्म प्रेम

सम्बन्धों द्वारा प्रत्यक्षानुभूत होती है। इनमें भोग और भक्ति दोनों का ही दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य (मधुर) भाव के सम्बन्ध प्रमुख माने गये हैं। इन पाँच प्रकार के सम्बन्धों में आत्म समर्पण भाव का चरमोत्कर्ष, अनन्य प्रमासक्ति और अतिगंभीर अंतरंगता के विचार से दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा गया है। इसी के अनुसार क्रमशः शांता, प्रीति, प्रेयसी, अनुकम्पा और कांता—पाँच प्रकार की भगवद्विषयक रति होती है। 'जहाँ तक जड़-जगत् का विषय है इनमें गान्ता रति सबसे खेद है और फिर बाकी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कांता विषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़ विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत है क्या चीज? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान की छाया है जो माया के दण्ड में प्रतिफलित हुई है—'या जग की परछाँह री माया दरपन बीच। अब अगर दण्ड की परछाँह की जाँच की जाए तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। "जड़ जगत में जो सबसे नीची है वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगार रस जो जड़-जगत् में सबसे निकृष्ट है वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर मधुर रस हो जाता है। (मध्यकालीन धर्म साधना ६० पृ० ६० पृ० २५२ २५३)।

साध्य यह है कि प्रेम लौकिक प्रीति का विषय बन जाने पर जड़ोन्मुख हो जाता है। फलतः कांताभाव की रति में जडासक्ति का ही चरमोत्कर्ष होता है। किन्तु वही प्रेम जब विमूर्त होकर भगवत् प्रीति का विषय बन जाता है तब वह सर्वश्रेष्ठ उज्ज्वल रस किंवा मधुर रस के नाम से प्रतिष्ठित होता है।

उपयुक्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा और परमात्मा का सहज विलास भक्त रूपी प्रेयसी और भगवान रूपी प्रियतम की चिरन्तन प्रणय कल लीला ही मधुर रस का उत्सव है। वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक विभिन्न साधना मार्गों द्वारा इसी रहस्यमय आवि रस की आनन्दानुभूति को अनेक प्रकार से अभि योजित करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल (७वीं सदी से १८वीं सदी तक) के साधना क्षत्र में कई आंतरिक एवं बाह्य कारणों से एक बहुत ही वीर्यवती भाव जाति के दग्न होते हैं जिससे प्रभावित होकर कवि कलाकार साधक सभी एक अभिनव सृष्टि में सरगन खिलवायी पड़ते हैं। यह 'अभिनव सृष्टि' ब्रह्मा और उनकी शक्तिमयी की गतस रहस्यमय प्रेम लीलाओं से आत प्रीति है यह भक्त प्रेयसी और परमपुरुष की आनन्द केलि और प्रणय विलास से परिपूर्ण है। भगवान के इसी मानुषमण्डित स्वरूप को अपूर्व मानवीय रस से अभिविचित कर माना धर्म साधनाओं के साधक न अपने अपने साम्प्रदायिक मिद्धातो के अनुकूल बनाकर उपस्थित किया है। इन रस सिद्ध साधकों ने ब्रह्मा और उनकी शक्तियों की आनन्दमय रस मय और मधुमय प्रेम लीलाओं को अपनी साधना का केन्द्र बिन्दु बनाकर तथा उस अपूर्व लीला रस के आस्वात् को परम काय मानकर जिस विलक्षण साधना साहित्य की सृष्टि की है वह अनायास ही सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का कण्ठहार बन गया है तथा अपनी व्यापकता में स्पर्शिता एवं रसमयता के कारण परमोच्चाल मधुर रस का महानव बन गया है।

विषय की रहस्यमयता और स्वसंवेद्यता

आत्म विस्मरणकारी परमोत्सासमय अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का सा लीभूत होकर परमात्मा से एकमेव हो जाना एक ऐसी अनन्य असाधारण भाव दशा है जो वाणी ने पारे है। यह भाषा की अपेक्षा नहीं रखती अपितु भाषा स्वयं इसका अनुगमन कर सार्यक बनती है और लौकिक अर्थों का स्तरा को भेद कर पारलौकिक अर्थों का अभिव्यजन करने लगती है। इस विषय स्थिति में भाषा की मात्र शक्ति का द्योतन होता है। प्रमत्त रस रमिक साधकों ने अपनी वाणिष्य में भाषा के इसी स्वरूप को प्रवर्णित किया है जिसके आधार पर उन्हें वाणी के बादगाह की उपाधि से विभूषित किया गया है और उनकी वाणिष्यों की साहित्य रसिकों द्वारा अलौकिक वाक्यान्त का आस्वादन करनेवाला भी माना गया है।

अति गुह्य एवं रहस्यमय मधुर रस की अन्तरंग साधना में अतीविक्रम प्रणयानुभूति की अभिव्यजना के लिए लौकिक प्रमत्त प्रतीकों का विचार किया जाता है। अतएव व्यक्तिगत रूप में दीक्षित साधक ही इस अन्तरंग राग साधना के अधिकारी माने गये हैं। अनधिकारा व्यक्तियों का हाथों में पड़कर प्राणियों की वचन विमर्श करनेवाला राग साधना के ऊर्ध्वगत उन्मत्त गिरार से च्युत होकर जीव के भव वचन का कारण बन जाता है। इसीलिए इस मधुर भाव-साधना की तुलना सिंहनी के दूध से की गई है जो या तो मिह गावक के मह में ठहरता है अथवा हिरण्य पात्र में दूसरे किसी पात्र में पड़ते ही वह पट जाता है। इसी कारणों से मन्त्र रस की अन्तरंग साधना में अधिकार भेदवाद को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और यह परमगुह्यता एवं रहस्यमयता के आवरण के भीतर ही विवक्षित हुई है। रससिद्ध सत्ता एक भवतो ने सच्चे जिज्ञासु एवं पारस्त्री के सामने ही इस रस विषय के रहस्य के उद्घाटन करने का आदेश दिया है। रसिकाचार्यों ने तो अत्यन्त सम्पन्नवालों और अत्यन्त दृष्टदेवोपासकों तक को ब्रह्म और उनकी शक्तियों की इस एकात्मिकी मधुर प्रमलीला के सम्बन्ध में कुछ कहना सुनना विषिद्ध माना है।

विषय की मौलिकता

मधुर रस साधना के ऐतिहासिक विकासक्रम की परम्परा अति प्राचीन है। इस विंगाल देग का अतगत जन बीड शक, शाक्त, सिद्ध, नाथ, अण्णव, सूफी सत्त आदि विविध साधना मार्गों की आध्यात्मिक प्रमत्त साधना के क्षेत्र में शक्तिमान और उसकी शक्तियों के पारस्परिक प्रणय विलास के आधार पर विपुल साहित्य भाण्डार की सृष्टि की गयी है। किन्तु इस विपुल साहित्य भाण्डार का अतगत जिस अलौकिक रस तत्त्व का विराट आयोजन किया गया है अभी तक न तो उसके स्वरूप पर सम्यक रूप से विचार किया गया है और न इस रस साधना की ऐतिहासिक क्रम परिणति के भ्रान्तिक पर्यालोचन करने का ही कोई स्थित प्रयास हुआ है। भारतीय मनोपात्र का इस बहुत बड़ अभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने ठीक ही लिखा है कि 'रस तत्त्व का विवेचन और रस साधना का सम्यक आलोचन अभी तक कहीं ठीक प्रकार से हुआ है ऐसा प्रतीत नहीं होता। भारत के बाहर आध्यात्मिक साहित्य की विवेचना का प्रसंग में तो इस प्रकार का उद्यम तक दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ के आध्यात्मिक साहित्य की अवस्था भी

प्राप इसी प्रकार की है। प्रारम्भिक और परस्पर असम्बद्ध आलोचना विभिन्न प्रसंगों में 'यूनायिक मात्रा' में अवश्य हुई है, परन्तु पूर्वापर सगति का सरक्षण करते हुए विशेष पर्यालोचन का सूत्रपात भी अभी तक नहीं हुआ।" (राममनिन म रसिक सम्प्रदाय की भूमिका, पृ० १)।

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय भगवत्-स्वरूप प्रथम से जोत प्रोत है। परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से शक्तिमान् और उनकी शक्तियों की छादवत प्रणय-नेलि से सम्बन्धित अति मूल्यवान् और समृद्ध साहित्य की सुग्रीव परम्परा भी विद्यमान है। फिर भी संस्कृत व साहित्याचार्यों ने आध्यात्मिक प्रेम साधना से परिपूर्ण रागि रागि साहित्य की रमणीयता, सरसता और रस चक्षुषता की ओर ध्यान ही नहीं दिया और जिन्होंने ध्यान दिया भी उन्होंने इसमें वर्णित मधुर रस को देवता विषयक रसि कह कर या तो भाव-काटि में ही निविष्ट कर दिया या स्मृति, भक्ति, धृति और उत्साह भावों में ही इसका अन्तर्भाव दिखलाकर शान्त रस में समाविष्ट कर दिया—'अतएव ईश्वर प्रणिधान विषये भक्ति श्रद्धा स्मृति मति धृत्युसाहानु प्रविष्टेभ्योऽप्यस्य आरगमिनि न तथा पथप्रसस्त्वन गणनम्' (नाट्यशास्त्र भरतमुनि)।

संस्कृत के माहिम शास्त्र प्रणेताओं में आचार्य रुद्र ने ही सबसे प्रथम स्नेह प्रवृत्ति प्रेमान् कहकर 'प्रेमान्' नामक नवीन रस की उदभासना की और 'रनेह' को उसका स्थायीभाव माना—

शृंगार वीर करुणा बीभत्स भयानकावभुता हास्य ।

रौर शात प्रेयानिति मत्तव्या रसा सर्वे ॥

(काव्यालङ्कार रुद्रट, १२/३)

आचार्य रुद्र के पञ्चादभावी आचार्यों में स अभिनवगुप्त हमचन्द्र छान्दोग्य धनजय, भोज, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने तो भक्तिरस का अर्थ रसा में अन्तर्भाव किया कर उसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में मानने से अस्वीकार ही कर दिया।

किसी नवीन तथ्य को स्वीकार करने में परम्परा का व्यामोह जितने प्रबल रूप में बाधक बनकर खड़ा हो जाता है यह संस्कृत काव्य शास्त्र व अंतिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ के एतद्विषयक द्विधात्मक मन्तव्य से सुस्पष्ट है। उन्होंने भगवान् को भक्तिरस का आलम्बन, पुराणादि धर्म-ग्रन्थों के पञ्च-माठन-श्रवणादि की उद्दीपन रोमांच, अध्रुपातादि की अनुभाव, हर्षादि की सचारी भाव तथा भगवदविषयक प्रथम रूप भक्ति को स्थायीभाव स्वीकार करते हुए भी भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में मानने से अस्वीकार कर दिया है जिसका गनानुगनिकतावाच को छोड़कर और कोई दूसरा बौद्धिक आधार नही है। यह उनके स्वक्षयन से ही स्पष्ट है—

'अथ कथमेतएव रसा । भगवदालम्बनस्य रोमाचाध्रुपातान्निभुभावितस्य हर्षान्तिमि पोषितस्य, भागवतादि पुराण श्रवण समय भगवद्भक्तानुभूतमानस्य भक्तिरसस्य दुरपलब्धत्वात् । भगवन्पुराणरूपामन्त्रिचित्रा स्यादभिभाव । य चासौ शास्त्रे तर्भावमहं अनुशास्य चराम्य विरुद्धत्वात् । उच्यते—अस्मीदेषानिविषयवति चैन आवास्तगततया रसत्वा नुपपत्तेरिति ।'

भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय बष्णव आचार्यों को है। उन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र बष्णव रसशास्त्र का प्रणयन कर भक्तिरस की स्थापना करने का साधु प्रयास किया है। किन्तु इस सिद्धि में उनका दृष्टिकोण काव्यशास्त्रीय न होकर साम्प्रदायिक अधिक रहा है। भगवत्प्राप्ति के चतुर्विध साधनों में भक्ति की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हुए उन्होंने सामान्य रूप से भक्तिरस का विवेचन किया है।

आचार्य मधुसूदन ने भगवद् भक्तिरसायन नामक ग्रन्थ में भक्तिरस को स्वतन्त्र रस सिद्ध करते हुए लिखा है कि 'अयं रसो वे सदा भक्ति मी विभावानि से युक्त होकर चित्ररूपवद् रसत्व को प्राप्त होती है। वास्तव में अयं देवतानि से सम्बन्धित हो जाने पर यह अलौकिक आनन्ददायिनी रति भक्तिरस में परिणत हो जाती है। कान्तादिविषयक रसों में पूर्ण सुख स्पर्श नहीं होने के कारण रसत्व का यथेष्ट रूपेण पोषण नहीं होता। इससे भिन्न भक्तिरस नितांत सुखमय होता है। अतएव लौकिक दुःख रसों से परिपूर्णरसा भगवन्ति वसी ही बलवती है जसो खद्योतो मे आन्तर्य की प्रभा —

रसातर विभावानि सकीर्ण भगवद् रति ।

चित्ररूपवद् द्वाहप्रसतां प्रतिपद्यते ॥

रतिर्देवादिविषया ध्येभिचारी तथार्जित ।

भाष प्रोक्तो रसो मेति यदुक्त रसकोविद ॥

देवातरपु जीवत्वात् परानन्द प्रकाशनात् ।

तद्योय—परमानन्द रूपेण परमात्मनि ॥

कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम् ।

रसत्व पुष्यते पूण सुखास्पशित्व कारणात् ॥

परिपूर्णरसा क्षद्वरसेभ्यो भगवद्भक्ति ।

खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवतरात् ॥

(भ भ० र मधुसूदन सरस्वती)

भगवत् की श्रीधरी टीका भावाधदीपिका में भी सामान्य रूप से अयं रसो के साथ भक्तिरस का उल्लेख किया गया है—

रौगदभतो व शृङ्गारा हास्य वीरोदयस्तथा ।

भयानकरच बीभत्स नात सप्रेमभक्तिक ॥

चनयदेव के समकालीन और परवर्ती हृदावन स्थित षट् गोस्वामियों एवं गोडीय बष्णव मत के अन्य बष्णव आचार्यों ने सामान्य रूप से भक्तिरस और विनय रूप से मधुर रस को स्वतन्त्र रस के रूप में स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। गोडीय बष्णव मत के साम्प्रदायिक सिद्धान्ता आचार्यों एवं धर्म विश्वासियों को शास्त्रीय एवं लोक-सम्मत रूप प्रदान करने वाले बष्णव आचार्य भक्तिशास्त्र और काव्यशास्त्र के ममज्ञ थे। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन संस्कृत रसशास्त्र के आधार पर बष्णव रसशास्त्र का प्रणयन किया तथा राधा कृष्ण की प्रेम लीला को प्रमुख प्रतिपाद्य बनाकर मधुर रस को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का महनीय प्रयास किया। भगवद्भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या करने वाले

गौणीय वण्णव आचार्यों का प्रमुख उद्देश्य भक्ति शास्त्र का सुवर्धित और बौद्धिक रूप प्रस्तुत करना था। वे साहित्य शास्त्र, व्याकरण, अल्फार म्मृति आदि विषयों को हरिमय बनाना चाहते थे। वे ज्ञान को भक्ति का अनुगत बनाने पर उपस्थित करना चाहते थे। अतएव भगवत्प्रम के पुरस्कर्ता वण्णव आचार्यों ने जिन वण्णव रस ग्रंथों का प्रणयन किया है वे सस्वृत साहित्य में नई धारणीय चिन्तन पद्धति का सघन बनाने हैं।

भक्ति रस के विवेचन की दृष्टि से रूपगोस्वामी कृत हरिमयि रसामृतसिन्धु और उसकी जीवगोस्वामी-कृत दुग्म सगमनी मुकुन्ददास गोस्वामी कृत अथरत्नास्पदीपिका और विद्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'भक्ति सार प्रणिनी टीकाए उल्लेखनीय हैं।

भक्तिरस या मधुर रस के विवेचन की दृष्टि से रूपगोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि और उसकी जीवगोस्वामी-कृत लोचनरोचिनी और विद्वनाथ चक्रवर्ती कृत आनन्द चन्द्रिका या उज्ज्वल नीलमणिविरण नामक टीकाएँ विशेष निर्देश्य हैं।

मधुर रसविषयक उपयुक्त दो महान् विवेचनात्मक रस ग्रंथों के अतिरिक्त जीव गोस्वामी कृत पद सद्म कृष्णदास कविराज कृत चतय चरितामृत कण्ठूर कृत अलवार कौस्तुभ मरुत्तमदास कृत प्रम भक्ति चन्द्रिका, नारायण भट्ट कृत भक्ति रसतरंगिणी विद्वनाथ चक्रवर्ती कृत भक्ति रसामृतसिन्धु विन्दु और माधुय कालम्बनी में भी मधुर रस की विवेचना की गई है।

उपयुक्त गौडीय वण्णवाचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथों में यद्यपि सबप्रथम भक्ति चिन्ता मधुर रस को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है तथापि भक्ति के क्षेत्र में केवल राधा कृष्ण की प्रेम लीला को ही ध्यान में रखकर रस मीमांसा करने के कारण वह बहुत कुछ साम्प्रदायिक एवं एकांगी जसा प्रतीत होता है।

गौडीय वण्णवाचार्यों के अनिरिक्त निम्बाक सम्प्रदाय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय के माधुरसोपासक भक्त्याचार्यों ने भी प्रासंगिक रूप में मधुर रस के प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। हाँकि मधुर भाव को इन भक्त्याचार्यों का उद्देश्य मधुर रस की मीमांसा करने की अपेक्षा राधा कृष्ण की मधुर प्रेम-लीला का आकर्षण करना ही प्रमुख रहा है। इस दृष्टि से निम्बाक सम्प्रदाय के माधुरसोपासक श्री भट्ट कृत जुगलसतक निम्बाक सम्प्रदाय के भीतर 'रसिक सम्प्रदाय' नामक शाखा के प्रवर्तक हरिभासजी कृत महावानी (जुगलसतक का भाष्य ग्रन्थ), स्वामी हरिदास कृत केलिमाग राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हिनहरिवंशी रचित राधा मुधानिधि श्री वास रचित वास वाणी (द्वितीय खंड) विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ रत्न हैं।

राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय के रसिकाचार्यों ने भी अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना की है जिनमें प्रसंगानुसार मधुर रस का निरूपण किया गया है। ऐसे ग्रंथों में श्रीहनुमत संहिता अग्रदास रचित ध्यान मञ्जरी और शृंगार रस सागर मधुराचार्य-कृत श्री मुन्दर मणि सद्म और माधुय कलि कालम्बनी श्री रसिकजली कृत सिद्धांत मुक्तावली कृपानिवाम-कृत 'रस सार ग्रंथ' श्री रामचरणदास-कृत रसमालिका श्री जीवाराम जुगल प्रिया कृत शृंगार रस रहस्य महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि गौडीय वण्णव आचार्यों के समान मधुर भाव की उपासना करने वाले वण्णवाचार्यों ने मधुर रस की शास्त्रीय

मीमांसा करने का कोई विधिवत प्रयास नहीं किया है। इस प्रकार हिंदी के ब्रह्मण्य साहित्य में भक्ति किया मधुर रस की शास्त्रीय व्याख्या करने वाले रस ग्रंथ का एक प्रकार से अभाव ही है।

आधुनिक युग के युग प्रवृत्त साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक नामक ग्रंथ में रसो का नामोल्लेख करते हुए शृंगार हास्य कृष्णा रीति वार भयानक अदभुत बीभत्स इन रसो के अनिरिक्त सत्य वात्सल्य प्रेमोत्तम वा आनन्द व गाय भक्ति वा दास्य प्रेम वा माधुर्य रस का उल्लेख किया है। हिंदी के आधुनिक काव्य ग्रास्त्रिया न भी प्रसंगवत् यत्र तत्र भक्ति रस को स्वतंत्र रस माने जाने का समयन किया है। पं० रामचंद्र मिश्र ने भक्तिरस की आस्वाद्य योग्यता की चर्चा करते हुए लिखा है कि भारतीय साधु मता ने भक्ति का जो रूप खड़ा किया है वह साङ्गोपाङ्ग है। शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्तिरस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रस ज्ञी में आने के उपयुक्त है। भक्ति रस के विरुद्ध जितने तर्क हैं वे निमर हैं। (काव्य दर्पण अभिनव साहित्य शास्त्र पृ० २८६) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भक्ति रस की स्वतंत्र सत्ता एवं सर्वोत्कृष्टता का निर्देश करते हुए कहा है कि भक्ति रस के अतिरिक्त दूसरा कौन रस है जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति यथातथ्य हो सके? काव्य प्रयोगकार ने जो व्यापक लक्षण रस के बतलाये थे उसके आधार से विचार करने पर भी भक्ति रस का स्थान उच्च ही नहीं उच्चतर सिद्ध हुआ। भक्ति साहित्य भी किसी रस से अल्प नहीं हिंदी ससार में तो सन्तो की वाणियो ने उनका भंडार भली भाँति भर दिया है। (रस बलम पृ० २१६ २१६) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने संस्कृत साहित्य के इतिहास (पृ० ६८ ७१) में भक्ति रस की निर्बाध आस्वाद्य-योग्यता एवं स्वतंत्र सत्ता का समयन करते हुए इसकी रस सिद्धि पर जोर दिया है। बाबू गुलाबराय ने अपने नव रस नामक रस ग्रंथ के तेरहवें अध्याय में नवरसेतर रसो की चर्चा के प्रसंग में भक्ति रस का उल्लेख किया है। डा० आनन्दप्रसाद दीक्षित ने अपने रस ग्रंथ रस सिद्धान्त स्वरूप विस्लेषण (पृ० २६४) में भक्ति रस विषयक विविध लक्षण-आत्मक एवं मण्डनात्मक विचारों का परिचयात्मक विवरण देते हुए अंत में मराठी विद्वान डा० बाटवे के विचार का समयन करते हुए लिखा है कि भक्ति रस के समान आस्वाद्य मो तोषकारक बहुजनमुक्त वाङ्मय परिपुष्ट व संस्कृत साहित्यशास्त्र तथा मानस शास्त्र की कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरने वाला रस न मानने का कोई कारण नहीं है।

हिन्दी के उपयुक्त रस विवचकों के अनिरिक्त विषय भाव हिंदी-आलोचकों ने अपने अपने आलोचना ग्रंथों में भक्तिरस को एक स्वतंत्र रस के रूप में माने जाने का अनुमोदन किया है। डा० नगेन्द्र के मतानुसार साधारण व्यक्ति के लिए देवादि विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाती, क्योंकि उसका आलम्बन परोक्ष एवं अमूर्त है परंतु यह मनोविकार रस परिणति में असमर्थ है एरुदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मोरार मूलसी की भक्ति रस दशा को प्राप्त नहीं कर सकी थी यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है। (रीतिकाम्य की भूमिका पृ० ७ ७१) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार आत्मा जिस रस का अनुभव करता है वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस है जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से रसास्वादन करते हैं। मधुर रस उन्नीस का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप

है।' (मध्यकालीन घम साधना पृ० २१६)

इस प्रकार हिंदी के आधुनिक रस विवेचकों एवं आलोचकों ने अपने अपने ग्रंथों में प्रासंगिक रूप से ही यथास्थान भक्ति अथवा मधुर रस का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। हिंदीतर भाषाओं में यम भाषा के गोडीय वण्णव आचार्यों के अनिरवि मराठी विद्वान डा० वाटवे प्रो० द० के० केलकर रावजी मोडव, रा० प्रधान, रा० भागवत, रा० ग० म० मोरे, प्रो० श्री० नो० चापेकर प्रो० र० रा० देशपांडे, प्रो० श्री० ना० बनहट्टी, के० श्री० पागारकर तथा डा० मा० गो० दशमुख ने भक्तिरस की आस्वाद्य योग्यता और प्रभाव का विवचन करते हुए उसके एक स्वतंत्र परिपूर्ण रस माने जान का अनुमोदन किया है। डा० वाटवे ने अपने रस विमर्श नामक रस ग्रंथ के भक्ति रस प्रकरण में भगवद्रति स्थायीभाव पर मानस शास्त्र और साहित्य शास्त्र दोनों दृष्टियों से विचार करते हुए भक्ति रस को परिपूर्ण रस माना है। उनकी दृष्टि में भक्ति रस को स्वतंत्र रस नहीं मानने का एकमात्र कारण परम्पराभिमान है जो सदा उपेक्षणीय है। प्रो० केलकर ने भी अपने 'कायालोचन' में मानव सत्सृष्टि की विकास परम्परा से हो रही वाली भावनाओं में ईश्वर भक्ति की भावना को एक प्रबल भावना के रूप में स्वीकार किया है तथा इसके आधार पर भक्ति भाव को स्वतंत्र रस के आसन पर समासीन करने का समर्थन दिया है।

रस विवचन विषयक उपयुक्त ग्रंथों के अतिरिक्त कई ऐसे भक्ति साधनामूलक ग्रंथ हैं जिनमें प्रसंगिक यथास्थान मधुर रस की सक्षिप्त चर्चा की गई है। ऐसे ग्रंथों में डॉ० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का राधा वल्लभ सम्प्रदाय मिठात और साहित्य, गोस्वामी ललिता चरण का हितहरिवंश स्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, डा० रत्नकुमारी का १६वीं शती के हिंदी और बंगाली के वण्णव कवि, डा० रूपनारायण का ब्रजभाषा के वृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति, डा० मुधनेश्वरनाथ मिश्र माधव का रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना डा० भगवतीप्रसाद सिंह का रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय डा० प्रमोदपाल भीतरल का 'चतुर्थ मत और ब्रज साहित्य' डा० हुजाराप्रसाद द्विवेदी का मध्यकालीन घम साधना डा० रामपूजन तिवारी का ब्रजबुलि साहित्य, डा० सरला धुवल का 'हिन्दी सूफी कवि और काव्य', प० बलदेव उपाध्याय का भागवत सम्प्रदाय प० परशुराम धतुर्वेदी का 'मध्यकालीन प्रेम साधना ब्रह्मचारी बिहारी चरण का निम्बार्क माधुरी श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार का 'प्रेम दर्शन, डा० एस० के० डे का वण्णव कव्य एण्ड मूवमेंट्स इन बंगाल', श्री प्रह्लाद नरहर जोशी का मराठी साहित्यातील मधुराभक्ति आणि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में मधुरोपासना से सम्बंधित श्रीमती प्रमलता गर्मा (काशी) और श्रीमती उमावती (कलकत्ता विश्वविद्यालय) के गवेषणात्मक काव्य भी सराहनीय हैं।

ऊपर मधुर रस और उसकी साधना से सम्बंधित जितने काव्यशास्त्रीय आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक ग्रंथों का उल्लेख किया गया है उनमें से जहाँ तक मेरी जानकारी है किसी भी ग्रंथ में आधिकारिक विषय वस्तु के रूप में मधुर रस और उसकी साधना का प्रम बद्ध धार्मिक विवेचन नहीं किया गया है। जहाँ-वहाँ मधुर रस की भिन्न चर्चा की भी गई है तो प्रासंगिक विषय वस्तु के रूप में ही। हालाँकि अधिकांश विद्वानों ने भक्ति विवा

मधुर रस को परिपूर्ण रस के रूप में सिद्ध किया जाने का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है किन्तु विविध शास्त्रों के आधार पर उसने सद्भावनिक विवेचन द्वारा उसके स्वरूप निर्धारण तथा साधना साहित्य में उसके स्वरूप विकास के वृत्तान्त पर्यालोचन का प्रयास नहीं के बराबर ही हुआ है। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मधुर रस की जो थोड़ी बहुत चर्चा की गयी है वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की विभिन्नता एवं साधना में के कारण बहुत कुछ परस्पर असम्बद्ध और एकांगी है। आधुनिक विद्वानों ने भक्ति किंवा मधुर रस के प्रसंग में या तो मानस शास्त्र का सहारा लिया है या परम्परागत काव्यशास्त्र का। हमें भी विषय वस्तु के प्रतिपादन में एकांगिता एवं अपूर्णता का होना सचचा स्वाभाविक है। आलोचनात्मक एवं श्लेषणात्मक ग्रन्थों में यथास्थान भक्ति किंवा मधुर रस की किंचित चर्चा की गई है जिससे परिपूर्ण रस के रूप में इसकी सिद्धि नहीं हो पाई है। कछुव साधना मार्गों के साहित्य में मधुर रस साधना का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है वह विवेचनात्मकता की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उसमें भी पूर्वापर सगति के संरक्षण का कोई ध्यान नहीं दिया गया है। सारांश यह है कि अद्यावधि मधुर रस और उसकी साधना से सम्बन्धित जो भी सामग्री प्रकाश में आई है वह सचचा अपर्याप्त एकांगी एवं परस्पर असम्बद्ध होने के कारण प्रारम्भिक महत्त्व की भी मानी जा सकती है इसमें संदेह है।

प्रस्तुत 'गोध प्रबन्ध' की प्रथम मौलिकता यह है कि इसमें मैंने क्रमशः भक्ति शास्त्र मनोविज्ञान शास्त्र दर्शन शास्त्र और काव्यशास्त्र के आधार पर मधुर रस के स्वरूप की स्थापना की है तथा आधिकारिक विषय वस्तु के रूप में इसके सावयव निरूपण द्वारा इसे परिपूर्ण रस के रूप में ही नहीं अपितु भक्ति रमराज किंवा आदि रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है हिन्दी ही नहीं अपितु किसी भी भारतीय भाषा में विविध शास्त्रों के आधार पर इतने व्यापक रूप से भक्ति किंवा मधुर रस के सद्भावनिक विवेचन एवं स्वरूप निर्धारण का प्रयास नहीं किया गया है। इस दृष्टि से यह पहली कृति है जिसमें विविध शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर मधुर रस के स्वरूप का तात्त्विक निरूपण है।

इसकी दूसरी उल्लेखनीय मौलिकता यह है कि इसने द्वितीय भाग के तीन खण्डों में मधुर रस साधना की ऐतिहासिक क्रमपरिणति का सुस्पष्ट विवेचन किया गया है तथा विविध साधना पद्धतियों के हिन्दी साहित्य में पूर्वापर सगति का संरक्षण करते हुए मधुर रस साधना के स्वरूप विकास का विस्तृत पर्यालोचन किया गया है जिससे वर्तमान युग में लेकर मध्यकाल तक की मधुर रस साधना के विभिन्न रूपों का क्रमबद्ध इतिहास स्पष्ट हो जाता है। अबतक विभिन्न विद्वानों ने किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमित परिधि में ही मधुर रस साधना के स्वरूप का व्यष्टि रूप में प्रस्तुत करने का किंचित प्रयास किया है। प्रस्तुत 'गोध प्रबन्ध' में जन बौद्ध सिद्ध नाथ वज्रव शूफी और सन्त सम्प्रदायों के साधना साहित्य में मधुर रस के स्वरूप विकास को समष्टि रूप में समुपस्थित करने का प्रयास किया गया है। इन विशेषताओं को देखते हुए मधुर रस के तात्त्विक विवेचन तथा विविध साधन मार्गों के साधना साहित्य (हिन्दी) में मधुर रस के स्वरूप विधान की दृष्टि से प्रस्तुत 'गोध प्रबन्ध' प्रथम मौलिक प्रयास कहलाने का अधिकारी है।

विषय-वस्तु-विधान

प्रस्तुत सोप प्रबंध का विषय-वस्तु विधान दो भागों के अन्तर्गत सात खण्डों में किया गया है। प्रथम भाग के चार खण्डों में मधुर रस का तात्त्विक एवं सद्धान्तिक विवेचन है तथा दूसरे भाग के तीन खण्डों में मध्यकालीन हिंदी साधना साहित्य के विषय सन्दर्भ में उसने स्वरूप विकास का पर्यालोचन करते हुए मधुर रस की कायगत मौमासा की गई है।

प्रबंध का प्रथम खण्ड आचार्य मधु होते हुए भी विषय के स्वरूप प्रतिपादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योंकि मधुर रस का मूलधार भक्तिशास्त्र ही है। अतएव इस खंड में भक्तिशास्त्र के आधार पर भगवद्भक्ति के विविध भेदों का तात्त्विक विवेचन करते हुए प्रेम महाधन की ही भगवत्साधना का एकमात्र प्रयोजन-सत्त्व सिद्ध किया गया है जो भ्रमण, रति, प्रेम प्रणय मान, स्नेह राग अनुराग, भाव और महाभाव के रूप में बढ़ता जाता हुआ परमात्मक की प्राप्ति होता है और जीवात्मा या भक्त रूपी प्रेयसी और परमात्मा के दाम्पत्य भाव सम्बंध द्वारा भक्ति रमराज मधुर रस के रूप में परिणत हो जाता है।

द्वितीय खण्ड में मनोविज्ञान के आधार पर मधुर रस का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। मधुर रस भगवान् के प्रति भक्ति के मनोराग की उत्कृष्टतम परिणति है। मधुर रस की लोकोत्तर भावना में भावुक भक्त के मन की अन्तर्बाह्य क्रियाशीलता और सकल्प विकल्प की गतिविधियाँ विरत हो जाती हैं। अतएव कारण-काय-सम्बंध भाव से परे होने के कारण मधुर रस मनोविज्ञान की सीमा से दूर का विषय हो जाता है किन्तु जिन कारणों से निगुण, निराकार ब्रह्म को सगुण और साकार भगवान् बना पड़ता है उन्हीं कारणों से जीवात्मा अथवा भक्त रूपी प्रियतम के अलौकिक नियम प्रणय-लीला रस की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक प्रेम प्रतीकों की भी आवश्यकता पड़ती है। यही वह बिंदु है जहाँ मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा होती है। अतएव इस खंड में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की मूल वृत्ति काम व भक्ति के रूप में रूपांतरित होने और मधुर रस के रूप में आस्वाद्य बन जाने की विपद विवेचना की गई है।

तृतीय खण्ड अथ खण्डों की अपेक्षा विस्तृत एवं विविधतापूर्ण है क्योंकि इसमें विभिन्न साधना पद्धतियाँ एवं धर्म-सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर जीव जगत और ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक सम्बंध की स्थापना है। उपासक अपने उपास्य के साथ अपने स्वभाव दृष्टि और प्रवृत्ति के अनुसार अनेक प्रकार के भावात्मक सम्बंध स्थापित करता है। जब तक उपास्य और उपासक, ब्रह्म और उसकी गतिविधियों के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक सम्बंध का निर्धारण नहीं हो जाता तब तक उनकी पारस्परिक शाश्वत प्रणय लीला के रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। इसीलिए ब्रह्म और उसकी शक्ति या के तात्त्विक स्वरूप एवं पारस्परिक सम्बंध के निर्धारण के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण की आवश्यकता पड़ती है। इससे अभाव में किसी भी प्रकार की साधना या उपासना नहीं चल सकती। इसी विचार से इस खण्ड में ब्रह्म और उसकी गतिविधियों की गायत आनंद के लिए व रसोद्घाटन के लिए अण्व-दान के विभिन्न द्वाद्वापरक सिद्धान्तों के साथ साथ योग साधन तथा शिव, धातु, जन बौद्ध, सिद्ध सूफी और सत्

सम्प्रदायो के दार्शनिक मतवादा का विवेचन किया गया है। मधुर रस के दार्शनिक विवेचन की अन्तिम परिणति के रूप में प्रेम-दान की भीमासा की गयी है, क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा उपासक और उपास्य शक्तिमान् और उसकी शक्तियों के सात्त्विक स्वरूप और एकात्म भाव के प्रतिपादन के लिए जिस प्रकार सत्त्ववेत्ताओं ने विभिन्न दृष्टान्तपरक दार्शनिक सिद्धांतों की अवतरणा की है उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा भक्त और भगवान् शक्तिमान् और उसकी शक्तियों के दाम्पत्य भावपरक मधुर सम्बन्ध की स्थापना के लिए सहृदय साधकों एवं भावुक भक्तों ने प्रेम-दान के सिद्धांत को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है।

षट्पुत्र खण्ड में वर्ण्य रस साधना के आगे के मधुर रस का सावयव काव्यशास्त्रीय विवेचन किया गया है। आरम्भ में रस शब्द के विभिन्न अर्थ रस की कल्पना तथा रस के काव्य शास्त्रीय विकास क्रम पर प्रकाश डालते हुए मधुर रस की निष्पत्ति पर विचार हुआ है। बिजगत और जड़ जगत में रसों की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए तथा जड़ानि विषयक भूगारादि रस के साथ मधुर रस का मौलिक अंतर स्पष्टलाते हुए उसकी अंगैकिकता सिद्ध की गई है। तदुपरान्त मधुर रस में प्रेम की आंतरिकता मधुर भाव का हृदय में प्रतिष्ठापन और मधुर रस का प्रादुर्भाव मधुर रस के स्थायी भाव — मधुरा रति और उसके भेदा का निरूपण किया गया है। भगवान् के प्रति भक्त की ऐश्वर्य ज्ञान द्रव्य मधुरा रति क्रमशः प्रेम स्नेह मान प्रणय राग अनुराग परम अनुराग भाव और महाभाव के रूप में विकसित होकर किस प्रकार मधुर रस में परिणत हो जाती है इसका सम्पूर्ण निरूपण करते हुए मधुर रस के विषयालम्बन आश्रयालम्बन और उसके भेद तथा मधुर रस के अत्यंतोत्साह की अभिव्यक्ति करने वाले परकीया भाव की अष्टता सिद्ध की गई है। इसी प्रसंग में सखी भाव और उसके परकीयात्व के आदेश तथा नायिका भेद का विवेचन करते हुए मधुर रस के उद्दीपन विभाव मधुर रस के प्रसाधन तथा रूप वियास मधुर रस के अनुभाव सार्विक भाव और सचारी भाव का विवेचन हुआ है। पुनः वर्ण्य आचार्यों के रस शास्त्र के अनुसार मधुर रस के समीप एवं विप्रलम्भ पक्षों तथा उनके अन्तर्गत भेदों और उनकी अन्तर्भावों का प्रतिपादन किया गया है। अंत में भक्ति किंवा मधुर रस स्वतन्त्र रस है या भाव-मात्र इस प्रश्न से सम्बद्ध अनेक आरोपों का खंडन करते हुए भक्ति रस में ही अर्थ सभी रसों का अन्तर्भाव स्पष्टलाकर उसकी व्यापकता सिद्ध की गई है तथा भक्ति रस के पंचभेदों में सब श्रेष्ठ मधुर रस को भक्ति रसरज तथा आर्ति रस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

शोध प्रबंध के द्वितीय भाग के पंचम पट्ट एवं सप्तम खण्डों में क्रमशः मधुर रस साधना के ऐतिहासिक विकास क्रम तथा मध्यकालीन सगुणमार्गी एवं निगुणमार्गी साधना पद्धतियों के हिंदी साहित्य में मधुर रस के स्वरूप विधान का पारलोचन किया गया है। पीने बारह सौ पृष्ठों के इस पूरे प्रबंध को एक ही जिल्द में रखना अनुविधाजनक प्रतीत होने के कारण इसके प्रथम भाग और द्वितीय भाग की सामग्रियों को क्रमशः मधुर रस सद्धान्तिक विवेचन तथा मधुर रस काव्य भीमासा नाम से दो जिल्दों में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मधुर रस सद्धान्तिक विवेचन के अन्तर्गत भक्तिशास्त्र मनोविज्ञानशास्त्र दशन शास्त्र और काव्यशास्त्र के आधार पर मधुर रस के सात्त्विक स्वरूप का उद्घाटन करते हुए

उसका सद्धान्ति' निरूपण किया गया है तथा 'मधुर रस काय भीमासा में मधुर रस साधना के ऐतिहासिक विकास क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए सगुण निगुण विविध साधना पद्धतियों के मध्यमालीन हिन्दी साहित्य में मधुर रस साधना के स्वरूप विधान और विकास के सम्बन्ध पर्यालोचन द्वारा मधुर रस की काव्यगत भीमासा की गई है तथा इसकी स्वतन्त्र सत्ता सावजनीनता आस्वाद्य योग्यता एवं व्यापक प्रभाव को सिद्ध किया गया है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सबप्रथम मैं उस परमप्रेमास्पद परमेश्वर के सामने श्रद्धावनत हूँ जिसके अनुग्रह से यह काय सम्भव हो सका। तदुपरांत गुह्यवर डा० धर्मोद्भूत ब्रह्मचारी शास्त्रीजी के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे इस विषय की ओर अभिप्ररित किया। अपनी अनुवृत्तियों के सारे योग क्षेम के भार को अपने ऊपर ले लेने वाले गुह्यदेव प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्माजी के पाद-पद्मा पर तो मैं मौन भाव से ही अपनी आत्मिक श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि अर्पित करता हूँ क्योंकि उन्होंने अथ स लेकर इति तत्र मेरे लिए जो किया है उसे धन्यता द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० जगन्नाथराय शर्माजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के यन्त्रवी विद्वान् श्री पद्मनाथराय आचार्यजी अध्यात्म साधना और साहित्य के प्रख्यात पण्डित पद्मभूषण म० म० गोपीनाथ कविराजजी न समय समय पर इस अति मूढ एवं रहस्यपूर्ण रस साधना के सम्बन्ध में जो अमूल्य सुझाव दिए गए अपने विलक्षण ज्ञान से इसके बोध में जो सहायता पहुँचाई, इसके लिए मैं इन महानुभावों का चिर नम्रगी रहूँगा। आचार्य कुम्हार चन्द्रप्रकाशसिंहजी के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने मुजफ्फरपुर में अपने अल्पाकालीन सत्संग द्वारा मधुर रस साधना से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों से अवगत कराने की कृपा की। प्राचार्य डा० रमाशंकर तिवारीजी ने 'उज्ज्वलीलम्पि में मधुर रस का निरूपण' दीपक अपना विद्वत्तापूर्ण निबन्ध भेजकर मेरी जो सहायता की इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक वृत्तज्ञता ज्ञापित करता हूँ। बिहार विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० बेचन झा जी के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनसे अनेक प्रकार की सहायता उपलब्ध हुई है। सुहृद् डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित (एल० एस० कालेज) डॉ० गोपाल राय (पटना कालेज) डॉ० रामकृष्ण शर्मा (पटना कालेज) और डॉ० सियाराम तिवारी (पटना नॉर्मस कालेज) को मेरे हार्दिक धन्यवाद, जिन्होंने अनेक रूपों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देकर मुझे सन्ना के लिए अपना बना लिया है।

इस प्रबन्ध को पूरा करने में मुझ अनेकानेक प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों पत्र पत्रिकाओं एवं सत्संगों का सहारा लेना पड़ा है। अतएव मैं समष्टि रूप से उन सभी साधु सत्तों, साधक महात्माओं, विद्वान् लेखकों और सुश्रवियों को नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूँ। मेरे दिग्गज प्रो० पाण्डेय शशिभूषण प्रसाद 'गीतागुप्त', एम० ए० और राजेन्द्रप्रसाद सिंह 'अमर', एम० ए० ने इस सित्रसिले में अनेक प्रकार की जो सेवाएँ की उनके लिए मैं इनकी उत्तरोत्तर सफलता की शुभकामना करता हूँ। अपनी पत्नी श्रीमती राधारानी चौधरी के प्रति किन शब्दों में अपने भाव व्यक्त करूँ, यह नहीं समझ पाता क्योंकि मेरा सब कुछ उन्हीं

की एकनिष्ठ त्याग-तपस्या और साधना का सुफल है ।

राजकमल प्रकाशन की प्रबल निदेशिका श्रीमती सीता लक्ष्मी कायपालक निदेशिका श्री सत्यप्रकाशजी तथा पटना गाला के व्यवस्थापक श्री उमानन्द श्रीरास्तव के प्रति भी हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं जिनके सहयोग से अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है ।

अभिनव निवास
खड्का रोड
मुद्रकपुर (बिहार)

—रामस्वामी चौधरी 'अभिनव'

सकेताक्षर

ऋ० स०
 ना० गा०
 सा० द०
 मा० म० सू०
 उ० नी०
 र्क०
 ऋ०
 सैत्तिरी०
 पू० भा०
 डॉ० ह० प्र० द्वि०
 डॉ० रा० प्र० च०
 डॉ० प० प्र० सा०
 डा० गो० त्रि०
 डॉ० ग० भू० दा० गु०
 रा० पू० ति०
 ह० म० र० सि०
 प्र० च० दा०
 म० म० प० मो० व०
 डा० आ० प्र० दी०
 डॉ० भ० प्र० सि०
 डॉ० घ० बी० भा०
 ना० ना० उ०
 डा० त्रि० ना० दी०
 द्वि० ल०
 चै० च०
 आ० ली०
 म० ए०
 ईशा०

ऋग्वेद सहिता
 नाट्य शास्त्र
 माहित्यदपण
 नारद भक्ति सूत्र
 उज्ज्वलीलमणि
 स्व० द पुराण
 ऋग्वेद
 सत्तिरीयोपनिषद्
 पूवभाग
 डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी
 डॉक्टर राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
 डाक्टर धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री
 डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत
 डाक्टर गणेशभूषण दास गुप्त
 रामपूजन सिवारी
 हरिमवितरसाभूतसिंधु
 प्रबोधचन्द्र बागचौ
 महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज
 डाक्टर आनन्दप्रकाश दीक्षित
 डॉक्टर भगवतीप्रसाद सिंह
 डाक्टर धर्मवीर भारती
 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
 डाक्टर त्रिलोकीनाथ दीक्षित
 द्वितीय लता
 चतुर्थ चरितामृत
 आदि लीग
 मध्य लीला
 ईशावास्योपनिषद्

की एकनिष्ठ त्याग-तपस्या और साधना का गुण है ।

राजकमल प्रकाशन की प्रवृत्ति निदेशिका श्रीमती सीता सखू कायपालक निदेशिका श्री सत्यप्रकाशजी तथा पटना शाला के व्यवस्थापक श्री उमाशंकर श्रीवास्तव व प्रति भी हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं जिनके सहयोग से अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है ।

अभिनव निवास

खरग रोड

मुत्सङ्गरपुर (बिहार)

—रामस्वामी चौधरी 'अभिनव'

सकेताक्षर

ऋ० स०
 ना० गा०
 सा० द०
 ना० म० सू०
 उ० नी०
 स्क्०
 ऋ०
 तत्तिरी०
 पू० भा०
 डों० ह० प्र० द्वि०
 डों० रा० प्र० च०
 डों० घ० प्र० गा०
 डा० गो० त्रि०
 डों० ग० भू० दा गु
 रा० पू० ति०
 ह० म० र० सि०
 प्र० च० वा०
 म० म० प० गो० व०
 डा० आ० प्र० दी०
 डा० भ० प्र० सि०
 डों० घ० बी० भा०
 ना ना० उ०
 डा० त्रि० ना० दी०
 त्रि० ल०
 चै० च०
 आ० ली०
 म० ली०
 ईगा०

ऋग्वेद संहिता
 नाट्य शास्त्र
 साहित्यरूपण
 नारद भक्ति-सूत्र
 उद्वलनीलमणि
 स्कन्द पुराण
 ऋग्वेद
 तत्तिरीयोपनिषद्
 पूवभाग
 डाक्टर हजारीप्रसाद त्रिवेदी
 डाक्टर राजस्वरप्रसाद चतुर्वेदी
 डाक्टर धर्मोद्व ब्रह्मचारी शास्त्री
 डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायन
 डाक्टर शशिभूषण दास गुप्त
 रामपूजन तिवारी
 हरिमनिरसाभृतसिधु
 प्रबोधचन्द्र बागची
 महामहापाध्याय प गोरीनाथ कविराज
 डाक्टर आनन्दप्रकाश दीक्षित
 डाक्टर भगवतीप्रसाद सिंह
 डाक्टर धर्मवीर भारती
 नागेंद्रनाथ उपाध्याय
 डाक्टर त्रिलोकीनाथ दीक्षित
 द्वितीय लता
 चतय चरितामृत
 आदि लीला
 मध्य लीला
 ईगावास्योपनिषद्

सं० सि० स०
 शा० स०
 यो० द
 सा० पा०
 सि० स०
 प० प०
 द्वि प
 छादोग्य
 अथर्व०
 ह० भ० १० सि०
 सू० सा०
 म० घ० सा०
 प० क० त०
 की० स
 भ० च०
 य० ना ती
 रो० का० क० जी० शृ० र वा वि
 उ० का०
 बहद्
 अहि स०
 भाग०
 ई० स०
 न० प्र०
 य० प्र० प्र०
 आ प०
 श्रो० प०

स त सिद्धान्त सग्रह
 ज्ञान संहिता
 योग्यज्ञान
 साधनापात्र
 शिवसंहिता
 पंचम पटल
 द्वितीय पटल
 छादोग्योपनिषद्
 अथर्ववेद
 हरिभक्तिरसामृतसिन्धु
 मूरसामर
 मध्यकालीन घम-साधना
 पदकल्पतरु
 कीर्तन सग्रह
 भक्ति चर्चा
 यतिवर नारायण तीर्थ
 रीतिवालीन कविता और शृंगार रस वा विवेचन
 उत्तर कांड
 बहुदारभ्यकोपनिषद्
 अहिबर्ण्य संहिता
 भागवत
 ईश्वर संहिता
 नन्ददास प्रयावली
 बेलबेहियर प्रस प्रयाग
 आदि पत्र
 श्लोक पत्र

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

मधुर रस का भक्तिशास्त्रीय विवेचन

(पृष्ठ १ से ३६ तक)

भक्ति का उद्गम ? उपास्य तत्त्व उपासक तत्त्व और उपासना तत्त्व मधुर रस का वास्तविक स्रोत भक्तिशास्त्र, भक्ति तत्त्व भक्तिमाग की महत्ता, भक्ति के प्रथम और चरम अवयव, कृति और समापत्ति भक्ति का उद्देश्य भक्ति का स्वरूप भक्ति के दस सोपान भक्ति के अनुबन्ध चतुष्टय भक्ति के प्रकार मुग्धा भक्ति और गोपी भक्ति नवधा भक्ति द्वाधा भक्ति एकादश आत्मिकियाँ माधन भक्ति और साध्य भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति, परा भक्ति पराभक्ति की उन्मात्पूर्ण स्थिति भवन की भावना के अनुसार भक्ति के भेद रति, भेद के अनुसार भक्ति के भेद साधन और उत्तमा भक्ति उत्तमाभक्ति के भेद, साधन भक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति गान्त दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर भक्ति की पारस्परिक विपरीता, मधुर भक्ति की श्रेष्ठता । साधन भेद से भक्ति के भेद वैद्योभक्ति और रागभक्ति, रागानुगा भक्ति कामानुगा और सबधानुगा भक्ति रागात्मिका भक्ति कामरूपा और सबधरूपा भक्ति, कान्ताभाव की भक्ति और, उसकी व्यापकता कान्ताभाव की भक्ति से मधुर रस की अवतारणा भक्ति की रसरूपता लौकिक आनन्दो में भी रसरूप ईश्वर की आत्मिक अभिप्रेत विषय और आश्रय की रसात्मकता और आर-बुद्धि, आहायज्ञान द्वारा राग और भक्ति भक्ति द्वय अद्वैत से भी उत्तम निगुण ब्रह्म में गुणों की स्वीकृति मधुर रसात्मक प्रेम की अनिवार्यता काम के दो भेद अतएव प्रेम प्रेम का ऊँच घरातल और सुखरूप आत्मा वषयिक सुख भी मुखरूप आत्मा का अंग, आत्मा ही रस निर्विशेष भगवद रूप है रस जीवन का प्रयोजन तत्त्व प्रेम प्रयोजन भगवत साधना का प्रयोजन-तत्त्व प्रेम प्रवृत्त प्रेम प्रेममय परमात्मा की प्रेम-ज्योति वासना निवृत्ति, तन्मूली वासना तन्मयी वासना वासना समवर्ण रूप भक्ति साधना जीवात्मा-परमात्मा का मधुर मिलन ।

द्वितीय खण्ड

मधुर रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन

(पृष्ठ ४१ से ११२ तक)

मधुर रस मनोरस का उत्कृष्टतम स्वरूप है मधुर रस और मनोविज्ञान का सम्बन्ध मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है मन निरोध मन की चतुर्विध अवस्थाएँ मन की

त्रिविध वृत्तियाँ चराचर जगत् की तीन कोटियाँ सृष्टि के समस्त व्यापारों में आनन्दोत्पत्ति की भावना आनन्द अद्वैत है अहं भाव आनन्द का उपभोग है मनुष्य द्वारा एकरस-स्थापन की प्रवृत्ति तथा स्थायी आनन्द का अवेपथ रससिद्धि के लिए तपस्या तथा हृत्पथ की गवेषण शीलता आवश्यक कायानन्द और आधुनिक मनोविज्ञान का व्यापन के सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान और रस-कल्पना रस का अर्थ अभिरुचि रस या काव्यान्त लोचन है रस या काव्यान्त का वास्तविक आधार अभिरुचि और लोक-व्यवहार है रुचि और आनन्द मधुर रस के स्थायी भाव संचारी भाव अनुभावादि की मनोवृत्तियों का व्याख्या भाव और मनोवृत्ति मनोवेग स्थायीभाव संचारी भाव और अनुभाव मनोवृत्ति की मनोवृत्ति मनोवृत्ति के तीन भेद मौलिक मनोवेग मिश्रित मनोवेग 'युत्पन्न मनोवेग प्राणियाँ की मूल वृत्तियाँ कामभाव और रतिभाव रति और भक्ति राग और द्वेष भाव मनुष्य का विस्तार भाव सयोगेष्टा अथवा प्रजनन वृत्ति काम का प्रादुर्भाव काम का यथाथ स्वरूप काम की व्यापकता काम का प्रभाव काम रति मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा है काम सिद्धि काम के द्विविध रूप वासना मूलक और परमाप्त मूलक प्रथम अथवा रति का भक्ति में रूपान्तर अन्य प्रमदना सर्वोत्तम भक्ति की मनोवृत्ति है भारतीय एवं पश्चात्य मानस-शास्त्र का दृष्टिकोण पश्चात्य मानस शास्त्र के तीन संस्थान मनोवृत्तियों के काम सिद्धान्त विषयक तीन मत फ्रायड का काम सिद्धान्त और भक्ति भाव काम वृत्ति का उत्पत्तीकरण काम भाव का रूपान्तर रूपान्तर में भगवल्लीला रस की निष्पत्ति भक्ति भाव की मनोवृत्तिक व्याख्या मनुष्य की कामवृत्ति मनुष्य द्वारा सबसत्य और सर्वाधिक आनन्द प्रदायक पदार्थ की खोज एकरस स्थापन अथवा पूर्णत्व प्राप्ति की प्रवृत्ति मनुष्य में आदर्शवाद की प्रवृत्ति आत्म प्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवृत्ति आत्म रक्षा की प्रवृत्ति क्या भक्ति भावना एक सहज वृत्ति है भक्ति भाव और कामुकता कामदना और भक्तिदना धर्म का लौकिक उदभव लिंगोपासना का सूत्रपात आदिम धर्मभाव में कामवासना की उद्दाम अभिव्यक्ति आदिम मानव में भय की भावना और रहस्यमयी शक्ति की कल्पना धर्म सम्प्रदायों के लौकिक प्रतीक उन्नत सांस्कृतिक दशाएँ कामवृत्ति का उन्मयन साहित्य कला और धर्म में वृत्तियों का परिष्करण कामवृत्ति का धर्मभाव पर व्यापक प्रभाव भक्तिभाव के मूल में अभुक्त वासना काम के उन्मयन का 'यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रेम तथा आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है दाम्पत्य प्रेम ईश्वर प्रेम की आवाहक अभिव्यक्ति भक्ति-साधना में दाम्पत्य मधुर भाव धर्म का प्रयोग दाम्पत्य भाव की व्यापकता दाम्पत्य भाव का आध्यात्मिक स्वरूप एक मधुर रस की अवतारणा ।

तृतीय खण्ड

मधुर रस का दार्शनिक विवेचन

(पृष्ठ ११३ से २७६ तक)

(क) वृत्त-वर्णन

अनुभूति और दर्शन ईश्वर का अस्तित्व बोध और आनन्द लाभ मानव चेतना का विवास से सम्बंधित कुछ मूल प्रश्न मानव चेतना का स्वरूप पदार्थ विश्व चेतना का सक्रिय

रूप है पञ्चाय चेतना और जीवन की सृष्टवतना, सृजन ज्ञानम् मृष्टि का प्रेरक तत्व विद्व
 चेतना का मातृ रूप और सहार रूप सभी तत्व एक ही विराट चेतना के स्वरूप हैं मृष्टि
 का कारण, मयुजो-मृष्टि का सूत्रपात, ब्रह्म भावना के मूत्र म अदृष्ट शक्तियों की कल्पना,
 ब्रह्म भावना के तीन प्रकार ब्रह्म का रूप ब्रह्म का निगुण निर्विण्ण रूप और अद्वतवाद
 गवराचाय का अद्वतवा, ब्रह्म का सगुण निर्विण्णरूप और विभिन्न दानिक मतवाद
 रामानुजाचाय का विगिष्टाद्वतवाद विगिष्टाद्वतवा और भक्ति साधना, प्रपत्तिवा प्रपत्ति-
 वाद की आधारभूत प्रवृत्तियाँ भक्ति की दाम्पत्य भावना, विगिष्टाद्वतवाद का प्रभाव,
 भगवान का भाव गहीन रूप तथा द्वैत-अद्वैत परक दानिक मतवाद भगवान् का पानाश्रित
 और भावाश्रित रूप, नाम और रूप की उपासना ब्रह्म का प्रतीकमय साकार रूप भगवान्
 का भावना विनिर्मित रूप दाम्पत्य भाव प्रेम की अनयता और आत्मनिवदनाशक्ति का
 चरमोत्कृष्ट रूप म अद्वत किन्तु भगवत्प्रोत्यय भक्ति द्वैत की कल्पना द्वैतवाद द्वैताद्वतवा
 परब्रह्म के साथ राधा की उपासना का समावेश राधाकृष्ण की युगलोपासना का रहस्य
 गुदाद्वतवा वामाचाय का पुष्टिमाग, लीला के लिए सारी मृष्टि ब्रह्म की आत्मद्वैत है,
 ब्रह्म सम्बन्ध और ताप, पुष्टि के भेद अक्षर्य भगवन्वा ब्रह्म और जीव का भेदभेद
 ब्रह्म का स्वरूप ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियाँ स्वरूप शक्ति तदस्य शक्ति और माया
 शक्ति भगवान् के ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप, श्रीकृष्णतत्त्व, धाम, राधा तत्त्व, जीव-तत्त्व
 जगत-तत्त्व सर्वोपरवाद का सिद्धान्त ।

(ख) सांख्य और योग दान

सांख्य दान का पुरुष और प्रकृति-तत्त्व प्रभवती प्रकृति, पुरुष और प्रकृति मूल तत्त्व
 प्रकृति परिणामवा पञ्च प्रमाण भिन्न गुण वाले पुरुष और प्रकृति के भोग से मृष्टि की
 स्थिति, सांख्य दान के प्रथम रूप ।

योग जीवात्मा और परमात्मा के तात्त्विक स्थापन की विगिष्ट प्रणाली है नाम योग
 के भेद लय योग, मन्त्र-योग हठयोग, नाडी विज्ञान चक्र-विज्ञान पट चक्र, कुण्डलिनी,
 कुण्डलिनी की अवस्थिति और गतव्य, कुण्डलिनी उपासन क्रिया ।

(ग) तन्त्र, गन्ध और गान्ध दान

तन्त्र मन्त्र का आविर्भाव, तन्त्राचार का भारतीय धर्म साधना में संनिवेश, तान्त्रिक
 अद्वतवा भाव त्रय सप्त आचार बीजाक्षर मङ्गल चक्र माह्वरा के चार दान कापालिक
 मत और सहज-साधना त्रिरत्न वज्र पञ्च और मन्त्र सोम सिद्धांत, चतुर्विध ज्ञानम्
 प्रथमान् परमान् ६ विरमान् ६ और सहजान् ६ काल्पनिक पाशुपत मत के पञ्च पञ्चाय
 एवं पञ्च और पति का मधुर मिलन गव सिद्धान्त गवमत का त्रिक रत्न शवागम,
 वादमीरी गवमत का ईश्वराद्वयवाद स्पदवाद का सिद्धांत, प्रत्यभिज्ञा दान का ईश्वराद्वय
 वाद याग ज्ञान और भक्ति का सम्बन्ध वीर गवमत का शक्ति विशिष्टाद्वतवाद शक्ति
 तत्त्व शक्ति के रूप शक्ति-तत्त्व और शिव-तत्त्व गान्ध के दो सम्प्रदाय वीर सहज
 साधना (मधुरभाव) अद्वैतज्ञान गान्ध साधना के आचार दान का रहस्य ज्ञान शक्ति

क्रिया शक्ति एवं लीय लीय का उदात्तीकरण क्षिति सन्तोष और समरसता निव शक्ति-सामरस्य ।

(घ) बौद्ध दान

बौद्धमत का अनात्मवाद बौद्धधर्म की गताए हीनयान महायान महायान के दार्शनिक सिद्धान्त बोधिसत्त्व बोधिचित्त महायान चर्या अथवा पारमिताए त्रिकाम सिद्धांत एवं त्रिकाम की कल्पना दानभूमियाँ बौद्ध-दान के चार प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त माध्यमिक मत या सूयवाद नूयभावना का विश्वास नूय के चार रूप नूयता और वरणा विज्ञानवाद या योगाचार मत चित्त की सतता या भूततथता चित्त ही आलम्ब विज्ञान है सपता का अनभवं तान्त्रिक बौद्ध दान चारणो और मन्त्र मन्त्रयान का उन्म वज्रयान का वज्रयान बौद्धधर्म का वज्रयान सम्प्रदाय वज्रयान का आविर्भाव-काल वज्रयानी साधना का लक्ष्य प्रनोपाय का अद्वयत्व वज्रयानी तत्त्व का रहस्य गुरतत्त्व की मिथुनाकारता तथाभाव एवं समताज्ञान पारमिता साधन और ब्राह्म सुख बोधिचित्त बोधिचित्ताभिषेक अधिकार भेदवाद पंचबुद्ध और उनवी भार्या मुद्रा साधना पंच मुग्धा चार मुग्धा चार क्षण और चार आनन्द चतुर्कर्म सिद्धान्त महासुख महाराग पंचभाकार युगनन्द तत्त्व युगनन्द तत्त्व (बोल्ककूलयोग) समरस की स्थिति महासुख सहज विलास वज्रयान योग दान काया की महता और वज्रयानी चक्र विधान वज्रयानी नाम्ने विधान प्राण साधना कालचक्रयान ।

(ङ) जन-वशन

जन ब्रह्म भावना वीतराग भगवान में अनुराग संभव है ।

(च) सूफी दान

सूफीमत ईमान का वास्तविक आधार अल्लाह है अल्लाह की सत्ता और शक्ति सूफियों के अल्लाह परम प्रमास्पद एवं निखिल सौंदर्य निधि हैं सूफी एकेस्वरवाद परमात्मा के चार गुण और चार रूप अल्लाह और इसान अथवा जीव अल्लाह और जगत ।

(छ) प्रेम दान

प्रेम तत्त्व प्रेमा पुमर्षोमहान प्रेम और काम, तत्सुखी और स्व-सुखीभाव प्रेम और आनन्द आनन्द की उन्नत अनुभूति का आधार प्रेम-तत्त्व है प्रेम वक्ति के विविध रूप दाम्पत्य प्रेम ईश्वरीय प्रेम नित्य बिहार प्रेम मधुर रस आत्मा का रसमय अनुभव है ।

चतुर्थ खण्ड

मधुर रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन

(पृष्ठ २८१ से ३६८ तक)

रस के विभिन्न अर्थ वेद और उपनिषदों में रस शब्द के प्रयोग रस की कल्पना मधुर रस की परिभाषा; अलौकिक शृंगार रस उज्ज्वल रस भक्ति रस मधुर रस का काव्य

गास्त्रीय विकास क्रम मधुर रस की श्रेष्ठता हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में मधुर रस का विवेचन, नातभक्ति रस प्रीति भक्ति रस प्रेयो भक्ति रस, वत्सल भक्ति रस, मधुर रस चिञ्जगत और जह जगत् में रसों की स्थिति क्या मधुर रस शृंगार रस का भक्ति-परक नाम है जडादि विषयक शृंगाररति रस के साथ मधुर रस का एक और मौलिक वषम्य, मधुर रस अलौकिक है मधुर रस में प्रेम की आतुरिता, मधुर भाव का हृदय में प्रतिष्ठापन अली किक मधुर रस का प्रादुर्भाव मधुर रस और उसका स्थायीभाव मधुरा रति के भेद भावा नुसार मधुरा रति के भेद प्रेम, महिमाज्ञानयुक्त प्रेम और ऐश्वर्य ज्ञान भूय, राग भाग से चलने वाला प्रेम स्नेह मान प्रणय, राग अनुराग परम अनुराग भाव महाभाव महाभाव के दो भेद रुद्ध और अधिरुद्ध, अधिरुद्ध महाभाव के दो भेद मोदन और मादन लीला मधुर रस के आलम्बन मधुर रस के आश्रयालम्बन कातागण, कृष्ण काता के तीन भेद लक्ष्मीगण, महिषोगण और व्रजागनागण श्रीकृष्णवत्प्रभाओ की दो कोटियाँ, स्वकीया और परकीया, परकीया में मधुर रस का अत्यन्तोत्साह परकीया भाव की श्रेष्ठता परकीया भाव की दाशनिक यादवा परकीया भाव वषम्यो का आदेश श्री राधा मधुर रस का श्रेष्ठतम आश्रय राधा का परकीयात्व श्री राधा के भाव सखी भाव और उनके परकीयात्व का आदेश सखी प्रेम प्राप्त काम नहीं शुद्ध प्रेम है नायिका भेद मधुर रस के उद्दीपन विभाव मधुर रस के प्रसाधन तथा रूप वियास मधुर रस के अनुभाव किल्किषित निलास लज्जित, कुट्टमित, मोट्टायित, विवोक भोग्य, चकित, मधुर रस के सार्विक अनु भाव या भाव मधुर रस के सचारी भाव मधुर रस भक्तिपरक शृंगार के भेद पूवराग पूव राग के तीन भेद प्रीति समजस और साधारण मान प्रेम वचित्य प्रवाम, सुदूर प्रवास, समोग शृंगार और उसका भेद सक्षिप्त समोग, सवीण समोग (दानलीला नीका विहार, जल क्रीडा और स्नान-यात्रा, कुज विहार-लीला), समृद्ध मान समोग, सम्पन्न सम्मोग (वसत लीला होली-लीला, डोल लीला झूलन लीला, निद्रा या रसालय) घुस्तता या छल से मिलन मधुर भक्ति रस का खडन मडन शांत रस का स्थायी भाव शम अभाव रूप नहीं भाव रूप है शृंगार रस में भक्ति रस का अतर्भाव अदभुत और भक्ति रस धीर करुण रोद्र, भयानक और बीभत्स मधुर भक्ति रस की भाव की सज्ञा क्यों मधुर भक्ति रस पर विविद्या हीनता का आरोप मधुर भक्ति रस की व्यापकता ।

उपसंहार

(पृष्ठ ३७६ से ३९१ तक)

सर्वभ्रं ग्रथानुक्रमणिका

संस्कृत
३६३

हिंदी
३६५

अंग्रेजी
३६७

भाग एक

प्रथम खराड

मधुर रस का भक्तिशास्त्रीय विवेचन

भक्ति का उद्गम

सम्पूर्ण भारताय एकजावन माधना और साहित्य मधुर भक्तिरस की प्रभावशाली धारा से व्याप्यवित है। भारतवर्ष में भक्ति का उद्गम कब, कहाँ और किन परिस्थितियों में हुआ, इस पर निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वह विषय साहित्य जिस प्रकार कम और पान का उद्गम स्थल है उसी तरह वह भक्ति का भी मूल स्रोत है। यत्कि मन्त्रों में विविध देवताओं की स्तुति इतनी भावपूर्णता तथा मार्मिकता से साध की गई है कि अन्याय ही उनमें स्फूर्ति का हृदय की रागात्मक वृत्तियों की जाकी मिलती है। पण्डित बलदेव उपाध्याय का मत है कि भक्ति स्निग्ध हृदय का इस प्रकार का कामल तथा भावुक स्तुतिमा का उदय ही नहीं हुआ करता। 'गुह्य' हृदय में तो इतनी कामलता आ सकती है और न इतनी भावुकता। देवताओं की स्तुति करते समय माधव उनका साथ पिता माना 'स्निग्ध बापु जगदि' नितान्त मनोरम हृदयगम सम्बन्ध स्थापित करता है और यह स्पष्ट प्रमाण है कि स्ताता का हृदय में 'तन्नाभा' के प्रति सवताभावन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।^१ कतिपय मूक्तों में तो भावात्मक 'रहस्यवा' का स्पष्ट चमत्कार निखलाई पड़ता है। एक मन्त्र में आभिरस रूप में कहा है कि जिस प्रकार जाया पति का आलिंगन करती है उसी प्रकार हमारी भक्ति 'रस' का आलिंगन करता है^२। पुनः एक दूसरे मन्त्र में काक्षायनी धापा ने अश्विनी कुमारों में पूछा है कि हे अश्विन उ ! आप काम रात का कहाँ निवास करते हैं ? किसने आपका प्रेम में बांधकर विवश कर रखा है जिस तरह विधवा दवर का अपन बन्धन में बरलता है ?^३

पान प्रधान उपनिषद् में भी जगह-जगह पर भक्ति भावना की मन्त्रों का स्पष्ट संकेत मिलता है। कठोपनिषद् में आत्मप्राप्ति का उपाय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'मह आत्मा न वदाम्ययन से, न धारणा रक्ति से और न अधिक ध्वषण से ही प्राप्त हुआ करता'।

१. 'एव हि न पिता मतो त्व माता शतकनो बभूविषा

अथ ते मुग्धमीमह ।—श्र० ८।१८।११

माया विना पितृतम पित्रुणा

वर्त्तमु लोकापुराणे योषा ।—बही ५।१७।१७

दृष्ट य—बही ६।१।१५

२. भागवत सम्प्रदाय—५० बलदेव उपाध्याय, पृ०—६४

३. श्र० स० १०।४।३।१

४. श्र० म० १०।४।०।२

है। यह साधन जिग आत्मा का वर्ण करता है उम आत्मा में ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसमें प्रति यह आत्मा अपने स्वप्न का अभिषेक कर रहा है। ता पय यह है कि जिसमें यह स्वीकार कर रहा है उसमें प्राप्त हो प्राप्त किया जा सकता है। इस मंत्र में आत्मा ने अनुग्रह की ओर गुरु सत्तन किया गया है जिसमें गम्भीर भूत भक्ति में है।^१ श्वेता वतगपनिपद् में ता भक्ति व मुख्य तत्त्व प्राप्तियाँ की स्थापना करने हुए स्थापना बना गया है कि जिस पुरुष का श्वेता में उत्कृष्ट भक्ति होता है तथा दय व समान गुण में भा जिससे भक्ति होता है उसी महात्मा का यह कह गया जय स्वप्न प्रकाशित होना है।^२ प्रसार सबसे पहले इस प्रसंग में भक्ति का प्रयोग किया गया है।^३ पुराण-साहित्य में भक्ति का आकर ग्रन्थ हो माना गया है। भक्ति भावना का उत्तर पर पहुँचाना पुराण ग्रन्थों में ब्रह्मवत्तपराण विष्णुपुराण पद्मपुराण तथा भागवतपुराण ज्येष्ठ मन्त्रगुण हैं। मधुर रस का स्थापना की दृष्टि से भी इन पुराणों का विषय महत्व है। भक्ति व विनाश की दृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान ज्येष्ठ है। समृद्धि का मय का सा यह अनुपम ग्रन्थ रस है ही। इसमें अतिरिक्त भक्तिगात्र का भी यह आकर ग्रन्थ माना जाता है। श्रीमद् भागवत की सन्तुति करते हुए कहा गया है कि यह निगम कल्पतरु का स्वयमलित फल है जिसे शुक्रदेवजी ने अपनी मधुर वाणी से अमृतत्व सयुक्त कर दिया है। यह भागवत रस का आलस्य है जिस ससार व भावक रसिका में बार बार पान करने का आग्रह किया गया है।^४ इसका भाव स्तन कामल एवं मधुर है कि ज्ञान तथा धर्म की साधना से शुद्ध होने हुए मानस में भी यह मधुर भक्ति की सदा घारा प्रवाहित करने में समर्थ है। पण्डित बालक उपाध्याय का ग्रन्थ में बालक धर्म के अन्तर्गतकालीन समग्र सम्प्रदाय भागवत व ही अनुग्रह के बिलाम हैं विनोद वल्लभ सम्प्रदाय तथा चतुर्थ सम्प्रदाय जो उपनिषद् भगवद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी व साथ साथ भागवत को भी अपना उपजीव्य मानते हैं।^५

भक्ति श्रद्धा विवास एवं प्रेम पूरित भक्त हृदय का वह मधुर मनोराम है जिसने द्वारा भक्त और भगवान् उपास्य और उपासक व पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण होता है। वह भक्त के विमल मानस से निमृत्त निम्न प्रेम की वह उच्चतम भावधारा है जिसके प्रवाह में पड़कर त्रैलोक्य प्रेम का विषयानन्द अपने समस्त कष्टों का परिहार कर अतीव प्रेम व ब्रह्मानन्द में परिणत हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल व ग्रन्थों में त्रैलोक्य प्रेम का

१ नाथमात्रा प्रवर्तनेन लभ्यते

न मध्या न बहुना श्येन ।

यमवय वृणुते तेन लभ्य

स्वप्न आत्मा वृणुते तन् स्वप्न ॥—कठ १।२।२३

२ यस्य त्वे परा भक्तिर्यथा त्वे तथा गुरो ।

तस्मैने वशिनाम्नया प्रकाशते मन्त्रमन ॥—श्वेता ५।२३

द्रव्य—श्वेता ५।२२

३ निगमरत्नोत्पलित फल शुक्रमुक्तामृतद्वयमयम् ।

विना भागवत रसमालय मुकुटो रमिता भुवि आवुता ॥ भागवत—१।१।२

४ भागवत सप्तम्य ५ वत्त व उपाध्याय ५

पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो जान का यही रहस्य है।^१ भक्ता की यही भक्ति भावना मधुर रस का उत्पन्न है। भक्ति भावना का प्रथम में सर्वप्रथम उपास्य तत्त्व, उपासक तत्त्व तथा उपासना तत्त्व पर ध्यान या विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं तत्त्वों का आचार पर भक्त और भगवान् का पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना निर्भर करता है।

जिस तरह मनुष्य का जीवन से सम्बन्धित सुगानें उनकी पवित्रता या पूरि करने या न करने का सन्नाह सिद्ध करता हैं उसी तरह मनुष्य का भक्तित्व में विद्या का उपासना करने का आवश्यकता भी यह सिद्ध करता है कि काइ उपास्य सत्ता या अष्टा महाशक्ति या महाशक्ति है। वह महाशक्ति "अनन्त हो पैदा कर भक्तता है अनन्त न गमा कर मरता है अनन्त हो मरता भा कर सक्ता है। हवा ठोस का हवा पर नाच रनी है मनु उमा का हवा पर मोन गम्भीर मुद्रा से आकाश का आनन्द रहा है मूय उमा का दग्नि पर जल रहा है। वह महात्मा है वह ब्रह्म है वह व्यापक है।^२ इस प्रकार उमा सदाशक्ति भाव सत्ता का भक्त पर अविनाशक ब्रह्माण्ड का समस्त विशालरूप सन्नाहित हो रहा हैं।

इस व्यापक ब्रह्म का जानने का लिए मनुष्य ने अपना ही प्रकार की मनावृत्तियाँ का सहारा लिया है। एक है उसका धार्मिक मनावृत्ति और दूसरी है दार्शनिक प्रवृत्ति। मनुष्य का धार्मिक मनावृत्ति का संगे ब्रह्म का एकवचन और माधुसूय रूप का अनुभव होना है तथा दार्शनिक मनावृत्ति का सहार परमात्मनस्त्व और जीवतत्त्व का पारस्परिक सम्बन्ध का सात्त्विक गान होना है।

यस प्रकार मनुष्य का धार्मिक और दार्शनिक मनावृत्तियाँ का परिणामस्वरूप ही अनन्तक धर्म-सम्पदाया तथा दार्शनिक मतवादों की स्थापना समय समय पर होनी गयी है।

आध्यात्मिक अवस्था की प्रवृत्ति आत्माय चिन्तन की अन्तर्दृष्टि है। ब्रह्म अथवा उपास्य का स्वरूप क्या है तथा जीवात्मा और परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और इन दोनों का सम्बन्ध का जानने का साधन क्या हैं इन्हीं प्रश्नों का समाधान के लिए माना प्रकार का धर्ममत्त और दार्शनिक मतवाद प्रचलित रहे हैं। 'आत्मा और परमात्मा काव और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध मार भक्ति साहित्य का विषय है।^३ इस प्रकार परमात्मा और जीवात्मा का सात्त्विक भीमानी करना दार्शनिक का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है किन्तु इनका सब कुछ ज्ञान पर भी इन विषयों पर अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उपास्य का स्वरूप क्या है यह ज्ञात है या द्रष्ट, ये कुछ ऐसा प्रश्न^४ जो माना अनिर्णीत रहे हैं। 'मन्त्र प्रमाण यह है कि ब्रह्म का सम्बन्ध में जितना जाने कहा गया है वे अवामूलक हैं। किसी ने भी विश्रामपूर्वक नहीं कहा कि वह ऐसा है, बल्कि सबन यही कहा कि वह ऐसा नहीं है। उपास्य का स्वरूप का निर्धारण उपासक का अनुरूप हो जाना है। इसका अनुसार ब्रह्म का एक रूप मानाश्रित है और दूसरा भावार्थित। ब्रह्म का मानाश्रित रूप अत्यन्त वापनाशील नियम निराकार और अनिवचनीय है। ब्रह्म का भावार्थित रूप का

१ आचार्य रामानन्द शुक्ल लिखित 'लोभ और प्रीति' गोपब निबन्ध (त्रिनामणि १)

२ मधुवालीन धर्म साधना डॉ० इलाही प्रमाण लिखी, पृ० २४२

३ साहित्यिक निबन्धों में प्रो० एच० नाथ गमा लिखित "रहस्यवाद की रहस्यवादिता" शीतक निबन्ध, पृ० ११३।

सम्बन्ध उपासक के भावपक्ष से है। उपासना के भाव का आश्रित होकर पुद्गल वाग में पातरा अनूप तत्त्व उपासना की रूढ़ि के अनुरूप उमने मधुर भाव-वर्धना में आवद्ध हो जाता है। उपास्य उपासक की मनावृत्ति के अनुरूप स्वामी सत्ता ज्ञान आदि रूपा में व्यक्त होता है। यही भावधारा भगवान् के नाम और रूप की वर्णना का कारण है। ब्रह्म के रूप रूप की यकत सगुण और साकार कहा गया है।

जिस प्रकार सत्ताव्य के लिए मूल आकार की आवश्यकता होती है उसी तरह उपासना के लिए भी अमृत ब्रह्म के मूल आत्मस्वन् की आवश्यकता है। क्योंकि उपासना का मूल लक्ष्य है भगवद् सान्निध्य प्राप्त करना—उसका प्रमपात्र बनना। जोर यह तब तब तभी चरिताप हो सकता जब तक कि अत्रकन निगण निराकार ब्रह्म यकन सगुण और साकार न हो जाय।

भगवत्प्रम ही जीवन का निश्चयस मंगल है। इस मंगल अभिधान के लिए सक्षम पहल उस अमृत आत्मस्वन् का ज्ञान या परिचय प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि ज्ञान या परिचय के अभाव में न तो उस अमृत आत्मस्वन् से भावात्मक सान्निध्य ही स्थापित हो सकता है और न आनन्दानुभूति ही हो सकती है। इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालने हुए आचार्य दवेन्द्र नाथ गुप्ता ने लिखा है कि 'अन्य और अव्यक्त को अन्य और अव्यक्त ही रखकर उसका भावभूमि या कायभूमि के भीतर सन्निवेश सम्भव नहीं।—सहिताशा उपनिषद् में जो परमात्मा या ब्रह्म की भीमासा की गई है वह काव्य की भावना से नहीं बल्कि तत्त्व का दृष्टि से। इसलिए वह जनम और अव्यक्त सात्त्विक जिज्ञासा का विषय बन सकता है रसानुभूति का नहीं पर दान और काय में भेद है। इनका भारतीय साहित्यिक परम्परा में बाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने अन्य और अव्यक्त का अन्य और अव्यक्त ही रखकर उससे प्रति प्रमपात्रना की है।'

इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप बोध की दृष्टि से दान और काय में जो अन्तर है वही अन्तर ज्ञानमाग और उपासनामाग में है। ज्ञानमाग द्वारा ब्रह्म का तत्त्वचिन्तन किया जाता है किन्तु उपासना द्वारा उसका निवटतम सात्त्विक प्राप्त कर उसका प्रमपात्र बना जा सकता है। उपासक को यह प्रमपात्रता तभी प्राप्त होती है जब उपास्य भावधर्मी बन जाता है। इस प्रकार भगवान् का भावधर्मी बनानेवाला सबसे सहज माग भाव माग है भक्ति माग है। इसी लिए तो कहा भी गया है कि वह अन्तर्ब न काष्ठ में है न पाषाण में है और न मिट्टी में है। वह तो निश्चय ही भावशोक में विराजमान है। अतएव भाव ही उसको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।^१ इसी मन्तव्य को परिपुष्ट करने हुए पुन कहा गया है कि हरिभक्ति अर्थात् भाव साधना के बिना कम विवेकानि ज्ञान और मुक्तता से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती^२। भक्ति

१ रहस्यवाङ् की रस्यवाङ्ति आचार्य देवदत्तनाथ शर्मा साहित्यिक निबन्धवाली पृ. ११, १११

२ नन्वो विषये काष्ठे न पाषाणे न मृत्तये।

येवो हि विषये भाव तस्माद्भावो नि कारणम् ॥

—निगुणधारा वैजनाथ विश्वनाथ पृ. २३ पर उद्धृत।

३ हरिभक्ति बिना कम्पन स्थाप्योगुक्ति कारणम्।

न वा मिध्येद् विवेकानि न ज्ञान मापि मुक्तता ॥

—निगुणधारा वैजनाथ विश्वनाथ पृ. ४४ पर उद्धृत।

माग इसी भावसाधना का माग है। इसका यम बड़ी विषयता और विलक्षणता यनी है कि मनुष्य स्व पर जाकर हारकर अपने स्वभाव के द्वारा ही अपने स्वभाव अर्थात् उसका भाव को प्राप्त कर लेता है। जिस समय हम अपने भाव का जान हा जाता है उसी समय अभाव का भी जान हा जाता है। मनुष्य के अन्तर में जहाँ भी रिक्तता है अभाव है वहाँ परम प्रेमान् भगवान् स्वयं उपस्थित हा जाना—अभाव भगवान् की प्रेममयी उपस्थिति से विभाव का जाता है।^१ इस प्रकार निगुण, निगुणान् भगवान् भक्त के भाव के अनुकूल उमक अभाव का दूर करना के लिए उगता रिक्तता का भरन के लिए स्वामी, माता पुत्र प्रियतम आदि रूपों में विभाव बनकर प्रकट हाते हैं। भक्ति माग का भाव साधना का यहाँ रहस्य है। अन्तर्गत रूप हन के प्रयास का यहाँ रहस्य है। क्योंकि प्रीति का प्रभु का स्वभाव है मायात् स्वरूप है। विष्वात्मा का विषय विमय भगवत् विग्रह प्राणि के तन्त्रा में हा पूण है। उग प्रीति की मधुरिमा ऐसा है कि वह स्वयं उसका आम्बान्न किय जिना नहीं रह भरन। अतः उसका आस्वादन करने के लिए वह अपने हा स्वस्वभूत विमय घाम में स्वयं हा प्रिया और प्रियतम के रूप में विद्यमान हैं। सच्चिदानन्द स्वयं परम प्रेम घन परमात्मा के अन्तर्गत रस विज्ञान के अन्तर्गत भावराग में प्रकट पाना नी भक्ति भाव साधना का प्रयोजन है। यम का निःक्षण माधुर्य है अद्भुत मायाता है उसमें मुग्ध हुए भक्त भ्रमर मुक्ति की ओर और उठाकर भाग लेता नहीं जानते। यदि प्रभु कृपा करके यह मुक्ति दना भा चाहते हैं तो वह उसका उपमा करन हैं।^२ वह अनुकूल भुवन में परिस्थित भगवान् की रूप माधुरी की मुग्ध नयन से निहार निहार कर निगलन पुनः प्रीति और प्रभुपति हाते रहते हैं।^३ महाप्राण साधन करीर न नी इसी प्रकार भगवान् के स्वादिष्ट भावराग के अनुकूल वभव विलास की लाली के स्नान किये थे। उह भी यम-नयन भक्त अपने राग के परस्पर (एकदम) और मोक्ष्य (माधुर्य) गुणा का व्यापन प्रकार निवृत्ति पना था और वह खुद उसमें मगपा गव हा गप था।^४ प्रेम-साधन जायगा न भी जयत् के नाना रमणाय रूप लण्ठ और व्यापारा में उगी रूप माधुरी और प्रेम माधुरी के साक्षात्कार किये थे। प्रेमस्थानों मारा भी यहाँ अनुभव कर मगन रहा निन रागी की साधना करने लग गइ था। रहस्यवादी कवियों द्वारा वर्णित 'सामा के बीच अमीम की लाला' सीमा में अमाग का आमाग' आत्मा और परमात्मा जाव और ब्रह्म की पारम्परिक प्रणयानुभूति का भी यही रहस्य है।^५ वस्तुतः एव हा अमाग उत्पत्ति इस विराट विद्वत् के नाना रूपों और व्यापारा के माध्यम से अपने का चरितार्थ कर

१ अतः यम भाव भक्तसाहित्य की नूतिका भा० ६ पृष्ठ ३२।

२ दीपमान ने शृङ्गार विनायकत्व का। — श्रीमद्भागवत, ३।१२।३

अथ न परम न काम न चिन्तन न हृदय निरवान।

अनम अनम इति रामपदं गइ वरान्न न भाव ॥

—भुजगीराम रामायण

३ तोमार मधुर रस भरे मुन।

मुग्ध नयन में पुलकित मोक्षित मन ॥

—श्री रवीन्द्रनाथ टागोर

४ लाली में लाल की जित नयों निज लाल।

लाली यम में गइ, मैं भी हो गइ लाल ॥

—वरीर

५ 'साहित्यिक निष्ठावली में आचार्य वेदनाथ रामा निरचित 'रहस्यवादी' की रहस्यवादिता' शीर्षक निबंध पृष्ठ ५।

रहा है। तरल जलनिधि व हरित बाचि त्रिलोक म, अम्बर की गहन नीलिमा म उर उर व प्रेमा-छाया म वाय्व व मधुररस म कुगमा की गरभि म ताग्र तन्त्र व अमर हास म उस निस्सीम विराट सत्ता का उत्थास ही त्रिविध प्रसार स अभिव्यक्त हा रहा है। प्रता का वही सत्य स्वल्प हृदय म प्रेम बनतर गयना म रूप-ग्रास्य प्राण तथा गङ्गा म निर्विकार गिव बनतर प्रकट होता है।^१ निमित्त सौन्दर्य रमान्त निनि विज्ञातमा की इसी एवय माधुरी रूप माधुरी और प्रेम माधुरी की जनात्य ग्यानुभूति प्राप्त करना ग रहस्य बाद का मम है जोर रमा का उद्घाटित करना तथा स मृद्व बाध गम्य एव मनजन गुम्भ बनाना उपामना व भाव भाग का परम प्रयाजन है।

द्वान व क्षत्र म निगुण सगुण का विराध भू हा हा भाव-भायना व क्षत्र म प्रका करत ही स विवाह का जन्त हा जाना है। निगुणमार्गी कबीर न ता गण म निगुण निगुण म गुण है वाट छोडि क्या बहिय की उद्घापणा कर रमा वास्तविक दया का परिचय दिया है। क्याकि उनका हृद विस्वाम था कि भाव भगति जीर विज्ञात व जिना सासारिक सग्य गूढ का नाग नही हा सरता।^२ कबीर की वाट भाव भगति की बहा पुराना वाट है जिसका निरूपण नारद पाराशर गण्डित्य प्रभृति भक्ति-तत्त्व-वैज्ञानिक न किया तथा जिस पर जाम्ना हाकर मापव कबीर भगवत्प्रम पयानिनि म मगन हा गय।^३

असत्त म अध्यात्म ज्वरन्स्ती का मौन नही है। भौतिक आवश्यकताओं का बिल्कुल कुचर् ही ज्ञान स ज्ञात्म सिद्धि नही हा जाती। नानभाग की दुःकृता का मूल कारण यही ज्वरन्स्ती यही बलात्कार है। स कठिनता का सरता म बदन देनवाला भाग उपासना था माग है। मनावज्ञानिन दृष्टि स यह भावा का परिष्करण अथवा भूमिका

१ एक ही तो अमीम उल्लाम
विरव म पाता विविधाभाम
तरल जलनिधि में हरित त्रिलोक
शान अम्बर म नील विज्ञाम
बही उर उर म प्रेमोच्छव म
का य म रस कुनमों म वास
अवल तारव पलकों म हाम,
लोल लहरों में लाम ।
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मम मधुर अकार ।
वही प्रकाश स य स्वरूप
हृदय म बनना प्रणय अघार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोहमेवा में शिव अविकार ।

—रसमन्त्र पत्र पृ ५१ ।

२ भाव भगति विरकाम विनु कौन ससै सुन ।

कहे कबीर हरि भगति विनु भुजनि ननों र मूल ॥ —कबीर ।

३ भगति नारनी मगन कबीरा ।

—कबीर

४ योग-प्रद हृदों पी टो व द्वाज पृ २७६

परिवर्तन है। मनुष्य का वागनाम जपन आदि मन्त्रों का चुरा नही होती। वासनाओं की उदात्तता या अनुदात्तता उनका आलम्बन पर निर्भर करता है। सांसारिक विषयों की जो आसक्ति मात्र बनकर भक्त बचन का कारण बनती है वही उल्टा कर जब स्वभाव-मुक्त हो जाता है तब भक्ति बनकर जीन की मधुर मुक्ति को विधाविता बन जाता है। 'जा इन्द्रिया विषया सबन हानर जाग्यात्मिज उन्नति म बाधा टागती हैं व हा तल्लोनीता का अवस्था म पर मात्मा की ओर मुक्त जानी हैं।' १ 'सा स्थिति का परिचय देन हुए मल्लूदास ने कहा है कि 'जय तब मर घर म अघरा था तब तब य मार चार मर मवम्ब का अपहरण कर रह थ। अब जब हृदय मन्दिर म प्रेम का दीपक जल उठा तब व हा चार मर मित्र हो गय। २

मनुष्य के मन की सभी विलक्षणता के कारण साधना पथ के परिवर्तन न इच्छा की वृत्तता की है तथा अपन अपन मनाभाव के अनुरूप स्वामी, मन्त्र पुन तथा प्रियतम के रूप में उमरी उपासना की है। ब्रह्मा के स्वरूप का तात्त्विक मामासा करनेवाले तत्परता चाहें जो कुछ मिष्ट करें, भक्ति भावापन्न उपासक का हृदय तो भगवान् का ऐसा रूप साधुग और प्रेम साधुरी के अमृत रस का मनुषान करना चाहता है जिसका वर्णन करती हुई एक गाथागना ने कहा है कि 'अरी सगि' साधुद्र मुक्त मनी पावा इन्द्रिया का धूलपुकर आवृष्ट करन हैं। वे अपन मी दयामृत मिथुन से मुख जसा ललनाया के विलम्बता पवन का आलम्बित कर रहे हैं, उनसे परम नम्र गम्य वचन जाना का जानाति कर देन हैं। उनका आ-अग काति चन्मात्रा के समान सुगीनल हैं। वे अपन सुधा-सुरस सौरभ की बाढ से सम्पूर्ण जगत् को सत्पाविन कर दत हैं तथा उनका अघर पीयूष से भी मधुर हैं। ३ साधी भाव के साध्यम से भगवान् एक रस रसित बनन स्पष्ट कह दता है कि वह उन परम प्रिय श्रीकृष्ण का जिनके मन्दिर पर पल्लव बगी विभूषित हैं जिनकी देह रान्ति नव नागमाला के सहन है जिनके गरार पर पानाम्बर सुगाभिन है जिनके अंग रिम्बफल के समान अरण राग रजित हैं जिनका सुन्दर मुग पुष्पेंद्रु के समान प्राग्भासित हो रहा है तथा जिनके नम्र अगविन्द के सहन है छात्रक जिमा भी दूरम तत्व का नही जानता है। ४ इसमें स्पष्ट है कि इच्छा की उपलब्धि तक सन्तान प्रेम से ही हो सकती है। 'म प्रेम का प्रभाव ऐसा है कि भक्ता के प्रेम

१ बाग प्रभा, टी० पी० डी० बन्धवा, १, १० २७५

२ अब लीन था बैधियार पर, मुनि धक मर चार।

वर मन्दिर नीपन कर वो, बही चोर घन मोर ॥

—मनूज दास

३ सा-दयामृत मि-सुललना गिष्ठा भिम्बलावर ।

कथानादि सनमैरम्ब वचन कोगी-दु शीतलक ॥

भारम्यामृत सम्पलवाहन जगत् पीयूष रम्याम ॥

भा गोविन्द मुन स कथनि कलाय पारिवाहयानि म ॥

—गोविन्द जीवामृत

४ बरी विभूषित करान्नबनीरामा—

स्पीताम्बरारम्ब विम्बकनाधरोष्ठात् ।

पूणेंद्रु मुन्दर मुयन्दरि-नेत्रात्

कथनापर निमवि सतनय न जान ॥

य वगीभूत हातर निगूण निराकार जीर जनानि श्रद्धा को भी सगुण जीर गाकार बनना पड़ता है।^१ भवन निरोमणि रमयान ने भी प्रेमपत्र की अनुपम छवि त चमत्कार का वर्णन करते हुए लिखा है कि इससे बग़र माहिनी के माह का ताप तथा मानिनी के मान में अपन हृदय का हटा जन का कोई दूसरा साधन नहीं है। 'सो प्रेम माग का जलमयन कर मियाँ रमयान वस्तुन रसखान बन गये।'^२

उपासक का चरम लक्ष्य अपने इष्टपत्र का मानिष्य प्राप्त करना है। 'मगर जिए वह इसी में अपन सम्पूर्ण सत्कार का पयसगिन कर दना चाहता है वह अपन इष्टपत्र के साथ अपन अपना एकमेव कर दना चाहता है। अपन प्यार माहून का सम्पादन करती नई बग़र की जीवात्माएँ दुःखन भी तो यही निरपन्न करती हैं। वह यही चाहती है कि उमा प्रियतम जावें और वह उह अपन नयना में बसाकर सदा के लिए पत्र उपासक बन कर ल। इससे बाद वह फिर किसी दूसरी वस्तु का दयना नहा चाहगी और जवन प्रियतम का भी किसी दूसरी वस्तु को नहा दयन दगो।'^३

इस प्रकार उपासना के द्वारा ही उपासक अपने उपास्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होता है। उपासना का जय हा है उपासक का उपास्य के समीप अवस्थित होना। उपासक अपने उपास्य के जितना हा निरट होना जाता है उतना ही उसका वह प्रेम पात्र बनना जाता है। उपास्य के प्रति उपासक का यह प्रेम कभी एहिस प्रेम की तरह मलिन नहीं होता बरन् उत्तरात्तर विकसित होता जाता है। भवन के इस आध्यात्मिक प्रेम के जाने तार में कतनी मजबूती होती है कि अखिल 'आश्वर भी उसमें दब जाते हैं। भगवान् की प्रेमव्यवस्था ही इस पान प्रेमतन्तु का एकमात्र बल है। कबीर के 'मग म हरि प्रेमरस का पान जिमन एक बार कर लिया उसके लिए सत्कार के सारे विलास बभव निरवक हैं। 'म अगौकिक प्रेम 'यापार में भक्त के साथ भगवान् भी इस प्रकार संपृक्त हो जाता है कि वह भी भवन का साथ नहीं छान्ता।'^४ वस्तुतः भगवान् भाव के भूष हैं तथा प्रेम से प्रमन हान हैं। गास्वामा तुलसादास ने भी 'रामहि कबह प्रेम विचार। जानि लहु जा 'गानि हारा ॥ की उद्घाषणा द्वारा इस सम्बन्ध में माना अंतिम ध्यान 'म दा है। इसमें भी आग बग़र प्रमापासना की महत्ता का जयघाप करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उपासना के बिना जय तप याग पान जाणि उसी तरह व्यर्थ है जिस तरह बिना दुःख की दुलहिन।'^५

१ भगुने ब्रह्म ब्रह्म अत्र जो ।

भगन प्रेमवम सगुण सो हो ॥ —तुलसी ।

२ तोरि मानिनी न लियो को मानिनी मान ।

प्रेमपत्र की छवि लिखि भय मियाँ रमयान ॥ —रमयान

३ 'आसो बार मोहना नयन नापि ताहि लउ ।

ना म लखी और को ना मोहि लखन नउ ॥ —कबीर

४ कबीर मन मिरतइ भया 'रबन भया शरीर ।

पीदे लाग हँ किरे बग़र कबीर कबीर ॥ —कबीर

भवन निरद कातर वरनामध डोवन पीदे लाग । —मूकनाम

५ 'आमन हूँ भारी हूँ सुमनि 'गन हूँ होव ।

तुलसी बिना उपासना बिनु तुलसे की जोव ॥ —तुलसीनाम

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि भक्त भगवान् की प्रमाणासना जितने माध्यम से करता है उनमें दाम्पत्य भाव का उपमाना सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सब की अधिकता अनन्य भाव से वातामन माधुयभाव में ही निमग्न हो पड़ती स्वांग पर्यन्त सर्वस्व दान करने की वातामन की घनिष्ठ मधुर रसमया सेवा वही भी अन्य निहा संया-सम्बन्धिता में सम्मिल नहीं है। यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही सभी प्रकार के साधना मार्गों में विभिन्न विधियों में दाम्पत्य भाव का अवतारणा द्वारा मधुर रस का सन्निवेश किया गया है।

मधुर रस का वास्तविक स्रोत भक्तिगास्त्र है। इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत ग्रन्थ बल्ल पुराण, बृहद् गौतमीय तन्त्र ग्रन्थ सहित सम्मान्य तन्त्र सम्प्रदाय सहित-माहिस्य बृहद् काण्डिका सत्यापान्याय बल्लव साहित्य गीता गाण्डिका भक्तिमूर्त नारद भक्तिमूर्त भक्ति रसायन, भगवद्भक्ति चन्द्रिका भक्ति सद्म हरिभक्तिरसामृत मिथु उज्ज्वलनाल भक्ति रसायन सुधाकर चतुर्थ चरितामृत रस-कलिका प्रीति सद्म आदि आदि भक्तिगास्त्र विषय प्रत्येक विधियों में उल्लेखनीय हैं।

भक्ति-तत्त्व

सम्पूर्ण भक्तिगास्त्र का अन्तर्द्वेषतना भक्तिभावना है। भक्ति मित्रता का अन्तर्गत भक्ति के तीन तत्त्व निर्धारित किए गए हैं—अनुग्रह प्रेम और भक्ति। पुत्र पिप्पला के प्रति स्नेह का अनुग्रह भावों की प्रति स्नेह का प्रेम तथा गुणजन दत्ता के प्रति स्नेह का भक्ति कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्नेह ही सत्कार का सार सम्बन्ध का मूलत्वात् है। यही विधाधार है। साधना के क्षेत्र में मधुरापासना का यही रहस्य है। परमब्रह्म का आश्रय जिसमें माया ही उभरी प्राप्ति का निमित्त साधना ही सत् जिसमें साधक का मन नियोजित हो सब वही भक्तियाग है। भक्तियाग साधक के अन्तिम लक्ष्य परमानन्द स्वरूप परमानन्द तन्त्र पहुँचने का सहज एव स्वाभाविक पथ है। इसीलिए इस साधन भक्ति की सनादा गयी है। भक्ति योग का लक्ष्य परम पुरुष में अपने-आपने आसक्त कर उसी में अपनी सत्ता का सर्वताभावन लीन करना है। अतः भक्तियाग प्रेम का उच्चतम विधास का निदान स्वरूप है।

शाम्भोजय तीर्थ न श्रीमान्नाथ सुधा नामक ग्रन्थ में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि निवर्धनात्तना नवध नत्वाण गुणत्व का नाम से समुत्पन्न जनकान्त बाधाओं से अविच्छिन्न अत्यधिक हृदय प्रतिग्रह निरन्तर प्रेम प्रवाह ही भक्ति है।^१ यही माध का मुख्य कारण है। परम पुरुष इसी का वशीभूत है।^२ नारद के अनुसार भक्ति परम प्रमत्ता और अमृत-स्वरूपा है जिस प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध अमर और तृप्त हो जाता है।^३ पराङ्ग

१ 'तत् भक्तिनामनिर्वर्धनात्तना नवध नत्वाण गुणत्व दानपूर्वक स्वस्वात्मात्म्येय समस्तवस्तुभ्यां नेक गुणानिर्गोचरस्य मदस्य सात्त्विकप्रतिबन्धो निरन्तर प्रेम प्रवाह ।

—श्रीमान्नाथसुधा (टी. में अथर्ववेद धर्म)

२ "भक्तिरेवं नयति भक्तिवशे पुरुष ॥ —माधुर्य पुत्रि

३ 'सात्त्विकमिदं परम प्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च । —नारद भक्तिमूर्त २१३

यत्सत्त्वा पुमान् मिद्धो भवति अमृतो भवति, तृप्तो भवति । —बही, सूत्र ४

पुन व्यास पूजादि म प्रगाढ प्रेम हान को ही भक्ति कहते हैं ।^१ मम न हरिगुण शीतलाणि म होनवाते प्रगाढ प्रेम को भक्ति की सत्ता दो है ।^२ शाङ्खिल्य ईश्वर म परानुरक्ति का भक्ति मानते हैं ।^३ पुन जात्मा म तीव्र रति व हान का भक्ति कहा गया है ।^४ श्रीमद्भागवत म निष्काम भाव स स्वभाव की प्रवृत्ति का मत्प मून भगवान् म लय हा जान का ही भक्ति कहा गया है ।^५

साराग यह है कि भक्ति जगत्स्य और उपास्य का भावात्मक सम्बन्ध है । भक्त जीव भगवान् व वाच यहां एव जगत्स्य सम्बन्ध मूल है ।^६ उसी भक्ति व नाव भगवान् भक्त पर सत्प ब्रित हा उठे है ।^७ कृष्णदास किराज न भक्ति का अभिधाय कहा है जा भगवान् जीव भक्त का सम्बन्ध है जिसका प्रयाजन वक्त् कृष्ण प्रेम की प्राप्ति है ।^८ जिस प्रकार धन का मुख्य प्रयाजन भाग है उसी प्रकार प्रेम का मुख्य प्रयाजन कृष्ण गुण है ।^९ तुलसीदास न भक्ति को साध्य माना है । सभी साधना ता एवमात्र पञ्च रामचरण म रति है ।^{१०} कृष्ण आचार्यों न कृष्ण प्रेम का निय सिद्ध कहा है । यह साध्य नहीं है । अथात् नित्य मिद कृष्ण भक्ति का प्राकट्य ही साध्य है ।^{११} कृष्णदास किराज का कहना है कि वक्त् नास्ति भक्ति का

१ पूजाश्विनुराग रति पाराशय ।

—बही मूल १६

२ कथाश्रितिति मय ।

—बही मूल १७

३ सा परानुरक्तिरीश्वर ।

—शाङ्खिल्य भक्तिमूल

४ आत्मरत्यविरोधेनति शाङ्खिल्य ।

—नारदभक्ति मूल १-

५ श्रीमद्भागवत स्क ४ श्लो २५ श्लो ३२ ३३ ।

६ कह रतुपति मुमु भामिनि बाबा । माना एक भगति कर नावा ॥

—रा च मा अ ३५ पृ ३४ ।

७ जानें वेनि द्रव्य म भाव । ओ मम भगति भगव गुण ॥

—बही अ १६ पृ ३३ ।

८ भगवान् म व न भक्ति अभिधाय हव ।

प्रेम प्रयोजन क्ते तिम वस्तु हव ॥

—च ३ मध्यलीला परि ६ पृ १३३ ।

९ धन धन जेड़े सुख भोग फल पाव ।

तेड़े भक्तिफल कु रो प्रेम उपपाव ॥

—च ३ मध्यलीला परि ७ पृ २६ ।

१० सत्प करि मागहि ष्णु पञ्च रामचरण रति होव ।

—रा च मा अ ३२ पृ ३३ ।

अथ न धरम न म कचि गति न उहउ निरवान ।

जनम जनम रति रामचरण वेह नरदानु न आन ॥

—बही अ ७ पृ २५

११ नित्य निद्वय आवश्यक प्राक् व कृष्ण साध्यता ।

—रूपगोस्वामी ।

सम्पूर्ण अभिधाय और प्रयाजन बतलाने हैं। यह भक्ति कृष्ण प्राप्ति सम्बन्ध है और प्राप्ति का साधन है यह अभिधाय है और इसका प्रयाजन प्रेम है। यह पुष्पाय का सार है और प्रेम महाधन, कृष्णमाधुर्य और कृष्णमवानन्द की प्राप्ति का कारण है। भक्ति के द्वारा कृष्ण की सेवा भी केवल कृष्ण प्रेम का आस्वादन करने के लिए की जाता है।^१

भक्तिमार्ग की महत्ता

इन्वर प्राप्ति के चार साधना मार्ग हैं—ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति का ज्ञान, कर्म और योग से श्रेष्ठ बतलाया गया है।^२ श्रीमद्भागवत में भक्तिमार्ग को विश्व-व्यापक और उत्तरात्म्य माना गया है।^३ सम्पूर्ण ब्रह्मण्य साहित्य भक्ति की महत्ता के योगांगान में आन प्राप्त है। यहां तक कि निगुणापरमवत्ता न भी मुक्तकण्ठ से भक्ति की महत्ता की उद्घोषणा की है। सन कबीर कहते हैं कि 'यदि भाव भक्ति नहीं है तो योग-साधना बुरा है।'^४ कर्म भाग बचन का कारण है और भक्ति मार्ग बचन विमोचन का सर्वाधिक उपयुक्त साधन है।^५ भक्ति के बिना ज्ञान निरर्थक है क्योंकि भवन का ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।^६ यहाँ तक कि भक्ति के बिना जप-तप सयम व्रत तीर्थ-स्नान ज्ञान, ध्यान सभी मिथ्या हैं।^७

वैष्णवी ब्रह्मण्य आचार्य कृष्णानन्द कविराज ने भी कर्म, योग और ज्ञान का भक्ति

१. वेद शास्त्र कहे सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन।

कृष्ण प्राप्ति सम्बन्ध भक्ति प्राप्ति साधन ॥

अभिधेय नाम भक्ति प्रेम प्रयोजन।

पुष्पाय शिरोमणि प्रेम महाधन ॥

कृष्ण माधुर्य सेवानन्द प्राप्ति कारण।

कृष्ण सेवा कर कृष्णरस आस्वादन ॥

—श्रु० च, मध्यलीला, परि० २, पृ० २६०।

२. 'सातु कमलान योगभ्यो विरजत'।

—ना० अ० सू०, २८।

३. श्रीमद्भागवत ७।६।६

४. भाव भगति बिलवाय दिन, कौन न मने मूल।

कहे कबीर हरि भगति बिना, मुक्ति नहीं रे मूल ॥

—क. ग्र० पृ० २४६।

५. दिखे तप हरि मू नहि सांगे कहा मयो तो अनहन् नाथ्यो।

—बही, पृ० १८२।

६. कर्म करत बडे अहमव किन पाथर की करही मेव।

बहुँ बकीर भगतिवर पाया, भास भा मिल रहुराया ॥

—ब. ग्र०, २८०

मग यदि भवि अन न पावा। राम भगति बैठ घर आवा ॥

—बही, पृ० २७४-२७५

७. कहा जप हवा तप कहा म तप कहा ज्ञान कहा अज्ञान।

जब लखि नुका न जाहिबे भाव भक्ति भगवान ॥

—बही

मुखापेक्षी वनत्राया है। जत म सयरा अतर्भात्र भक्ति म ही हा जाना १।^१ भवन गिरामणि तुत्सीदाम न भी भक्ति का सभी माघना का गुत्तर गत्त रत्त है।^२ आ भक्ति हरा प्र है। वह अनेकी मुक्ति प्रदायिनी है। पान वम और वाग म स्वरूप कृष्ण का वग म वरन की सामर्थ्य नहीं है। कृष्ण का वग म वरन का एतमान साया कृष्ण प्रमरम है।^३ भक्ति हा माया व व वन का विमाचन करनरागी है।^४ भक्ति का स्वरूप भी माया जीव का मुक्त कर पलायन कर जानी है।^५

भक्ति के प्रथम तथा चरम अवयव वृत्ति और समापत्ति

सात्त्विक सहजात सहज रतिरूप भाव या वृत्ति भक्ति का प्रथम अवयव है तथा समापत्ति उसका चरमावयव है। मनुष्य का चित्त म दस रूप सात्त्विक रतिरूप गस्तर स्मृति रूप आत्म्यतर निमित्त द्वारा या पास्ना म धर्णिन काटि वत्पाधिक वमनाय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहा क साक्षात्कार स रतिरूप भाव या वृत्ति क रूप म परिणत हा जान हैं। मक्षप म स्मृति या वत्पनादूव वस्तु म या वी द्वय प्रणात्री द्वारा बाह्य वस्तु म उपराग अथवा जाभोग क अनंतर मन म जा ग्राह्य ग्रहणाकारा प्रतीति हानी है। गयी का वृत्ति की मना दी गयी है। यह सहजात सात्त्विक रतिरूप भाव या वृत्ति अष्टदश क माहात्म्य-बाध क साथ उत्पन्न हाती है तथा स्नहधारानुकारिणी है। प्रम परिपक्वता वृत्ति भक्ति का सप्रथम अवयव है।^६ मनुष्य की यह वृत्ति बाह्य विषय विकारा क कारण स्थिर नहीं रहती तथा अयाय वृत्ति या द्वारा विच्छिन्न हाती रहती है। साधन भक्ति द्वारा चित्त के समानन हा जान पर यह वृत्ति सुस्थिर हो जाती है। इसी स्थिति विनाय म वह वृत्ति माध न रहकर विलक्षण भक्ति वन

१ कृष्णभक्ति हय कभिषय प्रधान।

भक्तिमुष्य निरीक्षण वमयोगजान ॥

—१ न मध्यलीला परि २२ पृ २७५

२ जय तप नियम जोग निज धमा। अति मभव जाना मुभ वमौ ॥

ज्ञान दयात्म तीरथ मज्जन। जह लवि धम वत्त अति मज्जन ॥

आगम निगम पुराण अनवा। पं मन कर कल प्रभु एका ॥

तव पद पवन प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह कल मन्दर ॥

—रा च मा ॥ ४८ पृ ५१४

३ जाने वमैं वाग धमैं न हे कृष्णवरा।

इ एवरा देतु पर कृष्ण प्रमरम ॥

—चै ४, मध्यलीला परि १७ पृ ८२

४ भगति करत किनु अजन प्रयासा।

स्मृति मूल कविता नामा ॥

—रा च मा, उ ११६ पृ ५५५

५ देवी भगति ओ छारे ताही।

—वही वा २ ७ पृ १२०।

६ सबाधमना निमित्तैव स्नहधारानुकारिणी।

वृत्ति प्रमपरिपक्वता भक्तिमाहात्म्यबाधजा ॥

—शाण्डि व मदिता।

जाती है और इच्छा के आह्वान के माथ अनन भूमिराजा म विकसित होती हुई फल भक्ति का रूप ग्रहण करती है। इसी भूमि में भक्ति का मधुरा भक्ति रम का आस्वादन होता है जो विषयावच्छिन्न चिन्तन-गन्धर्व लौकिक रम का साध्यतत्त्व माना गया है।^१

जिम प्रकार साहित्य रतिरूपभाव या वृत्ति भक्ति का प्रथम अर्थ है, 'उसी प्रकार समापत्ति' का उसका चरम अवयव माना गया है। पातञ्जल योगशास्त्र में कहा गया है कि 'मुनिमः स्फटिक मणि व समान वृत्तिषा म रहित चित्त का ग्रहीता ग्रहण जयया प्राप्त रूपा के द्वारा उपरजित होकर उठा व आकाशमय भासित होना समापत्ति है।'^२

भक्ति का उद्भेद

भक्ति का उद्भेद अथवा आध्यात्मिक प्रेम की जाह्निक के लिए विषय-रम्य भुगत रम्य मत्स्य, अरण्य भजन हरिगुणकीर्तनादि रम्य और सत्ता की कृपा गुणमय निष्कामता समर्पणा मन्त्रारण नामस्मरण, स्वस्व गन्धर्व स्थिर चित्त तथा पूजक म व सम्पत्ति माधन परमावश्यक है। साधन का चित्त जब कामना रहित बाध रहित निराल रहित और सामाजिक विषया व प्रतिभासित रहित हो जाना है तब तब रम्य मानस म भक्ति रूपी राजहंस का स्वतन्त्र होना है जिसमें ससार व मया प्रधान विचार और कामना नष्ट हो जाती है।^३

भक्ति का स्वरूप

भक्ति प्रेम स्वरूप है।^४ प्रीति व मित्रा भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती।^५ अतः प्रीति भक्ति का उत्स है। प्रेममयी भक्ति अहन्तुकी है। भगवान के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही भक्ति है। वह अमृत स्वरूप है। इसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध होता है और परितृप्त हो जाता है।^६ अन्तर म निरतिगम अनुराग ही भक्ति है। ईश्वर व प्रति रम परानुरक्ति व स्वरूप पर विचार करत हुए विष्णुपुराण में कहा गया है कि 'हं नाय।' मैं वसुधैव कुटुम्बकम् का होकर जिन जिन सहस्रा योनियों म परिभ्रमण कर उन सभी योनियों म तुम्हारे प्रति सत्ता

१ 'अथ च साहित्य रम । गाराणी विषयावच्छिन्नरसव चिदान्तरास्य स्फुरत्यादानादासारय भूतव भगवत्प्राकारोक्त नानोवृत्तिलक्षणे भक्ति रमे तु अनवच्छिन्नविज्ञानरूपनस्य भगवत् स्फुरत्यादत्तता विषयमानादस्य । अतो भगवद्भक्ति रम एव सात्त्विक रसानुपेक्ष्य परम रमि है सेय ।'^१

—भक्तिविराजित यन्त्रिद्वार नारायण तीर्थ ।

२ 'वीरगुणैरनिनामस्मरण मणैर्गोपीनृग्रहण प्राप्तेषु नित्यतद्वनता समापत्ति

—पातञ्जल योगशास्त्र १।४१

३ 'वाप्राप्ते न किंचिद्विज्ञानि न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ।'^३

—ता० भ० सू० ७ ।

४ "तत्त्ववस्तु तृष्ण, तृष्णभक्ति प्रेमरूप ।"

—श्री० च० आनन्दोन्मा, परि २, पृ १ ।

५ जाने विनु न होय प्रतीती ।

विनु परतीति होय नहि प्रतीती ।

प्रीति मित्रा हि भवति इति ।

—रा० च० मा०, अ० ८६, पृ० ४२७

मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे । अविवेकी पुष्प की गिरियों में जसा अविचल जागतिन रहती है तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारा प्रति भरा भाव बना हुआ अविचल प्राप्ति रस वर मर हृदय से कभी दूर न हो । ^१ विषयी की विषया व प्रति जा अत्यन्त जागतिन होती है उसी का प्रत्यावर्तन कर यदि ईश्वर में सम्युक्त किया जाय तो वह अहंत्व की या गुह्य भक्ति कल्याणी है । छांदोग्योपनिषद् में प्रभु भक्ति को सर्वोत्कृष्ट रस कहा गया है । यह वह रस है जो अपने माधुर्य में मनरूपी चातक को मस्त कर देता है । ^२ इस प्रकार उपयुक्त विवेचन में यह सिद्ध होता है कि भक्ति का वास्तविक स्वरूप अहंत्व की ही हाता है ।

भक्ति के दस सोपान

‘भक्तिरसामृतसिन्धु’ में स्वामीजी ने भक्ति के दस सोपान बतलाये हैं ग्रिह क्रम में बढ़ा विनाश बढ़ा भजन क्रिया बढ़ा के माग ॥ जानवाये चरणों का निवृत्ति निष्ठा प्रकाश एवं अनुकूल रस गतिन या विज्ञान इत्यादि प्रेम भाव या अनुभूति और भक्ति की सत्ता दी गयी है । ^३ सूफी धर्म में जिनामा प्रेम जाओक या पान साक्षात्कृता का विनाश ऐक्य विस्मय और आत्मसमर्पण क्रम में चार अवस्थाओं का वर्णन हुआ है ।

भक्ति के अनुबन्ध चतुष्टय

अधिकारी सम्बन्ध अभिधाय और प्रयाजन यही भक्ति के अनुबन्ध चतुष्टय कह जाते हैं । भक्ति गान्धर्व व प्रति श्रान्तवान् यवित अधिकारी है । यही जीवतत्त्व है । परमात्मा अखिल प्रमत्तानन्द मूर्ति है । वे नित्य रस स्वरूप हैं नित्य प्रेम स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द स्वरूप हैं । सूर्य की किरण के समान अथवा अग्नि की स्फुटि के समान जीव इस जलित प्रेम रस आनन्द स्वरूप इन्द्र का हाथ अंग है । अतः विगुह्य प्रमत्त आनन्द ही जीव का प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है । प्रेमानन्द ही उसका प्रकृत स्वरूप है । ^४ जीवतत्त्व का उपास्यत्व व साधन वाच्य वाचक सम्बन्ध है । उपास्यत्व की प्राप्ति का उपाय अर्थात् भक्ति अभिधाय है और उपास्य व प्रेम की प्राप्ति ही इसका प्रयोजन है । जीवन की परम प्रयाजनीय वस्तु पुरुषार्थ गिरोमणि प्रेम महाधन है । जिस प्रयाजन के पूरा हो जान पर सारी आवश्यकताएँ निवृत्त हो जाती हैं वही है यह अनिवचनीय प्रेम महाधन । अपने प्राप्तव्य

- १ नाथयोनिसहस्रेषु येषु वैषु ब्रजाम्बहम् ।
तेषु तन्मयचक्राभक्तिरनुनास्तु सत्तात्ववि ॥
या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपाविनि ।
स्वामिनुस्मरत सा मे हृदयाभासपशु ॥

—विष्णु पुराण १२.०.१६.२ ।

- २ स एव रसानां रसतम परम परार्थम् ।

—छांदोग्योपनिषद् ।

- ३ भक्तिरसामृतसिन्धु (१२) ।

- ४ आनन्दो नमोऽस्ति ब्रजानाम् । आनन्दोऽयं स हि मानि भूतानि आवेते । आनन्दो जातानि जीवति । आनन्दं प्रयत्नविम्विशति ।

—तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१२.११ ।

को आकर्षित करना ही इसका स्वभाव है। इस प्रकार भगवत्साधना का प्रयोजन ही प्रेम है। प्रेम की पूर्वस्थिति का नाम 'भाव' या रति है। साधन भक्ति व परिणाम में भाव भक्ति का उदय होता है। जब दृष्टद्वय में प्रीति के कारण मन सख्य रहना चाहता है तब भाव ही रति नाम से अभिहित होता है। यह भाव मन की अवस्था या विकार विशेष का नाम है। त्रिपय रम निमग्न व्यक्ति का चित्त जब भगवद्भुज होता है तथा भगवद् भाव में विभावित होता है तब रति के चित्त में रस होता है तब भावोत्पत्ति की दशा आती है। यह प्रेम की प्राथमिक अवस्था है। 'भाव' चित्त का रजित कर उसकी कठोरता का दूर करके उसका मुकुट बनाता है। यह ह्याग्निनी भक्ति का रति विषय है और इसकी अपेक्षा काटिगुणा आनन्द रूप, आह्लादिनी भक्ति के मारुत रूप 'वृत्ति' का रति कहते हैं। इसी भावदशा में प्रेमातुर उत्पन्न होता है। प्रेमातुर उत्पन्न होने व पूर्व गति अव्यवहार विरति, मान भूयता आगात्रय, समुक्छा नाम स्मरण में दक्षि, भगवद्गुणाभ्यास में आसक्ति और रंग लीलाभूमि में प्रीति—ये ही लक्षण उदित होते हैं। प्रेमाविष्ट चित्त की उच्चतम दशा में नाना प्रकार के विचित्र भावों का आविर्भाव होता है।

जिस घण्टे पुरुष के चित्त में इस नवान प्रेम का उन्मीलन होता है उसकी वाणी और क्रिया के रहस्य का गान प्रणता भी नहीं जान सक्त।^१ ऐसा प्रेमी साधन स्वप्रिय दृष्टद्वय का नाम-कीर्तन करत-करते भगवान् में अनुराग हो जान के कारण द्रवित चित्त हाकर कभी हुम्ना है कभी रोता है कभी उच्चस्वर में प्रलाप करता है, कभी गाता है, कभी उन्मत्त के समान वृत्त्य करन लगता है। वह सात्रक स्वभावत सामान्य जनादिन आचार-व्यवहार से बहिर्भूत होकर गाय करता है।^२

भक्ति के प्रकार

भक्ति के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। भक्ति-दशान व प्रमुख प्रवक्तव्य गणितय तथा नारद ने भक्ति के मुख्या और गौणी दो भेद किये हैं।^३ श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित आष्टा जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञाना इन चार प्रकार के भक्तों में से प्रथम तीन की भक्ति गौणी है तथा ज्ञानी की भक्ति मुख्या है जिस अहंत्वाकी भक्ति भी कहते हैं। श्रीमद्भगवत् में तामसी राजसी और साह्यिकी भक्ति का वर्णन किया गया है जिन्हें गौणी भक्ति की संज्ञा दी गयी है। इनसे अष्ट पराभक्ति है जो मुख्या तथा अहंत्वाकी मानी गयी है। इसी परा भक्ति का निगूण भक्ति भी कहा गया है। दशौ मीमांसा दशान के रस पाद में अगिरा ने

१ अच्युतय नवप्रेमा सरयोमीलति चेतमि ।

भक्तशालीभिरप्यस्य मुनामुष्ण मुदुग्मा ॥

२ एव नन स्वप्रियनामकीर्त्या

जातानुरागो द्रवचित्त उच्चै ।

इत्यस्यो रोति रीति गाय—

रुमा-वन्तुवति लोकाष्ट ॥

—श्रीमद्भगवत् (११।२।४०)

३ शास्त्रिक्य सूत्र ७०

वधी और रागात्मिका भक्ति के दो भेद बतलाये हैं। विविध विधानों द्वारा की जाने वाली भक्ति वधी है।^१ इससे भिन्न रस का अनुभव करानेवाली आनन्द और आनन्द प्रदायिनी भक्ति को रागात्मिका कहते हैं।^२ गीता में इसी का अनुरूप निगुण भक्ति का निरूपण किया गया है।^३

नवधा भक्ति और एकादश आसक्तियाँ

भक्त प्रह्लाद ने भक्ति का श्रवण कीर्तन स्मरण ध्यान सेवन अचम वन्दन दास्य, सत्य और आत्मनिवेदन—ये नौ भेद बतलाये हैं। भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा प्राप्त गतिस्थित भक्ति तरंगिणी श्रीमद्भागवत^४ गीता आदि बर्णन ग्रन्थों में विस्तृत निरूपण किया गया है। देवपि नारद ने गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सत्यासक्ति कातासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तमयतासक्ति और परम विरहासक्ति—इन ग्यारह प्रकार की प्रेमरूपा भक्ति का उल्लेख किया है।^५ इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा में ग्यारह प्रकार से मन की आसक्ति सम्भव है।

साधन भक्ति और साध्य भक्ति

भक्ति के उपयुक्त रूपों का आधार पर ही साधन रूप और साध्यरूप भक्ति के दो भेद बतलाये गये हैं। साधनरूप भक्ति ही वधी अथवा नवधा भक्ति है तथा साध्यरूप भक्ति रागानुगा अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति है। श्रीमद्भागवत में निरूपित नवधा भक्ति मुख्यतः वधी भक्ति है जिस वनिष्ठा भक्ति भी कहा गया है। उसी में प्रेमलक्षणा भक्ति का जोड़कर प्रेम लक्षणा नामक दशधा भक्ति की उद्भावना की गयी है जिसे मध्यमा भक्ति की संज्ञा दी गयी है। यह प्रेमलक्षणा भक्ति निष्काम होती है तथा इसमें प्रेम अथवा राग की प्रधानता होती है। सगुण भक्तों एवं निगुण सन्तों ने बड़े उत्साह के साथ इसे ग्रहण किया है। गोपी प्रेम को ही प्रेमलक्षणा भक्ति का आदर्श माना गया है। गोपीप्रेम में इष्टदेव जीवृष्ण के माहात्म्य और प्रभाव का ज्ञान उनके प्रति व्याकुलता का भाव उन पर सर्वस्व समर्पण करने की उत्कट अभिलाषा और उनके सुख से सुखी रहने की दुर्निवार आकांक्षा की प्रमुखता है। प्रेमलक्षणा भक्ति में जाति वर्ण लोकाचार पास्नाचार कुल मयादा देव काल का कोई भेद भाव माया नहीं है।

१ विधिसाध्यमाना वैधी साधनरूपा ।

—दैवी श्रीमाता दर्शन । रसपत्र सूत्र ११ ।

२ रमानुभवधिवानन्द शान्तिप्रदा रागात्मिका ।

—वैष्णव सूत्र १२ ।

३ श्रीमद्भगवद्गीता १२।११।१५ द्रष्टव्य ।

४ श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण ध्यानसेवनम् ।

अचम वन्दन दास्य सत्यमात्मनिवन्दनम् ॥

—श्रीमद्भागवत ७।१।२३

५ गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्य सच्चि सरयासक्ति कातासक्ति वात्सल्या सत्यासक्ति अन्यासक्ति तमयतासक्ति परम विरहासक्ति, रूपा श्रवणाद्वेदादराधा भक्ति ।

—भक्तिपूज ८२ ।

परमेश्वर व प्रति प्रगाप्त प्रेम होत ही प्रेमी भवन व सभी सासारिक बंधन गिरियल हा पात है। वह भौतिकता व धरातल से उठकर ऐसे अनयलोव म पहुच जाता है जहाँ अहंता उससे नयना म प्रियतम के दिव्यरूप और गुण जगमगात रहत हैं। इस अरस्या को प्राप्त हाकर माधव तन मन धर द्वार सबकी मुधि गा बठता है और उमत्त की तरह घूमता फिरता है।^१ वह प्रेमाधिक्य के कारण रह रह कर रोमांचित हो उठता है लम्बी लम्बी आहें भरता है, और आँखों से अमृता का जलम धारा प्रवाहित करता रहता है। इस प्रकार ठक्कर राम रसायन पीन वा मत्तवार को भला नवधामविन की क्या परवाह हो सकती है ?^२

प्रेमलक्षणा भक्ति व पथिक का चित्त अतमनी होकर निरंतर अपने साध्य म ही नियाजित रहता है। इस प्रेमलक्षणा भक्ति के रहस्य को काइ महा जान सरता।^३ जिस प्रकार पानी व बिना मछली दूध के बिना गिरु औपधि के बिना रागी, स्वानि-बूद व बिना चातक चन्द्रमा व बिना चकोर और चन्दन के बिना सप आवुल रहत हैं उसी प्रकार भवन प्रेम और प्रेमाधार को पाने व लिए आवुल आवुल बना रहता है। जिस प्रकार निधन धन को और कामिनी वात का पाने की चाह करती है उसी प्रकार भवन का भगवान् की चाह होनी है। उस काइ दूसरी वस्तु नही मुगनी। प्रेम का ऐसा ही प्रभाव हाता है।^४ बोधसार' म इसी प्रेमशा का वर्णन करत हुए कहा गया है कि प्रियतम वृष्ण की उपामना करत समय यह शरीर रोमाच मे चमलहन हा गया भक्ति भावना स मा आनर्जित हो उठा, प्रेमाश्रुता से मुख-मण्ड और बाष्पाश्रु-बाणी म बठ विमृषित हो उठे। अत्र वृष्णाश्रुन को छोडकर दूसरे विषय के ग्रहण के लिए हम एष क्षण का भी अवकाश नहीं है। इतने पर भी साधु-प आदि

१ प्रेम लम्बी परमेश्वर सों सब भूति गयो सब ही धर बारा।

—यों जनमज निरैं निज ही तित नेत्रु रानी न शरीर सभारा ॥

—म त मुन्दरान्त ज्ञानसमुद्र दि० उ १० २४।

२ स्वाम उस्वाम उठे सर रोम गनै दृग नीर अमृदित धारा।

मुदर नीन करे नयन विधि आकि पर यो रम भी मलबारा ॥

—बही, २४।३८।

३ निराश्रित हरि सों प्रितासकी सग टगयो सो रहिये।

कोठ न जानि सके यह भवती प्रेमलक्षणा कहिये ॥

—बही, २४।४०।

४ नीर दिनु मीन दु धी धीर बिनु शिनु जैसे

धीर जाक औपधि बिनु कैसे रह्यो जान है।

चातक यों स्वानिबूद चंद को चकोर जैसे

चन्दन की चाह करि सप अनुतात है।

निधन यों धन गाहे कामिनी क्या कत चाहे,

ऐसी बाकी राह तावों बधु न मुगन है।

प्रेम की प्रभाव ऐसी प्रेम तहाँ नम कैसे,

मुन्दर कहत यह प्रेम ही धी बात है।

—बही, २६।४३।

चतुर्विध भुक्तिर्मात्र न जाने क्या हमारे द्वार पर गड़ी हमारी दागी बनन व निग लम्बा रही हैं ।^१

श्रीमद्भागवत' में भगवान् नन्द को निन्दित भक्त निरोधन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि प्रेम के प्रादुर्भाव हो जाने से जिमनी बाणी गद्गद और चित्त द्रवाभूत हो जाता है जो प्रमादण में बभी रोना है बभी हसना है बभी आत्मा त्यागकर ऊँचे स्वर में गान और नाचने लगता है ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवन को पवित्र कर देता है ।^२ नारदभक्तिमूर्त में वर्णित स्वारह प्रकार की आमन्त्रिया भाव भक्ति या प्रेम भक्ति से सम्पन्न हैं ।

प्रेम लक्षणाभक्ति से थोड़ा पराभक्ति है जिस उत्तमा भक्ति की भी सत्ता दी गई है । इसमें साधक का मन अपने इष्टदेव में तत्परावस्त अविच्छिन्न भाव से रमा रहता है । प्रेम प्रेम की अविच्छिन्नता रहती है । जिम प्रकार तेल एक पात्र से दूसरे पात्र में रतन समय एक ही अविच्छिन्न धारा में गिरता है उसी प्रकार जब चित्त अविच्छिन्न भाव से ब्रह्म में नियोजित हो जाय तभी पराभक्ति का प्रादुर्भाव होता है ।^३ पराभक्ति की दशा में एक क्षण के लिए भी साधक का साध्य से विभक्त नहीं होता । गार्ग्यमूर्त में श्री का स्वर के प्रति परानुरक्ति कहा गया है । यह पराभक्ति अहेतुकी और अव्यवहित हानी है ।^४ प्रेम साध्यभक्ति की सत्ता दी गई है । पराभक्ति का साधक सालोक्य साष्टि माभीष्य माह्व्य साधुय कवल्य निवाण आदि किसी प्रकार की मुक्ति या भुक्ति नहीं चाहता ।

पराभक्ति साधना की चरमावस्था एक परमगुह्य है । पराभक्ति की दशा में साधक और साध्य गौरीवि भक्त होते हुए भी भाव के क्षेत्र में एकात्म हो जाते हैं । भक्त और भगवान् की एकात्मकता का बड़ा ही सुन्दर विवचन भक्ता एक सत्ता न किया है ।^५ जिस प्रकार राजयोग की समाधि-दशा में योगी ब्रह्म के साथ तात्काल्य अनुभव करता है और

१ रोमाचेन नमस्कृतं तनुरिय भक्त्यामनोनदित

प्रेमाश्रयि विभूषयति कथं कथं गिरा गद्गता ।

नारदभक्त्या लक्षणाभक्त्या च तत्परावस्त

मुक्तेति । तदुर्विभाषि निमित्त दास्यथ लोकावने ॥

—कोपसार ।

२ वाच गद्गत्या द्रवने यस्य चित्त

रुत्यभीक्ष्ण हसति क्वचिच्च ।

चित्तं उद्गादति तूयने न

मदभक्तिमुक्तो भुवन पुनाति ॥

—श्रीमद्भागवत ११.१४.२४ ।

३ चेतसो वतन जैव तैत्थारासम सत्ता

—श्रीमद्भागवत ।

४ अहेतुशयायवर्तिता या भक्ति पुरुषोत्तम ।^१

—श्रीमद्भागवत २६. १२ ।

५ मेवमेव नित्यौ रम पीवन् भिन्न नहौ अह भिन्न सत्ता ही ।

यो जल बीच धरयो जलपिष्ट मुपिष्ट सुनीर जुरे बन्धु नाहीं ॥

यो दृग में पुनरी दृगवक नहौ कष्टु भिन्न सुभिन निपाहीं ।

मुन्दर मेवमेव भाव सत्ता यह भक्ति परा परमात्म भाहीं ॥

—सप्त मुदरगम दा. स. नि. ३०. २८।४६

उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर बाह्यजगत से विमुख हो जाती हैं तथा अपने-अपन बाप को स्थगित कर देती हैं उसी प्रकार पराभक्ति की दशा में भक्त की प्रवृत्ति बाह्य-जगत से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है। उसकी इन्द्रियाँ पूर्णतः भगवानुपासिनी हो जाती हैं।^१ मन्तो ने इस महाभावस्था का बड़ा ही विस्मयोपात्तक वर्णन किया है। “श्रीमदभागवत” में पराभक्ति की उमादपूष स्थिति का मार्मिक चित्रण करते हुए कहा गया है कि इसमें भगवत्प्रेम जय उमा की भावना अत्यन्त तीव्र हो उठती है। दिव्योमाद की इस उत्कृष्ट अवस्था में तीव्र वेदना के अधुआ के आगे-पीछे उल्लास की विप्लव स्थित रेखा पिची रहती है तथा हृष के साथ-साथ घाटी-वाणी से उलटा मीठा प्रलाप वगैरा भी जारी रहता है। भक्त आनन्दमग्न होकर कभी नाचने लगता है कभी तार-स्वर से हरिगुणगान करने लगता है फिर एकाएक मौन धारण कर लेता है। वह इस प्रकार चिन्तन में लीन हो जाता है मानो अपने आराध्य से एवम्ब हो गया हो। इस स्थिति में भक्त की भावना-तन्त्री परमात्मा के स्वर से पूर्णतः सञ्चाली स्वर में बजने लगता है। भक्त के भावनात्मक जीवन में एक तीव्र वेदनाशीलता उत्पन्न हो जाती है और वह सारा भुगवत् स्वर की मत्त अनुभूति करने लगता है।^२

भक्त की भावना के अनुसार भक्ति के भेद

सारंग यह है कि पराभक्ति जलज्वालाकार पान के अवच्छिन्न प्रवाह के साथ भक्त की अत्यन्त सूक्ष्म एक रसमयी सवेदनाशीलता तथा भगवदकृपा की बालों की हिलोरा का सगम-स्पर्श है। इस अवस्था में अहम् का सवताभावेन विगोचन हो जाता है केवल अपनी आत्मा के रूप में ईश्वरानुभूति शेष रह जाती है। हिन्नी के वण्णव कविता की अपेक्षा बंगाली वण्णव कविता में भक्ति-तत्त्व की अधिक समृद्ध सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचना की है। श्री रूप गोस्वामी श्री जीवगोस्वामी एवं वृष्णदास कविराज आदि वण्णव आचार्यों ने भक्त भेद से रति भेद से, साधन भेद से इष्ट के स्वरूप पान से भक्ति के विभाजन किये हैं। वण्णवदास कविराज ने भक्त की दाय्य भावना तस्य भावना चात्मन्य भावना और शृंगार भावना के आधार पर भक्ति के चार प्रकार बतलाये हैं। इनमें सभी अपनी अपनी भावना का श्रेष्ठ मानते हुए उसी भावना से वृष्ण सुख का आस्वादन करते हैं।^३ सूरदासजी ने भी भक्ति को बहुरूपा कहा है। जिस प्रकार

- १ गवण विना पुनि मुनय नैन विन रूप निहारय ।
रसना विन उच्चरय प्रशमा बहु विस्तारय ॥
नृत्य चरय निनु करय हरत निनु ताल बजावे ।
भग विना मिलि संग बहुत आनन्द बढ़ावे ॥

—बही २५४ ।

- २ कविद् हृदन्त्य-न्युनचि तथा कवि
दुष्मति न दति वदत्यलौकिका ।
सुखति गायत्यनुसारीन्य त्यन
भवति तूष्णीं परमेत्य निवृत्ता ॥

—श्रीमदभागवत ११।३।३२ ।

- ३ दास्य सत्य काःसत्य आर जे १ गार ।
चारि भावे चतुर्विध भवत आचार ॥
निज निज भाव सरे श्रेष्ठ करि माने ।
निज भावे जे कृष्ण मुख आस्वादेन ॥

—बही ४०, आदि लीला परि० ५, पृ० २३ ।

पानी में कई रंग मिलने से वह कई रंग का हो जाता है उसी प्रकार माना भक्ति के भावना अनुसार सतोगुणा रजोगुणी तमोगुणा और गुडा चार भेद हो जाते हैं।^१ इनमें गुडा भक्ति सर्वोपरि मानी गई है, क्योंकि इसमें सभी कामनाओं का विमर्जन कर केवल कृष्णानुशील किया जाता है। यह कृष्ण प्रेम की उन्नायिका है।^२

रति भेद के अनुसार भक्ति के भेद

भक्तों के रूप भेदों से कृष्ण के प्रति रति में भी भेद है। कुछ भक्त-वराग्य भाव से कुछ दास्य भाव से कुछ शृंगार भाव से कुछ मत्वा भाव से और कुछ पुत्र भाव से भगवान् को उपासना करते हैं। इस प्रकार कृष्ण के प्रति भक्तों की भावना या रति के अनुसार गान्ध दास्य मत्वा वात्सल्य और मधुर—य पाँच प्रकार की भक्ति माना जाता है।^३ इनमें मधुर भक्ति का प्रेम भक्ति की सना दी गई है। सभी भाव की भक्तियाँ मधुर मधुर भक्ति जैसा प्रेम भक्ति में मल्ल हैं। श्री रूपगोस्वामी ने भी भक्तिरसामृतमिथु में भक्ति के सामान्य और उत्तम दो भेद बताए हैं जिनमें उत्तम भक्ति के भेद—माधन भक्ति भाव भक्ति और प्रेम भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है।^४ उत्तम भक्ति भोगवामना और भोगवामना से स्वयं स्वतन्त्र ज्ञान तथा कम से मुक्त उत्कृष्टतम भक्ति है।^५ कल्याणनव गुणदत्त भोगवामनाकारित्व मुद्रा

१ माता भक्ति चारि प्रकार ।

सत रज तम गुण मुद्रासार ॥

भक्ति एक पुनि बहुविधि होइ ।

“यों मल रंग मिलि रंग सुन्दर ॥

—शूरसागर ३।१३ पृ० १३३ ।

२ यह शुद्ध भक्ति इहा है प्रेम हय ।

पञ्चरान भागवते पल्लवणा वय ॥—च च मध्यलीला परि २६ पृ २४१ ।

३ भक्त भेद रति भेद पञ्च प्रकार ।

शात रति दास्य रति सटय रति आर ॥

वात्सल्य रति मधुर रति पञ्च विभेद ।

रति भेद कृष्णभक्ति रम पञ्चभेद ।

शात दास्य सटय वात्सल्य मधुर रस नाम ॥

—च च मध्यलीला परि २६, पृ २४२ ।

४ आदा साम य भक्त्याद्वा द्वितीया साधनादिना ।

भावादिना सुनीयात् गुण्या प्रेमनिरूपिता ॥

—म र नि पू १।७

सा मरित साधन भाव प्रमाचेनि विधीयता ।

—म र नि पू १।१

५ भक्त्याभिलाषिणा जय ज्ञानरमावनाश्रितम् ।

मानुस्त्वेन कल्याणशीलन भक्तिरुत्तमा ॥

—व १ ५ १।६

भक्त्याभा भक्त्या द्वाकि ज्ञान वर्य ।

मानुस्त्वे सर्वोद्विष्टानुशीलन ॥

भक्ति मुक्ति आदि नाशयि मने हय ।

साधन करिमे प्रेम उत्पन्न ना हय ॥

—च च मध्य० परि २६, पृ २४१

कृष्णरस स्वरूप और गुणदत्त भक्ति का परिचय ।

भक्त सादानन्द की विशेषात्मता व प्रणि तपसना और श्रीकृष्णकृष्णव और कृष्णकीकरण
अथवा श्रीकृष्णपरिणी गति—य उत्तमा भक्ति के छ गुण हैं।^१ माधन भक्ति भक्ति की
प्राथमिक अवस्था है। इसने द्वारा चित्त प्रमगित होकर ज्ञान अनन्तता का प्राप्त होता है तब
परमभक्ति नामक भक्ति की चरमावस्था उपस्थित होती है।

भावभक्ति साधनभक्ति में विकसित होती है। यह भाव भक्ति आन्तरिक भाव के फल
स्वरूप होती है। यह 'माधनाभिनिवेश' या 'कृष्णप्रसाद' या 'कृष्णभजन प्रसाद' होती
है।^२ यह प्रेममयी तो वही है किन्तु 'प्रेम-मूल्यानु-साम्य भाव' अर्थात् प्रेम भक्ति उत्पन्न करने
वाली है। भाव भक्ति अथवा माधन भक्ति जो 'सर्गिक' और भागवत की अवस्था है किसी
प्रकार व साधन अथवा प्रयत्न व द्वारा माध्य नहीं है। मन्त्रा भावावग उत्पन्न नहीं किया जा
सकता। वह तो पहले से ही विद्यमान रहता है। उस मित्र व्यक्त करने की आवश्यकता होती
है। इष्टदेव व प्रणि चित्त की अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेमभक्ति कहानी है।
यजवन्मात्रा का कृष्ण प्रेम इसका सर्वोद्भूत दृष्टान्त है।

गान्ध भाव में विरक्ति मन्त्र-मन्त्र भाव में अनुवृत्ति मन्त्र भाव में प्रीति और
वात्सरय में स्नेह की प्रधानता है। मधुरभाव में इन सबका समावेश हो जाता है। इसके
अतिरिक्त इसमें प्रियतम का सुमधुर रसि प्रदान करने की विशेषता रहती है। 'द्वन्द्वार रस'
में सर्वाधिक माधुरी हान के कारण मधुरभक्ति अर्थात् प्रेमभक्ति सर्वश्रेष्ठ है। मूर तुलसी
आदि भक्ता ने भी वाच्य-वार प्रेमभक्ति की सर्वश्रेष्ठता की उदघोषणा की है।^३ प्रेम भक्ति
'भाव भक्ति-परिपान' है। भाव परिपक्व होकर 'साक्षात्मा' हो जाता है तब भाव प्रेम में
परिवर्तित हो जाता है और चित्त सम होकर अनय ममतावान् हो जाता है। थड़ा माधु
सग, भजन किया अनवनिवर्ति निष्ठा बलि जामस्ति और भाव प्रेमभक्ति के उच्च व त्रिमित
मापान हैं।^४

प्रेम भक्ति का स्वस्व अविचलनाय है। यह गुण रहित है कामना रहित है प्रतिक्षण ब्रह्मे
वाणी है विच्छेद रहित है मूर्ध्म स भा मूर्ध्मतर है और स्वमन्त्र है। इन प्राप्ति कर प्रमी प्रेम

१ वैशाखी शुक्ल माघलपुतायु सुकुलमा ।
सा दान द विशेषात्मा श्रीकृष्णपरिणी च सा ॥

—भा० २ मि० पू १।१२

२ प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होय ।
माध कृपा करि दीर्घ सोय ॥

—सूरस गद

प्रेम भक्ति जल बिनु समराय ।
अभिभक्तर मल कष्टुं न जाय ॥

—रा० च० भा०

३ साधनाभिनिवेशेन कृष्णनमस्त्वोक्तया ।
प्रसादोनातिपायाना भावोद्घोषाभिनायने ॥

—भा २० मि० १०, ३।५

४ सम्पद मन्त्रिणस्वाना भक्त्य निश्यामिन ।
भाज म धव साक्षात्मा बुध प्रेमा निगधने ॥

—भा० २० सि० १०, ४।१

को ही देखना है, प्रेम को ही सुनना है प्रेम का ही वर्णन करना है और प्रेम का ही चित्रन करना है। पूर्वोक्त ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ हमने विभिन्न प्रकार हैं।

साधन भेद से भक्ति के भेद

उपास्य व परत्व अर्थात् ऐश्वर्य और सौम्य वचात् माधुर्य दो मुख्य गुण हैं। इन्हीं के आधार पर वधी और रागानुगा साधनभक्ति व दो रूप मान गये हैं।

वधी भक्ति

वधी भक्ति में स्वामी गवक भाव विधि निषेध का विचार पोषणापचार नवधा भक्ति का समावेश बन्धन प्रिया-वर्णन वर्णाश्रम की मायना आदि प्रमुक्त तत्व हैं। गरणा गति गुरुसेवा श्रवण कीर्तन स्मरण पादमेवा अचना बन्धन दास्य सत्य और आत्म निवृत्त इसके एकादश अंग माने गये हैं। अन्यत्र हमने चौमठ भेद बताया गया है।^१ वृष्णास कविराज ने वधी भक्ति को हीन कोटि की भक्ति मानते हुए भी कहा है कि 'मम निष्ठा उपजती है और प्रेम की उत्पत्ति होती है।'^२ मुख्यरूप से वधी भक्ति वृष्णव गात्रा में निर्धारित उपासना विधियाँ स अनुगमिता है। 'मम राग स्थिति तक पहुँचने का व्यवस्था नहीं है।'^३

रागभक्ति रागानुगा और रागात्मिका

प्राणा के स्वतः स्फूर्त आवेग से भगवान के रूप गुण नीला माधुर्य की बातें सुनकर मन में यदि लालसा का उदय होता है प्रियतम प्रभु व प्रति नसगिर रमणीय आविष्टता दीव पड़ती है तो उसे रागमयी भक्ति कहते हैं। जस विषयो पुरपा का स्वभावन ही विषयो के प्रति विषय-ससंग की इच्छा से मुक्त आकर्षण होता है जस जाखा की मौदम व प्रति और वाना की मधुर स्वर व प्रति प्रसन्न बाछा हानी है उसी प्रकार जस भक्त का भगवान व प्रति आकर्षण या वृष्णा उत्पन्न हानी है तब उस राग कहते हैं।^४

१ चै च मध्यलीला परि २२ १ २८४ ब्रह्मव।

२ एक भग साथे देह साथ बद्ध भग।
निष्ठा होने उपनय प्रेमर तरंग॥

— १ च मध्यलीला परि २२ १ २८४।

३ यत्र रागान्नाप्त वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शामनेनैव शास्त्रस्य सा वधी भक्तिरुच्यते॥

— म र सि पू २५

४ तत्र विषयिण स्वामि विरो विषय ससंगेन्द्रामय माराग यथा 'चतुरादीनां सा दयात्ता ता' शास्त्रव भवत्स्य श्रीभगवत्पति राग व युज्यते।

— भक्तिसंग्रह (जी रूपगोस्वामी)

रागानुगा कामानुगा और सम्बन्धानुगा

रागभक्ति के रागानुगा और रागात्मिका दो भेद बतलाये गये हैं। रागानुगा भक्ति के कामानुगा और सम्बन्धानुगा दो भेद माने गये हैं।^१ पुनः कामानुगा रागभक्ति के सम्भागच्छा मयी और तत्तद्भावच्छा मयी दो अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। वेल्-सम्बन्धी अभिलाषा युक्त भक्ति सम्भागच्छा मयी बहुलाती है तथा यूयेस्वरी व्रजदवियों के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासना मयी भक्ति को तत्तद्भावच्छा मयी कहा जाता है। जो लोग व्रजवासिया के समान अर्थात् दास-दासी, सखा-सखा माना पिता आदि के भाव से अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को भजते हैं वे रागानुगाभक्ति के साधक बने जाते हैं। जो भक्ति रागात्मिका भक्ति के अनुकरण के लिए होती है तथा उसी प्रकार के भाव की ओर साधक को परिचालित करती है वही रागानुगा भक्ति है। रागानुगा की प्रकृति यह है कि उसका साधक 'गैम' से व्रजवासिया के भावा का अनुगमन करता है। वह शास्त्र और युक्ति पर ध्यान नहीं देता।^२

रागानुगाभक्ति का साधक साधक रूप से उपास्यदेव का ध्वषण-कीर्तन करता है और सिद्ध रूप से मन में अपनी तिष्ठ-बृह की भावना करता है। वह श्री कृष्ण और उनके जना का स्मरण करता है। अपने मन उनसे अत्यन्त गुण की भावना करता है और सदा सबदा व्रज में रह कर श्रीकृष्ण-सत्ता करता है।^३ सनत्कुमार तत्र' में कहा गया है कि जो लोग मधुर रस रागा नुगीय साधक हैं वे श्री ललिता विन्तावा, श्रीरूप मजरी आदि की आज्ञा से श्री राधा माधव की सेवा करें तथा स्वयं श्रीकृष्ण का आचरण करने वाले वे। प सुसज्जित तथा श्री राधिका के निर्मल रूप वसनाभूषण से भूषित सगियों का समिनी के रूप में अपनी मनोमयी मूर्ति का

- १ विराज तीमभि यक्त व्रजवासिनादिषु ।
रागात्मिका मनुसता वा स रागानुगोच्यते ॥
रागानुगा विवेकायमादौ रागात्मिकोच्यते ।
इष्टे ह्यारसिकी राग परमाविष्टता भवेत् ॥
त मयी वा भवेद्भक्ति सात्र रागात्मिकोक्तिता ।
सा कामरूपा सन्ध ध रूपा चति भवेद्विधा ॥

—पृ० २० सि०, पृ० २१२१ १२२ ।

- २ तत्तद्भावान्माधुर्यं धृते धीमदपवते ।
नात्र शास्त्र न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिमद्यम् ॥

लोभ व्रजवासीर भावेर करे अनुगति ।
शास्त्र युक्ति नार्हि माने रागानुगा प्रकृति ॥

—चैत य उरितामृत ।

- ३ मेवा साधकरूपेण सिद्धिरूपेण च प्रदि ।
तद्भावलिधुना वाया व्रजलोकांनुसारत ॥
कृष्णरमरम् जन च स्व प्रेष्ट निज समीहितम् ।
उत्पन्नधारतश्चासी कुयाद् वास नवे सदा ॥

चिन्तन करें।^१ साराग यह है कि प्रजभाव अर्थात् सखीभाव की प्राप्ति के लोभ का ही नाम रागानुगा है।^२ इस साधना में सखीभाव या राधाभाव को ग्रहणकर तद्वत् गीत का स्वभाव का आचरण आनन्दोत्पन्न मनना स्मरण की प्रगाढता आवश्यक है। श्री प्रकाश भाव-योग द्वारा साधक का इष्टदेव से आन्तर मिश्रण (Mystic union with the beloved) सम्भव होता है जो मधुर रस का मुख्य प्रतिपाद है। भाव भेद के अनुसार रागानुगा भक्ति में त्रयों गान्त दास्य में दास्य सख्य में सख्य वामन्य में परिवर्तित हो जाता है। पुनः प्रमा परा और प्रीति रागानुगा के तीन भेद किय गये हैं। प्रमा में प्रमाधार का प्रति स्तब्ध भाव का उदय होता है परा में आत्मविस्मरण प्रीति तथा रति स्मरता होती है और प्रीति में प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार होता है। श्री सनानन गास्वामी का बृहद भागवतमृत में श्री जीवगोस्वामी का सत्सङ्गवत्सल्य में श्री रघुनाथ गास्वामी का विष्णु-मुमुक्षुत्व में तथा पुष्टिमार्गी श्री हरिव्यास का सिद्धान्त रत्नाञ्जलि की टीका में श्री बाल्य विद्याभूषण के गीताविवरण भाष्य में एवं अजानक वण्णव भक्तिगात्र विषयक ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक इसका विवर्धन किया गया है।

रागात्मिका-भक्ति

रागानुगा भक्ति के बाद ही मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति का प्राप्तिभाव होता है जिसमें केवल प्रजवल्लभा का ही प्रकाश है। यह मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति सहजरूपेण आन्तरिक भावों का प्रवाह है हृदय की साधना है। इसमें भक्त के हृदय में भगवान का लिए और भगवान के हृदय में भक्त का लिए स्वाभाविक रक्तान और अनयासकृत होती है। अतः एवं यह परमगुह्य एवं अत्यन्त गोपनीय है।^३ रागमयी रागात्मिका भक्ति के उत्पन्न होने ही प्रियारूपी जीवात्मा और प्रियतम रूपी परमात्मा का चिद्विवाह पुण्यविहार का परात्परतम दान होना लगता है। उपनिषद् में इसी को आत्मरति आत्मप्रीति आत्ममिथुन आत्मरमण आत्माराम की स्थिति की सज्ञा दी गयी है। इसमें सब-कुछ नारायणापि हो जाते हैं और आत्मनिवेदन की पूर्ण विधि होती है।^४

१. आमान चित्तयत्तत्र तासां मध्ये मनोरमात् ।
रूपदीवनसम्पन्ना विशोरी प्रमत्ताहृतिम् ॥

—सनत्कुमार तत्र ।

२. 'प्रबन्धीता परिवारस्था शृङ्गारादि भावमाधुर्वै श्रुते इह मयापि भूयात् इति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्र मुक्तापेक्षा न भयात् ।

—विरचनाय चरवती ।

३. गोपनीय गोपनीय गोपनीय च सवत् ।
रात्रिषा रात्रिगुप्तं चित्रनिमुक्तम् ।
प्रसन्नचरणम धर्म्यं मुखं चक्षु म ययम् ॥

—श्री हनुमत्सहिता ७५ ।

४. कायेन वाग मनोऽपि वैवा नुष्वात्मना वानुमृत स्वभावात् ।
करोमि यद् यद् सबन परमै नारायणापि समपश्यत् ॥

इष्ट वस्तु में प्रगाढ़ तृष्णा—बलवती लालसा राग का स्वरूप-लक्षण है और इष्ट में परमाविष्टता इसका तटस्थ-लक्षण बतलाया गया है ।^१

रागात्मिका के भेद कामरूपा और सम्बन्धरूपा

रागात्मिका भक्ति ही उत्तमा भक्ति है। कामरूपा और सम्बन्धरूपा इनके दो भेद हैं। भगवान् को सुखी बनाने की ऐवान्तिक कामना का ही भक्ति-शास्त्र में काम कहा गया है।^२ अतः कामरूपा भक्ति में केवल काम प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् का सुखी करन की वासना ही प्रबल है। मधुर भाव भावित श्री ब्रजमुन्दरिया इसमें केवल कृष्ण सौख्याय उद्यम गीला रहती हैं। सम्बन्धरूपा में पारिवारिक सम्बन्ध बिनाप का अभिमान ही भगवत्सेवा का प्रयोजन है। रागात्मिका में मिद-देह से नित्य वञ्चन में लीलास्वात्न होता है। इसमें मजरी द्वारा लीला प्रवश होता है। मजरी ही गुरु है। मजरी के द्वारा ही सखी रह की प्राप्ति होती है। सभी देह का काय-व्यूह ही श्री राधा हैं।

उपयुक्त विचार त्रिष्टुभा से यही निष्पन्न निकलता है कि भगवत्साधना का एकमात्र प्रयोजनतत्त्व प्रेम है। यही परम पुरुषाय प्रेम महाभा क्रमण रति, प्रेम, प्रणय मान स्नह राग अनुराग भाव और महाभाव के रूप में बद्धमान होता हुआ परमोत्कृष्ट को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रेम धातु ईश्वर भक्ति में परिवर्तित होने पर ही वास्तविक प्रेम-साद-बाध्य होता है। इसी का नाम तत्र भक्तिरसराज मधुर रस हो जाता है जो समस्त रसा का मधुर निर्मातृ एवं समस्त सौन्दर्य का सौन्दर्य है। इस मधुर रस के ज्ञान-गतिरक से साधक भक्त आत्ममग्न और परमपूज्य भाव भावनाज्ञा से सवशा असंपृष्ट और गिरा चिदानन्दमय हो जाता है।

कहा जाता है कि चतुर्थ महाप्रभु न राय रामानन्द से वास्तविक साध्य बतलाने के लिए कहा। इस पर राय रामानन्द ने क्रमण स्वधमाचरण, विष्णुभक्ति स्वधमत्याग ज्ञान मित्राभक्ति ज्ञान शून्य भक्ति प्रेमभक्ति दास्यप्रेम, गम्यप्रेम और वामस्य प्रेम को साध्य

न भमनिष्ठास्मि न चात्मवादी न भक्तिर्मां स्वधचरणादिति ।

भक्तिर्नो नायगति शरयस्व स्वधमाचरणात् शरय प्रपद्य ॥

—स्तोत्ररत्न २९।

१ इति गाढ तृष्णा राग एव स्वरूप लक्षण ।

इष्ट आविष्टता एव तटस्थलक्षण ॥

रागमयी भक्तिर इय रागात्मिका नाम ॥

—चै० १० मध्य २२।२६

यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुजिरेव जायसि ननु रागविशेष एव भव्य तस्य तादृश रागमुपाहर कराम समुत्पलसित इत्ययं स्वष्टिक मध्ये शास्त्रान्तिष्ठु त मु मादृश्या रागात्मिकाया भक्ते परिपाटीध्वनि दचिर्नायने ।

—भक्ति मन्त्र श्री जीवगोस्वामी ।

२ प्रेमैव गोपरामास्य काम इत्ययमन् प्रथमम् ।”

—गीतगीय तत्र ।

चिन्तन करें।^१ साराण यह है निःश्रयभाव अर्थात् सखीभाव की प्राप्ति व लोभ का ही नाम रागानुगा है।^२ इस साधना में सखीभाव या राधाभाव की ग्रन्थानुर तद्वन् लीला के स्वभाव का आचरण आनन्दोत्पत्ति मग्नता स्मरण की प्रयाचना आवश्यक है। इसी प्रकार भाव-योग द्वारा साधक का इष्टदेव से आन्तर मिलन (Mystic union with the beloved) सम्भव होता है जो मधुर रस का मुख्य प्रतिपाद है। भाव भक्त के अनुसार रागानुगा भक्ति में प्रमाण गान्त दास्य में दास्य सख्य में सख्य वात्सल्य में परिवर्तित हो जाता है। पुनः प्रमा परा और प्रीति रागानुगा के तीन भेद किये गए हैं। प्रमा में प्रमाधार व प्रति स्नेह भाव का उदय होता है परा में आत्मविस्मरण-गोचरता तथा रति स्थिरता होती है और प्रीति में प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार होता है। श्री सनानन गास्वामी व बृहद भागवतामृत में श्री जीवगोस्वामी के सत्पत्न्यस्युक्त में श्री रघुनाथ गास्वामी के विलास-श्रुमुमाजति में तथा पुष्टिमार्ग श्री हरिव्यास व सिद्धान्त रत्नाकर की टीका में श्री बाल्य विद्याभूषण के श्रीगोविन्द भाष्य में एवं अनन्तानक वृष्णव भक्ति-शास्त्र विषयक ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक सत्का विवेचन किया गया है।

रागात्मिका-भक्ति

रागानुगा भक्ति के नाम ही मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसमें केवल ब्रजवल्लभा का ही प्रवच है। यह मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति सहजरूपेण आन्तरिक भावा का प्रवाह है हृदय की साधना है। इसमें भक्त के हृदय में भगवान् के लिए और भगवान् के हृदय में भक्त के लिए स्वाभाविक स्थान और अनयासवित होती है। अतः एव यह परमगुह्य एवं अत्यन्त गोपनीय है।^३ रागमयी रागात्मिका भक्ति के उदय होते ही प्रियारूपी जीवात्मा और प्रियतम रूपी परमात्मा का चिन्तितस्य पुण्यविहार का परात्परतम दान होने लगता है। उपनिषद् में इसी को आत्मरति आत्मस्त्रीया आत्ममिथुन आत्मरमण आत्मराम की स्थिति की सज्ञा दी गयी है। इसमें सब-कुछ नारायणार्पित हो जाते हैं और आत्मनिवेदन की पूर्ण विवर्ति होती है।^४

१ आमान चित्तवत्तत्र तासा मध्ये मनोरमाश्च ।

रूपयौवनसम्पन्ना विशोरी प्रमत्तावृत्तिम् ॥

—सनत्कुमार तत्र ।

२ 'प्रवर्तनीता परिवर्तयथा शृङ्गारादि भावमाधुर्ये नते इदं मयापि भूयात् इति लोभोत्पत्तिवाले रास्त्र सुवदयारेषा न स्यात् ।

—विरचनाय चक्रवर्ती ।

३ गोपनीय गोपनीय गोपनीय च सबदा ।

रात्रिषा रात्रिषु च विप्रनिमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगम भर्त्सु सुखं कर्तुं मय्यम् ॥

—श्री इनुमत्सहिता ७५ ।

४ वादेन वाग मनमोर्ध्वं वा बुध्यात्मना वानुगृह्य स्वभावात् ।

करोमि यत् यत् सख्यं परस्मै नारायणायति समपद्यते ॥

इष्टवस्तु म प्रगात् तृष्णा—बलवती गलसा राग का स्वरूप-लक्षण है और इष्ट म परमाविष्टता दमका तटस्थ-लक्षण बतलाया गया है ।^१

रागात्मिका के भेद कामरूपा और सम्बन्धरूपा

रागात्मिका भक्ति ही उत्तमा भक्ति है। कामरूपा और सम्बन्धरूपा इनके दो भेद हैं। भगवान को सुखी बनाने की एकान्तिक वासना का ही भक्ति-शास्त्र म काम कहा गया है।^२ अतः कामरूपा भक्ति म वचन काम प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् का सुखी करन की वासना ही प्रबल है। मधुर भाव भावित था व्रजसुन्दरिया दसम बचल कृष्ण-सौम्याय उद्यम गाल रहती हैं। सम्बन्धरूपा म पारिवारिक सम्बन्ध विगण का अभिमान ही भगवत्सवा का प्रयोजन है। रागात्मिका म मिद-अहं से नित्य वन्धन म शलास्वान्न होता है। इसम मजरी द्वारा लीला प्रवेश होता है। मजरी ही गुर है। मजरी व द्वारा ही मली-ह की प्राप्ति होती है। सबी देह का काय-ब्यूह ही श्री राधा हैं।

उपयुक्त विचार विदुआ म यही निष्पन्न निकलता है कि भगवत्साधना का एकमात्र प्रयाजनतत्त्व प्रेम है। यही परम पुरुषाय प्रेम महाधन क्रमग रति प्रम प्रणय मान स्नह राग, अनुराग भाव और महाभाव व रूप म बद्धमान होता हुआ परमोक्त को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रेम शब्द ईश्वर भक्ति म परिवर्तित हान पर ही वास्तविक प्रेम गान्-वाच्य होता है। इसी का नाम तब भक्तिरसराज मधुर रस हा जाता है जो ममस्त रसा का मधुर नियान एव ममस्त सौदय का सौदय है। म मधुर रस के आनन्दानिरक म साधक भक्त आत्ममपूक्त और परसपूक्त भाव भावनाओं स सबथा असपृष्ट और निरा चिन्तानन्मय हो जाता है।

कहा जाता है कि चतुस महाप्रभु न राय रामानन्द स वास्तविक साध्य बतलाने के लिए कहा। म पर राय रामानन्द ने श्रमग स्वधमाचरण विष्णुभक्ति स्वधमत्याग ज्ञान मिश्राभक्ति ज्ञान गूय भक्ति प्रेमभक्ति दाम्यप्रेम, मय्यप्रेम और वामय प्रेम का साध्य

न धमनिष्ठोऽस्मि न चात्मवादी न भक्तिर्मा स्वस्वरस्यारवि ॥

भक्तिचनो नायगति शरण्य स्वस्वामूल शरण्य प्रपद्य ॥

—स्तोत्ररत्न २२।

१ इष्टे गाल तृष्णा राग यह स्वरूप लक्षण ।

इष्ट आविष्टता यह तटस्थलक्षण ॥

रागमयी भक्तिर इय रागात्मिका नाम ॥

—श्री २०, मध्य २२-६

यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे कतिरेव जातानि नतु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागमुपायन रा भास ममुल्लसित हृदय स्पष्टि मये शास्त्राणि तामु साध्या रागात्मिकाया भक्ते परिपाटीष्वपि रुचिजायते ।

—भक्तिमार्ग श्री जीवगोस्वामी ।

२ 'प्रेमैव गोपरामाद्य काम इत्यममन् प्रथम् ।'

—गीतगीय तत्र ।

वहा । विन्तु चतन्यनेव ने इन सबको बाह्य प्रमाणित कर कोई महत्व नही दिया । तब राम रामानन्द ने बताया कि वान्ताभाव सबसाध्यसार है । इसी दाम्पत्य प्रेम अथवा वान्ता भाव से इष्टदेव कृष्ण की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति होनी है । कृष्ण का रूप और माधुर्य व्रजविद्या के सान्निध्य-सयोग से अत्यधिक बढ़ जाता है । राधा का यही प्रेम साध्य गिरोमणि साध्यावधि है ।^१ यह दाम्पत्य-परक राधाकृष्णलीला अति गूढतर है । दास्य वात्सल्यादि भाव की भक्तिया से यह अप्राप्य है । केवल व्रजदेविया को इसका अधिकार है और उन्ही से इस लीला का—विलासेच्छा का विस्तार होना है ।^२ इस मधुरभाव की साधना का मूलाधार गोपीभाव है । इसी गोपीभाव को अगोकार करके साधक अर्हन्ति राधाकृष्णविहार का रमाम्वाप्न करने में समर्थ होता है ।^३ अतएव गोपीभाव की रागमयी भक्ति ही श्रेष्ठ है ।

गोपीभाव की रागमयी भक्ति पूणत निष्काम प्रेम है । अतएव यह अहेतुकी भक्ति है । इसका प्रथम और अन्तिम लक्ष्य कृष्ण को सुख देना है । इसमें गोपियाँ सब कुछ परित्याग कर कृष्ण सुख के हेतु ही प्रेम का सेवन करती हैं ।^४ अतएव गोपियाँ न इस सहज प्रेम को प्रवृत्त काम नहीं कहा जा सकता । यद्यपि उनकी जोड़ा में काम बाड़ा से कुछ साम्य अवश्य प्रतीत होता है । गोपीप्रेम का रूढ नाम भाव है । इसमें आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा नहीं होती । जिसमें कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा होती है वह कल्पि काम नही है । गोपियाँ के प्रेम में निजेन्द्रिय-मुक्त की वाछा का सबधा अभाव है । जिससे कृष्ण को सुख मिले व धमा ही सगम विहार करती हैं ।^५

१ चैतन्य चरितामृत, मध्वलीला परि ८ पृ० १४४-४६ द्रष्टव्य ।

२ राधाकृष्ण लीला ६६ अति गूढतरा दास्य वात्सल्यादि भावे ना हयगोचर ॥

सदेवक सखिगणैर इहा अधिकार सखी इति इव २६ लीलार विस्तार ॥

—चै च मध्वलीला परि ८ पृ १४१ ।

३ अतएव गोपीभाव करि अगोकार । रात्रिदिन चि ते राधाकृष्णैर विहार ॥

—चै च मध्व परि , १ १४१ ।

४ सबत्याग करि करे कृष्णर भजन ।

इ एमुख हेतु करे प्रेमेर सेवन ॥

—चै च आदिलीला परि ४ पृ १८ ।

५ सहजे गोपीप्रेम नहे प्राकृत काम ।

कामबीडा साम्ये तार वहि काम नाम ॥

—चै च आदिलीला परि ८ पृ १४२ ।

गोपीगणैर प्रेमेर रूढभाव नाम ।

शुद्ध निमल प्रेम कमु नहे काम ॥

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलिकाम ।

कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम ॥

—चै च आदिलीला परि ४ पृ २० ।

निजेन्द्रिय मुख हेतु कामर तात्पर्य । इ एमुखैर तत्पर्य गोपीभाववत् ॥

निजेन्द्रिय मुखवादा नाहि गोपीकार । कृष्णैर मुखनि करे मगनविहार ॥

—चै च मध्व०, परि ६ पृ १४२ ।

कृष्ण के स्वरूप-ज्ञान से भक्ति के भेद

कृष्ण ने दो स्वरूप हैं—ऐश्वर्यवान और ऐश्वर्यहीन । दोनों प्रकार के स्वरूपज्ञान से कृष्ण रति की उत्पत्ति होती है । कृष्ण ने ऐश्वर्यमान से उत्पन्न भक्ति को ऐश्वर्य भानमिश्रा भक्ति और ऐश्वर्यहीन प्रेममय कृष्ण के स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न भक्ति को केवल भक्ति कहते हैं ।^१ ऐश्वर्य भानमिश्रा भक्ति में ऐश्वर्य का आतंक रहता है किन्तु केवल भक्ति में ऐश्वर्य के आनन्द का सबया निरोभाव हो जाता है और उसमें शुद्ध प्रेम होता है ।^२ गान्त और दास्य रस में ऐश्वर्य ज्ञान की प्रधानता रहती है किन्तु वात्मस्थ सख्य में क्रमशः ऐश्वर्य ज्ञान का सकोचन होने हुए मधुर रस में उसका सबया अभाव हो जाता है । इष्टदेव के ऐश्वर्य ज्ञान का यही सकोचन और निरोभाव उपयुक्त भक्ति भेद की पारस्परिक श्रेष्ठता का आधार है ।

गान्तभक्ति में इष्टदेव के परम ब्रह्मत्व परमात्मत्व और ज्ञान प्रकीर्णत्व के अनुभव से इष्टत्व के प्रति निष्ठा होती है । अर्थात् गान्त भक्ति में केवल ऐश्वर्य-स्वरूप का ज्ञान होता है । दास्य भक्ति में गान्त भक्ति के गुणों के अनिरिक्त सेवा भाव की विशेषता रहती है । इष्टदेव के पूर्णऐश्वर्य के ज्ञान के फलस्वरूप भक्त में सधर्म और गौरव की भावना का उत्पन्न होना है और उसमें सेवा भाव का उत्पन्न होने से समत्व की भावना आती है । अर्थात् गान्त भक्ति की अपेक्षा दास्य भक्ति में सेवा या समता का गुण अधिक रहता है । सख्य भक्ति में गान्त के गुण और दास्य के सेवा भाव का साथ-साथ विद्वान्मूलक मन्त्रीभाव का आविर्भाव हो जाता है । अर्थात् सख्य भक्ति गौरव-सधर्महीन और विद्यामय प्रधान है । इसमें इष्टदेव के प्रति समव्यक्तता का ज्ञान होने से समताधिक्य होता है । वात्मस्थ भक्ति में गान्त का गुण दास्य के सेवा भाव सख्य की गौरव-सधर्महीनता एवं असकोच के साथ साथ समता की और अधिक प्रगल्भा होती है । मधुर भक्ति में गान्त की निष्ठा दास्य का अनिसेवा, सख्य की गौरव सधर्महीनता वात्मस्थ की समता और लालन के साथ-साथ का तात्त्विक स्नेह-सेवा और निरतिशय प्रेम प्रगल्भा के कारण सभी भावों का समाहार हो जाता है ।^३ इन्हीं विविधताओं के कारण मधुर रस की भक्ति श्रेष्ठतम मानी गई है ।

सारंग यह है कि साधन भक्ति से रति का आविर्भाव होता है । रति ही प्रगाढ़ होकर प्रेम की सत्ता प्राप्त करती है । प्रेम क्रमशः बढ़ता हुआ स्नेह मान, प्रणय राग अनुराग भाव और महाभाव का रूप में अभिविहित होना है । ये सभी मधुर रस के स्थायी भाव माने

१ पुनः कृष्णरति द्वयं दुष्टं च प्रकारः ।

ऐश्वर्यज्ञाना मिश्राकेवला भेद आर ॥

गोडुले केवलारति ऐश्वर्यज्ञानहीन ।

श्रीरामे वैकुण्ठदेवे ऐश्वर्य प्रवीण ॥

—चै च०, मध्य, परि १६, पृ २५२

२ केवलार शुद्ध प्रेम ऐश्वर्य ना जाने ।

ऐश्वर्य देखिने निज सख्य का ना माने ॥

—चै च मध्य परि० १६, पृ० २५२ ६३

३ रति य चरितामृत, पृ २५४ ।

जाते हैं। युक्त विभाव अनुभावानि वं संयोग से ये ही अमृत वं समान आम्नाय मधुर रस की अवतारणा करते हैं। स्त्री की वृष्णभक्ति रस की भी मना दी गई है। इस तरह भक्ति व रस की कोटि में पट्टचन की यही पृष्ठभूमि है। गान्ध दास्य मध्य वात्म्य और मधुर व पाँच प्रधान रस भक्त के मन में स्थायी रूप से रहते हैं। हास्य अश्रुन वीर वरुण रौन वीभत्स और भयानक—ये मध्य गौण रस तो बाष्प पात्र ही प्रवृत्त होत हैं।^१ भक्ति की रस रूपता के सम्बन्ध में प्रायः सभी तत्वा एकमत हैं। भक्ति परमप्रमस्वरूपा है अमृत-स्वरूपा है^२ भक्ति अतर्मानस का उत्थास विरोध है भक्ति ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है भक्ति समाधिजय ब्रह्मानन्द सद्गुण अथवा उससे बहुत बरकर है आनि उद्धरणा से यह स्पष्ट है कि परमात्मा में परमासक्ति परमानुराग ही भक्ति है और उस वही अमृत कहा रस और वही राग गच्छ से भी अभियोजित किया जाता है।

भक्ति की रस रूपता पर प्रराश डालते हुए यनिवर नारायण तीर्थ ने कहा है कि भगवान् विष्णु अथवा भगवान् गुरु के धरणारविन्द के मकरन्द की मदाकित्ती में अवगाहन करने वाले मन का उत्थास ही राग भाव अथवा प्रेम गच्छ से अभिहित होता है। वही आत्मानन्द का प्रकट करता हुआ हरि अथवा हरिभक्तरूप आलम्बन विभाव नामक तथा माहात्म्य गुणादिका का श्रवण-वीतन एव बन्दावनानि भूमि रूप उद्दीपन विभाव नामक कारण अधु रोमाकानि अनुभावरूप काय तथा हृष निर्वेदानि सहकारी लिंगा से अभिव्यक्त मोक्ष को भी पराजित करने वाला रसरूप रति नामक स्थायी भाव ही प्रमत्ति है।^४

१ साधन भक्ति इति ह्य रतिर उदयः। रति गच्छ इति तार प्रेम नाम कथ ॥
प्रमदुद्धि क्रमे नाम स्नेह मान प्रलयः। राग अनुराग भाव महाभाव इव ॥

२ सत्तु कृष्ण भक्तिरस स्थायी भावः। स्थायी भावे मिलि अदि विभाव अनुभाव ॥
सात्त्विक यभिरारी भावेर मिलने। हृष भक्ति रस इव अमृत आस्वात्ने ॥

३ तद् दास्य सटय वा सत्य मधुर रस नामः। कृष्णभक्ति रसमध्ये ए पर प्रधान ॥
हास्याश्रुन वीर वरुण रौद्र वीभत्समयः। पञ्चविध भक्त गौण स तरस इव ॥
पञ्चरस रथ गौ ध्यापि रहे भक्त सने। सप्तगौण आगच्छक पादये कारये ॥

—चै च मध्य परि १६ पृ २५

४ सा त्वरिमन् परमप्रेमरूपा।—ना भ सू १२।
अमृत स्वरूपा च। बही—१३।

५ भक्तिमानस उत्थास विरोधः ॥
रसरतु तन्मागौण उत्पत्ते ॥

—भक्ति श्रीमामा सूत्र ॥

५ सा परानुरक्तिरौदरे।

—रागिण्य भक्तिमय ॥

तत्त्वस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥३॥—बही ॥

देवप्रतिपदभावाद् रस शब्दाच्चारणः ॥६॥—बही ॥

५ तथा च श्रीम-मुत्तरमधनचरणारवि च मकरन्द मन्त्रिनीमवगाइमानस्य मनस समुत्तासी राग भव प्रेम शब्दमिषेय एव स्वानन्दमाविभावयन् वाच-चारण लिंगा भिरभिभवतो रसरूपो रत्या रस्य स्थायी भावो मोक्षमपि यस्तुवन् फलमवितरिणि मिदम् ॥

—म च —नारायणतोष ॥

यह सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमय है। आनन्द सृष्टि व आत्मा भी है और अन्तः भी है। रसो व स, 'मधु व स' आत्मा उपनिषद् वाक्या द्वारा उक्त सर्वाधिष्ठान परमपुरुष को परमानन्दस्वरूप ही कहा गया है। यही कारण है कि लौकिक आनन्द भी रस-स्वरूप भगवान् की ही आत्मा अभिव्यक्ति होती है। रस तो सनातन पवित्र एवं नित्य है। विषय और आश्रय की मलिनता से शुद्ध रस में भी मलिनता का जा जाना स्वभाविक है। विषय और आश्रय की निमलता से लौकिक रस में भी पवित्रता और निष्पत्ता की प्रतीति होने लगती है। इस पर विस्तार के साथ विचार करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रसात्मक मन में लिखा है कि विषयावच्छिन्न चेतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरण की कृति पर उपान्त होकर भावरूपता को प्राप्त होता है तथा पीछे वह रस-स्वरूप हो जाता है। लौकिक रस परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता। किन्तु भक्ति रस में अनवच्छिन्न चिन्तापन्न भगवान् की स्फूर्ति होती है। अतएव वह परमानन्दस्वरूप है। इसीलिए श्रीकृष्ण विषयक रसि का रस रूप न मानकर भावरूप मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। श्रीकृष्ण से मिलित देवता विषयक रसि ही भावरूपा होती है। श्रीकृष्ण तो परमानन्दस्वरूप हैं। अतएव कृष्ण विषयवरसि की रसता परिपुष्ट होती है। हमने भिन्न लौकिक कान्ताविषयक रसि की रसता वैसी परिपुष्ट नहीं हो सकती। परिपुष्ट भक्तिरस व गायन जय गय वैम ही तुच्छ हैं जैसे गूय के जावयमान प्रकाश व मामन वद्योतगण।^१

रसि निरुद्ध रस-स्वरूपा हा इससे कि विषय और आश्रय ज्ञान में म निमीलन का रसात्मक हाना आवश्यक माना गया है। समुद्रगति एवं उद्बुद्ध सम्प्रयोग और विप्रयोग शृंगाररस व मार-मवस्व भगवान् ही मनावृत्ति में विनिष्ट रसभाव का प्राप्ति करत हैं। राधा और कृष्ण का प्रेम मदानन्द रस-स्वरूप है। यद्यपि यहाँ विषय और आश्रय दोनों ही रस स्वरूप हैं। अथवा विषय आश्रय आत्मा विजातीय हान व कारण रस-स्वरूप नहीं हान। इसी प्रकार भगवान् की लीला लीलाभूमि लीलापरिवार और लीलापनाति सामग्री भी रस-स्वरूप ही होती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण निरिङ्ग रसामृत भूमि हैं और श्री राधा भी महाभाव-स्वरूपा है। शृंगार रस की अगिता और उज्ज्वला अनीपचारिक रूप से राधाकृष्ण में ही है। कृष्ण विषयक काम जोधात्मा का भी पयवसान कृष्ण प्राप्ति में ही होता है। जस कोई दीपमुद्धि में चिन्तामणि ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है ता उस चिन्तामणि की ही प्राप्ति होती है वैसे ही जागति भावना से भी जो भगवान् श्रीकृष्ण में प्रवृत्ति हानी है उसमें भगवान् प्राप्ति ही हानी है। लौकिक आरधन परलोकान्ति को नष्ट करता है और निखिल रसामृत भूति भगवान् पंचकांग अविद्या एवं काम जोधात्मा का नष्ट करत हैं।^२ जस कच्चा पक्का पक्का का

१ परिपूरसा लुदरसेभ्यो भगवद्रति ।

स्रपोतेभ्य इवात्तित्यप्रमेव बलवत्तरा ॥

—भक्ति रसायन २।७६ मधुसूदन सरस्वती ।

२ तमेक परमात्मान जार बुद्ध्याधि संगता ।

नद्रुगु यमय दह सप प्रतीषवधना ॥

शाम क्रोध मय रनेहयैव सौहृदमेव वा ।

निरय इरी विदधता यान्ति तमवना हिते ॥

—श्रीमद्भागवत ।

कारण होता है वस ही अनिमित्ता भक्ति भी अनिमित्ता भक्ति का कारण जानी है। अनिमित्तानन्द रस स्वरूप परमात्मा का रसात्मक प्रेम रस-स्वरूप है। क्योंकि विषय और आश्रय चाहे वे राधा और कृष्ण के रूप में ही या कान्ताभि भाव भरित भक्त और भगवान के रूप में—दोनों रसात्मक होने हैं।

कहा जाता है कि स्वाधिष्ठान प्रत्यक्ष चतुर्थाभिन्न परमात्मा के शाश्वतत्व से सभी तरह के भेद भावों से रहित होकर जिसका चित्त आत्मानन्द में आप्यायित है उस अपने में भिन्न भगवान की स्फूर्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में उतम रागोद्भव की संभावना कहां से हो सकती है? किन्तु ऐसा कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ऐसे आभाराम परमनिष्काम पूणकाम मुनीन्द्र के चित्त में स्वारसित प्रेम से भेद का आहायज्ञान होता है। इसी आहायज्ञान द्वारा राग और भक्ति सम्भव है। भक्तजन प्रत्यक्ष-चतुर्थाभिन्न परमब्रह्म को जानकर अतिशय प्रीति से अभिमर्षि विहीन होकर आहायज्ञान द्वारा भेद भाव की वृत्ति करने अत्यन्त तत्परता से स्वाभाविक भगवान में स्वरसिद्धी भक्ति करते हैं।^१

पारमार्थिक सत्ता के अद्वैत ज्ञान होने पर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सफा मुक्तिदायक नहीं बनकर है। प्रत्यक्ष-चतुर्थाभिन्न परमब्रह्म का विज्ञान होने के पूर्व द्वैतज्ञान या द्वैतभाव जीव के वचन का कारण होता है किन्तु विज्ञान के बाद भेद मोह के नष्ट हो जाने पर भक्ति के लिए भाविन द्वैतभाव अत्रन से ही उत्तम है। कान्ताभावपरक भक्ति भाव का यही रहस्य है। कबीर जी निगुणमार्गी मन्ता का माधुसूदन रहस्यवादी या भावभगति अज्ञान के बाद भाविन द्वैत की ही मधुर अभिव्यक्ति है।^२ परमेस्वर अखिलरामा है। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी तत्त्वदर्शी पुरुषों के चित्त में भी हठात् उनकी स्फूर्ति होती है। जिसे योगीजन कठिन साधना के उपरांत रचमात्र दख पाते हैं या नहीं उसे पमनिष्ठ उपासक अपने मन प्राण धर प्राण सवत्र कीडारत देखते हैं।^३

परम ब्रह्म तत्त्वान् निगुण निराकार है। किन्तु हमका तात्पर्य यह है कि उनमें प्रकृत गुणगण का अभाव है। निगुण अर्थात् अप्राकृत गुणगण का निषेधक नहीं है। वस्तुतः ब्रह्म

- १ यत्सुमनैरतिशयप्रीत्या कैतववजनात् ।
स्वभावस्य स्वरसतोऽपि स्वादयपदम् ।
विभेदभावमादृत्य तेनैवेत्यत तत्पदै ॥

—त्रिपुर सुन्दरी रहस्य (पानखण्ड)

- २ पारमार्थिकमैत द्वैत भजनहेतवे ।
सादृशी यदि मति स्वासा तु मुक्तिरातिथिका ॥
द्वैत मोहाय बोधार्थक नाने बोधे मनीषया ॥

—वही ।

- ३ ध्यानाभ्यासवरीहृतेन मनसा तन्निष्ठं च निश्चयं
योगि किञ्चन योगिनो यदि पर परयति परयन्तु ते ।
अस्माकं तु तत्र लोचनचमत्काराय भूषाच्चर
कानिन्दी पुनिनेषु यत् किमपि तनीत महोपावति ॥
मैतवीथी पथिकेपास्या स्वरायमिनासन लम्ब दीप्ता ।
शठेन केनापि बध हटेन दामोदरता गोपवपुर्दिनेन ॥

—मधुसूदन स्वामी

निगुण ही हैं और अचित्त्व त्रिव्यलीन गति स अप्रकृत गुणगणा को स्वीकार करने हैं। इसी लिए ब्रह्म को सगुण भी कहते हैं। इस प्रकार अप्रकृत गुणगण-युक्त परमब्रह्म को ही भक्तजन अपने भाव भेद या रति भेद का अनुसार भजते हैं। इसी के आधार पर भक्ति का सामान्य भक्ति भावनात्मिका भक्ति भावनात्मिका भक्ति तथा प्रेम निरूपिका भक्ति—य चार भेद निधारित किये गये हैं और अस्माभिः प्रतीय तथा चानुभवमिति स अनावृत रहकर अनुकूलतापूर्वक इच्छा के अनुगोहन को उत्तमा भक्ति की मना दी गई है।

मधुर रसात्मक प्रेम रस-स्वरूप ही है। वह अपने प्रादुर्भाव-कारण में जरा भी हेतु की अपेक्षा मना करता। हमारे स्वरूप में अपराध-परम्परा से हानि और प्रणाम-परम्परा में वृद्धि नहीं होता। वह अपने रसात्मक का सामान्य अमृत-स्वात् को भी तुच्छ करने वाला है तथा मित्रता का तापा का समूल विनाश करने वाला है। ऐसे अविचनीय मधुर रसात्मक प्रेम का वाणी का विषय बनाकर ओछा नहीं किया जा सकता।^१

जिस प्रकार घन का मुख्य प्रयाजन भोग है उसी प्रकार प्रेम का मुख्य प्रयाजन कृष्ण सुख है। अविचनीय प्रेम-तत्त्व वाणी का विषय बनकर नगण्य बन जाता है। दो रमिकजना का प्रेम दीपक का समान उनके हृदयागार का निश्चय रूप से प्रकाशित करता रहता है। यदि उस वाणी का द्वार में राह बर लिया जाय तो या तो वह बुझ जाता है या मल हो जाता है।^२

भगवद्भक्त में प्रवृत्त में प्रविष्ट स्थिर गाविदाकारता ही भक्ति है। चित्तुनि का अनेक कारण है और उर्वरि भक्त में भक्ति में भी भेद होता है।^३

गरा-भक्त प्रिय की मृदा होने पर मनिधान-असनिधान भेद से काम दो प्रकार का होता है। उसमें प्रवृत्त में आह्वयनिष्ठता ही सामान्य विप्रलम्भात्त्व रति है। इसी प्रकार शेष स्नेह हृदयनिष्ठ चित्तुनि में भी रति जाननी चाहिए।^४ सुखाभियोजन होने में रजस्तमाविहीन भगवत्विषयक मति ही रति है। भगवत्विषयक मति की रजस्तमाविहीनता का तात्पर्य में ही रति-नाग्नम्य होता है।^५

धीमधुगूतन मर्म्यनी आत्मा ब्रह्मविद्-वरिष्ठा न उम रवत भानमान स्वारमिक अनन्याय प्रम-स्वरूप परमात्मा का प्रति अपने अस्तव प्रेम की मधुर अभियोजना की है।

१ प्राग्भावे निते न वेन गतिनी हेतुगतीवानपि

धीयेतापि न चापराधविधिना नत्वा न यो बद्धे ।

पाशु प्रणिशान्तिस्त्रिजगती दु गत् ६ साप्रत

प्रेम्यातस्य गुरो विमथ बरवकाजनिष्ठतालापवम् ॥

—रीम-भागवत ।

२ प्रमादयो रमिञ्चोरपि दीप एव

हृदेरम भामयति निरालमेव भागि ।

शरादय वनतस्तु बहिष्कृत्ये

निर्धति शीवमधवा लघुगामुपनि ॥

—वरी ।

३ तिस्र ते कारणाना भेदाभिस्तु विधन ।

४ यामभेदेरती शोक क्षामभीतिरमयास्तथा ।

उत्माहो सुधि दाने च मगदविषा क्षमी ॥

५ विरहे यादरा दु ग कादरी करये रति ।

एकभक्तिविशिष्ट' से भी गी की पुष्टि होती है। प्रेम में व्यवधान सहन की क्षमता नहीं होती इसीलिए दूरस्थित में या व्यवहित में स्वाभाविक स्वारसिक अकतव प्रेम नहीं होता। इसीलिए तो भगवान को सर्वांतर परमसनिहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह अकतव प्रेम मनुष्य लोक में अत्यंत दुर्लभ है।^१ नाम विषागो ना जिय जिय तो बाउर होय की उदघोषणा द्वारा सब नवीर न गी अकतव प्रेम की दुर्निवार गति का सनन किया है।

आत्मनस्तु कामाय मय प्रिय भवति रसो व म आत्ति श्रुतियां का तापय रसात्मक प्रत्यक्ष चतयाभिन्न परब्रह्म में हो पयवमित होना है। अथ विषयक अनुरागाधीन विषयता प्रेम की गौणता का सूचक है तथा अन्यविषयक अनुरागाधीन विषयता ही प्रेम की मुख्यता है। यही प्रेम का ऊर्ध्व घरातन है। प्रेम के इस प्रमुख रूप की अभिव्यक्ति आत्मा में ही संभव है। क्योंकि वही प्रेम दूसरे के लिए नहीं है। अतएव आत्मा सुख रूप है और सुख आत्म रूप है।

विषयत्रय सुख का प्रायः दुःख मिश्रित माना गया है। यह वषयिक सुख विष मिश्रित मधुर मनोहर पक्वान के समान दुःख मिश्रित है ऐसा न्यायिक का मत है। किन्तु एषधवान् दयानि मात्रामुपजीवन्ति रसहोवाय लब्ध्वाऽऽदी भवति इत्यादि श्रुतिवाक्य त्रैविक वषयिक सुख का भी उसी सुख-स्वरूप आत्मा का अंग बन गत हैं। अपन अनुकूल विषय की प्राप्ति में अन्तःकरण की प्रवृत्ति शान्त निश्चिन्त एव अन्तमखी रहती है। यह वस्तुतः सत्त्वोद्भक्त की स्थिति के समान है। इस प्रकार वहाँ भी स्वात्मानन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषय निग्रहण तथा वृत्तिरोध के क्षणिक होने से उस सुख को वषयिक तथा क्षणस्थायी कहा जाता है। जयथा वषयिक सुख भी सुख-स्वरूप आत्मा का ही अंग है।

आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभक्ति कुतश्चा इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा तत्त्व साक्षात्कार मूलक परिणाम के कारण दुःख से अमिश्रित सुख होने से ब्रह्मात्म-सुख प्राप्ति कही गयी है। इसमें यही निष्कर्ष निश्चिन्ता है कि आत्मा ही रस है। महा पर आत्मा में से प्रत्यक्ष चतयाभिन्न परब्रह्म का ही स्पष्ट सक्त मिलता है। क्योंकि उमीम उपक्रम उपसहार आत्ति द्वारा रसात्मबोधक वचनो का तात्पर्य निश्चय होता है।

परमात्मा अविन् प्रेम रमानन्द मूर्ति है। वह नित्य रस-स्वरूप है नित्य प्रेम-स्वरूप है तथा नित्य आनन्द-स्वरूप है। सूर्य की विरण के समान अग्नि के स्फुरित के समान जीव उस अविन् प्रेम रस-आनन्द-स्वरूप स्वर का ही अंग है। अतएव विन्दु प्रेम रस-आनन्द ही जीव का प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है। इस आनन्द से ही जीवा की उत्पत्ति होती है और आनन्द में ही जीवा का न्य होना है।

भगवान् के गुणगण-श्रवण से उत्पन्न मानमवर्ति की श्रवता में भगवत्प्रकारता प्रविष्ट

१ कैतवदन्ति प्रेम न निष्ठति मानुषनोरे।

यदि भवति वरय विरहो विरहे भवति को जीवति ॥

२ आनन्दो ब्रह्मेति यज्जानात्।

अनन्त्यादयेव सविमानि भूतानि जायते।

आनन्देन ज्ञानानि जीवन्ति।

अनन्तं प्रपश्यन्निमविशतीति।

हाने पर विभाव अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से रस रूपा हो जाती है। यहाँ भगवान् ही आत्मन विभाव तुलसी चन्दनादि उदाहरण विभाव, नव विविधानि अनुभाव और निर्वेगानि व्यभिचारी भाव से व्ययमान भगवत्परात्मा रूप रस ही म्याया भाव है। मात्र तथा परमात्मा साक्षात्कारात्मक दुःखामृत्यु सुखरूप भक्तिरस ही परमपुरुषाय है। एक बार भगवत् भावना में भाविन द्रवावस्थापन अन्न वर्णन में भगवान् के प्रविष्ट हान पर अव्यक्तु ग्रहण-कार में भी भगवान् का ही भाव होता है। बाह्य वस्तुओं के ग्रहण में उसमें कोई व्यवधान नहीं आता। रूप-रविवन चाह जमा हो, भाव-भावना के रस में का भेद नहीं आ सकता। उदाहरणतः लम्बा को गिरा जा सकता है। कठिन लोहा अग्नि आदि तापक द्रव्य के सघर्ष से जल के समान पिघल जाय और सबका पक्ष के चानागुन में छान गी जाय फिर उसमें हिंगु आदि कोई रस मिला दिया जाय तो वह रस गन्धा के भवांग में प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। इसके बाद गन्धा फिर कठोर हो जाय या तलब बन जाय वह रस उसमें बसा पृथक् नहीं होता। गन्धा या रस यदि पृथक् हो जाना चाह भी तो क्या वह नहीं हो सकता। एसी ही स्थिति वस्तुतः निविणय भगवत् रसावस्था का होता है।

इस प्रकार भगवत्विषयक काम क्रांति भय स्नह हृष ग्राह दया आदि तापक भावा में से विभाव का संपर्क से चित्तस्थ गन्धा गणात् प्रवाह के समान होना और मज्जा पक्ष के चानागुन में छान गी जाय फिर उसमें सबका प्रविष्ट परमात्मस्वरूप भगवान् म्यायीभाव अनन्तर रस-स्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्था प्रविष्ट भगवत्परात्मा का पृथक् नहीं हो सकती। यदि स्वयं वस्तुमत्तममयभाववस्तुमय भगवान् भी वहाँ में अलग हो जाना चाहें तो वे अलग नहीं हो सकते हैं।^१

विषयविविष्टन चेतन ही द्रव अन्नकरण का वनि में उपास्य होकर स्थायीभाव और रस-स्वरूप हो जाता है। कानादि विषयक ऐकिक रस भा परमाण्व रूप हो है। क्या उसमें जड़ के सम्पर्क में घुलना आ जाता है। भक्ति में अनवच्छिन्न चित्तान्धन भगवान् का स्फुरण हान से उसका परमाण्वरूप प्रकटित हो जाती है।

मनुष्य जीवन की तात्कालिक आनन्दनाशा की पूर्ति के हेतु निरन्तर यत्नशील रहता है। किन्तु सम्पूर्ण जीवन का तात्कालिक आवश्यकता क्या है। जीवन का मुख्य प्रयोजन तत्त्व क्या है। जीवन की अन्तिम परम प्रयोजनीय वस्तु क्या है। इस प्रश्न का उत्तर तब ही मिलेगा जब प्रभु ने मानव शोभावस्थिति में कहा था कि पुष्पाय गिरगभिः प्रेम महाघन की प्राप्ति हो जीवन का मुख्य प्रयोजन तत्त्व है। जीवन के रस मुख्य प्रयोजन-तत्त्व— प्रेममगधन की उपरान्त के बाद सारा ममस्या अपन-आप निवृत्त हो जाता है। प्रेम के बिना भगवान् के

^१ विद्युत्ति इत्यत्र वक्ष्यमाण—

अरिषः ॥ निहिनी व्यधौनारा ।

प्रवयरातया धृति नि पद्य

स भवति भगवत्प्रधान उक्त ॥

इत्यादि परि निवामि शोष गणयामि ते ।

(इत्य मे जव जाड्ये मे क्यानों तोहि ।)

पास रहकर भी उभे नहीं पा सकते । और यदि प्रेम है तो दूर से भी दौड़कर भगवान् को पाम आना होगा । प्रेम के अभाव में वगैरे विगुणान् प्रति भगवान् कृष्ण के समीप रहकर भी उन्हें नहीं पा सके । परन्तु प्रेम है और कृष्ण नहीं आय हैं—एसा एसा भी दृष्टान्त नहीं मिलेगा । अपने प्राप्तव्य को आकर्षित करना प्रेम का अनिवार्य स्वरूप है । किन्तु प्रेम प्रीत्य के लिए भगवान् की कृपा परमावश्यक है । परमपुरुष जिसको कृपा करके वरण करते हैं वगैरे उनको प्राप्त कर सकते हैं ।^१

प्रेम की पूर्वावस्था का नाम भाव या रति है । माधन भक्ति के परिपाक में अथवा भगवान् की कृपा से भाव भक्ति का उत्पन्न होता है । प्राप्ति के कारण जब स्पष्टत्व में मन लगन रहना चाहता है तब भाव ही रति नाम से अभिव्यक्त होता है । यह भाव मन के अवस्था विधि का नाम है । विषय रस निम्न व्यक्तियों का चित्त जब भगवद्गुणों में जाता है तथा भगवत् भाव में विभाजित होता है भगवान् के चिन्तन करने में रस जाता है तब कहना पड़गा कि उसके अन्तर भाव उत्पन्न हो गया है । भाव चित्त को रजित करके उसकी कठोरता को दूर करके उसे कामल बनाता है । यह ह्लादिना भक्ति का वृत्ति विधि है और इसका अपना वाङ्मय आनन्द रूप आह्लादिनी भक्ति के सार रूप वृत्ति को रति कहते हैं । इसी भावना में प्रमादुर उत्पन्न होता है । प्रमादुर उत्पन्न होने के पूर्व क्षान्ति अव्ययकात्त्व विरति मान गूयता आगाध समुक्लेश नाम-स्मरण में रति भगवद्गुणान्मान में आसक्ति भगवत् गान्धर्वी में प्राप्ति—य नौ गण उपस्थित होते हैं । ममत्व का अविच्छेद होने पर यही रति प्रेम कह जाती है । यही प्रेम प्रेमण वृत्ति हुआ प्रणय मान स्नेह राग अनुराग भाव और महाभाव में रूपान्तरित हो परमानन्द को प्राप्त होता है ।

सागरा यह कि ईश्वर के प्रति मधुर मनोरस (Sweet Sentiments) का नाम रति है । जब यह उदित होकर भक्त के सुनिमग्न अन्तर में सुप्रकाशित होती है तभी भगवान् के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मंगल सम्बन्ध का समारम्भ होता है अथवा नहीं ।^२

परागान्ति और परमानन्द रूप परागति प्रमत्तमय है ।^३ भगवान् का ही दूसरा नाम आनन्द प्रेम है ।^४ परम प्रमत्त परमात्मा जीवामा रूप से जीवने में विराजमान है । परम आवमान के आन्तर और बाह्य सत्कारों में भा उमा प्रेम का विकास दृष्टिगोचर होता है । यह विगुण प्रमत्तयोनि आवरण रूप समस्त सत्कारों को भेदकर अनमय स्फूर्त रह के बहिर्भाग में प्रकाश होने में सत्कारयुक्त होती है । चूँकि सत्कार मात्र कामनामय होता है अतः प्रेम जब

१ समवेष्टे शृणुते तेन लभ्य ।

—बं मन ।

२ निरवसिद्धं तु प्रेम साध्यं कथं नय ।

अवशान्तिं शुद्धचित्तं न ये उच्यते ।

—चेतय चरितःपूत ।

३ रागिरूपं परमानन्दरूपात्त ।

—नारदभक्ति सूत्र ९

४ क्षान्तं प्रेम—रति

God ' Thou art Love I build my faith on that

—Browning

सस्कार जाल से होकर बाहर आता है तब वह कामगन्धयुक्त होता है और कामगन्धयुक्त होने के कारण ही फिर इसे 'प्रेम' न कहकर काम कहते हैं। ऐसी स्थिति में विमुद्ध प्रेम-ज्योति का मलिन हो जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार मेघावृत्त मूय किरण घन पटला को भेद कर जब बाहर निकलती है तब भी उसकी मलिनता बनी ही रहती है उसका विमुद्ध तेज निवर्गाई नहीं पड़ता उमी प्रकार काल कम, स्वभाव के द्वारा प्रभावित होने के कारण विमुद्ध प्रेम-ज्योति भी मलिन हो जाती है। किन्तु जिस प्रकार मेघाच्छन्न आकाश में विद्यमान मूय रश्मि सूर्य की ही है उसी प्रकार काल कम स्वभाव के सस्कार-जाल से निकलकर चरिताथ हान वाला प्रवृत्त प्रेम भी प्रमथ परमात्मा की प्रम-ज्योति ही है। मेघयुक्त आकाश में जिस प्रकार सूर्य रश्मि अपन विमुद्ध तेज से दीप्त हो उठती है उसी प्रकार जीवात्मा के सस्कार मुक्त होन पर सारी लौकिक प्रेमच्छटा अलौकिक लिप्य प्रम प्रकाश के रूप में परिणत हो जाती है। कामनायुक्त होन से काम और कामनामुक्त होने से वही वस्तु प्रम कहलाती है।^१ पुरुषाय गिरामणि प्रम महाधन को श्रद्धावान् जन ही भगवद प्रेम-लाभ की व्याकुलता—श्रद्धा से प्राप्त करत हैं।

नारद का मत है कि स्वकृत समस्त कम भगवान को अर्पित करना और उनका विस्मरण होने पर चित्त में व्याकुलता का होना ही मति है।^२

परमात्मा ही परम प्रियतम है। वह पुत्रकी अपेक्षा अधिक प्रिय है वित्त की अपेक्षा अधिक प्रिय है अथ सब प्रिया की अपेक्षा अधिक प्रिय है सबकी अपेक्षा अधिक प्रिय है। वह प्रियतम है।^३ भगवान् से अनुराग विषय से विराग है। प्रकृति की विवृति का त्याग ही बराग्य है। प्रकृति की संस्कृति ही अनुराग है।

कामना का मूल क्या है? कामना का उदभव कहा से होता है? महाभारत में इस प्रश्न का समाधान करत हुए कहा गया है कि वासना की सृष्टि भगवान से ही होती है। वासुदेव की वासना से ही विदव की सृष्टि होती है। वासना से ही भगवान वासुदेव रूप से निभुवन में सब प्राणिया के अन्दर निवास करते हैं। अत वासना उन्हा की है। मेरी वासना मेरी चाह ऐमा मनुष्य अहभाव के कारण कहता है। अनएव यह वासना, कामना उही को लौटा देना ही परम करणीय है। वासना को लीनन का तात्पर्य है अपन मन का भी उसी में लय कर देना। फिर मन का कोई दूसरा काम रह ही नहीं जाता है। गाविन् की वस्तु को गोविदापण कर देना ही परा शांति है।^४ इस स्थिति में जीव में कतृत्वाभिमान नहीं रहता। वह मुक्त होने पर भी कमरत रहता है किन्तु उसका यह कम बान् श्रीडावत उमान् नृत्यवत ही हाता है।

१ आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा सार नाम काम ।

इण्ड्रेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम ॥

२ 'नारदस्तु तर्पिताखिलाचारता तन्विस्मरखे परमवाकुलतेति ।'

—चैतन्य चरितामृत ।

३ 'प्रेम पुनार प्रेयो विचार प्रेयोऽयस्मान् सवस्मादंतरतर व्ययमात्मा ।'

—नारदभक्ति धृज, १६ ।

४ वासनाद् वासुदेवस्य वासित मुवनप्रथम् ।

सर्वभूतानिवासीनां वासुदेव नमो स्तुते ॥

—बृहदारण्यक उ १।४।५

—महाभारत ।

वास्तव में काम और प्रेम का पायस प्रयोग भक्त का कारण है और प्रयोग कामना नुयायी होता है। वास्तविक बात तो यह है कि जहाँ से जो भाव जाय वही उह पहुँचा देने से सारी समस्याएँ अपने आप समाप्त हो जाती हैं। प्रवृत्त प्रेम अप्रवृत्त प्रेम में रूपान्तरित हो जाता है। अपने सारे विचारों को भगवद् उमुखी बना देने मात्र से ही प्राणी भगवमुखी होकर प्रेम में तमयता को प्राप्त होता है।^१

कभी-कभी भगवान् भक्त को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जहतुकी कृपा करते हैं। फलतः कुछ काल के लिए प्राणी का संस्कारावरण हट जाता है और वह नाना त्रेक त्रेवी ज्योति आदि ऐश्वर्य रूप से भगवान् के दर्शन करने लगता है। किन्तु पुनः उस पर पर्ण पड़ जाता है और चतुर्लोक में अधकार ही व्याप्त दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में आत्मा ही उसकी मिट्टि का कारण है। ईश्वर उस तरह का विधान प्राणी के ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीप्त करने के लिए ही करते हैं। प्रेममय भगवान् प्रेमी भक्त को ज्वलन रूपी अमृतबिन्दु का परममधुर आस्वादन क्षणभर के लिए कराकर वियोग की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। इससे प्रेमा भक्त के अन्तर में विरहाग्नि प्रवर्धित हो उठती है और वह विरहानुल हो उठता है। विरहाग्नि में उसकी प्रवृत्त वासना जल जाती है और केवल तमूखी वासना — तमयी वामना रह जाती है। इसी स्थिति में अनन्त वियोग अनन्त संयोग में परिणत हो जाता है और प्रेमी अलण्डा नद के सागर में निमज्जित हो जाता है। उसके लिए सबत्र एक प्रेम और क्वत्र प्रेम ही रह जाता है। अन्ततः प्रेमी प्रमदस सिन्धु में निमग्न हो जाता है। उसकी समस्त सासारिक सत्ताएँ समाप्त हो जाती हैं। उसकी क्या अवस्था होती है इस स्वयं प्रेमी जानता है कि नहीं नहीं कहा जा सकता। प्रेमी भक्त एक सत्ता ने उस अनिवचनीय स्थिति विनाप का भूरि वणन किया है।^२

आत्मज्ञान साधना का सोपान है। आत्मज्ञान प्राप्त करने पर ही साधक साध्य को जानने में समर्थ होता है और उह अपनी वासना समर्पित कर देता है। आत्मज्ञान अभिकर अपनी वामना उह समर्पित कर चक्र पर भगवन्निष्ठा में चाग्नि होने के लिए जो साधना की जाती है वही भक्ति है। इस भक्ति के द्वारा भगवत्प्रेम की प्राप्ति होती है। इसीको कबीर ने राम रसायन या रामरतन की मना दा है। उसको पाकर साधक को ऐसा लगत है जम उमन सब कुछ पा लिया। जिसकी खोज में वह हैगन था वह एवाएक प्रत्यक्ष हो उठा।

‘ प्रेम के द्वारा प्रेममय की सेवा हा प्रेमी का एकमात्र लक्ष्य होता है । इस प्रेम का माना रूप हैं । इसीसे इसका नाना नाम और आख्याय हैं । प्रेममय से ही प्रेम का द्वारा ससार की सृष्टि होती है, प्रेम ही विश्व का धारण-कर्त्ता है प्रेम से ही विद्वत् का लय होता है । प्रेम का द्वारा ही जाव अथवा जीवश्रेष्ठ मानव का उत्पत्ति होती है, प्रेम ही जीव का आश्रय है प्रेम से ही जीव विनोद हो जाता है । अनारिक्ता में अनन्त प्रेममय की सृष्टि स्थिति प्रलय योग होती चली आद है और आगे भी होती रहणी । काय कम और स्वभाव से प्रभावित होकर अनन्त जलराशि, महासमुद्र से जगत्सिन्दु बाष्पाकार में उठकर मघाकार को प्राप्त होने और गट्टि-रूप में घटती पर बरसत हैं पीछे छात्रे-छात्र निचर आदि का सहयोग पाकर बगवत्ता स्नानम्बिनी का आकार में स्वभावान् प्रधाविन होकर महामाणर में जाकर फिर मित्र जान हैं । इसकी गति में जिस कोई विराम नहा होता, वस ही प्रेममय का सृष्टि स्थिति प्रत्य गीत का भी कोई अन्त नहीं होता । नद-नदी के मित्र से अनन्त महाममुद्र में जिस प्रकार कोई ह्याम-वृद्धि नहा होती विश्व-सृष्टि स्थिति प्रत्य में भी अनन्त प्रेममय की कृत्ता उमी प्रकार अनन्त ही बनी रहती है । महाममुद्र में नदी का जमा मित्र होता है परमात्मा के साथ जीवात्मा का मिलन भी वसा ही है ।^१ जीवात्मा और परमात्मा का यही मधुर मिलन और तजय महामुख की उपलब्धि मधुर रस-साधना का चिर साध्य है ।

द्वितीय खण्ड

मधुर रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन

मधुर रस मनोराग का उत्कृष्टतम स्वरूप है

मधुर रस भगवान् व प्रति भक्त व मनोराग का उत्कृष्टतम स्वरूप है। यह भगवान् व प्रति भक्त व रागात्मक सम्बन्ध का सर्वाधिक कामल व मनोप सस्यान है। यह मन-वाणी व परे, स्वानुभवगम्य अनुपम तत्त्व है^१ जिसका रहस्य अधिकारा जन को ही पान है। स्वर व प्रति माधुर्य भाव का उपायना मन का वह मन्त्र वृत्ति^२ जिसमें स्व-सुखीभाव का मयया विलाप हो जाता है और इसमें स्वर म तनुवाभाव अर्थात् अपन प्रियतम इष्टत्व व सुर म सुखी हान को बाछा ही सर्वोपरि हानी है।^३ इसकी गति उमड़ती हुई सरिता व दुदमनाय प्रवाह की भाँति होती है जो मयत्र मयवा आप्लावित कर देती है। स्वरपापना की म राति का माधवा व अत्यन्त दुष्कर बन गया है।^४ मधुर भक्ति की विभूति पर सचरण कर के गिण अनाविल और विगुद मन की गम्भार गति अनि आवश्यक है। इसमें माधव को समस्त विषया म मन को माडर एवान्ति रूप म अपन इष्टत्व म ही लगाना पडता है। माधना के क्षत्र म मानविक भाधना का यही अभिप्राय है। माधना व क्षत्र म जहाँ भी मान मितना व वर गगरिवना का समावा हो जाता है वहा उसका पन का पृष्ठभूमि तयार हो जाती है। यही कारण है कि मधुर रस व माधव भगवान् को मधुर गीता व चिल्लन द्वारा अपना स्व भावना का विगप कर देन है। एमा हो जान पर उनका अनाविल मन इष्ट म तमय हाकर मधुर रस की अनुपूति करन गता है। स्वरगामना का यह राग माग जितना हो सहज है उतना हो कठिन भी है। हजारों व्यक्ति म कडा काइ विग मनुष्य सिद्ध होता है और उन सिद्धजना म भी इसमें तत्व का जानन वा कोई-बाई ही होन है।^५

मधुर रस और मनोविज्ञान का सम्बन्ध

इस स्पष्ट है कि मन की चक्र वृत्तिया व निरामाव अर्थात् मनुष्य की जिज्ञाविषा निवा सभी लौकिक इच्छाओं के स्वरामुग वर दन के उपगन्त ही विगिष्ट मधुर रस-ग

१. अनिवारणीय प्रेमस्वरूप

—गारमन्ति मत्र, २१।

२. मास्तेव तरिनस्त्रसुखे सुखिव

—वही सूत्र २६।

३. कठिन प्रीति रस रीति इ, समुक्ति गने मन मोहि।

इह चकोर पावक युग सवदिन को मय नोहि॥

—विहारिन देव की वाणी (मजभाषा के इच्छा व म माधव्य भक्ति पृ ११२ पर उद्धृत)

४. मनुष्याणां सर्वेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।

यतनामपि सिद्धानां वरिचमां वति तत्त्वतः॥

—गीताभगवद्गीता अ ७।३।

का आविर्भाव होता है। इस विनिष्ट रम-रसा के तत्समयी भाव और अनयना की स्थिति में मन की अन्तर्ग्राह्य क्रियाशीलता और सम्बन्ध विकल्प शक्तियाँ विरमिन् हो जाती हैं। इस दृष्टि में मधुर रस का क्षय कारण-भाव सम्बन्ध भाव से परे हो जाता है। किन्तु मनोविज्ञान के सभी निष्पन्न कारण-भाव सम्बन्ध भाव पर अवलम्बित होना है। ऐसी दशा में मधुर रस मनोविज्ञान की सोभा से बहुत दूर का विषय सिद्ध होता है। परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करने पर मधुर रस के मनोवैज्ञानिक आधार की भी साधकता मिट्ट होनी है। मधुर रस के अन्तर्गत लौकिक प्रेम प्रतीका द्वारा अलौकिक प्रेम की प्रतीति होती है। एवम भावना सम्भाव्यतुमकतम अथवा कर्तुम् समर्थ स्वशक्तिमान् भगवान् माधुर्य भावना के अन्तर्गत प्रमाधार प्राणवत्त्व में बन जाते हैं और भावुक भक्तगण उनकी प्रियतमा बनकर उनकी मधुर लीलाओं का रसास्वादन करने लग जाते हैं। इस प्रकार भगवान् की मधुर लीलाओं में कामपरक सभी वपयिक चष्टाएँ विद्यमान रहती हैं किन्तु वे विकार भूय होती हैं। वपयिक सुख और आध्यात्मिक सुख की भावना में यही मुख्य अन्तर होता है। अतएव मधुर रस का साधक लौकिक प्रेम के प्रतीका के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा की अति गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण निरन्तर चरनबाली प्रणय लीला की ही भावना करता है और उसी की चरितायता की अपना जीवन साफल्य मानता है।

जिन कारणों से निराकार ब्रह्म को साकार भगवान् बनना पड़ता है उन्हीं कारणों से अलौकिक प्रणय-लीला रस की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक प्रेम के प्रतीका की भी आवश्यकता मिट्ट होना है। यही वह बिन्दु है जहाँ मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा होती है।

मनुष्य के सारे व्यापारों के मूल में आनन्द प्राप्ति की भावना ही प्रमुख रहती है। सार साधन आनन्दोपार्जित के लिए ही जुटाये जाते हैं। सामान्यतः आनन्द की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं—विषयानन्द वाय्यानन्द और ब्रह्मानन्द। ये तीनों ही एक अखण्ड आनन्द तत्त्व के तीन सोपान हैं। अतएव विषयानन्द हय नहीं है अपितु वह ब्रह्मानन्द का निम्न सोपान है। ऐसी परिस्थिति में मानव मन की भ्रूणप्रवृत्तियाँ उनके कारण-भाव सम्बन्ध भावों उनकी प्रतिनिध्याओं और भूमिका परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक विवेचन से मधुर रस के स्वरूप पर निर्भरता रूप से प्रकाश पड़ता है और इससे मधुर रस-साधना से सम्बन्धित अनेक अनगण्य धारणाओं का निराकरण अनायास ही हो जाता है।

मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है

मधुर रस-साधना में मग्नत्वप्रम की तावना की ओर साधक का विनाश ध्यान रहने के कारण मानसिक पक्ष को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। अतएव मधुर रस-साधना की रस मानसिकता के स्वरूप और विकास के माध्यम से आनन्द के लिए भावक भक्ता की मानसिक प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के मनोवैज्ञानिक विवेचन की बड़ी आवश्यकता है। पश्चिम के मनोविज्ञान वृत्ताओं के समान यद्यपि प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान ने एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में मनोवैज्ञानिक विद्वानों का प्रतिष्ठान नहीं किया है तथापि दार्शनिक विद्वान्ता एवं साधना मार्गों के स्पष्टीकरण के लिए मानव मन की प्रवृत्ति और उसके विविध प्रवृत्तियों का यथास्थान सूक्ष्म निरूपण किया है। भाग्यवत् तत्त्व चिन्तक ने मानव चिन्तना के माध्यम साधना का प्रयत्न

सम्बन्ध स्वीकार किया है और उनमें 'मन' का सर्वाधिक महत्त्व मान लिया है। क्योंकि यह मन ही मनुष्य के बचन और मोक्ष का वाहन है। मन ही शिव और शक्ति है। यह अमिट सम्बन्ध विरह्य शक्ति का आगार है तथा प्राणी मात्र के विजय पराभव का मूल सस्थान है।

मन-निरोध

मन के निरोध के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय तत्त्वचिंतका की भिन्न धारणाएँ हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान बताता है कि मन के निरोध या नियंत्रण को दमन की सहायता देनी है जो उनकी दृष्टि में अनेकानेक मानसिक श्रमियाँ एवं विघ्नियाँ का जनक है। किन्तु भारतीय मनोविद्या में मन के अनुशासन को आत्म-संयम की सहायता से ही प्राप्त करना और पारमार्थिक उपलब्धियों का साधन माना है। उनकी दृष्टि में मुक्त प्राप्ति करने के लिए आत्म-संयम परमावश्यक है।¹ आत्म-संयम में ही मन एकाग्र होकर अपने उपास्य व निमग्न या सगुण रूप का तत्प्राप्त ध्यान करता है। अष्टांग-योग सभी स्तरीयों की पुष्टि होती है।

मन की चतुर्विध अवस्थाएँ

भारतीय मनोविद्या में मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं—मुपजावस्था, स्वप्नावस्था, जाग्रतावस्था और तुरोयावस्था। इन तुरोयावस्था को समाधि-ज्ञान है जिसमें पहुँचकर माध्व, शङ्कराचार्य, आचार्य आदि महामुनि प्राप्त करता है। अर्थात् मन का ही सब कुछ मानकर चरने वाले पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने मन की समाधि अवस्था का भ्रम माना है। इस प्रकार के मन के अपरिचित रह जाने हैं कि मन की स्वप्नावस्था और समाधि-अवस्था में रात और दिन का अंतर है। अर्थात् तुरोयावस्था में जीव अपना वस्तु-दृष्टि सत्ता में एकत्रित और निमग्न रहता है किन्तु समाधि-अवस्था में तो वह ईश्वरीय सत्ता के साथ एकत्व ही होता है।²

मन की त्रिविध वृत्तियाँ

मनोविज्ञान के अनुसार मन की तीन प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—मानवृत्ति, भावना वृत्ति और त्रिव्यावृत्ति। मानवृत्ति का अर्थ है कि जो कुछ सुगहारे सामान प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है उसे ज्ञान का प्रयोग करो। भावनावृत्ति का अर्थ है कि जिसको सुमन जाना है उसे अपना मन त्यागो और त्रिव्यावृत्ति की प्रेरणा है कि जिसका सुमने जान

1 Hindu Psychology by Akhilanand Page 49-52

2 So the unconscious contents and Superconscious experiences are as far apart as the two poles. One is below the development of consciousness the other is above ordinary consciousness. To identify the superconscious state with the unconscious state is to mix darkness and light. In one case man is completely oblivious of the existence of God, may identify with him.

गिया है और जिनमें तुमने अपना मन रखा गिया है उनमें जमा ही करो। इस प्रकार इन तीन प्रमुख वृत्तियों के पुनः जनक अवान्तर भंग हो जाते हैं। इस वृत्तित्रयी की विगणना यह है कि किसी भी मानसिक दशा में इन तीनों का अविविच्छिन्न सादृश्य रहता है और इनमें किसी एक की प्रधानता रहती है। भक्ति में भावना की प्रधानता रहती है तथा परम प्राप्ति के ऐश्वर्य-बोध द्वारा ज्ञान और उभय प्रति विविध आगाहिक चप्टाया द्वारा त्रिया का मनन सम्पन्न बना रहता है।

सारांश यह है कि समष्टि रूप में तीनों वृत्तियों का समाहार प्रत्यक्ष मानसिक व्यापार में रहता है और व्यष्टि रूप में किसी एक वृत्ति की प्रधानता रहती है। प्रधानता के अनुसार ही जनक वृत्तियों का वर्गीकरण तीनों मुख्य वृत्तियों के अन्तर्गत किया जाता है।

भावना के अन्तर्गत जो वृत्तियाँ पायी जाती हैं उनका स्मृत विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

१—देहात्मक वृत्ति (यथा गर्मी गर्मी भूल व्यास आदि)

२—आवेगात्मक वृत्ति (यथा भय क्रोध आदि)

—रसात्मक वृत्ति (यथा श्रद्धा प्रेम आदि)

भावना की वृत्तियों की संख्या जय में प्रधान वृत्तियों की अपेक्षा बहुत अधिक है। आवेगात्मक वृत्ति में हृष्य विषाद भय काम क्रोध मोह आगाहिक दशा गव दया सहानुभूति ममता आदि सम्मिलित हैं। इन्हीं से प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य प्रवृत्त होता है। इनमें सबसे अविच्छिन्न काम और मोह की वृत्तियाँ हैं। ये दोनों अजोमुख में उत्पन्न होते हैं।^१ दवजगत में काम का ब्रह्मा जी का सकल्य पुनः माना गया है। मानसिक क्षत्र में काम सकल्य से ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार काम सकल्य के पुनः ही और मोह उनका अनुज है। काम जब अपने पिता सकल्य के कार्य में असफलता का अनुभव करत है तब क्रोध का आगमन होता है। श्री भगवद्गीता में इसका पुष्टि करत हुए कहा गया है कि विषया का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उनमें आकर्षित उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामना का जन्म होता है और कामना से मोह की उत्पत्ति होती है।^२

भावना तूफान की तरह जाकर सम्पूर्ण शरीर में मन प्राण को झकझोर डालते हैं। उन्हीं प्रतिप्रियाओं को साहित्य आत्म में अनुभाव कहा जाता है। प्रेम विह्वल भक्तों की भी विचित्र दशा हो जाती है। उनकी वाणी कभी गन्गद हो जाती है उनका हृत्पि पिघल जाता है वे कभी रोने लगते हैं कभी जोर से हंसने लगते हैं कभी आकाश्याग कर गाने और नाचने लग जाते हैं।^३ श्रीमद्भागवत में बर्णित स्थिति पर प्रेम प्रभावपान भक्तों की दशा के बारे में मार्मिक चित्रण मिलता है।

यह सन्तान में विचारणीय प्रश्न यह है कि मनुष्य के शरीर में इस प्रकार के उत्पन्न लक्षण क्या प्रकट होते हैं? देख में मनुष्य जामू बहता है और सुख में हंसता है ऐसा क्या

१ काम एव क्रोध एव रजोगुण समुत्पन्नः —गीता ३/३७।

२ ध्यायतो विषयादु म मगन्तेषूपजायते।

सगात्मप्रायने काम कामाक्रोशो भिषायने ॥

—गीता अ २ श्लो ६२।

३ श्रीमद्भागवत ११.१२.४२४।

होना है ? इसके उत्तर के लिए भावना के आवेग (Emotions) और रसों (Sentiments) के अन्तर में प्रविष्ट होना होगा ।¹

आवेग या आवेग भावना की माप है । यह प्राकृतिक नियम है कि मनोमय कोप में विकार होने पर उसकी प्रतिक्रिया अन्तर्मनोकोप या स्थूल शरीर में लक्षणा द्वारा प्रकट होती है । 'प्रवृत्तिर्यान्ति भूतानि' जैसे वाक्य से भी यही सिद्ध होता है । प्रत्येक रस में अनेक आवेग अव्यक्त रूप में रहते हैं और उपयुक्त वातावरण उपस्थित होने पर वे प्रकट होते हैं । 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक में ऋषि कण्व के वाष्पानुल कण्ठ से निकले गोकीदगार 'उत्तर रामचरितम्' में सीता के वियोग में बिह्वल राम की वदना और प्रेमयोगिनी मीरा के आकुल अन्तर की विरहानुभूति आदि से स्पष्ट है कि रस के सरोवर में आवेग की लोल लहरें क्या-क्या दृश्य दिखाती हैं ?

चराचर जगत् की तीन कोटियाँ

इस चराचर जगत् की तीन कोटियाँ माना गया हैं—जड़ पदार्थ अद्वैततन प्राणी और पूरा चेतन प्राणी । दश पात्र पात्र का बिना विचार किया जो अपनी पूरी क्षमता से अपना काम सम्पादित करे उसे जड़ पदार्थ की सजा दी जाती है । इस कोटि में पत्थर छुरी तलवार मशीन आदि जड़ पदार्थ आते हैं । अद्वैततन प्राणियों में पशु पक्षी की गणना होती है । पूरा पशुत्व प्राप्त जीवन तथा शारीरिक बल ही इनके गुण हैं । पूरा चेतनता मनुष्य योनि में ही सम्भव है । इसमें किसी विषय पर देह पात्र और पात्र के अनुसार सोचने विचारने का शक्ति है तथा अपना काम करने की पूरा क्षमता भी है । अद्वैततन प्राणियों की तरह जीवन और शारीरिक बल भी है । पर सर्वापरि है उसका बुद्धि विवर । इसी विनिष्टता के कारण वह विधाता का सृष्टि का सर्वाधिक चेतन प्राणी माना जाता है । उसमें स्वायत्त के साथ साथ परायण की भावना भी काम करती है । सिर अर्थात् मस्तिष्क ही चेतनता का प्रतीक है । दृष्ट आदि जड़ पदार्थों के निर नीचे और पर ऊपर होते हैं । इसलिए उसमें चेतनता का पूरा तिरों भाव कहा गया है । गाय बल आदि पशुओं के सिर उसकी पूँछ के समानान्तर होते हैं । सिफ मनुष्य का सिर ही ऊर्ध्वमुख रहता है जो उसकी दीर्घाक्षा के समान ऊर्ध्वमुखी चेतनता का प्रतीक है । मनुष्य आत्ममग्न है विचारक है । आत्मज्ञान द्वारा वह विश्व ज्ञान और विश्व दर्शन द्वारा वह ब्रह्मज्ञान करता है । इस प्रकार आत्मज्ञान होकर पूराता की प्राप्ति करना मानव जीवन का चिर साध्य रहा है । मनुष्य पूरा एवं स्थायी आनन्द चाहता है । वह अनन्त और अशय मीन्य का साक्षात्कार करने का आकांक्षी है वह उमी पूरा एवं स्थायी आनन्द अनन्त एवं अशय सौन्दर्य के अन्तर्गत अपनी समस्त जाना एवं आकांक्षाओं का मधुर पयवसान चाहता है । इसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त अनेकों ने निश्चित रमानन्द मूर्ति परमानन्द स्वरूप परमात्मा की कल्पना की है और उमी के प्रेम में प्रभावित होकर उन्होंने उसमें अनन्त शील और अमीम शक्ति के साथ अमित सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा की है । इस प्रकार उसमें एवम् प्राप्त करने अशय सुख की प्राप्ति करना उससे एवम्बेव हो जाना ही भक्तजना की साधना का दीर्घकाल माना गया है ।

1 See Expression of Emotions by Charles Darwin

सृष्टि के समस्त व्यापारों में आनन्दोपलब्धि की भावना

सृष्टि के कण-कण में उसका समस्त व्यापारों में मूल में आनन्दोपलब्धि की भावना ही प्रत्यक्ष-मूल के रूप में काम कर रही है। आनन्द ही सृष्टि और प्रत्यक्ष है। आनन्द में ही सभी प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है और पुनः जानन्द में ही सबका निरोभाव हो जाता है। वर्ययिन् मुख से जो आनन्द मिलता है वह सत्त्वन और अस्थायी है। परमात्म-अनुभव-गम्य आनन्द अद्वैत एव स्थायी होता है। इसीलिए जानन्द को परब्रह्म का वाचक माना गया है। वह रस ही है हम रस का पान करने पुरेप जानन्द ही जाता है वह रस सबका आनन्दित करता है।^१

गृह्यारण्यक के अनुसार इस आनन्द के जगत् मात्र के जात्रय में ही मनु प्राणी जाति रहते हैं।^२ तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि जगत् के समस्त पदार्थों का कारण आधार और त्रय आनन्द ही है।^३ भारतीय तत्त्वचिन्तकों के मतानुसार परम विभु के अणु अणु होने के कारण जीव में सत् चित और जानन्द ये तीनों तत्त्व पाये जाते हैं किन्तु इनमें प्रथम दो तत्त्व तो निरपेक्ष रहते हैं किन्तु अन्तिम आनन्द तत्त्व का काम विपाक या सम्कारण हम आभास ही मिलता है उसकी प्रत्यक्षानुभूति नहीं हाँ पानी। समस्त के सभी प्राणियों का एक ही चिर साध्य है—सामारित्त दुःख का जमन जयात मुख की प्राप्ति। इसी मुख प्राप्ति के लिए सभी विभिन्न मार्गों का अनुसरण करने हुए हृष्टिगत हात है। मुख प्राप्ति करने के मार्ग की बाधाओं और मुख पहुँचाने वाले साधनों की जटिलता से निराग होकर मनुष्य महत्तम मुख साधना का अवलोकन करता है। भक्ति भावना के उदय का यहाँ मुख्य कारण है और इसका उत्प्रेरक जानन्द-तत्त्व है जो सुप्तावस्था में सबके सभी प्राणियों में बतमान रहता है।

आनन्द अद्वैत है

आनन्द अद्वैत है। हम अद्वैतानुभूति में ही मनुष्य को जन्म देता है बोध होता है। वस्तुतः जानन्द मनुष्य की यथाथ अवस्था है उसका स्वाभाविक तत्त्व है। जानन्द निरर्थक है। मनुष्य अवस्थाओं में इसका घात-वन्त अनुभव होता हाँ रहता है। तब जानन्द नियम स्थिर एव अद्वैतानुभूति है। आनन्द के लिए मुख जानन्द का प्रयोग करना हाँ जान जयना है क्योंकि मुख वर्ययिन् हाता है और आनन्द आत्मिक। मुख का आनन्द का जगत् मात्र के मयत है। मुख आनन्दित होता है किन्तु जानन्द स्वयं निभर है। सत्त्व में सुख प्रथम है और आनन्द निरर्थक। आनन्द का जास्वान्त अनिवचनीय अनुभव-गम्य एव विनिर्णय होता है।

आनन्द जगत् और आत्मजगत् का साधन आनन्दानन्द है। जानन्द की उत्पत्ति ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति जयात् निवाण या माँ है। जानना जान माग से भक्त भक्ति माग से तथा माग माग-माग में हम आनन्द की उपलब्धि करते हैं। जानन्द जगत् करना ही सभी

१ रसो बस । रसो बसो लब्धवान् । भवति । एषो बसो लब्धवान् ।

—तैत्तिरीयोपनिषद् २. ७. १

२ गृह्यारण्यक उपनिषद् ४।३।६२

३ तैत्तिरीयोपनिषद् १।१।१०. १।

प्रकार का साधना मार्गों का एवमात्र रूप है। सभी प्रकार का ज्ञान विज्ञान इसी के सम्मोक्षात्मक स्वरूप में संपन्न दृष्टिगोचर होते हैं। जिज्ञासा का भक्ति-साहित्य मूल साहित्य और रहस्यवादी साहित्य आनन्दवात्क निदान को चरित्रावधारण है तथा ज्ञान-साहित्य की उक्त अभिप्राय से अनुप्राणित हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र में भी ज्ञान-साहित्य की प्रतिष्ठा की गई है तथा विष्णु ब्रह्मानन्द के रूप में रस की उत्पत्ति करके बाल्यात्मक का ज्ञान-द-महान्तर रहा गया है।

मन्ता एवं भक्ता का साविज्ञान ने भा आत्म के अक्षय मोन मधुर भक्ति रस का रस गूढ रूप में मिश्र किया है। वष्णव रस साधना विषयक शास्त्रीय प्रथा में मधुर रस का वक्ष्य ही सूत्रम मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अथ साहित्य शास्त्रियों ने जहां द्वय विषयक रति अर्थात् मधुर भक्ति रस को भाव की ही मन्ता दत्ता उपयुक्त माना वहां वष्णव जाचार्यों ने विषयक वगात्क गौरीय वष्णव न मधुर भक्ति रस का भाव की हीन कोटि से ऊपर उठाकर रस रसा में ही नही पहुँचा दिया अपितु सभी गौरीय रसा में श्रेष्ठ मिश्र करके उस भवप्रमुख रस का रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

अहमात्र आनन्द का उपभोक्ता है

अग्निपुराण में रसान्तरात्ति पर विचार करते हुए कहा गया है कि रस रस-स्वरूप परब्रह्म का महजान का जमिष्वाक्ति है। उस अन्तर मन्तान विभु का मन्तानन्द की अभिव्यक्ति चतुष्टय चमत्काररूप और रसमय है। ज्ञान का उत्तर ही रस है। ज्ञान का उपभोक्ता अहभाव है। यही अहभाव व्यक्तित्व का मूलधार है। विद्वत्त्वात्मा का आत्मिक विचार अहभाव भुवन में व्याप्त हो ज्ञान पर अभिमान बहूना है। अभिमान कर्त्तृत्वात् ज्ञान पर ममत्व को प्राप्त होता है जिसमें रति का उत्पत्ति होती है। नान्यथ यह है कि ममत्व ही रति या प्राप्ति अथवा प्रेम का जनक है। इस प्रकार मन्ता रसा का मूल में ममत्व ही प्रकृत तत्त्व है। ममत्व-रस आनन्द प्रवाह में विभिन्न प्रकार का अनुकूल एव प्रतिकूल प्रतिक्रिया का कारण ही शृङ्गारादि विभिन्न रसा का उत्पन्न होता है। रस गगाधरकार का मनानुसार रति आत्मि रसाया भाव अन्त रस में वामनारूप में विद्यमान रहने और वही बार बार अभिव्यक्त होकर रस का को प्राप्त होता है। रसम भा यही मिश्र होता है कि रस अर्थात् आनन्द प्रवाह का मूल में ममत्व भाव ही प्रेरक शक्ति है और इस अर्थ आनन्द का उपभोग करने वाला अनुपम का अहभाव ही है।

१ अन्तर मन्तरम मन्तानमय विभुम् ।

आनन्द मन्तरमय यन्ते मन्तानम् ।

यक्ति मानस्यैव य चमत्कार रसादया ।

आनन्दस्य विरागे य मोक्षार-ति स्थित ॥

तन्मोक्षिमानस्तन्ने समाम भुवन्तवम् ।

अभिमानानि मा त परिपोषयुषेयिषु ॥

रागादभवति शृङ्गारो रागस्य दयात् अजायते ।

वीरोदभवति सकोपः शोकस्य दयात् ।

शृङ्गारात्तयते कामो रागात्त कुरुषो रसः ।

वीराच्चादभुत निष्पत्ति रसादवीर्यत्माद मयाजक ॥

—अग्निपुराण ।

मनुष्य द्वारा एकत्व स्थापन की प्रवृत्ति तथा स्थायी आनन्द का अवेषण

विषमतामूलक मृष्टि की निष्ठात्मक प्रसूतिया म पारम्परिक प्रत्याक्षेपण तथा एकत्व स्थापन की आशा से सनत प्रणीत होती है। इसी दुर्निवार आकाशाग्नि अग्रतिम अभिलाषा के कारण ही यह विरास जगत जाल इमन सारे व्यापार चरिताय हो रह है। स्त्री-पुरुष के आक्षेपण प्रत्याक्षेपण में एकत्व-स्थापन का यहाँ स्वरूप दृष्टिगम्य होता है। एकत्व-स्थापन का इसी अग्रतिम अभिलाषा का प्रेम का सत्ता दा गढ़ है।^१ नर और नारी प्रमी और प्रमिका के बीच एकत्व स्थापन की इसी अभिलाषा की पूर्ति मनोनुकूल मुख की प्राप्ति का नाम सयागावस्था तथा इसकी वापक दशा को वियोगावस्था कहा गया है। प्रेम की आत्यन्तिक दशा में प्रमी को सम्पूर्ण विश्व ही प्रेममय प्रियतममय प्रतिभासित होन लगता है। ईशोपनिषद् के अनुसार इस विशिष्ट भावदशा में उस सभी भूता में आत्मप्रतीति होन लगती है।^२ अन्तर्गतका लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में परिवर्तित होकर जीवोन्मुखी से ईश्वरोन्मुखी हो जाता है। इस प्रकार नर-नारी के सामांय प्रेम गत असामान्य स्वरूप प्रेम की पाठिका तयार होती है।

जसम दो मन नहीं हो सते वि नर नारी के लौकिक प्रेम के अन्तर्गत अनवानक घात प्रतिघात होन रहते हैं। फलतः उमकी अस्थिरता एवं विफलता के कारण स्थायी आनन्द की उपलब्धि नहीं हो पाती। जसम जहाँ मित्र के दो धार लण ही के सयाग से मित्र पान है वहाँ विरह के अपार करप हठात गल न्यि जान हैं और अन्तत इसका फल बड़ा ही वन्नापूण होता है।^३

एमी स्थिति में स्वभावतः मनस्य एम प्रमाधार एमे आनन्द एम प्रेम का अवषण करना चाहता है जो चिरन्तन हा जो अभी घट रहा उम मुख के सुधा मरोवर में हसा चिरवात तब वन्ने के वगना रन तथा जहाँ मित्र के बाँट विरह की वगना कभा न सनाय। स्थायी आनन्दोपलब्धि की इना प्रेरणा से मनुष्य जीवोन्मुख प्रेम से ईश्वरोन्मुख प्रेम की ओर जग्रसर होता है। मनुष्य द्वारा प्राप्त आनन्द का अवषण चिरन्तन प्रमाधार की कल्पना तथा कभी न खूब हान वाला एक रम आनन्द प्रेम की उदभावना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। मनुष्य

1 The Mansion of Philosophy Chap III By Durant

२ यस्तु सवाणि भूतानि आत्मन्वेवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु गामान तपो न विजुगुप्सते ॥

—ईशोपनिषद्।

३ गाय माँसों का विधुर वियोग

छुड़ाना अथर मयुर सयोग

मित्रन के पल बँकल दो-नार

विरह के बल्य असार।

× ×

गूँजे हैं सबक निन चार

सभी निर बहाक़ार।

स्वभाव न स्यात् एव पूर्णनिष् की प्राप्ति चाहता है। वह एम प्रेमाधार का माधाकार चाहता है जो अनन्त योग, शक्ति और योग्य का आधार हो। एसा वह इम्निए चाहता है कि उसे उसी के माध्यम से ममस्त आकाशाका की पूर्ति तथा पूर्ण एव स्यात् आनन्द की उपरि का प्रदत्त आस्वादन मिलता है। इसी आस्वादन या विस्वादन के आधार पर भावपन्न बनना न अपने-अपने स्वभावानुसार विविध मनोरन्गा की बहुविध मधुर वस्तुना तथा विस्मयन की अवसरान् मधुर योजनाओं की हैं।

रससिद्धि के लिए तन्मयता तथा हृदय की सवेदशीलता आवश्यक

रस के मनोवैज्ञानिक व्याख्याताओं में नाट्य शास्त्र के टीकारार अभिनवगुप्त का स्थान सर्वप्रथम है। उन्होंने सर्वम पहले रस स्थिति निपयक कद प्रार्तिता को दूर करके रस की मनोरन्गानि व्याख्या की तथा उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार रस सिद्धि के लिए तन्मय होना तथा हृदय की सवेदशीलता के भाव आवश्यक हैं जो महद्भयजन से ही सम्भव हैं।^१ तन्मयता का तात्पर्य तन्माकारता से है जिसमें आत्म विस्मृति का भाव निहित है। यह विनिष् भाव-रन्गा शैविक अभिरुचि से मवया भिन्न होती है। रसो का रस साधना में साधारणीकरण तथा योग साधना में मधुमता भूमिका की मना दी गई है। जिस व्यक्ति में अपने में भिन्न अथ वस्तु के भाव तन्मय होना का भाव शक्ति जितनी ही अधिक तीव्र होगी उसका अनुभूतिता भी उतनी ही उत्तम एव शक्ति-मग्न होगी। एसा ही व्यक्ति भावमय भाषा के प्रयोग द्वारा अपने समृद्ध भाषा के वर पर उनके प्रतीका का महज हा एसा शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरा के हृदय में भी समान भाव जगा सकें वस वही कवि एक मन्त्राकार है।^२ रससिद्धि का दूसरा प्रभुत्व तत्त्व है हृदय का सवेदशीलता। मनुष्य के हृत्थ में वासनात्मक संस्कार पहले से ही विद्यमान रहते हैं जो मुक्त विभावादि से उदबुद्ध होकर चन्द्रावरूप ज्ञान का अनुभव कराते हैं। जिस प्रकार पत्थ वषा से धरती की सारी गंध प्रकट होकर उसकी सवेदशीलता का अभिव्यक्ति करती है उसी प्रकार तन्मयता के भाव महत्त्व जना के हृदय स्थित पूर्व वासनात्मक संस्कारों को उदबुद्ध कर अलौकिक ज्ञान का उद्गार करत हैं। डा० राजेग मुक्त न काव्यान्त का व्यक्ति की अभिरुचि अनुभव और लोक व्यवहार से सबद्ध माना है तथा अभिनवगुप्त के विचारों का उल्लेख करत हुए अपनी भाषना को परिपूर्ण करने की चेष्टा की है।^३

१ देवा वा यादुराशीलनाभ्यामवगादिरादीनूते मनोमुक्त वरणीय तन्मयीभवनयोग्यता ते हृत्थ संवाद भाज महत्त्वा ।^१ —अभिनवगुप्त ।

२ ऐतिहासिक कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन । —डा० राजेश्वर प्र मुखर्जी पृ० ८१ ।

३ According to Abhinavagupta a Sahrdaya is one who with his wide experience of the world and with his constant acquaintance with the works of the great artists has got a heart full of responsiveness to the situation described in poetry or on the boards and is ready to identify himself with them

अभिनवमुक्त व बाद रस की मनोव्यक्तिक व्याख्या करने वाली म धनजय राजा भाज और विश्वनाथ विनोद उल्लेखनीय हैं ।

काव्यान्त और आधुनिक मनोविज्ञान

रस सिद्धांत व प्रतिष्ठापका न रस को वाच्य की आत्मा माना है तथा रस मिद्धि को काव्यानुशीलन व गोपपठ व रूप में स्वाभाव किया है । उनका मतानुसार काव्यान्त अंगैरिक आनंद है । अतएव इसका आम्बाद ब्रह्मानन्त व समान है ।^१ रस अथवा काव्यान्त की अंगै किवंता इस बात से भी मिद्ध है कि महृदय पात्रक या श्रोता को दुःखात् एव कल्याणपूर्ण काव्य दृष्टिया व अनुशीलन में आनन्दानुभूति होती है । इस प्रकार गोलाशुभा व अन्तर्गत आनन् की स्मित रेखा खींचना काव्यान्त की अंगैकिकता को सिद्ध करता है । परन्तु परान्तरना उद्भूत भाव लगा है जिसमें मनुष्य अपने क्षन् स्वार्थों की मकुचिन परिधि से ऊपर उठकर परमाय पथ का पथिक बन जाता है तथा दूसरा व योग शम व िए अपना आत्मोत्सग करने के िए उद्यत हो जाता है । परमाय भावना से प्ररित हान व कारण वह उस परमाय तत्त्व का मासात्कार करने में समय होता है जो अंगैरिक आनन् का अष्टा है । अतएव काव्यान्त यन् आनन्दानुभूति है तो वन् एक अंगैरिक अनुभूति है और यन् वह गहन अभिरचि का प्रकाशन मात्र है तो वह अलौकिक वाचि का प्रकाशन है । इस अंगैरिक चमत्कार जया रस रगा में सहृदय का हृत्प शोक हृदय व साथ साम्य प्राप्त कर विव्वात्मा व साथ तणाकार हा जाता है । आचार्य रामचन् गुक् न रमी का हृत्प की मुक्तावस्था का सना दी है जो रस रगा का ही दूसरा नाम है ।^२ यह रसरगा जघान काव्यान्त का अंगैरिक प्रभाव है । यह निन्वय ही कुछ समय के िए मनुष्य को इस लोक से हटाकर आनन् के गुधा मरावर में निमान कर देता है । रस मिद्धान्त व प्रवक्तका न काव्यान्त का अंगैरिक चमत्कारयुक्त होने के कारण इसे ब्रह्मानन् सहान्तर माना है । दगहृपाकार धनजय न काव्यान्त को ब्रह्मानन् का आत्मज यतगया है । रस मायता व कई कारण है । भारतीय साहित्य ात्किा स ही आध्यामिक अवपण का आकाशी रहा है । यहा कारण है कि मभा क्षत्रा में भारतीय तत्त्वज्ञान को प्रमुवता दी गई है तथा ब्रह्मानन् की उपरिधि का जीवन का चिर माध्य माना गया है । फन्त रस मिद्धि और गत्वान्त को एक माय स्वीकार किया गया है । रमी कारण—रस रन् में प्राणत्व सार और स्वान्तना का गम्भिरण किया गया—और परमात्मा को मृष्टि का सार और चिन्तान् रूप शोना यताकर रस का र्ज्ञानन् सहान्तर बना लिया ।^३

सत्वान्वाचित्य व कारण रस अवपन् स्वप्रकाशनन् चिमय अय किमी व ज्ञान के

१ नत्तिगीवापनिषद् ११ उ १ ।

२ रीतिज्ञानी कविता और श्रृंगार रस का विवेचन डॉ रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी पृ ८१ ।

३ कविता कदा है शीघक निवच भा रामन् गुक् ।

४ स्वान् काव्यध सन्धानतमन्त ममुद्भव ।

५ रीतिज्ञानी कविता और श्रृंगार रस का विवेचन डॉ रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी पृ ८२ ।

स्पर्श से गूँथ ब्रह्मानन्द महोदर होता है। गेवोत्तम चमत्कार इसका प्राण है। काव्यान्न्द की इस सात्त्विक अवस्था में रजोगुण और तमोगुण का स्पर्श भी नहीं रहता।^१

काव्यान्न्द के सिद्धांत

प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियाँ व काव्यान्न्द सम्बन्धी जो मत प्रचलित हैं उन्हें पाँच कोटियाँ में रखा जा सकता है।^२ प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्य शास्त्री प्लेटो के मतानुसार काव्यान्न्द साक्षात् ऐंद्रिय आनन्द है। वर्तमान युग में ड्यूवाय प्रभृति साहित्य मनोविज्ञान ने इस मत को सर्वाधिक मान्यता दी है। इसमें भिन्न देश विदेश के जातिवादों आचार्य काव्यान्न्द को विपुल आध्यात्मिक आनन्द मानते हैं। आत्मा सहज सौंदर्य रूप एवं सहज आनन्द रूप है। अतः काव्यान्न्द उन्नी सहज आत्मिक सौन्दर्य एवं सहज-आनन्द की अभिव्यक्ति है। एडीसन के मतानुसार काव्यान्न्द कल्पनाजय आनन्द है जो मूलवस्तु और उसके काव्य में वर्णित रूप की तुलना से प्राप्त होता है। त्रीचेन काव्यान्न्द को सहजानुभूति-जय आनन्द माना है। प्राच्य काव्यशास्त्रियाँ ने काव्यान्न्द को स्वतः सापेक्ष बताने हुए उसे सभी लौकिक आनन्दों में भिन्न एवं अनुपम और अनिवार्य माना है। वर्तमान युग में ब्रह्म न इसका परिपुष्टि की है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस का विश्लेषण करने वाले इस प्रकार काव्यान्न्द विषयक उपयुक्त पंच सिद्धांतों को अवधारण सिद्ध करते हैं। वास्तव में रस शब्द का अर्थ केवल आनन्द है जिसमें मनोरंजन और लोकरंजन दोनों तत्त्व समाहित हैं। लोक रंजन का अभिप्राय है विनाशहृदयता अर्थात् सर्वोप स्वाध-सम्बन्धों से ऊपर उठना। भारतीय रस सिद्धांत की आधारशिला मानवतावाद है। अतएव वह जन-समाज व सर्वथा अनुकूल एवं उत्तम है। इसी लिए आवश्यकता के अनुसार इसमें नवान तथ्यों का समावेश भी होता रहा है। इसका परिणाम है कि वास्तव्य एवं पूर्ण रस के रूप में सिद्ध किया जा सका है तथा भक्ति साहित्य के अंतर्गत मधुरोपासना की प्रचुर अभिव्यक्ति व कारण भक्तिरस किंवा मधुररस की अवधारणा की गयी है तथा उसे एवं पूर्ण स्वतंत्र रस व रूप में स्वीकार किया गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान और रस-कल्पना

काव्यान्न्द या रस व आस्वाद व सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान की संज्ञा भिन्न धारणा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्यान्न्द को ब्रह्मानन्द सहादर नहीं मानता एवं उसकी अलौकिकता का भी खण्डा करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने काव्य के आनन्द का वर्णन ही माना है जसा कि मनोरंजन के अथ लौकिक साधना से आनन्द प्राप्त होता है। रस का मनोवैज्ञानिक विवरण करने हुए डा. रावेंश गुप्त ने बतलाया है कि काव्य का आस्वाद एवं भाविक गोचर पण्य या क्रिया है जो काव्यानुभूति के मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया-स्वरूप

१ साहित्य-पथ, विरचना ३, २ ३ ४।

२ रीतिकाल की भूमिका, डॉ. नग ४, ५ ६५।

भावुक व्यक्ति के मानस में प्रादुर्भूत होने का विविध बोध द्वारा निमित्त होता है।^१ इस प्रकार के मत के अनुसार काव्यकला से प्राप्त आनन्द में और सन्तुष्टि में प्राप्त होने का आनन्द में कोई अन्तर नहीं है। काव्यानन्द सम्बन्धी इस सिद्धान्त के आगे के में काव्यानुभूति विषयक उपयुक्त पाँच सिद्धान्त सज्जित हो जाते हैं।

रस का अर्थ अभिरुचि

आधुनिक मनोविज्ञान के अंतर्गत रस का अर्थ अभिरुचि माना गया है। मनुष्य को वही वस्तु सबसे प्यारी लगती है जिसमें उसकी वांछी अभिरुचि रहती है। उदा. वस्तु की ध्वनि में वह रस होता है जिसमें उसकी रुचि होता है। अभिरुचि के स्तर भेद से वस्तुओं से प्राप्त होने वाले आनन्द में अन्तर्भाव का होना संभव स्वाभाविक है।

रस या काव्यानन्द लौकिक है

इस प्रकार के विचारका का यह भाँसक है कि रस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि के समक्ष भी रस द्वारा अलौकिक आनन्द प्राप्त करने का लक्ष्य नहीं था। उनके नाट्यशास्त्र के प्रणयन के मूल में नागरजन अर्थात् लौकिक आनन्द प्राप्त करने की भावना प्रमुख थी।^२ अतएव उनका रस प्रतिपादन के पीछे भी अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के बल लौकिक आनन्दोपलब्धि का ही आग्रह दृष्टिगत होता है। नाट्य का मुख्य प्रयोजन मनोरंजन प्रदान करना है। भरत मुनि के इस मत को उद्धृत करते हुए डा. राकेश गुप्त ने स्पष्टतः कहा है कि रस साधना या काव्यानुभूति का लक्ष्य अलौकिक या नाश्वर्य आनन्द को प्राप्त करना कदापि नहीं है। आखिर हजारों लोग नियोजित सिनेमागृहा में जाते हैं वे मनोविनोद अर्थात् लौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए ही जाते हैं न कि अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए। इसी प्रकार रस अर्थात् काव्यानुभूति द्वारा प्राप्त आनन्द भी संभवतः लौकिक ही है।^३ रसों के रस रसो ह्यवायः शब्दान्ती भवति आदि उपनिषद्-वाक्यों को संभवतः अतिहासिक बतलाने हुए डा. शंकरानन्द ने उनका प्रामाणिकता का ही सँदिग्ध माना है।^४

- 1 Poetic relish is a mental phenomenon and is composed of the feelings which are worked in the mind of the perceiver as a psychological relation to his perception of poetry. Feeling thus evoked can correspond with the emotion depicted in poetry

—Psychological Analysis of Rasa by Dr. Rakesh Gupta P. 83

- २ विनोदजन लोके न द्रष्टव्ये भविष्यति। नाट्यशास्त्र १. ११०।

- 3 It is definitely not in search of any Perennial Bliss that thousands of the enthusiastic cinemagoers assemble at the picture house everyday and in each city. Even according to Bharat the theatre is for the sake of entertainment

—Psychological Studies of Rasa by Dr. Rakesh Gupta P. 41

- 4 Theory of Rasa and Dhvani by Dr. A. Shankaran —Page 3

वरुण एवं दुःखान् कलाकृतियां से प्राप्त हान वाली जान-दानुभूति या परदुःखवान् रसा के भाव का भी स्वयं लौकिक व्यवहारगत एवं मनुष्य की स्वाभाविक दृष्टि का परिणाम मानते हुए डॉ० राबर्ट ने उसका अलौकिकता का प्रत्याख्यान किया है। सारांश यह है कि काव्यानुभूति या काव्यानन्द विगुड लौकिक वस्तु है और व्यक्ति की रुचि और शोक-व्यवहार ही इसका मुख्य आधार है। अन्य विषया की तरह काव्य में भी जब तक अभिरुचि विद्यमान रहती है तभी तक उसमें आनन्द प्राप्त होना है। उससे चित्त भग्न हो जाना पर उसका प्रति अभिरुचि भी मिट जाती है और उसमें प्राप्त हान वाले आनन्द का भी निराभाव हो जाता है।^१

रस या काव्यानन्द का वास्तविक आधार अभिरुचि और लोक-व्यवहार है

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार रस या काव्यानन्द वस्तुतः अभिरुचि और लोक-व्यवहार पर आधारित है। डॉ० जेम्स ड्रेनर के मतानुसार वास्तविक अभिरुचि द्वारा काव्यानुभूति ही काव्यानन्द है।^२ इन्होंने अभिरुचि की व्याख्या करते हुए इसे उपयोगिता का भाव (Faculty of worthwhileness) कहा है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मेलाव और डर्म्मोंड (Drummond) के मतानुसार चित्त की एकाग्रता का मूल हेतु अभिरुचि ही है। चाहे सुखारमक हो या दुःखारमक जिनकी ही अभिरुचि होगी तब निश्चय ही सत्य का ममान स्वभावतः चित्त भी उनका ही अधिक एकाग्र या समग्र होगा।^३ समयता का अनुपात में ही उसमें उपयोगिता आयगी और उसी मात्रा में आनन्दोपपत्ति भी होगी।

रुचि और आनन्द

डॉ० राबर्ट गुप्त ने काव्य के सम्बन्ध में 'रुचि और आनन्द' को एक-दूसरे का पर्याय माना है। सुखारमक दृष्टि में रुचि मानस का अधिक स्थायी मस्थान है और जब उसमें सक्रियता आती है तब वह आनन्द में रूपान्तरित हो उठती है। अतएव आनन्द और कुछ नहीं मात्र रुचि का प्रकाशन है। जहाँ बाई काव्य सदा हम रचना है ता उसमें हम आनन्दोपपत्ति होगी ही और यदि काव्य-शोध हम आनन्द प्रदान करता है ता उसमें निश्चय ही हमारी रुचि होगी।^४

मधुर रस के स्थायीभाव, संचारीभाव, अनुभावादिकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या

उपयुक्त विचार विज्ञान से यह स्पष्ट है कि काव्यानन्द या रसानुभूति मनुष्य की अल्प

- 1 Psychological Studies of Rasa by Dr. R. Gupta Page 5
- 2 Instinct of Man by James Drener Page 130
- 3 The greater the interest whether painful or pleasurable the greater the attention may be regarded as a self-evident truth
—Elements of Psychology by Mellove and Drummond Page 131
- 4 'The terms relish and interest are almost synonymous with each

सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ के समान ही एक सामान्य अनुभूति है जो व्यक्ति की अभिरुचि अनुभव और लोक व्यवहार पर आश्रित है। कवि के कला-बौद्धिक एवं अभिनय के अभिनय नैपुण्य के प्रति आकृष्ट होकर ही लोग उसमें प्रभावित और जान-बूझ कर उत्तम हैं। एभी स्थिति में पूर्वजन्म के वासनागत सस्तरा के उभरने एवं अभिव्यक्ति ज्ञान का प्रदन हो नहीं उठता। इस प्रकार काव्यान्त या रसानुभूति अन्य भौतिक ज्ञान के समान ही एक सामान्य कानि का आनन्द है और उसका सम्बन्ध व्यक्ति की अभिरुचि अनुभव और लोक व्यवहार से है।

भगवत्विषयक रति या उपास्य के प्रति उपासक के मधुर मनोरस का ही भक्ति का सत्ता दा गढ़ है। भक्ति के स्वभावानुसार भक्ति का एकमात्र स्थायीभाव—भगवान् विषयक रति पाँच प्रकार की हो जाती है—शांतिरति प्राप्तिरति प्रयत्नरति अनुकम्पा रति और कांतिरति। कांतिरति जिस प्रकार जड़ जगत का विषय बनकर शृङ्गार नाम के अभिहित की जाती है और जड़ विषयक होने के कारण सबसे निम्नस्थ मानी जाती है एवं वही चिजगत अर्थात् भगवत्प्रेम का विषय बनकर जिस प्रकार मधुर भक्तिरस रस की उपाधि से विभूषित का जाती है उसका विस्तृत चर्चा आगे अनुबन्ध खंड में की गई है। अतः इस सम्बन्ध में भगवद विषयक शृङ्गार मधुर रस रस के स्थायीभाव संचारीभाव अनभावान्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना ही मुख्य प्रतिपाद्य है। मनोरस मनाभाव एवं मनावगा का ही उच्छास्न होना है। अतएव समग्र पदार्थ भाव एवं मनोवेग का तात्त्विक विवेचन अपेक्ष्य है।

भाव और मनोवेग

सामान्य भाव बाह्य जगत के संवेदना (Sensations) से मानव मन में उत्पन्न होने वाले विचारों का ही समन्वित रूप है। मनावैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सुख दुःख परक अनुभूति को भाव (Feeling) कहते हैं। एभी सुख दुःखात्मक अनुभूति में जब तीव्रता आ जाती है तब उसे मनोवेग (Emotion) कहा जाता है। मलाव और डमा के मनावानुसार विषय बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतंत्र विचारों द्वारा जाग्रत मनोवगा को ही मनावग कहते हैं। भावामक अनुभूति और प्रयत्न इसका दो प्रमुख गुण हैं।^१ आरंभ में वह वक्ष के अन्तर्गत गायधारा के गारोवयवा का सन्निध या उद्दिष्ट दत्ता ही मनावग है। यह भाव की उत्तजनापूर्ण दत्ता है जसा कि व्यक्ति को स्वतः समझी प्रतीति होती है। यह क्षय सामप्राप्य एवं स्नायु-प्रश्रिया का नियामक अभिव्यक्ति है जसा कि बाह्य दत्ता के समझा अनुभव होता है।^२ जीवधारा के गारार का उत्तजित अथवा मयित दत्ता ही भाववगा

other with reference to poetry. Interest is comparatively a permanent disposition of the mind and becomes relish when it is in action and Relish is nothing but a manifestation of interest. If a poetical piece interests us we must relish it and if we relish it its perception it must interest us. —Psychological Studies of Rasa—P 81

1 Elements of Psychology by Mellove and Drummond

2 Emotion is a moved or stirred up state of the organism. It is a stirred up state of feeling—that is the way it appears to the individual himself. It is a disturbed muscular and glandular activity—that is the way it appears to the external observer. — Psychology R E Woodworth P 308

या मनावग की दशा है। बाध एव चतनाजय दृष्टत्वा वा अनुभव व्यस्ति को मय्य होता है तथा उसकी सामर्थ्यात्। एव स्नायुत्रा व सचरण द्वारा दूसरे व्यस्तिया का उस मनोभावा का परिणाम होता है।^१ विविध जन्म व मनापुमा एव जीव का अय जाव व प्रति स्थिति व पान व माय दृष्टा का मयाग ही मनावग है।^२

विविध मधुगन्ध न मनावग वा मानव का भूतवृत्तिया (Instincts) का परिवर्द्धित स्वरूप माना है। उनसे मतानुसार हमारी भूतवृत्तिया द्वारा प्ररित अनुभव और वाय हा मनावग है।—हमारी भूतवृत्ति व जाग्रत होने हा उम वृत्ति की अनुसूची पणिया और स्नायुत्रा म आज का सचरण हान लगता है। आज सचरण की यद् अवस्था उत्तजना का अवस्था हानी है और प्रत्यक्ष परिस्थिति म हम उत्तजना म एव एसी विविष्टता वत्तमान रहना है जिसके कारण हम उस भय बाध, घृणा आदि अलग-अलग भाव न सकत हैं। भूतवृत्ति की जाग्रति और उत्तजना म निहित विविष्टता दोना भाव के मानसिक रूप है तथा सामर्थ्यात् एव स्नायुत्रा म आज का सचरण उमक गारारिक रूप व परिचायक है।^३ कुछ मनोवैज्ञानिक (जन्म, लग आदि) भाव व मानसिक रूप को उमक गारारिक रूप का परिणाम मानत हैं किन्तु अधिकांश विद्वान् भाव व गारारिक रूप को उमक मानसिक रूप का ही प्रतिफल मानत हैं।

इसमें यह स्पष्ट है कि भाव या मनावग की दशा मानव मस्तिष्क की सुनिश्चित जाग्रत वस्था है। युक्त विभावा द्वारा यह जाग्रत होता है तथा अनुभावा द्वारा ग्राह्य रूप म यह प्ररहित होता है।

उपयुक्त विचार विदुषा व आधार पर मनावग (Emotion) के तीन प्रमुख तत्त्व निश्चित हान हैं जिनमें रस व मधुगन्ध (स्वादा और सचारीभाव एव अनुभाव) का साम्य निश्चित पत्ता है। यथा—

क—मनावग व उत्तजक तत्त्व अथात विभाव।

ख—मनावग के मानसिक प्रभाव अथान स्थाया और सचारीभाव।

ग—मनावग के गारारिक प्रभाव अथान अनुभाव।

रस और मनावग व इस साम्य का लक्ष्य वर कुछ विद्वाना न हम पयायवाचा मानकर समानार्थी एव समानप्रतीति मानत हैं। किन्तु रस और मनावग को एव मानना इसका समीचान नहा है कि मनावग वर चित्त व जाग्रत अथवा मस्तिष्क का उत्तजित दशा है वर एव जाग्रतवस्था है। रस जान-अमय मन की एकाग्रवस्था है। जिस स्थिति म जाग्रति मनावगानिना न मनावग का विरचन किया है उमसे अनुसार यह आवश्यक नहा कि मनावग उत्तुष्ट हा जाने पर हमारा चित्त तमय हाकर जान-अवस्था का प्राप्त हो हो जाय। इसके विचार म रस निश्चित माध्य है और मनावग वर माध्य माय। रस मनावग नहा मनावग का आवृत्तन है।^४

1 Science of Emotions by Dr Bhagawan Das

2 Psychology by William James P 376

3 An outline of Psychology by William Mc Dougall

4 रीतिरिक्ता भार १८ गार रस का चित्त वर हा राजरस प्रमाण अनुबन्धी, १ ८७-८८।

मनोवेग स्थायीभाव, संचारीभाव और अनुभाव

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रति आदि स्थायीभाव स्थिर मनोवेग हैं। संस्कृत साहित्य शास्त्र में वैयाकीस भावा का वर्णन किया गया है जिनमें रति आदि आठ अथवा नौ भावा को स्थायीभाव तथा निवेदादि ततीस भावा को संचारीभाव कहा गया है। इनमें निवेदादि भावा से रति आदि भाव अपेक्षाकृत सुस्थिर एवं परिपुष्ट हैं इसलिए यह स्थायीभाव की संज्ञा दी गयी है। मनोविज्ञान के विचार से संचारीभाव संचरणशील मनावग है। डा० राकेश गुप्त ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावा के पांच वर्ग निघारित किए हैं। प्रथम वर्ग में आठ स्थायी भावा को रखा गया है जो मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हैं। द्वितीय वर्ग में मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम चौदह संचारीभावों की गणना की गयी है। तृतीय वर्ग में चार संचारी भाव माने गये हैं जो आवग रहित हैं। चतुर्थ श्रेणी में षष्ठ गौरीरिक् संचरण उत्पन्न करने में समर्थ पांच संचारीभाव परिगणित किये गए हैं। पंचम कोटि में नौ संचारीभाव हैं जो गौरीरिक् या मानसिक किसी प्रकार का भाव उत्पन्न नहीं कर सकते।¹

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनोवेग के शारीरिक प्रभाव अथवा शारीरिक चेष्टाओं में परिवर्तन को अनुभाव कहते हैं। काव्यशास्त्रीय दृष्टि में स्थायीभाव का अनुभव कराने वाला भाव को अनुभाव कहा गया है। अनुभाव वस्तुतः भाववाचक शारीरिक चेष्टाएं हैं। सात्त्विक कायिक मानसिक और जाहाय—इनके चार प्रकार हैं। आत्मा में अंतर्भूत रस का प्रकाशित करने वाला अंतर्करण का घम विनोद मत्त्व से उत्पन्न शरीर के स्तम्भादि प्रवेगों से स्वाभाविक ऋग विकार सात्त्विक अनुभाव कह जाते हैं। मनोभावा का अनुरूप नर धू हस्त आदि शरीरावयवा द्वारा की गयी चेष्टाएं कायिक अनुभाव हैं। अंतर्करण की भावना का अनुसार मन में उठनेवाला हृष विषादादि भावा का मानसिक अनुभाव कहते हैं। सारांश यह है कि हमारे सभी प्रकार के भावा का सम्बन्ध हमारे मनोवेगा से है जो प्रकार एवं मात्रा भेद से पृथक् पृथक् नामों में अभिन्न किये जाते हैं।

मनोवेग और मनोवृत्ति

मनावग एवं संचरणशील अनुभाव है और मनावृत्ति (Sentiment) एक स्थिर मनावगा या वृत्ति है। मनावृत्ति का निमाण क्रमशः अनेक मनावगा और मानसिक क्रियाओं द्वारा होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक संस्थान है अथवा उमका एक अंग है।² इनके अनिरिक्त मनोवेगा का सम्बन्ध मनुष्य की मूर्च्छितया से है और इससे भिन्न मनोवृत्ति विचार-तत्त्व (Idea) में सम्बद्ध है। मनावगा का सम्मिश्रण उनका आवृत्ति एवं विचार-तत्त्व का क्रमिक समावेश द्वारा मनावृत्ति का निमाण होता है।

1 Psychological Studies of Rasa Dr Rakesh Gupta Page 144

2 Emotion is a feeling experience sentiment is an acquired disposition one gradually built up through many emotional experiences and activities it is an organisation or a part of total organisation

मनोवेग के तीन भेद

सामान्यतः मनोवैज्ञानिका ने मनोवेग के तीन प्रकार निश्चायित किये हैं—मौलिक मनोवेग (Primary Emotions) मिश्रित या गौण मनोवेग (Blended or Secondary Emotions) और व्युत्पन्न मनोवेग (Derived Emotions) ।

मौलिक मनोवेग

मौलिक मनोवेग का सम्बन्ध मूलवस्तुओं से है । भय, काम आदि मूल प्रवृत्तियाँ ही इसके अन्तर्गत आती हैं ।¹ इस प्रकार मौलिक मनोवेग हमारे मौलिक अनुभव के समान रूप में हैं ।

संस्कृत रस शास्त्र के रति आदि स्थायी भाव मनोविज्ञान के मौलिक मनोवेगों के समान हैं । अपन स्थायित्व एवं प्रभाव की व्यापकता के कारण वे मनुष्य के जीवन की मूल वृत्तियों के सहज ही हैं । इनके अतिरिक्त कुछ संचारीभाव भी मौलिक मनोवेगों के समान ठहराये गये हैं ।

मिश्रित मनोवेग

मिश्रित या गौण मनोवेग एक से अधिक वृत्तियों की सहक्रिया का परिणाम है । जब एकाधिक वृत्तियाँ एक साथ ही सक्रिय होती हैं तब व्यक्ति को ऐसे मनोवेग का अनुभव होता है जिसके अन्तर्गत हर एक वृत्ति में सम्बंधित मनोवेग का प्रभाव दिखलाई पड़ता है । ऐसी ही वृत्ति में मिश्रित मनोवेग का प्राप्तिभाव होता है । मिश्रित मनोवेग का स्वरूप मूल के प्रकाश के समान होता है । जिस प्रकार सूर्य के प्रबल प्रकाश में सूर्य किरणों का स्पष्ट रंग मिले रहने से उसी प्रकार मिश्रित मनोवेग कई प्रकार की वृत्तियों की सामूहिक क्रियाशीलता के प्रभाव का परिणाम होता है । उदाहरणतः श्याम भाव में तपत्य स्नेह या संरक्षण भाव और सहानुभूति का मनोवेग का मिश्रण रहता है । इसी प्रकार अपमान या तिरस्कार के भाव में क्रोध और घृणा का भाव के साथ अहंकार का मनोवेग भी मिल रहते हैं । रस शास्त्र में वर्णित चित्ता आदि संचारीभाव मिश्रित मनोवेग के समान हैं ।

व्युत्पन्न मनोवेग

अन्य मनोवेगों को किसी मूल प्रवृत्ति से साधा सम्बन्ध नहीं रहने पर किसी दूसरे मनोवेग के आश्रित होना पड़ता है । किसी विषय कारण या परिस्थिति का उत्पन्न हो जाने पर वह प्रवृत्ति जय पाये के बीच में ही आविर्भाव होती है ।² क्योंकि ऐसा मनोवेग को व्युत्पन्न मनोवेग की संज्ञा दी गयी है । सुख-दुःख आशा निराशा हृष्य-गोच विस्मयान्ति मनोवेग इस कोटि में आते हैं । इस प्रकार रसशास्त्र का अधिकांश संचारीभाव व्युत्पन्न मनोवेगों की कोटि में आते हैं ।

मनोवेगों की उपयुक्त तीन कोटियों पर विचार करने के उपरान्त यह भी सिद्ध

1 An outline of Psychology by William Mc Dougall P 325

मनोवेग स्थायीभाव, सचारीभाव और अनुभाव

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रति आदि स्थायीभाव गिर्य मनावग हैं। सस्त्रुन साहित्य ग्रास्य म बयालीस भावा का वणन बिया गया है जिनम रति आदि जाठ अथवा नौ भावो को स्थायीभाव तथा निर्वेगादि ततास भावा को सचारीभाव कहा गया है। इनम निर्वेगादि भावा से रति आदि भाव अपेक्षाकृत सुखिर एव परिपुष्ट हैं इसलिये इन्हें स्थायीभाव की सना दी गयी है। मनाविज्ञान के विचार से सचारीभाव सचरणगील मनोवेग है। डा० रावेण गुप्न न मनावैज्ञानिक दृष्टि से भावा क पाच वग निधारित बिय हैं। प्रथम वग म आठ स्थायी भावा को रखा गया है जो मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने म सक्षम हैं। द्वितीय वग म मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने म सक्षम चौदह सचारीभावा की गणना की गयी है। तृतीय वग म चार सचारी भाव मान गय हैं जा जावग रहित हैं। चतुर्थ श्रेणी म बवल गारीरिक सवन्न उत्पन्न करने म समथ पाच सचारीभाव परिगणित बिय गए हैं। पचम कोटि म गेप सचारीभाव हैं जो शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का भाव उत्पन्न नहीं कर सकते।^१

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनावग क गारीरिक प्रभाव अथवा गारीरिक चेष्टाआ म परि वक्षन की अनुभाव कहा हैं। काव्यग्रास्त्रीय दृष्टि से स्थायीभाव का अनुभव करान वाले भाव का अनुभाव कहा गया है। अनुभाव वस्तुन भाववाधक गारीरिक चेष्टाए हैं। सारिवक कायिक मानसिक आर आशय—इनने चार प्रकार हैं। आत्मा म अन्नभूत रस को प्रकाशित करने वाला अत करण का धम विनेप सत्व से उत्पन्न गरीर के स्तम्भादि प्रवृत्तादि स्वा भाविक अग विकार सात्त्विक अनुभाव कह जाते हैं। मनोभावा क अनुरूप नेन धू हस्त आदि शरीरावयवा द्वारा की गयी चेष्टाए कायिक अनुभाव है। अत करण की भावना क अनुसार मन म उठनवाले हप विषादादि भावा को मानसिक अनुभाव कहते है। साराग यह है कि हमार सभा प्रकार के भावा का सम्बध हमारे मनोवेगा से है जा प्रकार एव मात्रा भेद मे पृथक्-पृथक् नाम मे अभिन्ति बिय जात है।

मनोवेग और मनोवृत्ति

मनावग एक सचरणगील अनुभाव है और मनोवृत्ति (Sentiment) एक स्थिर मनावगा या वृत्ति है। मनोवृत्ति का निमाण क्रमग अतक मनोवगा और मानसिक क्रियाआ द्वारा होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक सस्थान है अथवा उसका एक अंग है।^२ श्रमक अनिरिक्त मनोवगा का सम्बध मनुष्य की मूलवृत्तिया से है और इससे भिन्न मनोवृत्ति विचार-तत्त्व (Idea) म सम्बद्ध है। मनावगा क सम्मिश्रण उनका जावृत्ति एव विचार-तत्त्व क क्रमिक समावग गारा मनोवृत्ति का निमाण हाता है।

1 Psychological Studies of Rasa Dr Rakesh Gupta Page 144

2 Emotion is a feeling experience sentiment is an acquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities it is an organisation or a part of total organisation

मनोवेग के तीन भेद

सामान्य मनोवैज्ञानिक ने मनोवेग के तीन प्रकार निष्पादित किये हैं—मौलिक मनोवेग (Primary Emotions) मिश्रित या गौण मनोवेग (Blended or Secondary Emotions) और व्युत्पन्न मनोवेग (Derived Emotions) ।

मौलिक मनोवेग

मौलिक मनोवेग का सम्बन्ध मूलवस्तुओं से है । नव काम आदि मूल प्रवृत्तियाँ ही इसके अन्तर्गत आती हैं । इस प्रकार मौलिक मनोवेग हमारे मौलिक अनुभव के समतुल्य स्वरूप हैं ।

सम्बन्धित रस गान्धर्व व रति आदि मध्यम भाव मनोवैज्ञानिक ने मौलिक मनोवेगों के समान हैं । अपने स्थायित्व एवं प्रभाव की व्यापकता के कारण वे मनुष्य के जीवन की मूल वस्तुओं के समान ही हैं । इनके अनिरुद्ध कुछ संचारीभाव भी मौलिक मनोवेगों के समान उद्भूत होते हैं ।

मिश्रित मनोवेग

मिश्रित या गौण मनोवेग एक से अधिक वस्तुओं की सहक्रिया का परिणाम है । जब एकाधिक वस्तुएँ एक साथ ही सक्रिय होती हैं तब व्यक्ति का उस मनोवेग का अनुभव होता है जिसमें अन्तर्गत हर एक वस्तु से सम्बन्धित मनोवेग का प्रभाव मिलित रहता है । इस प्रकार मिश्रित मनोवेग का प्राप्तिमान होता है । मिश्रित मनोवेग का स्वरूप मूल के समान होता है । जिस प्रकार मूल के घटते प्रभाव से मूल क्रिया के उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मिश्रित मनोवेग के प्रभाव का घटते वस्तुओं के प्रभावों का परिणाम होता है । उदाहरण के लिये यदि हम मान लें कि प्रेम और शक्ति के मनोवेगों का मिश्रण रहता है । इसी प्रकार अपमान या निन्दन के मनोवेगों का मिश्रण भी होता है । प्रेम और शक्ति आदि संचारीभाव मिश्रित मनोवेगों के समान हैं ।

होता है कि प्रेम कोई एक मनावग (Emotion) नहै अपितु एक मनानृति (Sentiment) या व्यवस्थित मनानृति है। प्रेम का मनानृति का निर्माण मौलिक तथा मिश्रित मनावग के साथ व्युत्पन्न मनावग के सुंदर सम्मिश्रण से होता है। तथा संपरण आदि का भी मनावग प्रारम्भ होकर अथ सहायक मनावग का सहयोग प्राप्त करता रहता है। किसी के प्रति आकर्षित हो जाने पर आत्म प्रतिष्ठा सम्पन्न सामाजिकता आदि विभिन्न प्रकार के भावों की सृष्टि होती रहती है और उनसे साथ आगे बढ़ता चित्ता स्मृति, हृष आदि विभिन्न व्युत्पन्न मनावग का संयोग होता रहता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के मनावग का विभिन्न प्रकार से संयोग होने रहने से हमारे हृदय में एक विचित्र आनन्दमयिनी मनानृति की प्रतिष्ठा हो जाती है जिसमें हम प्रेम कहते हैं।^१

प्राणियों की मूल प्रवृत्तियाँ

प्राणिमात्र के भीतर कुछ जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनमें उनके समस्त कार्यों का परिचालन होता रहता है। इन मूल प्रवृत्तियों का शिखर स्वन होता रहता है। और के सामने एकाएक हाथ के हिलाने से सहसा पंखा का बंद हो जाना अचानक भयावह दृश्य को देखकर चिल्लाने लगना या भाग खाना होना किसी सलरनाक सुअर या गोर को सामने देखकर मन में डरने हुए भाव में उमस उठना के लिए उद्यत होना किंवा सुन्दर दृश्यावली अथवा अनुपम रूप को देखकर उसकी ओर सहसा आकर्षित होना आदि-आदि इनके अन्यान्य उदाहरण लिये जा सकते हैं। प्रवृत्ति के साथ उपाजित ज्ञान (Intelligence) के सम्मिश्रण के कारण एक से अधिक वृत्तियाँ (Instincts) एक साथ जागृत हो जाती हैं।^२ वन्दरपुङ्खों इत्यादि सुन्दर उदाहरण हैं जिसमें वन्दर द्वारा एक ही साथ अपने का लोठी से बचाना तथा लोठी काटने की ओर पुङ्खों के उस डराने भयानक के दाना काय सम्पन्नित किया जाता है।

पशु जगत एवं मानव जगत की सहज प्रवृत्तियाँ में अन्तर पाया जाता है। इनका प्रमुख कारण यह है कि पशु-जगत के सार काय सहज प्रवृत्ति के अनुसार होते हैं। किन्तु मनुष्य चेतन प्राणी है उसमें बौद्धिकता है। अतः मनुष्य अपने नित्य व्यवहार एवं जीवन के बहुविध अनुभवों के समावेश द्वारा अपनी सज्ज प्रवृत्तियों को अधिकाधिक बौद्धिक बना जाता है। प्राणिमात्र के अन्तर्गत अपने अन्तर्गत बुद्धि विलिप्त के कारण मनुष्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आहार निद्रा भय मयुज आदि सहज प्रवृत्तियाँ पशुओं एवं मनुष्यों में समान ही हैं किन्तु धर्म का अधिकाधिक विपणन अथवा बुद्धितत्त्व के समावेश हो जाने से उनमें परिष्कृति आ जाता है।^३

प्राणियों का जीवन रहस्यों का आगार है। अन्तर्गत उनका जीवनदशाया एक व्यापार का प्रयत्न एवं अप्रयत्न रूप में प्रभावित एवं परिवर्तित करने वाली प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण अर्थात् निर्माण है। किन्तु मनोवैज्ञानिकों का दृष्टि में प्राणी मात्र के अन्तर्गत कुछ

१ रीतिरिवाजों के अन्तर्गत और आहार रस का विधान का सा ॥ चतुर्वेदी पृ ६६।

२ An outline of Psychology by William Mc Dougall P 13

३ आहार निद्रा भय मयुज आदि प्राणी के सामान्य प्रवृत्तियाँ मनुष्य में भी पायी जाती हैं।

पशुओं में भी प्राणियों की प्राणी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं।

मोह मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इनमें प्रथम तरह मुग्ध तथा गूँघरी तीन गाण मूल प्रवृत्तियाँ माना गये हैं। नीचे प्रथम मूल प्रवृत्ति तथा उसमें सम्बद्ध मनावग (Emotion) का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१ अपर्याप्त वृत्ति अथवा आत्म रक्षण की वृत्ति (Parental or protective instinct)। वालम्ब्य (Love) और त्याग (Sacrifice) इस प्रवृत्ति में सम्बद्ध मनावग हैं।

२ मरण की वृत्ति (The instinct of combat)। जब प्राणी की अभ्याप्ति वस्तु अथवा मनावच्छिन्न वायलेन में किसी प्रकार की बिध्न बाधा टाँगे जाती है तब यह मरण वृत्ति क्रियाशील हो उठती है। भोजनोपाजन और मनुष्य में व्यवधान पहुँचाने पर यह मरण वृत्ति अत्यधिक उत्पन्न हो जाता है। इस वृत्ति में सम्बद्ध मनावग घ्राण है जिसके मूल में तीन स्वरूप हो जाते हैं—रोष (Anger) रोग (Rage) रापोमा (Fury)।

३ जिज्ञासा की वृत्ति (The instinct of curiosity)। नव विम्वयान्ताएँ एवं अज्ञान रम्यपूर्ण विषयाँ व सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना इस वृत्ति का प्रमुख उद्देश्य है। अमीष्ट विधि में महायक माधना का प्राप्त करने एवं सम्भावित मकड़ों में वचन का अवस्थापना में यह वृत्ति सर्वाधिक सक्रिय रहता है। इस वृत्ति में मजग रहने पर मनुष्य का विचार शक्ति एवं विवेक-बुद्धि का उत्पन्न होना है। औसुक्य तथा विम्वय इस वृत्ति में सम्बद्ध मनावग हैं।

४ धुषानिवृत्ति अथवा भोजनोपाजन की वृत्ति (The instinct of Food Seeking)। धुषा निवृत्ति के लिए भोजनोपाजन की वृत्ति अधिक प्रयत्न है। मनुष्य में यह पशु-पक्षा यहाँ तक कि स्थावर पदार्थों को भी इस वृत्ति के रूप में विद्यमान है। अतः अत्यन्त मनी वृत्तियाँ का अर्थ यह अति व्यापक एवं सर्वाधिक प्रभावशाली है। इस वृत्ति का मनावग धुषा (Appetite) है जो जटिलतम तन्त्र में मान रूप से पायी जाती है। धुषा निवृत्ति के लिए पदार्थ को भरने के लिए प्राणी क्या-क्या नहीं करता वैन-वैन साथ मनी नाचना ?

५ निषेध की वृत्ति (The instinct of Repulsion avoidance or disgust)। मनुष्य जिस नहीं चाहता उसमें वह दूर रहने का प्रयत्न करता है। यहाँ तक कि वह उस स्थान तक नहीं पसंद करता। वह अरुचिकर पदार्थों का उपभोग करना चाहता है और उसका यह उपभोग भाव गान गान अपरपण में परिणत हो जाता है। घणा दुषुष्मा (Hatred) इस वृत्ति का मनावग है।

६ पलायनवृत्ति (The instinct of escape)। भय अथवा गन्तव्य में उच्च निवृत्ति अथवा भागने की प्रवृत्ति सभी जावा में समान रूप में पायी जाती है किन्तु अर्थात् और दुर्बल प्राणिमा में यह वृत्ति अधिक मजग रहता है। इस वृत्ति का मनावग भय है। इसमें आत्म रक्षण का भाव की प्रधानता रहती है।

७ सामाजिक वृत्ति (The gregarious Instinct)। अपनी सुरक्षा तथा प्रतिकूल वगैरे पर सामूहिक रूप में आश्रयण करना ही इस वृत्ति का उद्देश्य है। जगत् के जाव-जन्तु भी इसमें समाहित रहते पसन्द करते हैं। मनुष्य का चेतन प्राणी है। जहाँ उसमें सामाजिकता का भाव अधिक तीव्र रूप में रहता है। इस वृत्ति में सम्बद्ध मनावग मनुष्यता है।

८ आत्म प्रतिष्ठा की वृत्ति (The instinct of self assertion)। इस वृत्ति का

अन्तर्गत निज वर्णिष्य प्रतिपादन की भावना प्रमुख है। यह वृत्ति मात्र समाज में अधिक महत्वपूर्ण है। अतः तब और दम्भ मगस सम्बन्धित मनावग हैं।

६ समर्पण की वृत्ति (The instinct of surrender or Submission)। भय पारस्परिक सद्व्यवहार सम्मयाओ का गान्धिपूर्ण समाधान प्रमोष-विष महानुभूति प्रजन और सुख सुविधा को प्राप्त करने की भावना इस वृत्ति का मूल में पायी जाती है। स्नेह उत्सर्ग अधीनता क्षीनता इस वृत्ति का मनोवग है।

१० प्रजनन वृत्ति (The Mating Pairing or the Sex instinct)। नियम मंग के साथ सम्बन्धित इस वृत्ति का प्रमुख उद्देश्य है। काम पूर्ति विषय-सुख की इच्छा मधुन की अभिलाषा इस वृत्ति के प्रमुख मनावग हैं जो जन्म चेतन मवम समान रूप से विद्यमान हैं। क्षधा निवृत्ति और काम-नृप्ति का अभिलाषा सर्वांगीर महत्वपूर्ण प्रभावगामी एवं दुर्निवार हैं। विश्व जावन के हृत्कम्पन का यह अनिवार्य प्रक-तत्व है।

११ परिग्रह वृत्ति (The acquisitive Instinct)। इस वृत्ति का उद्देश्य भविष्य के लिए आत्मरक्षा की व्यवस्था करना है। अधिकार भावना (Ownership) इसका मनोवग है।

१२ निर्माण वृत्ति (The constructive Instinct)। जीव मात्र में सुचारु रूप से जावन यापन की भावना पायी जाती है। इसके लिए प्राणी मात्र अपनी बुद्धि एवं क्षमता के अनुसार मृत्तान्गीर रहता है। पशु पक्षी कीड मक्का तक में भाष्य प्रवृत्ति पायी जाती है। सृजन का आनन्द या उत्साह इस वृत्ति का मनोवग है।

१३ चित्ताकर्षण अथवा चिन्तयावर्णन की वृत्ति (The Instinct of Appeal)। सुरजना में सहायता सुख-सुविधा का प्राप्ति करना ही इस वृत्ति का उद्देश्य है। दय अथवा कापण्य इसके मनोवग हैं।

१४ प्रीत्य की वृत्ति (The Instinct of Play)। इसका मनोवग प्रिना है।

१५ अनुकरण की वृत्ति (The Instinct of Imitation)। इसका मनोवग प्रश्रान है।

१६ हास्य की प्रवृत्ति (The Instinct of Laughter)। इसका मनोवग हास्य है।

आधुनिक मनाविज्ञान की दृष्टि में उपर्युक्त मोह मूल वृत्तियां में सम्बन्धित मनोवगों में म काम (रति) हास्य भय घणा औमुय वासत्य अहंकार कापण्य और सहानुभूति—

कामभाव और रतिभाव

व्यापक भाव में रति और काम एक दूसरे के समानार्थी माने जा सकते हैं। 'मनुष्य जो भी काम करता है वह काम की चेष्टा है।' ^१ इस प्रकार भारतीय शास्त्रों में काम की भावभौम सत्ता एवं व्यापकता का अनवरत स्वरूप पर स्पष्ट रूप में उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि 'हे काम ! तू मनुष्य पर उत्पन्न होकर स्वयं पितर और मृत्यु रात्रि को प्राप्त हुआ तबसे कोई बचा नहीं है इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सर्वत्र महान है। हे काम ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।' ^२ इतना ही नहीं काम की सृष्टि उत्पत्ति के परम मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। ^३ अथर्ववेद में काम की विराटता एवं व्यापकता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'काम ने ही काम को रचा है। काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। यह सबकुछ काम का ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि काम में ही संचालित हो रही है।' ^४ इस प्रकार व्यापक अर्थ में काम मूल कामना इच्छा आकांक्षा, मृजनादगार मृजने सुख तथा प्रेम का ही पर्याय मिश्र होता है। आगे काम के विभिन्न नस्त्रों पर विस्तार के साथ विचार किया जायगा। काम के समान ही रति 'व्यापक अर्थ रखने वाला' ^५ है। पीछे अग्निपुराण के आधार पर कहा जा चुका है कि 'सर्व व्यापक और सर्व अभिमान विभु के सहजानन्द की अभिव्यक्ति यथा यथा हो जाती है जो चिद भक्ति सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण एवं रमणीय होती है। उसमें जाति विकार जड़भाव में भुवन व्याप्त अभिमान (ममता) का आविर्भाव होता है और ममता-मर्कांत अभिमान सृष्टिगत रस का जननी रति की उत्पत्ति होती है। रति के अनवरत अर्थ है यथा—स्मरप्रिया कामपत्नी, अनुराग आसक्ति, त्रीडा रमण सतोष ^६ प्राप्ति प्रेम सुहृद् ^७ मनोमुक्त अर्थों में सुख सदान ^८ स्ना पुष्प ^९ काम कामनामय हृदय का पारस्परिक रमणच्छा ^{१०} प्रियवन्तु में मन की प्रसन्नता उन्मुक्तता ^{११} और व प्रति परापुररति जयात भक्ति ^{१२} आति-आति।

१ 'यद् बुद्धिं क्रियते काम ।' मनुस्मृति ।

२ कामो जहो प्रथम नैन देवा,
आयु पितरो न मर्या ।

ततस्त्वमसि यायान विश्वाहा महास्ते

कामनम इति करोमि ।

—अथर्ववेद ६ २ १६ ।

३ कामस्तमे सर्ववर्तन मनसा रेत प्रथम यामीन् ॥

—अथर्व १६ ५२ १ ।

४ क इदं वरम अत्र काम नामावाप्तात् ।

कामो दाता काम प्रतिग्रहीता काम समुद्र मा विशे ।

कामेन स्वा प्रति गृह्णामि कामैस्तने ।

—अथर्व ३ ७६ ७ ।

५ प्रतिवा ५ ८१२ ।

६ द्विती राभापद, ५ २-६३ ।

७ 'रतिरनु मनोमुक्तवर्षेषु सुख सर्वे' ।

—प्रगीतकार ।

८ स्मरपरिचितात कथ्यते स्त्रीषु मयो परस्पर रिरमा रति स्थिता ।"

—शुभासागर ।

९ 'रतिमनोमुक्तवर्षे मनस प्रवणावितम् ।'

—सा ६५ अक्षर ।

१० 'सा परापुररतिरीश्वरे' —भक्तिसाहस्र ।

अन्तर्गत निज-व्यक्तिपर्य प्रतिपादन का भावना प्रमुख है। यह वृत्ति मानव समाज में अधिक महत्वपूर्ण है। अन्वार, गव और दम्भ इसमें सम्मिलित माना जाते हैं।

६ समर्पण की वृत्ति (The instinct of surrender or Submission)। भय पारस्परिक सद्व्यवहार समस्याओं का गतिपूर्ण समाधान प्रमोदपूर्ण सहानुभूति-अजन और मुक्त बुद्धि का प्राप्ति करने की भावना इस वृत्ति के मूल में पायी जाती है। स्नेह उत्सर्ग अधीनता दीनता इस वृत्ति के मनोवर्ग हैं।

१ प्रजनन वृत्ति (The Mating Pairing or the Sex instinct)। विषम लिंग के साथ सम्बन्धित वृत्ति का प्रमुख उद्देश्य है। काम प्रवृत्ति विषय-मुख की वृत्ति मनुष्य की अभिलाषा इस वृत्ति के प्रवर्तक माना जाते हैं जो जन्म-मरण चक्र में समाहित रूप से विद्यमान हैं। क्षुधा निवृत्ति और काम-वृत्ति की अभिलाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभावगामी एवं दुर्निवार हैं। किन्तु जीवन के हितसम्पन्न के ये ही अनिवार्य प्रवृत्तियाँ हैं।

११ परिग्रह वृत्ति (The acquisitive Instinct)। इस वृत्ति का उद्देश्य भविष्य के लिए आत्मरक्षा की व्यवस्था करना है। अधिकार भावना (Ownership) इसका मनोवर्ग है।

१२ निर्माण वृत्ति (The constructive Instinct)। जीव मात्र में सुचारु रूप से जीवन यापन की भावना पायी जाती है। इसके लिए प्राणी मात्र अपनी बुद्धि एवं क्षमता के अनुसार सृजनशील रहता है। पशु पक्षी काँड़ मकान तक में भा यह प्रवृत्ति पायी जाती है। सृजन का आनन्द या उत्साह इस वृत्ति के मनोवर्ग हैं।

१ वित्ताकर्षण अथवा विनयावर्तन की वृत्ति (The Instinct of Appeal)। गुरुजना से सहायता सुख-सुविधा की प्राप्ति करना इस वृत्ति का उद्देश्य है। दय अथवा कापण्य इसके मनोवर्ग हैं।

१४ ब्रीडा की वृत्ति (The Instinct of Play)। इसका मनोवर्ग विनाश है।

१५ अनुकरण की वृत्ति (The Instinct of Imitation)। इसके मनोवर्ग प्रश्रय है।

१६ हास्य की प्रवृत्ति (The Instinct of Laughter)। इसके मनोवर्ग हास्य है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में उपर्युक्त सोलह मूल वृत्तियाँ से सम्बन्धित मनोवर्गों में से काम (रति) हास्य भय घणा और मुसय कामतय अहंकार कापण्य और सहानुभूति—ये दस ही महत्त्व वृत्तिमूलक मनोवर्ग माने जाते हैं। इनमें अहंकार को छोड़कर बाँचे सभी सम्बन्धित माहिय गाम्भिर्य में स्वीकृत स्थायीभाव होते हैं। कापण्य और सहानुभूति को गान्धर्व के अन्तर्गत आसानी से रखा जा सकता है। यहाँ यह ध्यानीय है कि कुछ विद्वानों ने मना विज्ञान के मायात्मक और सम्बन्धित माहिय गाम्भिर्य के स्थायीभाव को समानार्थी नही मानने पर जोर दिया है। वे शृंगार के स्थायीभाव रति और मनाविज्ञान के नाम में अन्तर बनाने हैं। उनका विचार है रति में काम कामतय आत्मसमर्पण सामाजिकता आत्मरक्षा संधय पार्थिव के अर्थ मनावर्ग का सम्मिश्रण पाया जाता है। अतः काम और रति समानार्थी हैं या एक दूसरे में भेद भिन्न है इस पर मध्यम विचार करने आवश्यक है।

कामभाव और रतिभाव

‘यापक भाव म रति’ और काम एक दूसरे के समानार्थी मान जा सकते हैं। मनुष्य जो भी कम करता है वह काम की चप्टा है।^१ इस प्रकार भारतीय शास्त्रा में काम की साधभौम सत्ता एवं व्यापकता का अनन्य स्थान पर स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि ‘हे काम’ तू सबसे पहले उत्पन्न होकर देव पितर और मनुष्य सबको प्राप्त हुआ। तुमसे कोई बचा नहीं है इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सर्वम महान है। हे काम! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।^२ इतना ही नहीं काम की सृष्टि-उत्पत्ति के पहले मन की सबव्यापिनी बुद्धि के मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।^३ अथर्ववेद में काम की विराट्ता एवं व्यापकता का वर्णन करने हुए कहा गया है कि ‘काम न ही काम का निया है। काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। यह सब-कुछ काम का हा है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि काम से ही संचालित हो रही है।’^४ इस प्रकार व्यापक अथवा काम मूल-कामना इच्छा आकांक्षा मृजनीदगार मृजन-मुख तथा प्रेम का ही पयाय मिष्ट होता है। आगे काम के विभिन्न तत्त्वा पर विस्तार के साथ विचार किया जायगा। काम के समान ही रति व्यापक अथवा रत्न का रूप है। पाठ अग्निपुराण के आधार पर कहा जा चुका है कि मनुष्यापक और सर्वशक्तिमान त्रिभुव मन्त्रजान के अभिव्यक्ति यन्त्र-यन्त्र का जाना है जा बिन्दु शक्ति सम्पन्न चमत्कारपूर्ण एवं रमय ज्ञाना है। उसमें जाति विचार अभाव में मुक्त व्यापक अभिमान (ममता) का आतिभाव होता है और ममता-वर्धित अभिमान में शृंगार रस का जननी रति का उत्पत्ति होता है। रति के अनन्य अर्थ हैं यथा—‘ममत्रिणा, कामपत्नी धनुर्गम जामकिना त्राना रमण गन्ताय’ प्राति प्रेम मुक्तन ममानुवन्त्रों में सुख मवन्त्र मन्त्रा-पुष्प के काम कामनामय हृदय का पारम्परिक रमणरूप प्रियवान् म मन की प्रमपूण उन्मुखता रवन् के प्रति परानुरक्ति जयान भक्ति याति आति।

१ यद् यदि त्रिवे कम । मनुश्चरति ।

२ कामो जहो प्रथम जैन देवा,
आयु पितरो न माधौ ।

ततश्चैवमसि यावान विशवाहा महांस्तौ

कामवम इति वरोमि ।

—अथर्ववेद ६, २ १६ ।

३ कामस्तमो समवर्तते मनसा रेत प्रथम यन्मोत् ।

—अथर्ववेद १६ ५२ १ ।

४ कश्च करम भदात् काम कामाकाशम् ।

कामो दाता काम प्रतिग्रहीता काम समुद्र या विशा ।

कामेन स्वा प्रति मृत्नामि कामधन ।

—अथर्ववेद १ ६ ७ ।

५ प्रतिवा ५० ८११ ।

६ द्विती शङ्खमागार, पृ २-६३ ।

७ ‘रतिस्तु मनोपुनरुत्थैषु सुख सवेन’

—प्रतीयकार ।

८ ‘रमत्कम्बितान वरगवा रतीपु मयो परस्पर रिग्मा रति दयमा ।’

—मुद्रामागार ।

९ ‘रतिर्मनोपुनरुत्थैषु मजम प्रवृत्तावितय ।’

—सा० दयमागार ।

१० ‘सा परानुरक्तिरीवर’ —भक्तिशास्त्र ।

श्री जयगवर प्रसादजी ने कामायनी में काम और उमर जागमन का विवरण करते हुए रति की अनादि वासना के रूप में मिथ्याता है।^१ मृष्टि की रचना में स्त्री आदि वासना रति या काम का प्रधानता है क्योंकि यह मन्त्राज्ञा वृत्ति है। अनुस्ति काम हा अपना प्रिया रति के सयोग से मृष्टि का उत्पत्ति करता है।

इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि रति और काम अपने व्यापक अर्थ में तत्त्वन समानार्थी हो हैं। रति और काम दोनों का अन्तर्गतता प्रेम है जो काम के माध्यम से मनुष्य के हृदय में अकुरित होता है तथा जीवन की अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुकूल अनेक रूपों में चरितार्थ होता रहता है। मन्त्राज्ञा और उनके स्थायी भावों के मूल में भी प्रेम का ही समन्वय परिलक्षित होता है। रति अर्थात् प्रेम ही ठगार रस का स्यादाभाव है जो जड़ चेतन सर्वत्र समान रूप से अपना व्यापक प्रभाव फैलाए हुए है और जिसके अन्तर्गत मूल में बंधन सभी परस्पर मिश्रण की ओर जाता है।^२ मन्त्राज्ञा में जड़ चेतन कोई भी पदार्थ एकाकी रहना नहीं चाहता। मन्त्र अपने युग्म के साथ प्रेम-तत्त्व में बंधन मधुर मिश्रण का महोत्सव मना रहा है या उसकी प्राप्ति के प्रयास में लगता है। सरिता सरिता से सरिता सागर से सागर धरती से धरती आकाश से और आकाश में संचरण करने वाले पवन एक मधुर भाव प्रिय हुए परस्पर मिश्रण रहता है। इस प्रकार विन्ध्य प्रपंच का सृष्टिकार प्रेम और प्रेमियों का पारस्परिक सौम्यापण एवं मधुर मिश्रण है। इसमें अभाव में विन्ध्य में पड़ी हुई मधुरिमा रस का उमरना ही वाग निम्ना है।^३ काम और रति के पारस्परिक सम्बन्ध और महत्ता पर प्रकाश डाला हुआ है कि प्रियों की नृणा है कि दानीमत्ता जितनी सौम्य में मिलती है अर्थ गुणा में नहीं। जितना सापण और हृदयप्राप्ति रूप में

१. का आनन्द बन हैमती की
रति की अनादि वासना की।

—कामायनी, प्रस्ताव १५

२. भुजलता की सरिताओं की
शलो के गल मनाथ हुए
जलनिधि का जल वजन बना
धरणी के दोदो साथ हुए।
जो रस-अक्षर में गम रहा
हम दोनों माधी मूल चन
हम भूतस्वास्त में जाग उठे
आकाश तुल्य समन्वय में।
रति काम बन उस रचना में
जो रही नित्य वाचन वच में

दह सोना चिमकी दिवस चला
बह मूल रति के नेत्रना।
उमर में रा मुना के
ममति में भावों के समना।

—कामायनी, प्रस्ताव १५

३. Love's Philosophy William Shelley

हानी है जिनका मोहक वह हाता है, दूसरा नह। इमीए काम लोकोत्तर कमताय और वुमुमायुध है। उमरी महर्षिमा रति है जा प्रेममया, आनतिमयी रमणीय और श्रीडा कला-मुत्तिका है। काम रति मात्य-अग्नीम् है ता वह उमरी गाना काम रति राना मयक है तो रति उमरी वीमुनी शृंगार रति का लोको के माय आधार-आधेय का सम्बध है।

शृंगार रस गिनु का एक जनन है और दूसरा जननी। मानव-हृदय काम रति-परायण है अतएव उमरी प्राणन म प्राय शृंगार रस गिनु रमा कर्ता रहता है जिसका परिणाम व रति कर्ता है, जिनसे माय घरावर रतिभूत है।^१

नाना अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं का मध्य एक प्राणी का दूसरा प्राणी—मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का प्रयास मनाने का म चर्चा रहा है। जीवन की इस जय-यात्रा में मानव ने जहाँ एक ओर लोक-कल्याण का पथ का प्रयास करने का प्रयास किया है वहाँ दूसरा ओर उमरी आत्मकल्याण की भूमि को भी स्वच्छ मनाने का प्रयत्न किया है। जिस युग में इन दो पक्षों का सादरत्व नह। हा पाना उम युग का काव्य विद्वत् और हृदय का अनामजस्य के कारण रागात्मक भूमि उमाने में अग्रम हो जाया करना है। जय क्रिया और चिन्तन का सम्यक् स्वावगमन और परावगमन जाना है तब थढ़ा और आस्था का जन्म होता है जिसका आधारपीकरण होता है। इस रागात्मक सम्बध की अवस्थाएँ मनुष्य का आयु का अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं किन्तु रति मरम हानी है। रति का व्यापक रूप मानवीयता है। उमकी यही विनिष्टता काव्य का स्थायीय और प्रियता का आधार है।

रति और भक्ति

नारी की मूल भूमि मृष्टि है और मृष्टि का आधार अनादि कामना—रति है। मन की रति के दो ही क्षेत्र हैं—नारी या अपनी आत्मा। श्रद्धा वात्सल्य, स्नेह और काम—इन चारों मनावगा की समष्टि ही रति है। रति के आवरण का कद्रविन्दु नारी है। रति की प्राप्ति कब नारी से ही समभव है। रति रूप आवरण अब नारी से हटकर अपन ही चतय के म समाविष्ट हो जाता है तब इसी मधुर परिवर्तन को भक्ति की सत्ता दी जाती है। भक्ति रमा म मनुष्य उम महान देव के प्रति उसी प्रकार जादृष्ट होता है जैसे पति जाया के प्रति जादृष्ट होता है।^२

रति और काम का जा स्वाद है कुछ बसा ही मधुर भक्ति रस का भी स्वाद है। किन्तु अध्यात्म जगत् का यह स्वाद भौतिक स्वाद से सबथा भिन्न एवं अनिवचनीय है। यह अनुपम अध्यात्मरस स्वान्दिष्ट है मधुर है तीव्र है जय इसका नाना चढ जाता है तब गहरा रस लाता है।^३

राग और द्वेष-भाव

राग और द्वेष प्राणी मात्र के दो मीश्वर मान है। मानवमात्र म अनुकूल या प्रतिकूल

१ रस मलश इतिशेष पृ ८७।

२ पतिविव नायामभि नो वेत्तु पता विव शक्तिना विवचना। १०१/६, १/११/१४६/४।

३ स्वादु गिताय मधुमं जनाय तीव्र गिता। रसना जता। १०१/६, ६/८७/१।

वृत्ति प्रायः सभी कालों में होती रहती है। यही राग और द्वेष की उत्पत्ति है। अनुकूल में राग होता है और प्रतिकूल में द्वेष होता है। काम से राग और क्रोध से द्वेष का उद्भव होता है। प्रियजन के मित्र में द्वेष और वियोग में विषाद सफलता से उत्थान और विफलता से निराशा अनुकूलता के प्रति राग और प्रतिकूलता के प्रति द्वेष, रोष आदि आवृत्तियों की अनुभूति होता है। प्रेमरस इन आवृत्तियों का अक्षय स्रोत है स्थायीभाव है और आवृत्ति अनुभाव हैं जो प्रियजन की परिस्थिति के अनुसार आते जाते रहते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए० एफ० गेंड रस को किसी व्यक्ति या वस्तु में केंद्रित आवृत्तिप्रवृत्ति का प्रणिय या पद्धति (System) मानते हैं।^१

राग और द्वेष मानव आत्मा के मूलभूत गुण हैं और इनका ऋजु सम्बन्ध मनुष्य के भौतिक भावा (Elemental passions) से है। दार्शनिक दृष्टि से मानव आत्मा की प्रथम अभिव्यक्ति अस्मिता या अहंकार है। इसी की मनाविलक्षण गति में अहं (Ego) या आत्माभिव्यक्ति (Self assertions) के रूप में स्वीकार किया गया है। राग और द्वेष अथवा आनंद और विषाद इन्हीं दो रूपों में अहं या अहंकार की अभिव्यक्ति होती है।^२ इन्हीं में से राग की प्रेम करने की प्रवृत्ति (Libido) तथा द्वेष को नाश करने की प्रवृत्ति (Thanatos) की सत्ता दी गई है। सारांश यह है कि राग और द्वेष अर्थात् सुख और दुःख के भाव ही मानव-जीवन के मूल प्रत्यक्ष भाव हैं। डा. भगवानदास के मतानुसार संहृत साहित्य में सभी स्थायी भावों का इन्हीं दो मूल भावों राग और द्वेष के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति हास उत्साह और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा शोक क्रोध भय और जुगुप्सा अस्मिता के विरोध अथवा अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत आ जाते हैं। निर्वेद में इन दोनों का सामंजस्य हो जाता है। उसमें अस्मिता की समरसता की अवस्था होता है। पक्ष-चार भाव मधुर हैं अतः सुख की अभिव्यक्ति करते हैं अथवा दुःख की अभिव्यक्ति करते हैं तथा वदु हैं।^३

मनुष्य का सहज विस्तार-भाव

मानव स्वभाव से ही विस्तारवादी होता है। वह सर्वोपकार का आत्म में और आत्म को सर्वोपकार में देखना चाहता है। अतएव कुछ विद्वानों के मतानुसार विस्तार भाव ही जीवन की एकमात्र प्रधान वासना है।^४ यह विस्तार भाव के मूल में केवल प्रथम भाव है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. सली के मतानुसार प्रेम या राग भाव जीवन का भौतिक भाव है। प्रेम या राग

1 See A. F. Shand's Character of Emotions

2 Pleasure and Pain are by common consent the true types of feelings others are blended

—William Mc Dougall

3 See the Science of Emotions Chap X by Dr Bhagwan Das

4 See The Science of Emotions by Dr Bhagwan Das Chap II

के मौरिक भावस ही प्ररित होकर वच्चसाथी की खोज नरते है और वा मण्डली को पाकर अत्यन्त प्रमुत्ति हो उठते है। जीवनेच्छा के विचार म वालको का यह सत्ता प्रेम नसर्गिक एव सहजात होता है। साथी की आवश्यकता की यही भावना आग जाकर त्रमग प्रौढ वनकर पितृप्रम दाम्पत्य प्रेम आदि अनक रूपा म चरिताथ होती है। इसी म बाधा या असफलता होने पर निराशा एव घणा की उपत्ति होती है आ द्वेष की जननी है। इस प्रकार राग का पराभव अथवा प्रम की विफलता ही घणा या द्वेष का कारण है। जिस प्रकार अधकार की अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहा हाती, वह प्रमाण के अभाव का ही दूसरा नाम है उसी प्रकार घृणा या द्वेष प्रेम या राग के अभाव की ही अपर सत्ता है।^१

मनुष्य की प्रेम भावना सामाजिक अनुबधो के नित्य नय माग का अवेपण करती रहती है। यौवन म व्यक्ति अपने राग क्षेत्र को प्रेम परिधि को अत्यधिक विस्तार देता रहता है। यही से सम्यता और समृत्ति का प्रारम्भ समझना चाहिए। युवावस्था म ही मनुष्य की बोध वृत्तिया पूर्ण रूप स सचेष्ट एव मजग हो जाती हैं।

इस तरह राग, स्व विस्तार भाव या पारस्परिक सयोग की इच्छा ही मानव-जीवन की प्रमुख सहजात मौरिक वासना है। मनाविवेपका न इस परस्पर सयोगेच्छा का पूर्णत्व प्राप्ति की इच्छा या अपने वियुक्त भाग की खोज की सत्ता दा है। इस प्रकार जीवन का एक मात्र मौरिक भाव राग ही फायड का काम है।^२

सयोगेच्छा अथवा प्रजनन-वृत्ति

सृष्टि म नर-नारी के सयोग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सृष्टि के वण-वण म यह पारस्परिक कामुक आकर्षण—पारस्परिक मिठा की उत्कट आकांक्षा तीव्रतम रूप म विद्यमान है। ससार म जो कुछ है वह सन एक दूसरे के साथ मिग्नानुर है एरु-दूसरे के साथ अद्वयम प्रम मूत्र स जावद है। यह सम्बन्ध मानव-बुद्धि स परे भल ही हो किन्तु इस सम्बन्ध द्वारा कहा पात और वही अनात रूप से ससार के सृजनदि समस्त मयठमूलक काम यथाकाल होत रहते हैं।^३ विश्व की सभी वस्तुएँ चाहे के दूरस्थ हा मा सनिकट एक भाववन गविन के द्वारा अन्तित ढग स एक-दूसरे से समुन्नत हैं। एक सिनारे की प्रभावित किये विना एक फूल को भी नही तोना जा सकता।^४

1 Origins of Love and Hate by Jan D Suttie Chap IV

2 See An Outline of Psychology, Page 120

3 Each of us then separated is out indenture of a man and he is always looking for his other half The desire and pursuit of the whole is called Love

—The Mansions of Philosophy by Will Durant Chap III

* रसमयश हरिमोष, पृ ६०।

5 All things by immortal power
To each other linked are
Near or Far That Thou can't Stir a Flower
Hiddenly without troubling of a star

—रसमयश हरिमोष पृ ६० से ६५।

ससार अथवा प्रवृत्ति की विनाश रगाना म सबत्र पारस्परिक समोणेछा अथवा प्रजनन प्रवृत्ति की विराट गाला दखा जा सकती है। भग पूरा पर गूजता फिरता है कभी उन पर बठता है कभी उनका रस ग्रहण करता है और कभी गन् पुष्प का रज वहन करने दूसरा तन् पटुचा आता है। तितलिया नाचती फिरती हैं चूम चूमकर पूणे की बगाए लती हैं। उनसे गले मिाती हैं अपने रग मे उह और उनवे रग म अपन को रगती हैं और फिर न जाने कहा चक्कर काटती हुई चने जाती हैं। मधुमक्खी चुपचाप आती है फूलो के साथ विहार करता है उनस रस-संचय करता है कुछ का पा जाती है और कुछ का गिय समलती बचती न जान वहाँ स कहाँ पहुँच जानी है।—प्राणी ही नहीं यदि हम अन्तर्दृष्टि स काम में तो पेठा और लता-बलियो म क्या, फूल-पत्ता तन् मे हम कामदेव के साथ रति देवी विहार करती मिाँगी।^१—मज्जा सम्बन्धी प्ररणाआ से जाग्रत होकर ही मदान अपनी सजी निस्स लाते हैं फूल अपने सौंदर्य और सुगन्ध को प्रकट करते हैं पक्षीगण अपने चमकीले-से चमकीले पर धारण करत हैं तथा मधुर-स मधुर गीत गात हैं। मित्ता की सकार कीयल की बून् अपने जोडे क आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहा है। मदान और बना की निस्त-घता को भग करने वाले जो इन नाना प्रकार के पक्षिया के क्लरव सुनाई पडत हैं ये सब प्रेम म ही असक्य गीत है।^२

भक्त गिरोमणि तुलसीदास ने भी इस गान्वत मिलन वाछा का बजा ही सजीव चित्रण किया है। उनकी दृष्टि म भी सबके हृदय म मग्न की अभिलाषा मिलनोत्कण्ठा सयोगेच्छा गान्वत है। बप्ता की तरुण शाखाओ का निहारकर उताए उनम लिपटन क लिए झुक जाती है। सागर से मित्रन के लिए ही सरिता बडे बेग के साथ प्रवाहित हो रही है। ताल तलयों म भी यह सगम-व्यापार चन्ता रहता है। जहा जब पदार्थों का मह हाज है वहाँ मचतत प्राणी की निरन्तर चन्ने वाली प्रणय-लीला का बणन कौन कर सकेगा ?^३

विश्व क सभी त्रिमा-कलाप पारस्परिक सौन्दर्यक्षिपण सयोगेछा अथवा प्रजनन प्रवृत्ति क महारे ही चल रहे हैं। ससार के सभी पन्थ अपने युग्म के साथ समुवन होन के

१ रसवल्लभा हरिऔध ५ ८६६।

2 It is under the awakening of reproductive life that the fields put on their verdure the flowers unfold their beauty and fragrance the birds put on their brightest plumage and sing their sweetest song while the chirp of the cricket the note of the katydid — but the call to its mate for the many tongued voices which break the stillness of field and forest are but myriad notes of love

—रसवल्लभा हरिऔध ५ ६२ मे उद्धृत।

३ सबके हृदय म न अभिलाषा। सता निहारि नक-ि तन्त्राभा॥

गनी उमगि मधुभि बहें थार। भगम करहि तवान तनार॥

जहें रूप दमा अहन के बरनी। को कहि मरहि सनेवन करनी॥

देव दनुज नर मिन्नर यल। प्रेत पिशाच भूत बैन ना॥

इनरी दमा ७ बहेउ बमानी। मग्न वास के चरे जानी॥

—रसवल्लभा हरिऔध।

लिए विकल होकर अपन साथी की ओर म सलग्न हैं। प्रसिद्ध आंग्ल कवि विलियम शैली ने पुरुष और प्रकृति के गीला विंगस की अद्भुत रसमयली—विश्व के विराट रसमय पर सतत होने वाले प्रेम-अभिनय निरन्तर मनाए जाने वाले मिलन महोत्सव का बड़ा ही मधुर चित्रण किया है। यहाँ सबत्र प्रतिपक्ष प्रीति पव मनाया जा रहा है। निम्न सरिताओं में और सरिताएँ समुद्र में जा मिलनी हैं। व्योमविहारी पवन एवं मधुर भाव लिए हुए परस्पर मिले रहते हैं। इस ससार में कोई भी अकेला नहीं है। दबी विधान ही कुछ ऐसा है कि सभी वस्तुएँ एक गति से मिलकर उत्तम एवं-दूमरे में संयुक्त होकर लीन हो जाती हैं। फिर क्या न मैं तुम से मिटूँ? पवन आकाश का आगमन करत हैं समुद्र की लहरें एवं-दूसरे को घूम रहा हैं। प्रत्येक पुष्प पारस्परिक प्रेम-पाश में आबद्ध है। मूल्य की विरुद्ध घग्नी का घूम रही हैं और चन्द्रकलाएँ सागर को आलिंगन-यात्रा में बाँधे हुई हैं। विश्व में चतुर्दिग उमड़ती हुई यह मधुरिमा किस काम की यदि तुम मेरा चुम्बन न करो।' १

सारांश यह है कि प्रमी प्रमिका-गत पारस्परिक मौदयावपण पारस्परिक संयोगच्छा एवं मधुर मिलन का बलवती आकाशा ही ससार के सार कायत्रम का प्रेरक तत्त्व हैं। काम सिद्धान्त के प्रवक्तृ फायर ने भी संयोग प्रवृत्ति का प्रतिपादन करने हुए बतलाया है कि समागोच्छा की यह शाश्वत प्रवृत्ति सिद्ध विषम लिंगिया में ही नहीं विस्तार पावती है वरन् नर्मांगी में भी अगिताव होता है। ऐसे अनवर दृष्टान्त हैं जहाँ पुरुष स्त्री को छोड़कर पृथक् की ओर आवर्षित हान हैं और स्त्रियाँ पुरुष का परित्यागकर मित्रिया की ओर पुमाव द्वाग जादृष्ट हानी हैं। समलिंगिया का इस आवपण में भी दूमरे भाग द्वारा संयोग प्राप्त कर पुनराव प्राप्त करने का आनन्द ही मुख्य रक्ष्य रहता है।

- 1 The fountains mingle with the river,
And the rivers with the ocean
The Winds of Heaven mix for ever
With a sweet emotion,
Nothing in the world is single
All things by a law divine
In one another's being and mingle
Why not I with Thine ?
See the mountains kiss high Heaven
And the waves clasp one another,
No sister flower would be forgiven
If it disdained its brother
And the sunlight clasps the earth
And the moonbeams kiss the sea
What are all these kissings worth
If thou kiss not me ?

—Love's Philosophy William Shelley

काम का प्रादुर्भाव

काम प्राणी मात्र का मूल प्रत्यक्ष भाव है और इसका प्रादुर्भाव गरर व साथ ही होता है। इसे अनग इसीलिए कहा गया है कि यह मूल रूप में समस्त प्राणियों में समा हुआ है। काम जन्मजान वृत्ति है इसीलिए इसका गिता व गिए किमा मुरु का आवश्यकता नहीं होता अपनी कान्ता के साथ समनोपाय की गिता देने के लिए पशु-प्राणियों का कोई मुरु नहीं होता।^१

बहुत प्राचीन काल से ही जीवन के प्रबलतम मनोवेग—प्राणीमात्र की जन्मजान मौलिक वृत्ति—काम के सम्बन्ध में विज्ञान एवं दार्शनिक चिन्तन करते रहे हैं। जनश्रुति के अनुसार 'स विषय व प्रथम पुरुषस्वत्ता महादेव व अनुचर नित्यं चरन्ते हैं। किन्तु इसका काल गान्ध्याय माध्य नहीं मित्ता। कुछ लोगों ने उद्धार रूपि के पुत्र स्वतन्त्र के काम गान्ध्याय का पथ माना है। इनके अनिरिक्त इस विषय पर विचार करने वाला म वाग्मव्य चारायण मुवणनाम श्रोतृमुख गान्ध्याय गोणिकापुत्र दत्तक मुकुमार आदि उल्लेखनीय हैं। काम की मवप्रथम गान्ध्याय एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति से व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रथम महर्षि वात्स्यायन को है। प्रसिद्ध चण्डगुप्त के राज्यकाल में इन्होंने एतदविषयक प्रसिद्ध प्रथम काम सूत्र की रचना की।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के समान वात्स्यायन ने भी काम को सर्वाधिक व्यापक प्राणी मात्र के समस्त काय-काय का उत्प्रेरक जीवन का जन्मजान मौलिक भाव माना है। काम की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि 'काम ही प्रेम है काम ही सुख है और काम ही दाम्पत्य आनन्द की प्राप्ति एवं सन्तुष्टि है।—पञ्च भोगान्या के योग का नाम काम है। पञ्च भोग में मस्तिष्क एवं हृदय (जतगत्या) सहायक होते हैं। इस भोग में शून्या एवं भोग्य पञ्च के बीच एवं विषय प्रवार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक विषय प्रवार व आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है। इसी आनन्दानुभूति का नाम काम है।^२ काम मयुक्त मन द्वारा अधिष्ठित कान्ता त्वक नेत्र जिह्वा और नासिका की अपने अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति का नाम काम है।^३ वात्स्यायन ने इसे सामान्य काम की सजा दी है। उनके मतानुसार स्त्री या पुरुष के स्वयं विषय की प्रवृत्ति करके अभिमानिक मुख से अनुविद्ध पञ्चान विषय प्रतीति ही प्रधान काम है।^४

१ शरीरस्थिति हेतुत्वान्धारमध्यायो नि काया ।

पलभूतश्च धर्माधरो ।

—कामसूत्र वात्स्यायन, अ० २ सूत्र ३७ ।

२ रीतिकविता भारद्वाज रस का विकास, टा रा प्र० मुद्रित, पृ० ११ से उद्धृत ।

३ श्रोत्रत्वच चन्द्र जिह्व प्रस्थानामाभिमयुक्तेन

मनमाभिपिठितानां स्वयं स्वयं विषयध्वनुकूलं प्रवृत्तिः कामः ।

—कामसूत्र अ० २ सूत्र ११ ।

४ स्वरा विशेष विषयस्वस्वाभिमानिक मुक्तानुविद्धा

पलभूतश्च धर्माभि प्राध्वान् कामः ॥

—कामसूत्र, अ० २, सूत्र ११

‘सायशास्त्र के अनुसार ‘काम आत्मा के साथ मग्न विद्यमान रहन ध्याना एव निरपमोक्ति भाव है, क्योंकि आत्मा में इच्छा, राग द्वेष आदि भाव निरन्तर विद्यमान रहत हैं।

योग-दान में ‘आत्मा काम व बहकर आत्मा के साथ काम व एकात्मभाव की उदघोषणा की गई है। सामान्य जीवनच्छा इच्छा-मात्र काम है। जमा पहुँच कहा जा चुका है किगिष्ट अथ म “स्त्री पुत्र के परम्परित स्नेह को भाव-वर्धन को ‘काम कहत हैं।”

प्राचीन वैदिक एवं औपनिषदिक ग्रन्थों में भी सर्वप्रथम काम का ही प्रादुर्भाव विलक्षण गया है। नियते यह विषयको लिया है ? काम न काम को लिया है। काम ही दाना है और काम ही प्रतिग्रहीता है। काम ही ममूद्र म प्रवर्ण करना है। ह काम ! काम स मैं तूमें स्वीकार करना हूँ क्योंकि यह सब तेरा ही है।”

अन्यत्र कहा गया है कि प्रारम्भ में काम था जो मन का प्रथम बीज था। जगत् के आरम्भ में यही काम (इच्छाशक्ति) सक्रिय हुआ। इसीकी प्रेरणा ने जगत् की उत्पत्ति हुई। यह काम बल के साथ प्रतिष्ठित हुआ है। यह मित्र व समान आचरण करने वाले व लिए समय और प्रभावशाली है। वहदारण्यकोपनिषद् में भी काममय एवाय पुरयः १ आदि वचना द्वारा मानस में सर्वप्रथम काम व उदभव की पुष्टि की गई है।

काम का अर्थ स्वरूप

माटन शास्त्र व प्रणना एवं रम मिद्धात के प्रवक्तव्य भरत मुनि ने शृंगार रम का व्याख्या करत हुए लिखा है कि लव म जो कुछ पवित्र उत्तम उच्च एवं दंगनीय है वह शृंगार रम है।^१ माहित्य अपणकार न स्वका पुष्टि करत हुए लिखा है कि काम के अकुरित होने का कारण अधिका उत्तम प्रवृत्ति से युक्त शृंगार रस है।^२ इससे यह निश्चित होता है कि

१ स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च प्रकृषेण वा ।

परस्परस्नेह कामः सत्वनिधीयते ॥

—शारंगधर ॥ ६ ।

२ कश्चिन्करमा ज्ञात् कामं कामावाप्नोति ।

कामो ज्ञाता कामं प्रतिग्रहीता कामं ममूद्र या विवेका ।

कामने त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते ॥

—अथर्व ३।२६।७ ।

३ कामरूपमेव ममवतत मनमोरेण प्रथमं यत्प्राप्नोति ।

स कामं कामेन वृद्धता संयोजनी रासरोषोप ययमानाय वेदि ॥

—अथर्व १६, ८१, १ ।

४ त्वं कामं मत्सामि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावः ।

सत्यं मां सखीयते ।

—अथर्व १६, ८२, २ ।

५ भवो मन्त्राद् काममय एवाय पुत्रय इति स यथारामो भवति ।

—बृहदारण्यक ५, ५ ।

६ यत्किंचित्स्त्रीकं शुचिमेधयमुच्यते दशनीयं वा शब्दं गारेणोपमीयते ।

—जाट्यशास्त्र ।

७ शृंगारि ममप्रीत्येव शृंगारमन हेतुकः ।

उत्तमं प्रकृतिभावो रमः शृंगार इवमेव ॥

—साहित्यदर्पण ।

ममथोद भेद का मुख्य कारण हृदय की समानता है। यही मूल मानसिक प्रवृत्ति काम का यथायथ स्वरूप है जिससे यह जीवन चक्र निरव प्रपञ्च क्रियमाण है। नर नारी का पारस्परिक सहजावपण रमण-टा इसी मानसिक प्रवृत्ति का प्रतिफल है हृदय की समानता की ही प्रक्रिया है। इगम विद्वान की भारी सुचिन्ता उ-बन्ता उत्तमता और दगनीयता का समीग है।

यह वह रहस्यमय शिव सत्त्व है जिस पर आत्मोत्सव नर काम अनग बन गया। और उसकी सहधर्मिणी रति ने स्त्री पुरुष को एक मूत्र म बाँध दिया। मोना की परम्पर मम्मिलनेच्छा स्वाभाविक है—नियति का अनुल्लघनीय विधान है। इसीमे मका आधार उत्तम प्रवृत्ति से युक्त शृंगार रम है।^१

स्त्री और पुरुष जिम शक्ति की प्रेरणा से आनन्दमय पावन परिणय मूत्र म बंध जाते हैं वही रस मधुर प्रभावा की स्थिति और उपति का कारण है जिनम सबाधिक पवित्र भन्म एव नि स्वाय भावनाआ तथा ममों का शक्ति और अस्तित्व मिश्रता है। रस मधुर प्रभावा द्वारा पूण आदश प्रवृत्तिया का परिष्करण होता है तथा उनम भव्यता आता है। रसम उन शमोष बाधना की मृष्टि होता है जो प्रत्यक् विराट एव पवित्र महाकामा की पूति व निमित्त मनुष्यता का बाँध रहत हैं।^२ तात्पर्य यह है कि काम का यथायथ स्वरूप भाग विगम का सम्मोहन और नग्न वासनाआ की उमागना गहा है अपितु हृदय का सकामताजय अथवा मानसिक प्रवृत्तिजय वह पवित्र उत्तम उ-बन्ता और आनन्दमय मधुर प्रभावा है जो समार की मृजन शक्ति का उत्स है।

काम की व्यापकता

यह सम्पूर्ण मृष्टि काममय है। यह ससार गोचर अगोचर सभी उस व्यापक कामदेव का ही त्रिया कलाप है। काम ही वृत्ता है और वही त्रिया भी है। वह दाता भी है और प्रतिग्रहीता भी है। जो कुछ है मत्र काम व ही रूप है क्योंकि यह सृष्टि काम से ही बन रही है। इसीलिए वर म भी कहा गया है कि ह काम। मैं काम मे ही तुचे स्वीकार करता हूँ क्योंकि यह सब तरा ही है।^३ अथर्ववेद म काम की व्यापकता की उदघोषणा करत हुए कहा गया है कि ह काम। तू सबप्रथम उत्पन्न होकर देव पितर और मय सबको प्राप्त हुआ तुमम

१ रस उत्तरा हरिश्चौष पृ ८३।

२ The purest noblest and most unselfish aspirations and purposes derive their strength and being from the sweet influences which have their beginning and continuance in this power which draws men and women together in happy and holy wedlock By these sweet influences the most perfect natures are moulded and ennobled By them are performed the strongest ties that hold humanity to the accomplishments of every high and holy endeavour

—रस-कलश, हरिश्चौष पृ ८२ से उत्पन्न।

३ कामो दाता काम प्रतिग्रहीता काम समुत्त मा विवेश।

कामन स्वा प्रतिहामि कामैर्नृते।

—अथर्व ३।२६।७।

काई बचा नहीं, इसलिए इस दिवस में व्यापक और सबम महान् है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।^१ भरत मुनि ने भी लोक में जो कुछ पत्रि, उत्तम, उज्ज्वल और दानीय है उसे शृंगार रस अथवा काम के अन्तर्गत माना है। अपने मन्त्रव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'आचार मिद, हृदयग्राही और उज्ज्वलभाव होने के कारण शृंगार को रस कहते हैं।'^२ श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि 'मैं सब भूता में घम के अविरुद्ध काम हूँ।'^३ मनुस्मृतिकार ने तो सभी कामों को काम की चेष्टा कहकर स्पष्ट शब्दों में काम की व्यापकता को स्वीकार किया है।^४ कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन ने लिंगिक सुत्र में ही काम को सीमा न कर उसके अन्तर्गत जीवन के सम्पूर्ण कलापक्ष को अंतर्भूत करके उसके क्षेत्र को बड़ा ही व्यापक बना लिया है। इतना ही नहीं उन्होंने कामात् भुवम प्रजात्पतिश्च कहकर काम को घम और अय से मज्जित कर लिया है और इस प्रकार काम को ग्राह्य्य जावन के व्यापक परिवर्तन में उपस्थित किया है। कामसूत्र के प्रथम अध्याय में ही अपन मतव्य का स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि 'इस शास्त्र का चाला घम, अय काम तथा अय लोग के विश्वास पर ध्यान कर काय करेगा राग के बग हाकर नही।'^५

इतना ही नहीं काम में समय, सात्त्विकता एवं सन्तुष्टता का समावेश करके उसका उज्ज्वल रूप को ही नहीं उपस्थित किया गया है बरन उसे मोक्ष प्राप्त करने का एक साधन भी माना गया है। यही तब कि ब्रह्मा विष्णु और महा भी कामात् के ही विभिन्न स्वरूप बनलाय गये हैं। समार ने सभी पदार्थों का उद्भव काम से ही माना है और पुन सभी उसी में विलीन भी हो जाते हैं।^६

१ 'यमेव आचारसिद्धा हृदयोऽवलंबेवात्मकत्वाच्छृंगारो रसः ।

—नाट्यशास्त्र (भरत) ।

२ कामो जश्च प्रथमो नैनं ब्रूयात्

आयुः पितरो न भवेत् ।

ततश्चकाममि यावान् विश्वहा महास्तरम त

काम नम इच्छामि ॥

—अथर्व ६. २. १६ ।

३ 'धमाविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतपुत्र ।'

—गीता, ७. ११ ।

४ यद् यद्धि नियते क्रमः ।

—मनुस्मृति ।

५ धर्मार्थं च कामं च प्रथमं लोकाय च ।

परपत्येन्य तत्त्वही न च रागात्प्रवर्तते ॥८१॥

६ 'पुण्य परमेशान' प्रकृति परमेश्वरी । —कामसूत्र अ० २ (मन्त्रमसधिरणम्)

शकर पुरुषा सर्वे शिष्य सखा महेश्वरी ॥

विषयी भगवानोशो विषय परमेश्वरी ।

सबभूतात्मभूताद्या निर्निगा विश्वरूपिणी ॥

कामस्यैवादि सा मूर्ति श्रद्धा विष्णोस्वरुत्मिका ।

भूता वा वक्षमाना अनित्या वापि सवश ॥

कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते बुद्धिमागता ।

काम सुखं यः पुंसां स्वयं च समुद्भव ॥

न यन् शक्यते यच्च परचानु परचयत् ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम जीवन की मौलिक वृत्ति एवं अनिवार्य तत्त्व है और एक विनाशक कर्म के अन्तर्गत फूल पतने लता कटने पड़ पौध पणु पना आदि प्रत्येक पक्ष में काम भावना विद्यमान रहती है जो विविध सामयिक परिस्थितियों में उद्दीप्त होती रहती है। पेड़ पौधों में फूल और फल लगने सूख चढ़ने उदय और अस्त होने आदि क्रियाओं के मूल में यथासमय उद्दीप्त होने वाली काम भावना का ही चमत्कार और इसकी व्यापकता दृष्टिगत होती है।^१ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम सिद्धान्त के प्रवर्तक फ्रायड ने भी प्राणी मान के सभी वर्गों के मूल में यौन भावना को स्वीकार कर स्पष्टतः काम के धन का बना हुआ विनाशक एवं व्यापक बना दिया है।

काम का प्रभाव

काम का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। जब चेतन सब में कामोद्भव के चमत्कार व्यापक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। मानव और मानवोपर जगत् में सर्वत्र काम के प्रभाव की विजय दुन्दुभी सुनाई पड़ती है। अतिसूक्ष्म के विविध रूपा एवं अनकानेक भावों की सृष्टि करके मनुष्य अपने हृदय की सज्जता को ही चरितार्थ करता है और उनमें अनुरक्त होकर अपने जीवन का मरस मधुर एवं आनन्दमय बनाता है। काम के प्रभाव में ही सुगम होकर पणु पतिया के जोड़ परस्पर मौदयाकषण के मधुर वचन में बंधकर एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं एक-दूसरे का मुख चूमते हैं और परस्पर सहन करते हुए नानाविध कामक्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं। राग रजित उषा को निमग्न की वनक रसमया में मग्नित देखकर प्रमुत्तित

आनन्दानुलसितं य परममदं तदुच्यते ॥

परमात्मेति ज्ञापयन् विचारतः क मम स्थितः ।

सुखानां जायतां का सर्वथा यो हृदि स्थितः ॥

नाना विधानि कमाणि कुरुते मदा तमश्नुते ।

निराकार मन्मथो रसवत् परमं भुङ्क्ते ॥

त्रिवृद्ध मदा ततो विश्व कामश्चन्द्रोदयवृत्तम् ।

स्थायी अपरराशयो न युक्तः का काममकल्पयन्ति ॥

—शिव पुराण भक्तसिद्धि पाठः ।

- 1 Throughout the vegetable and animal worlds the sexual functions are periodic from the usually annual period of flowering in plants with its play of operen cell and germ cell and consequently seed production upto the monthly effervescence of the generative organism in woman seeking not without the shedding of blood for the qualification of its reproductive function from first to last we find unfailing evidence of the periodicity of sex At first the sun and then in some have thought the moon have marked throughout a rhythmic impress on the phenomena of sex

—Studies in the Psychology of Sex

Vol II Havelock Ellis

विहगा के कण्ठ से स्वर्गाय सगीत की स्वर लहरियाँ बिरबन लग जाती हैं, बिरे हुए कुमुमा की देखकर भमरा की टालिया उमड़ पड़ती हैं वसत के बमब बिलाम की देखकर कोमल गत रात भर ठूक भरती रहती है आवाग म उमड़ती मेघमाला को त्यकर मधुर मत्त होकर नत्तन करने लग जाता है और वीणा की स्वर माधुरी ॥ मुग्ध होकर मृग व्याध के वाण का गिकार बन जाता है । आखिर ये सभी मन्त्र्यापी, सवगन्निमान कामन्व के प्रभाव के ही परिणाम तो हैं । इतना ही क्या प्राकृतिक गन्ध-पन्ध म भी काम के प्रभाव के मधुर दन्ध निवन्ध पड़ते हैं । मूल गन्धि 'प्रेम-कला' की लीला सबत्र चरिताथ हा रहा है । सौम्य मोहमाय प्रम और सम्मोहन के अधिष्ठाता, योगिया व चिर-आराध्य कामन्व के प्रभाव के सामन देख मनुज मनुज ज और चेतन सभी बित्त हैं । काम के व्यापक प्रभाव का उल्लेख करते हुए गोस्वामी तुलसीदास न स्पष्टत गिवा है कि पुष्पधवा काम न मनी लोका को अपना बान्धनी बना लिया है । काम के मोह न रिम बिमरी नहा अघा बना लिया ? जग म एसा कौन है जिसका काम न नहा नचाया ? १

सुर प्रगित कानदेव न भगवान गकर की ममाधि भग करन के लिए अपनी पूरी गति का बिम्बार किया था जिमने परिणाम-स्वरूप जड चेतन मत्र म काम-कला का अदभुत उद्देहन होन लगा । कायग्रया म वस प्रमग का बवा ही उत्कृष्ट बणन किया गया है जिमम काम की दुनिवार गति उमवे अप्रतिहत आवग एव व्यापक प्रभाव का परिचय मिगता है । महाकवि काव्यास न कुमार मभव म उस मनाहर प्रसग का बणन करत हुए लिखा है कि 'भ्रमरगण अपनी-अपनी प्रिया का अनुगामी बनकर पुष्पपात्र म मधुपान करन लगे कृष्णसार मृग अपन सागा से हरिगिया व गरीर का मट्टान लग जिनके मधुर म्पग मुन म विमोहित होकर हरिगिया न अपनी आख बन् बन् ली । हाथिया न पक्ष पगम म मुरभिन मरावर-मन्त्रि का अपन करा द्वारा हथिनिया का पिगया और चत्राक न कमर नाग का एव अग लेन आधा स्वय पाया और अद्धभाग अपनी प्रिया चक्रवाक का गिगया । तना ही नही प्रभूत पुष्प-मन्त्रक म्पन और प्रवागपम अधर पल्लव म मुगाभिन ग्या-बहुनिया भा वायु म बिना गगना रपा बाहु के मधुर पाग म पाप्म पुज का तमन्त्र आगिन करन लग गया । २

भक्त गिगमणि तुलसीदास न भी म मधुर मान्त्र प्रमय का बणन हा मामिव चित्रण किया है । काम के व्यापक प्रभाव एव उद्दाम गन्धि बिस्तार के कारण चर-चर मत्र म सगम-ज प्रगम म्प म प्रस्फुटित हो उठी । सबत्र हृन्म म मदन-अभिगपा" आग्रा हा

- १ 'काम कुसुम धनु सायक ली है ।
सबत्र मुकन अने बस की है ।'

—रामचरितमानस बालकाण्ड।

- २ मधुरिरेक कुसुमैक पात्रे पथा प्रियाम् स्वामनुवत्तमान ।
१ गेय च रपरा निमीलिताक्षीम् मृगीमकलद्वयत कृष्णसार ॥३६॥
दन्ती रसान् पत्ररणुगधि गन्धायमद्वयचलम् करेणु ।
मर्दोपमुकनेन बिभेन जायाम् मयावयामास रधागनामा ॥३७॥
पथात्त पुष्परत्नक रगनाम्ब रुदर प्रबालौठ मनोहराम्ब ।
लतावधूयस्तरकोऽप्यवायुर्विनम्रशाला मुनवधनानि ॥

—कुमारसम्भव कालिदास, दृन व मृग

अनेक कामरूपा बेचि कीड़ाआ में चरिताय हान गयी । समुद्र में भिन्न व लिए मरिताए उमगनी हुई प्रधाकिन होने लगी । तारु-तलयो का संगम होने लगा । पशु पक्षी, नम्रचर जल चर और पृथ्वी के सभी जीव-जन्तु समय की मर्यादा को तोड़कर काम विभुगध हो गये । मारे लोक मदनाध हो व्याकुल हो उठ और अपनी-अपनी मुघ बुध को बढ । जना हा नहीं जो सिद्ध महामुनि विरक्त यागेश्वर तपस्वी विश्व को ब्रह्ममय मानने थे व ध्व काम विमोहित होकर उसे नारीमय समझने लग । स्त्रियाँ जग को पुरुषमय समझने लग गयी तथा पुष्पगण समार को नारीमय मानने लग गयी । इस प्रकार सबके मन को मयन वाग मनसिद्ध ने सबको काम विभुगध करके विचित्रित कर लिया ।^१

सारंग यह है कि इस ससार में जो कुछ है सब जात और अज्ञान एवं दृश्य-अदृश्य रूप से एक-दूसरे के साथ मधुर भाव-बोधन में आवद्ध है एवं एक-दूसरे के परस्पर सौन्दर्य वषण सम्मिलन आदि नाताविध प्रेम व्यापारा द्वारा काम का व्यापक प्रभाव ही सबत्र चरिताय हो रहा है ।

काम रति मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा है

मनुष्य की इच्छाआ का कोई अंत नहीं है । किन्तु सामान्यतः ये सात काटिया में विभक्त की जा सकती हैं —

- १ दीधजावी होने की इच्छा ।
- २ रति शृंगार और आनन्द की इच्छा ।
- ३ जीवन यापन विषयक आवश्यक उपकरणों की प्राप्त करने की इच्छा ।
- ४ श्रेष्ठ और सम्मान की इच्छा ।
- ५ विद्या ज्ञान विज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ।

१ जे स नीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम ।
ते निम निन मरना तजि अए मकन बस काम ॥

सबके हृदय मदन अभिलाषा । लता निहारि नवहि तरु साया ॥
पानी वमगि अनुपि बहुत धार । संगम करहि तलाव तलार ॥
असि असि दसा जगत् के बरनी । को बनि सगई मचेतन करनी ॥
पशु पक्षी नम्र जल शल चारी । मय काम बस समय बिमारी ॥
मन रुध दाबल सब लोका । निमि निन नहि अकनोकिहि कोरा ॥
वेद दनुज नर हि नर व्यागा । प्रेय पिमाच भूत बेवाना ॥
इह के दसा न बनेउ बछानी । सग राम के चेर जानी ॥
सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी । तेहि कामबस अए विमोगी ।
भर कामबस जोगीम तापम पावरहि की की कह ।
अहं चरागर नारिमय जे ब्रह्म जेवन रहै ।
अवना बिनोबि पुरुषमय जगु पुरुष सब अवनामय
दुइ अरुद भरि ब्रह्माण्ड भीतर कामकृत वायु अय ॥
धरी न कोइ धीर सबके मन मनमित्र हर ।
जो राखे रघुवीर ने खरद तेहि बल महुं ॥

—रामचरितमनस ।

६ अपने प्रति 'याम' की इच्छा ।

७ मोक्षप्राप्ति की इच्छा ।

क्रोनालाजी के अनुसार मस्तिष्क में चान मान, अथ काम आयु विज्ञान और 'याम' धर्म व प्रमुख सात स्थान वतलाये गए हैं । अथ स्थान तो इही के अंतर्गत हैं । इससे स्पष्ट है कि ये इच्छाएँ नैसर्गिक हैं ।

कामच्छा मन में बीज रूप में है । सबसे पहले इसी की उत्पत्ति हुई । अथर्ववेद में कहा गया है कि हे काम ! तूने बहुत बड़े काम का विस्तार कर लिया है । अतः अब उसकी पूर्ति के लिए धन दे ।^१ इस प्रकार मन और चेत अथात् रति ही काम का मूल है । इस काम से ही विविध कामनाएँ उत्पन्न होती हैं । मनुष्य विश्व के अन्य विषया से भरे ही अपना मन हटा ले पर स्त्री से पुरुष को और पुरुष से स्त्री को अपना मन हटाना बड़ा ही दुस्तर है । स्त्रियाँ म पुरुषों का और पुरुषा म स्त्रियों का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है उसी को 'काम' कहते हैं ।^२ स्त्री और पुरुष के इस पारस्परिक स्नेह-व्यापार और सृज्य स्वाभाविक आकर्षण के दो मुख्य कारण हैं । पहला कारण यह है कि मनुष्य अनन्त जन्म-जन्मांतरों से अनेक योनियों में स्त्री और पुरुष शक्ति के सम्मेलन द्वारा हाँ पदा हाँता हुआ और उसी सम्मेलन के द्वारा अन्य जीवा को पदा करता हुआ चला आ रहा है । दूसरा कारण यह है कि बीम में पड़े हुए जीवों के भोग जीवा के बाहर निकलन और नवीन गरीर धारण करने की प्रेरणा देन हैं । इही दोना कारणों से स्त्री पुरुषों में एक-दूसरे के प्रति विलक्षण आकर्षण होता है और मनुष्य रति क्रिया के लिए विवश होता है ।^३

काम-सिद्धि

काम सिद्धांत क तार्त्विक विवेचन वात्स्यायन ने काम मिद्धि को जीवन के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है । जिस प्रकार क्षया गिरति के लिए भोजनोपाजन करना जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है उसी प्रकार प्राणियों के लिए काम की सिद्धि भी परमावश्यक है । पंच भातेन्द्रिया द्वारा प्राप्त सुख रूप रस गंध गन् और स्पर्श काम की सिद्धि के सहायक उपकरण हैं । काम मिद्धि का प्रापक स्वो-पुरुष सम्भागम से प्राप्त आनन्द है । स्त्री पुरुष संयोग जय सुख अथ लौकिक अथवा दैविक सुखा में सर्वाधिक सम्प्राप्तिकारी सर्वोत्कृष्ट एक मधुर है । काम की सिद्धि के लिए सौम्य, यौवन स्वास्थ्य विद्या आदि गुण अवश्य हैं । हमने अभाव में लाल-बलापनकारी मृजनात्मक प्रेरणाएँ ही कुण्ठित हो जाएंगी और जगत के सारे कर्म-बलाप टप्य पड़ जाएंगे ।

१ म काम नामेन ब्रह्मा सद्योनी रायस्थो न यजमानाय वेदि ।

—मध्व १६।२।१ ।

स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा ।

२ परस्परद्वय स्नेह काम इत्यभिधीयते ।

—शङ्कर २१ ।

३ नैदिक सम्पत्ति ५० राजन दन शर्मा शास्त्री ५० ७२३ ७२४ ।

काम के द्विविध रूप वासनामूलक और परमाय-मूलक

काम के द्विविध रूप हैं—निम्नवासना मूलक और परमाय मूलक। इन्हा को दूसरे नामों से प्रेम, वासना और प्रेम की भी सजा दी गई है। काम जब वषयिक सुख निम्न वासना का रूप ग्रहण कर लेता है तब वह निम्न स्तर का हो जाता है। ऐसी दशा में वह प्राणियों को ही स्वार्यों की पूर्ति तथा अधःपतन के मार्ग पर ही अग्रसर करता है। यह निवृष्ट काम-रूपा मनुष्य प्राणियों की मोह-रूपा है जिसमें व्यक्ति नाना स्वार्यों एवं विविध सुखों की वासना के बाव निमग्न हो जाता है^१ और उसका अन्तर शुद्ध विषयाभोग के आवेगों से अहर्निश आदलित होता रहता है। इस निवृष्ट काम-रूपा में दूसरे पक्ष के गोपण (Squeeze out) करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख रहती है। इस परिणामस्वरूप विषयासक्ति त्रास, घृणा, द्वेष, प्रतिपाद, संह्रम्य दम्भ अहंवादित उग्रता स्वाध्यायिता आदि निवृष्ट भावों की उत्पत्ति होती है जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिए घातक हैं। काम का दूसरा रूप परमाय मूलक है। यह काम का उत्कृष्ट रूप है जिसमें काम पुरुषार्थ का रूप धारण कर मनुष्य को ऊर्ध्वमुख करता है तथा विकास के पथ पर अग्रसर होने की नव्य एवं भव्य प्रेरणा प्रदान करता है।

काम वृत्ति का स्थायी भाव रति है तथा उसका व्यावहारिक रूप प्रेम कहलाता है। प्रेम एक स्थिर मनो-रूपा है जिसमें वात्सल्य भाव (Tender Feeling) काम भाव (Lust) आत्म समर्पण (Submission) तथा आत्म प्रतिष्ठा (Self Assertion) का मधुर सम्मिश्रण रहता है। काम भाव में आत्म समर्पण आदि सुकुमार भावों के मधुर संयोग से ही प्रेम का निर्माण होता है। जिस प्रकार समुद्र में अगणित तरंग उठती एवं लीन होती रहती हैं उसी प्रकार तब सभी रस एवं भाव उन्मज्जित निमज्जित होते रहते हैं उसी का प्रेम कहते हैं।^२

पान भ्रेम से स्त्री प्रेम के तीन रूप हो जाते हैं। छोटी के प्रति स्नेहाकर्षण वात्सल्य भाव है। समान लिंग के प्रति अर्थात् स्त्री पुरुष के पारस्परिक स्नेहाकर्षण को दाम्पत्य भाव कहा जाता है तथा गुञ्जना के प्रति होने वाले स्नेहाकर्षण को रम्य एवं आत्म-समर्पण भाव पूर्ण होने के कारण पूर्य अथवा श्रद्धा भाव की सजा दी जाती है। उच्च स्तर पर पहुँच जाने पर यही पूर्य भाव भक्ति में परिणत हो जाता है। लौकिक प्रेम जब अलौकिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है जीवोन्मुखी प्रेम जब ईश्वरोन्मुखी प्रेम में परिणत हो जाता है तब राग मया भक्ति भावना का उदय होता है।

दाम्पत्य प्रेम में प्रेमभाव का पूर्य स्फुरण तथा काम भाव का उन्मग्न हो जाता है। प्रेम स्वाय की गौणता तथा पराय की प्रधानता रहता है। इस प्रकार मनुष्य के हृदय में काम भावना का उदय होता है जिसकी चरम परिणति मधुर रस-माधना में होता है।

१. नाना स्वार्यों विविध सुखों की वासना मध्य होता है।

आवेगों से दलित ममतावान् है मोह होता ॥

—प्रियप्रवास, हरिभाष ।

२. सर्वे रसाश्च भावाश्च तरणा इव कारिणी ।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसङ्गः ॥

—रीतिचरिता और रस रस का विवेचन डॉ. रा. प्र० चतुर्वेदी, १ पृ. ८५

काम की इस उच्छृंखला को प्रेम-रसा कहते हैं जिसमें निष्कामता सुविधा एवं आत्मोत्थान की चरम सीमा होती है।^१ प्रेम गौरीवर्णन की गौरीता तथा मानसिक परा की प्रमानता होती है। काम के इस उच्छृंखला में गौरीवर्णन प्रेम गौरीवर्णन प्रेम में रूपांतरित हो जाता है। वषट्पिण्ड मुक्त के निम्न घटाने से ऊपर उठकर व्यक्ति जग-जग परमाधिक मुक्त के मापन पर आरुढ़ होता जाता है। कम-कम उमर काम भाव के मापन बौद्धिक तत्त्व के समावेश हो जाना से उमर उन्नयन होता जाता है। अन्ततः व्यक्ति के काम समावेश का पूर्ण उन्नयन हो जाना पर उमर उन्नयन में मास्त्रिक एवं कौशल भाव का प्राप्ति होता जाता है। प्रेम में इस मास्त्रिक एवं कौशल मनोभाव का प्राणमय प्रवाह होता है जो उत्तरात्तर विनिमित्त होते हुए परम प्रेमस्वरूपा भक्ति में रूपांतरित हो जाता है।

प्रेम अथवा रति का नवित में रूपांतर

प्रेम अथवा रति भाव अपने विविध रूप में भक्तिभाव में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार काम भावना का परिष्कृत रूप ही भक्ति भावना कहलाती है। इमांश भावुक भक्ता ने ब्रह्म और उसकी शक्ति परमात्मा और जीवात्मा की दाम्पत्य स्नह-सम्बन्ध-मूल में आवद्ध कर आध्यात्मिक परिणय का अभिनव रूप बनाया है। एव उनके विश्व विमुक्तप्राप्ति अनुपम सौख्य और नित्य-स्वरूप के विस्तार की अभिलाषा की है। अतएव विश्व में व्याप्त ब्रह्म के प्रति सरसता अथवा रति भाव की अनुभूति ही भक्ति की सर्वप्रमुख विधि है।

प्रेम मनुष्य की सत्कृति का माराण है। अद्यावधि मनुष्य इमा का अनवर प्रयोग में अनुभूत करता आया है। प्रेम अनवर रूपा में अपने को चरिताय कर रहा है। स्त्री-पुरुष के परस्पर सौख्यकषण और स्वागच्छा का ही इस समाज में प्रेम कहा जाता है। क्योंकि अथ प्रकार के आवपणा के लिए वात्सल्य और भक्ति की सहायता जानी है। स्त्री और पुरुष के प्रेम का उच्छृंखला यौवन-काल में ही प्राय होती है। इसका मूल कारण प्रजनन अथवा मृतनाना प्रणाम का प्राकृतिक नियम है। मनुष्य की सम्यक्ता और सत्कृति में स्त्री-पुरुष के भाव-व्ययन का प्रजनन प्रवृत्ति की अनगन्ता मान से ऊपर उठकर उमे उन्नत में उन्नत बनाने का कष्ट है। फल प्रेम के माध्यमपरकता में समाप्त नहीं हो जाता क्योंकि प्रेम का परिणाम मृष्टि के निराम है। जहाँ प्रेम मृष्टि विकास के स्वान पर आमाश्व जीवन की समाप्ति की जाती है वहाँ प्रेम भक्ति के ही स्वरूप में अपने को परिवर्तित कर लेता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मकडूगल प्रत्येक आवेग का विमोचन किसी सज्जत कृति से (Instinct) परिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं।^२ यथेष्ट का आवेग तथा जाता है जय आत्म रक्षा की नमयिक प्रवृत्ति का प्रतिवध प्रतीत होता है। इसीलिए प्राणा यत्रवन व्यवहार करने लग जाता है। आवेग में आवेग महान व्यक्ति भा विचित्र व्यवहार करने लग जाते हैं। प्रेम में आवेग का तीव्रता सर्वोपरि होती है। इसीलिए भक्ति के लिए प्रेम अनिवार्य तत्त्व माना गया

^१ निष्कामो इ प्रथम सुविधा मूर्ति इ मास्त्रिकी इ।

दोरी सीमा चरम इमर्ष आशोत्सव की इ॥

है। नारद ने भक्ति को प्रेम-स्वरूपा अथवा स्नेहोभक्तिरिति कहकर उसी मत्त को चरिताय किया है।

अनन्य प्रेमदशा सर्वोत्तम भक्ति की मनोदशा है

प्रेम आनन नहीं प्रानन है। वह भोग विनाश का मादक स्वप्न नहीं है और न वास नाश का उन्माद ही है। ये सब प्रेम नहीं कहला सकते। वस्तुतः भव्यता गान्ति और सदा धरण ही प्रेम है। यह ससार का सर्वोत्तम पन्था है तथा चिरन्तन है।^१ समुद्र में गहरो के समान जिसमें सभी रस और भाव उठते और लीन होते रहते हैं उसी को प्रेम की सज्ञा दी जाती है।^२

प्रेम दूत में अद्वैत भाव उत्पन्न करने वाला अभोष साधन है। प्रमी प्रमिका नर-नारी पति पत्नी प्रेम के भाव-व्यञ्जन में आवद्ध होकर परस्पर पानी और गव्वर के समान घुल मिल कर एक हो जाते हैं। प्रेमोत्सव से प्रभूत आत्मात्मन का भाव प्रमाण विकसित होत हुआ विश्व प्रेम और विश्वकर्ता के प्रेम में परिणत हो जाता है। प्रेम का यह उन्मय ही भक्तिरस का उद्भेद है।

अनन्य प्रेमभाव एक व्यापक मनोवृत्ति है क्योंकि वह कई प्रकार के मनोवर्गों के सम्मिश्रण उनकी पुनरावृत्ति और प्रमिक बौद्धिक तत्त्व के समावेश का प्रतिफल है। प्रेम मन की वह स्थिर दशा है जिसमें समस्त मूत्र वृत्तियाँ अपत्य-स्नेह सधप जिज्ञासा भोजनोपाजन निषेध पन्थामन आत्मप्रतिष्ठा सामाजिकता आत्मसमर्पण कामनिमाण आत्माप्राप्तता शोभा अनुकरण तथा हास्य तथा उनसे सम्बद्ध समस्त मनोवर्गों आत्मतत्त्व शोध उत्सुकता क्षुधा घृणा भय सहानुभूति यव उत्सव काम परिग्रह सृजनोत्साह आदि का मधुर संयोग रहता है।

प्रेम या कामभाव मृष्टि का मूत्र तत्त्व है। यही कारण है कि नर या नारी के मनोभावा में काम-वामना या प्रेम भावना का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। इस वास्तव में अपने प्रिय के लिए जो राग होना है हृत्पथ में जा भावाकुल्य होना है तथा उसके मधुर मित्र की जो तीव्र आकांक्षा होती है वही कामानगा भक्ति है। इस विनिष्ट भाव दशा में प्रमी अपनी प्रियी के लिए अपने व्यक्तित्व का सर्वोत्तम-समर्पण स्वच्छया प्रदानतापूषण करता है। इस प्रकार के आत्मविनश्य (Self annihilation) अथवा सर्वोत्तम-समर्पण में अत्यधिक आनन्द की अनुभूति होती है। प्रेम की यह अनन्य दशा अनिवार्य है। भजन जनन्या का अपना आनन्द मानकर मना इमके लिए त्यागयित रहते हैं।^३

- 1 Love is not getting but giving not a wild dream of pleasure and a madness of desire Oh no love is not that It is goodness and peace and pure living Yes love is that and it is the best thing in the world and the thing that lives longest

—राम-कनक हरिऔष १ ८ म उ ५५।

- २ नरि उदरय मया—१ ५।

- ३ का हि तारि तिरि बिनि सोबिहि तिरि बिनि दास।

निनि रदुनध निरनर निव लागदु मोहि राम॥

—मन्म दुपयोग

चित्त की यह भावाकुलता जब किसी प्रवृत्त जन के लिए न रहकर प्रेम रूप और तृप्ति की समष्टि या किसी दिव्य तत्त्व या राम के लिए हो जाए तो वही सर्वोत्तम भक्ति की मान्यता है। इस स्थिति में भागवात्मा किसी ऐतिहासिक विषय वस्तु में सुख की खोज नहीं करती बरन जिस वस्तु तत्त्व से उसका प्रादुर्भाव और विकास हुआ है उसी से एकमग्न हो जान के लिए वह कामासक्त मन के समान तीव्र आकुलता प्राप्त करता है। यही अनन्य प्रेम या भावना सर्वोत्तम भक्ति का स्वरूप है।

भारतीय एवं पाश्चात्य मानस-शास्त्र का दृष्टिकोण

अध्यात्मवादी भारतीय चिन्तन का आधार अस्मिन् रहा है। यही कारण है कि समस्त भारतीय चिन्तन विधाओं पर आध्यात्मिकता का गहरा रंग छिलाई पड़ता है। इसका ठीक विपरीत पाश्चात्य चिन्तन-पद्धति सदब भौतिक दृष्टिकोण को अपनाकर आगे बढ़ती रही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिम में भक्ति भावना का संवर्धन अभाव ही है। वाइसिल में अनवर ईसाई सत्ता के ईश्वर प्रेम तथा भगवान् के मधुर मिलन का स्वानुभूति का बड़ा ही मनोरम वर्णन मिलता है। कबीर आदि सत्ता के समान ही ईसाई सत्ता में भी आध्यात्मिक सुगाभियक्ति की है तथा आध्यात्मिक परिणय का मधुर वर्णन किया है। किन्तु भारतीय भक्ति साधना में स्वतन्त्र रूप से गीतारम का जमा परिपाक हुआ है, बल्कि अन्यत्र दुर्लभ है। फलतः भारतीय तथा पाश्चात्य मानसशास्त्र के क्षेत्र में दृष्टि वृत्त का होना संवर्धन स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि अधिकांश पाश्चात्य मनोविज्ञान-वृत्ताओं ने केवल भौतिक आधार पर ही मनुष्य के नित्य मनोराग की सीमासा करने का प्रयास किया है और आज के विद्युत् भौतिकवादी युग में उनके इस प्रकार के विचार दान को ही सर्वाधिक प्रथम भी लिया जाता है। किन्तु आज भी ऐसे विज्ञानों का अभाव नहीं है जो मधुर रस जम गूँथ विषयों के अध्ययन की पूर्णता के लिए मात्र भौतिक दृष्टिकोण के अपनाए जाने की व्यर्थता का अनुभव करते हैं तथा इसके लिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अपनाए जाने की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्य मानते हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का मूलधार अवतलन मत है जहाँ नैपथ्य में अनजाने ही मनुष्य की अवलम्बित काम वासना जड़ित नाना भीषण-कौतुक की रचना करती रहती है। भारतीय मानसशास्त्रियों की दृष्टि में यह मन की निम्नतम अवस्था है जो मनुष्य के मोहाच्छन्न मानस की परिचायिका है। मन की सर्वाधिक उच्चतम अवस्था तो समाधि-स्थिति है। किन्तु आज के युग में उन्हा वाता का सतत अधिक मायता दी जाती है जो भौतिक दृष्टियों में तत्कालीन मिद हो सकें। परमसत्ता के प्रति मनुष्य का दिव्य मनोराग अर्थात् मधुर भक्ति भावना मनुष्य की जन्मजात वृत्ति है या किन्हा अन्य प्रवृत्तियों के घन प्रतिघात अथवा सहयोग से उसका आविर्भाव होना है तथा मानव की सहज वृत्तियाँ में उसका क्या स्थान है—इन सारे विषयों पर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी विचार किया है। एतत्थ मधुर रस के स्वरूप को समझने के लिए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के एतद्विषयक दृष्टिकोण एवं मायताओं का विवेचन आवश्यक है।

पाश्चात्य मानस शास्त्र के तीन सस्थान

पाश्चात्य मानसशास्त्र का विकास तीन सस्थानों में हुआ है। प्रथम सस्थान के प्रवक्तव्य विज्ञान डा० वाटसन है जिन्होंने मानव मन के अस्तित्व को न स्वीकार कर मानव व्यापारा को ही अपना मुख्य प्रतिपाद्य माना है। डा० वाटसन और उनके अनुयायियों की दृष्टि में मनुष्य के सारे व्यापार यंत्रित होते रहते हैं। सामाजिक विषयों का उपभोग ही जीवन का उद्देश्य है तथा ईश्वर केवल आत्मीय मनष्यों द्वारा उत्पन्न भ्रम है। ऐसी स्थिति में मधुर रस के स्वरूप के विवेचन की दृष्टि से यह विचारधारा सर्वथा निरर्थक है।

पाश्चात्य मानसशास्त्र के द्वितीय सस्थान के प्रवक्तव्य विज्ञान प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता डा० सिगमण्ड फ्रायड एडलर और युग हैं। इन तीनों के सिद्धांतों में यद्यपि थोड़ी-बहुत विषमता दृष्टिगत होती है तथापि इनके सिद्धांत मूलतः मन की अचंचल अवस्था पर ही आधारित हैं। इनके मतानुसार काम कृति सभी कृतियों का मूल है तथा घम कर्त्तव्य और भी इसी का उत्पन्न हो जाता है। अथवा ईश्वर प्रेम (God Love) यौन प्रेम (Sex Love) का ही परिष्कृत रूप है। इस प्रकार ईश्वर के प्रति जो मधुरोपासना की जाती है वह अव्यक्त काम भावना का ही उदात्त रूप है।

पाश्चात्य मानसशास्त्र के तीसरे सस्थान के प्रवक्तव्य समाजशास्त्री विज्ञान विन्डियम मंडगल है। उनके मतानुसार समाजप्रिय मनष्य के सारे व्यापारों में सहज प्रेरणा का अत्यधिक महत्त्व है। इसी के आधार पर इस कोश के विद्वानों ने मनुष्य की सहज प्रेरणा (Instinct) भावना (Emotion) और स्थिर वृत्ति की विभिन्न विवेचना की है। विन्डियम मंडगल ने फ्रायड के समान कामकृति की प्रमुखता को स्वीकार करते हुए भी सभी प्रकार के प्रेम सम्बन्धों में काम भाव (Sex Feeling) की मायना को अस्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में काम भाव और प्रेम की स्थिर वृत्ति को एक मानने की भ्रान्ति के कारण ही सारे प्रेम-सम्बन्धों में कामभाव को स्वीकार किया जाता रहा है।¹ सामाजिक कल्याण तथा उच्च सभ्यता की दृष्टि में काम भाव का उन्नीकरण अनिवार्य आवश्यक है।² विन्डियम मंडगल के सिद्धांत की विवेचना यह है कि उसने नये कृतियों के साथ-साथ भक्ति वृत्ति (Religious sentiments)

1 Theodor Schroder in American Journal of Psychology Quoted by Whouless in his book Introduction to Psychology of Religion

Page 128

2 I have already indicated the fallacy of one piece of reasoning advanced in support of the Freudian view namely the acceptance of all manifestation of personal love or affection as evidence of sexuality for this as was said is due to the confusion of the sexual instinct with the sentiment of love

—Introduction to Social Psychology Page 351
by William Mc Dougall

3 Introduction to Social Psychology Page 358 59

पर भी विचार किया है तथा मानवी सत्ता का नवल अचतन अवस्था तक हा परिसीमन न करने सामाजिक दृष्टि से भी उमका विवेचन किया है। अतएव ईश्वर की मधुरोपामना की दृष्टि से इनके मिठातों का विषय महत्त्व है।

मनोवैज्ञानिकों के काम-सिद्धान्त-विषयक तीन मत

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का काम सिद्धान्त विषयक मत तीन प्रकार के हैं। प्रथम पहला है फ्रायड का मत जो काम का जीवन की भूत वृत्ति मानने हुए रगितता अथवा यानि भावना पर आधारित है। दूसरा मत है आन्डरसॉन का जो हीन भाव अथवा क्षति-भूति का प्रेरक करता है। तीसरा है युंग का सिद्धान्त जो उक्त दोनों का जीवनच्छा या स्ववर्णा अभिप्रेता का पापण की गत्याएँ मानता हुआ जीवनच्छा का भूत मानता है। इन तीन सिद्धान्तों में कोई मौलिक अंतर नहीं है क्योंकि तीनों सिद्धान्त राग, आकर्षण स्यागच्छा अथवा स्वत्व रक्षा पर आधारित हैं और ये सभी प्रेम के ही व्यापार हैं। मनाविश्लेषण शास्त्र के अनन्तर प्रेम आत्म रक्षा का ही रूप है। उमम अपूण की पूणता का भाव अनिहित है। यौन-आकर्षण में भी अपूण द्वारा पूणता प्राप्त करने का ही प्रयाम होता है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का कारण है एक विषय में लो यानिया का विकास। पुरुष में स्त्री के और स्त्री में पुरुष के अभाव की पूर्ति हो जाती है। यही नर-नारी के नित्य आकर्षण का भूत कारण है।

फ्रायड का काम-सिद्धान्त और भक्तिभाव

अचतन मन के विना एक गम्भीर अध्ययन तथा कामवृत्ति का जीवन की मूलवृत्ति सिद्ध करने के कारण मनाविज्ञान-जगत् में मिगमण फ्रायड का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। फ्रायड के अनुसार मन के तीन विभाग हैं—चतन (Conscious) पूर्वचतन (Preconscious) और अचतन (Unconscious)। मन के इन तीन विभागों में से फ्रायड ने 'अचतन मन' का बड़ा महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि उसकी दृष्टि से मनुष्य के चतन मन की समस्त भावनाएँ किसी-न किसी रूप में अचतन मन की भावनाओं द्वारा निर्धारित एवं परिचालित होती रहती हैं। फ्रायड के अनुसार मानव-मन में विभिन्न प्रकार का च्छाया एक प्रेरणाओं को उत्पन्न करनेवाला भूतविना कामवृत्ति (Libido) है जो अचतन मन में विद्यमान रहती है। यह कामवृत्ति या राग-क्षुधा आदि सहज प्रवृत्तियों के समान भूत नैमगिक है। जिस प्रकार पापण की सहज वृत्ति श्रुषा द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करती है उसी प्रकार यह नैमगिक यौनवृत्ति भी मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है।^१ मृष्टि विद्यान में इस यौन-वृत्ति की ही प्रधानता है। इसी आदि कामना से प्रेरित एक ने अनन्त रूप में अपना आत्म विस्तार किया है।

मनुष्य चतन एवं सामाजिक प्राणी है। अतः वह अनृचित इच्छाओं का निरोध करने विविध द्वारा प्राप्त शक्ति का प्रयोग करके मस्तिष्क अथवा अथ यथेष्ट शिन्ताओं में उच्चतर कार्यों के लिए करता है। इसी को फ्रायड ने कामभाव के उत्पन्न या उत्पत्तीकरण की सत्ता भी है जिसके लिए नैमगिक वृत्तियों के निरोध या दमन को वह व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए

श्रमस्वरूप एवं अनुचित मानता है।¹

वास्तव्यायन ज्ञानि प्राचीन भारतीय मनोपियो के समान पादचार्य मनाविज्ञानवत्ताओं न भी कामवासना का जन्मजात माना है तथा जीवन की इस मूल वासना की व्याख्या कई प्रकार से की है। फ्रायड के मतानुसार जीवन के समस्त व्यापारों को नियंत्रित एवं परिचालित करनेवाली कामवृत्ति सामान्यतः चार रूपों में चरिताय होती है—आत्म-काम (Auto Erotism) अर्थात् अपने आप के प्रति प्रेम मानृकाम (Oedipus complex) अर्थात् पुत्र का अपनी माता के प्रति कामुक प्रेम अथवा पित्रकाम (Electra complex) अर्थात् पुत्री का अपने पिता के प्रति कामुक प्रेम समकाम (Homo sexual) अर्थात् पुरुष का पुरुष के प्रति या स्त्री का स्त्री के प्रति कामुक प्रेम एवं विपरीतकाम (Hetero sexual) अर्थात् नर का नारी के प्रति और नारी का नर के प्रति कामुक प्रेम। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही काम वासना से अच्छालित माना गया है। फलतः फ्रायड की दृष्टि में प्रेमभाव या कामभाव में कोई अन्तर नहीं है। शान्ति में यदि थोड़ा अन्तर माना भी जा सकता है तो यही कि प्रेम में यौन भावों के आधारभूत गौरीरिक या ऐन्द्रिक पहलू की आवश्यकताओं को छोड़कर या कुछ काल के लिए भलाकर उससे मानसिक पहलू पर ही जोर दिया जाता है।² बच्चा में धुधावृत्ति के समान यौनभावना या कामवृत्ति जन्मजात होती है। मधुन अथवा प्रजनन की वृत्ति (Pairing Mating or Reproduction) प्राणिमात्र की मूल वृत्तियाँ में एक प्रधान वृत्ति है। अतएव मधुन वृत्ति से सबढ मनोवैद्य काम (Lust) एक मौलिक मनोवैद्य (Primary Emotions) है। फ्रायड के मतानुसार बालक का स्तन चूसना अगुल चूसना आदि क्रियाएँ बालक कामभाव की ही परिचामिका हैं। मनुष्य में तीन चार रूप की अवस्था में ही मधुन मनोवैद्य का उत्पन्न होता है जो यौवनकाल में अत्यधिक उत्पन्न हो जाता है। इसी कामभाव से उत्पन्न होकर बालक अपनी माता से प्रेम करता है। आगे बढ़कर अपनी माता से विमुक्त हो जान पर बालक अपने छोटे हुए प्रेम को प्राप्त करने के लिए ही दूसरे व्यक्ति या से प्रेम करने लगता है। इस प्रेम व्यापार में किसी प्रकार की बाधा हाँ जाने पर उत्पन्न मन में श्रेष्ठ उत्पन्न होता है जो फिर धृष्टा और द्वेष में परिणत हो जाता है।³

फ्रायड ने मधुनवृत्ति की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि मनुष्य में प्रेम एक स्नेह का मूल में यौन भावना ही प्रकट गति है। उनकी दृष्टि में मनुष्य यौन भावना का एक मूल है। अतः सभी मनोवैद्य तथा उत्पन्न हान हैं जब बायलर में बालक का समान यौन भावना बहिर्भूत होता है।⁴ फ्रायड ने यह भी माना है कि गौरी कामवृत्ति का उत्पन्न

1 Introductory Lectures of Psycho-analysis Freud P 362

2 Introductory Lectures of Psycho analysis Freud P 277

3 Sexuality is a means or restoring the best sense of union with the Mother for sexual intercourse and suckling are alike and unique in this respect that neither should there be any difference or conflict of interest between the parents

—Basic Writings of Sigmund Freud

4 Basic Writings of Sigmund Freud Contribution I

व' साथ ही-साथ उसके निरोध या दमन की मानसिक प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है और अपन योन उद्देश्य के आशिक पान से मनुष्य रहित हो जाता है।^१ तात्पर्य यह है कि कामवृत्ति व' उन्मत्त के साथ माय उन्मत्त की पृष्ठभूमि तयार हो जाती है। इसी तथ्य को ध्यान म रखकर फ्रायड ने बोध, वृत्ति पान और भक्ति भावना का कामवृत्ति व' साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। उनके विचार में भक्तिभाव नित्यता और सामाजिकता आदि उच्चादर्श कामवृत्ति के ही रूप से आविर्भूत होत हैं जिसे सामान्य तौर पर 'मातृकाम' और 'पितृकाम' की संज्ञा दी जा सकती है।^२

फ्रायड के मतानुसार ईश्वर की कल्पना व' मूल में प्राकृतिक शक्तियाँ से सुरक्षा का उपाय सोचने की वृत्ति तथा भावुकता की वृत्ति सक्रिय है जो बालमनोवृत्ति से ही संबद्ध हैं, जिसके अनुसार मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करता है।^३

सारांश यह है कि भक्तिभाव का मूल कामवृत्ति है और यह शक्य भी अपने को असह्य माननेवाली वृत्ति का पुनरावर्तन है। अतः फ्रायड की दृष्टि में भक्ति भावना चित्त का भाति है कल्पना विलास है जिसका कोई वास्तविक आधार नहीं है।^४

उपयुक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड के सारे सिद्धांत अचेतन मन की महत्ता जीवन में कामवृत्ति की सर्वव्यापकता और बाल कामभाव पर आधारित हैं जिनका प्रत्याख्यान स्वयं फ्रायड के अनुयायी वहे जाने वाले एडलर और युंग प्रभृति विद्वानों ने किया है। एडलर के मतानुसार मनुष्य के सारे व्यापार कामवृत्ति द्वारा नहीं अपितु प्रभुत्व की इच्छा अथवा आत्माभिव्यक्ति की भावना द्वारा प्रेरित होते हैं। अतएव मनुष्य के मानसिक व्यापार कामवृत्ति के निरोध के कारण नहीं बल्कि प्रभुत्व की इच्छा या आत्माभिव्यक्ति व' दमन के कारण पदा होते हैं।^५ एडलर और युंग के विचार में मानव मन की बुद्धि और विद्वेषण और तन चिन्तन व' बदल उचित शिक्षा द्वारा उनके निराकरण का उपाय करना

1 Introductory Lectures of Psycho analysis Freud P 277

2 Religion morality and a social sense—the chief elements of what is highest in man—were originally one and the same thing According to the hypothesis which I have put forward in 'Totem and Tabu' they were acquired phylogenetically out of the father complex religion and moral restraint by the actual process of mastering the Oedipus Complex itself, and social feeling from the necessity for overcoming the rivalry that then remained between the members of the younger generation'

—The Ego and Id P 49

3 The Future of an Illusion Freud II 38

4 The Future of an Illusion Freud P 42 and 55

5 Hindu Psychology Akhilanand Page 70

वही श्रयस्कर है।^१ फ्रायड के सिद्धांत की दूसरी छुट्टि यह है कि उसने रम्य मानस के विरूपण के आधार पर ही सामाज्य सिद्धांतों की स्थापना की है जो स्वस्थ मन का मनो विज्ञान नहीं होने के कारण एकांगी एवं अपूर्ण है। इसके अनिरिक्त फ्रायड ने विगुद्ध भौतिक दृष्टि अपनाने के कारण अनुभवा को समझने में भारी भूत की है।^२ उन्हें अपनी इस भूल का अनुभव बुढ़ापे में हुआ भी था। फ्रूट उन्होंने बोधात्मा (Ego) अवोधात्मा (Id) और प्रबोधात्मा (Super Ego) की सत्ता को स्वीकार कर भौतिक धरातल से ऊपर उठकर आध्यात्मिक ऊर्ध्वभूमि की ओर संचरण करने का प्रयास किया था।

मरडगन प्रभृति विज्ञान ने फ्रायड के वाक्य कामभाव के सिद्धांत का भी खण्डन करत हुए बतलाया है कि माता पिता का सत्तान के प्रति और सत्तान का माता पिता के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है। अतएव उसका अन्तर्गत कामुकता का समाधान करना उचित नहीं कहा जा सकता।^३ इसी तरह भक्ति भाव को गण्य की मनावृत्ति का पुनरावर्तन मानने वाले सिद्धांत को भी अनुमानाज्ञान होने के कारण अस्वीकार किया गया है।^४ किंतु फ्रायड के सिद्धान्तों की उपयोग्य छुट्टियाँ के रहते हुए भी उनसे तथा विपरीत उदात्तीकरण के सिद्धान्त से मधुर रस के स्वरूप को समझने में जा सहायता मिलती है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है।

काम-वृत्ति का उदात्तीकरण

फ्रायड के मतानुसार कामवृत्ति जीवन की मूल प्रेरणाशक्ति है। किंतु सामाजिक नियमों की मर्यादा या अन्य परिस्थितियों के दायन के कारण सहज कामवृत्ति या निरोध या दमन भी करना पड़ता है जिससे जनक प्रकार की मानसिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और मनुष्य विकारग्रस्त हो जाता है। अतः उन मानसिक विकारों में परित्राण पाने तथा कामवृत्ति को समाज-सम्मान एवं प्रशंसा करने के उद्देश्य से उसके भूमिका परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। कामवृत्ति के सभी भूमिका परिवर्तन को फ्रायड ने काम भाव के अनुपम या उदात्तीकरण की संज्ञा दी है।^५ अपने मायिया या स्वर के प्रति कामवृत्ति के इस भूमिका

1 The investigator may see in the mud puddle a world full of wonders but to the ordinary man it is something upon which he prefers to turn his back But habits are only won by exercise and appropriate education is the sole means to this end

—Modern Man in Search of Soul C G Jung P 51 52

2 Ibid Page 134 135

3 Introduction to the social Psychology Macdougall P 339

4 Social Psychology Thouless Page 358

5 The energy of the instinctual sexual forces is turned aside from its sexual goal and diverted towards other ends no longer sexual though psychologically related and socially more valuable

—Introductory Lectures Freud P 290

परिवर्तन द्वारा यक्ति का मानस जहाँ उद्वेग रहित हो जाता है वहाँ उसे सन्तोष, शान्ति और आनन्द की भी उपलब्धि होती है।^१ तात्पर्य यह है कि फ्रायड के अनुसार कामवृत्ति का तिरोभाव नहीं हो जाता है अपितु भक्ति भाव या दूसरा कांक्ष रूप धारण कर वह प्रकट होती है। दबी शक्ति या आध्यात्मिकता में आस्था नहीं होना के कारण ही फ्रायड ने भक्ति भाव को काल्पनिक मित्रा भ्रमजाल माना है। किन्तु दबीशक्ति तथा आध्यात्मिकता में आस्था रखने वाले युग के नियमावर प्रभुति विद्या न फ्रायड के उपात्तीकरण के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह पूर्णतः सत्य नहीं है कि सामाजिक परिस्थितियाँ स विवेक होकर अपनी काम वासना को स्पष्ट रूप में चरितार्थ न करने के कारण ही मनुष्य भक्ति भाव को ग्रहण करता है और अपन अमूर्त लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का आवरण देकर अभिव्यक्त करता है।^२ ईश्वर के प्रति निष्पक्ष मनोरंजन का उदय काम-वासना की तीव्रता के कारण तथा अपितु विषय विराग तथा आध्यात्मिक अनुराग की प्रवृत्ति से होता है। अनेकानेक सन्तों एवं भक्तों के जीवन-वृत्त इसके प्रमाण हैं। इससे अतिरिक्त उपात्तीकरण की वृत्ति को काम वृत्ति के अतिरिक्त अन्य सहज वृत्तियों के सम्बन्ध में भी लागू किया जा सकता है। अतः मधुर रस के स्वरूप के स्पष्टीकरण की दृष्टि से फ्रायड के उपात्तीकरण के मूलभाव परिवर्तन को स्वीकार किया जा सकता है। इसी का युग न रूपांतर कहा है।

कामभाव का रूपांतर

फ्रायड के उपात्तीकरण के सिद्धान्त से यह अवश्य पता होता है कि कतिपय कारणों से मनुष्य की सहज काम-वृत्ति भक्ति भाव में परिवर्तित हो जाती है। रूपांतर (Conversion) के सिद्धान्त मूल भावना की दृष्टि से उपात्तीकरण के सिद्धान्त से विशेष भिन्न नहीं होते हुए भी प्रतिपाद्यत्व रूप से एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों की दशाशा में परिवर्तन होता है किन्तु उपात्तीकरण का परिवर्तन जहाँ बाह्य तथा अस्थायी होता है वहीं रूपांतर का परिवर्तन एक मूलतः सन्धि के समान है जिसके अन्तर्गत पुरानी वपयिक वृत्तियाँ भूजे हुए बीज के समान सत्त्वहीन हो जाती हैं और आह्लासित करने वाली भक्ति भावना अनाविहृत हृदय में परिध्याप्त हो जाती है। युग के नियमावर, विलियम प्रट विलियम जेम्स जी० मर्लिस डब्ल्यू० की सेरवी प्रभृति मनोवैज्ञानिकों ने इसी वृत्ति के परिवर्तन को रूपांतर की संज्ञा दी है। रूपांतर के परिवर्तन में दबी भावना निष्प्रायः के रूप में अथवा उच्च मानसिक वृत्ति से प्रभावित होकर मनुष्य की निम्न वृत्तियाँ ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं और इस प्रकार उनका पूर्णतः कायाकल्प ही हो जाता है। ऐसी रूपांतर में मनुष्य सबसे मुह मोड़कर भगवद् प्रेम में डूब हो जाता है। विलियम प्रट के मतानुसार कभी-कभी किसी नाजुक घड़ी में किसी व्यक्ति विशेष के प्रेम मूल में आवद्ध हो जाने या देव प्रेम के कारण भी काया पट हो सकता है किन्तु वास्तविक रूप में काया पट

- 1 All the cost of sublimation converting sexuality into love of his fellows and self assertion into various self assertion through God—he thereby obtains peace of mind
- 2 The Psychology of Sex ; Oswald Schwartz, P 23

की महती भक्ति भक्ति भाव है जिसके समक्ष जय सभी कारण नगण्य हैं क्योंकि जीवन व गम्भीर प्रश्ना तथा सर्वाधिक आश्रित मूल्यों से सम्बंध रखने वाला एकमात्र भक्ति भाव ही सभी प्रकार से असहाय और निराग व्यक्तियों को निश्चित रूप में परिचाण देना चाहता है।¹

रूपान्तर की मुख्यतः तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथमावस्था में व्यक्ति अपने भौतिक दुखों का अनुभव करता है और उनसे मुक्त होने में अपने को विवश पाता है। अपनी वास्तविक दशा का ज़्यादा ज़्यादा उस कष्ट अनुभव होता जाता है क्योंकि वह उससे परिचाण पान के लिए विकल्पा का अनुभव करता है। इसके लिए वह धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन आस्थाचार का अनुगमन तथा महात्माओं के सत्संग द्वारा दुखों की आत्यंतिक निवृत्ति का उपाय करने लगता है। दुख निरोध के उपाय का अनुसंधान करना रूपान्तर की दूसरी अवस्था है। उपयुक्त साधना द्वारा व्यक्ति का जैसे-जैसे सांसारिक विषयों से विराग होता जाता है वैसे-वैसे ईश्वर के प्रति उसका अनुराग बढ़ता जाता है और अंत में ईश्वरोन्मुख प्रेम पूर्णता पर पहुँचकर सांसारिक विषयों को आत्मसात कर लेता है। उसे सब उसी एक निखिल सौंदर्य रसान्तर स्वरूप परम प्रियतम परमेश्वर के महान् प्रेम की स्वानुभूति होने लगती है। ईश्वर प्रेम की यह अद्वयावस्था रूपान्तर का चरमावस्था है जिसमें भक्ति भावापन साधक सामारिक विषयोपभोग की पूर्व क्रियाओं व समान ही अपने मन में ईश्वर प्रेम की सहजानुभूति करने लगता है। डॉ० सवित्र द्वारा निर्दिष्ट उपयुक्त तीन प्रक्रियाओं अर्थात् दुख का अनुभव और दुख निरोध की भावना दुख की आत्यंतिक निवृत्ति के लिए परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने के उपाय तथा भगवत्प्रेम की परिपक्वता—इन्हीं तीन दशाओं के समन्वित रूप द्वारा पश्चात्त्य मनीषिज्ञानवत्ताओं ने रूपान्तर की सम्पूर्ण प्रक्रिया का स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रूपान्तर वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा क्षणिक और निराश्रित मानवआत्मा भक्ति के भावों और प्रेरणाओं से पूर्ण एवं आप्तकाम बन जाती है।² इस प्रकार दुःख और पापों से मुक्त होने के सक्त्प को लेकर अन्तर्गत भगवत्प्रेम में गन हा जाना ही भारतीय एक पश्चात्त्य मनीषियों का भक्ति

-
- 1 Falling in love at a critical moment can sometimes do this. Patriotism may but as a fact the great power for the transformation of life that dwarf all others combined is religion. For religion deals with the deepest questions and the most abiding values and it holds out to the desperate man who has lost all hope in himself or in human help the promise of supernatural and unfailing assistance
—Religious Consciousness William Pratte P 158

X

X

X

- The Varieties of Religious Experiences William James P 186
- 2 Conversion may be described as the process by which the self hitherto divided and unhappy becomes unified and satisfied under the impulse of religious ideas and motives
—The Psychology of Religion W B Selbie P 187

विषयक दृष्टिकोण है। पाश्चात्य विद्वानों का मतानुसार तरणावस्था ही रूपांतर की प्रवृत्ति का आविर्भावकाल है क्योंकि इस अवस्था में विचारोत्तेजन का कारण यकित में मानसिक सघर्ष की तात्कालिक भावना का उदय होता है।^१ कामवृत्ति को मानसिक सघर्ष का मूल कारण मानने का कारण पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने रूपांतर की युवावस्था की घटना की भाँसा दी है। डा० फ्रांसीस के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भस्वात्मक रूपान्तर पूर्णतया प्राप्त सहजानुक्रम में निरुद्ध कामभाव के अभिनय प्रयत्न जावण का अतिरिक्त और कुछ नहीं है।^२ किन्तु रूपांतर की प्रक्रिया में काम भाव के उत्तयन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए मनुष्य की अन्य सहजवृत्तियाँ व सहयोग की अवमानना नहीं की जा सकती। दूसरी विचारणीय बात यह है कि सांसारिक विषयोपभोग की इच्छा मनुष्य की जन्मजात कामना है और इसका उदय जीवन का आरम्भकाल में ही होता जाता है। अतः रूपान्तर की प्रक्रिया के प्रादुर्भाव के लिए कोई वयस सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती।

थाउलेस के विचार में यमर्मी का धर्मात्मा बन जाना तथा धर्मात्मा का परमहंस बन जाना रूपांतर की साधारण और असाधारण दो कोटियाँ हैं और ये दोनों ही भक्तिमार्ग में काम भाव (Libido) के उदात्तीकरण के सुपरिणाम हैं। किन्तु दूसरे प्रकार का रूपांतर म लिबिडो की उम आर्गिक शक्ति का ही उत्तयन नहीं होता जो कामुकता प्रधान है अपितु सांसारिक जीवन के त्रिया-त्रयाप एवं सारे स्नेह-मूत्रा को परिचालित करने वाली उसकी सभी शक्तियाँ का उदात्तीकरण हो जाता है।^३ अर्थात् असाधारण बाटि का रूपांतर मानव की सभी प्रकार की सज्जवृत्तियों का भक्तिभाव में मधुर पयवमान है। इस विधिष्ट दशा में सभी ऐहिक भाव समाप्त हो जाते हैं और साधक भगवत्प्रम के मधुर रस का आस्वादन कर परम सुख का अनुभव करने लगता है।

रूपांतर में भगवल्लीला की निष्पत्ति

मनुष्य में सांसारिक विषयोपभोग की आकांक्षा सवथा स्वाभाविक मानी गयी है। मानव मन को इन विषयों से विमुख करना बड़ा ही कठिन है। "मक" लिए योग ज्ञान और

- 1 The Psychology of Religion W B Selbie P 192
- 2 Psychologically the phenomenon (Religious Conversion) is none other than the new strong tide of sexual feeling that accompanies puberty being choked in its usual course and deflected into religion
- 3 Both are the result of sublimation of the libido into religious channels but in mystical conversion it is not only that part of the libido specialised in the sex instinct that is sublimated but the whole of the libido employed in the activities and affections of this world life

—Introduction to the Psychology of Religion Tho uless, P 224

भक्ति तीन साधन बतलाय गए हैं। इनमें भक्ति का माग ही सबजनमुख्य माना गया है। क्याकि इसमें विषया का वजन नहीं परिष्करण हो जाता है मानसिक चर्तियों का हृगत अव्ययन नहीं रूपांतरण हो जाता है। मन को मासिक विषया से अलग करके इन्द्र की ओर लगा दिया जाता है और जत में बचन बनी रह जाता है। यही रूपांतर की पूर्णावस्था है। पाश्चात्य भक्ति भावना में भगवत्प्राप्ति का संनिधान ही कारण बहा व सता को मधुरापासना उमेका रहस्य भावना का ही परिचय देती है। वही रूपांतर का अर्थ जीमस प्राइस्ट से प्रेम करने लगता है। हिंदी में निम्नित्या सता न भी यही प्रकार जीवात्मा को प्रयत्ना और परमात्मा का प्रियतम मानकर मधुर रस साधना का श्रोतस्विक प्रवाहित का है। भगवत्प्राप्ति रस के पिपासु सगुणोपासक भक्ता के लिए रूपांतर का यह रूप अधिक महत्व एवं स्पृहणीय है। गोस्वामी तुलसीदास ने विषयिह कह पुनि हरि गुन ग्रामा। अवन मुत्तद अस मन अभिरामा के पारा इसकी महत्ता का स्पष्ट घोषणा की है। क्या निगण क्या सगुण सभा प्रकार के भक्ता में रूपांतर की यह प्रक्रिया चरितार्थ होता है। हम भक्ति भावापन साधक का मन अपनी भावनाओं में रमण नहीं करता अपितु भगवत्प्रेम में रमण करने लगता है।

तापय यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपामक अपने कामभाव को अपने उपाम्य में ही नियोजित कर जाता है। हम प्रकार भौतिक प्रेम व अर्थात् प्रेम में रूपान्तरित हो जाने पर उस मधुर रस का जागृत्वन होने लगता है और एक बार हम महारस में पान करने के बाद फिर किसी और रस का कार्य होता ही न हो रहा रह जाता।

भक्ति भाव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में मनुष्य की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ व परिणाम स्वरूप भक्ति भावना का आविर्भाव होता है —

१ मनुष्य का काम-वृत्ति।

२ मनुष्य में सर्वसम्य और सर्वाधिक जानने प्रयास व अवलोकन करने की प्रवृत्ति।

मनुष्य में एकत्व-स्थापन जयवा पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति।

४ मनुष्य में आत्मज्ञान का प्रवृत्ति।

५ मनुष्य में आत्मप्रतिष्ठा और आत्मरक्षण का प्रवृत्ति।

६ अगस्त प्रामाण्य जीवन के कारण अमुक्त काम-व्यवस्था का प्रवृत्ति।

मनुष्य की कामवृत्ति

काम एक जन्मजात भौतिक प्रवृत्ति है तथा मनुष्य अथवा प्राणी प्रवृत्ति (Pairing or mating instinct) में उसका नैतिक सम्बन्ध है हमारा क्या पाठ का जा चका है। हम कामवृत्ति का स्वाभाविक रति है तथा उसका व्यावहारिक रूप प्रेम कहलाता है। प्रेम एक स्मर मनोवृत्ति है जिसे आत्मरक्षण भाव (Ferder Feeling) कामभाव (lust) आत्मनम्रता (Submission) एवं आत्मप्रतिष्ठा व भाव का मधुर सम्मिश्रण होता है।

वामभान म आत्मसमपण आदि मुकुमार भावा व मधुर मयाग से ही प्रेम का निमाण होता है। इसीलिए कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र म जगणित तरंगों उठती एव विगीन होता रहती है उसी प्रकार जहा मभा रम एव भाव उभजित निमज्जित होत रहत है उसी को प्रम कहत हैं।^१ पात्र भन म इसा प्रम व तीन रूप हा जाने ह। छोटा व प्रति जो स्नेहावपण हाता है उम वात्म्य भाव कहत ह। बगवर वाला व प्रति अथान स्त्रा पुरप म जा पारम्परिक स्नेहावपण हाता है उस दाम्पत्यभाव कहा जाता है। बडा व प्रति हानया स्नेहावपण म दय एव आत्मसमपण व भाव भनिहित रहत हैं। इसी को पूज्य वा श्रद्धाभाव की सत्ता दी जाती है। इस प्रकार उच्च स्तर पर पहुँचकर यही पूज्य भाव भक्ति म स्थापनित हा जाता है। लौकिक प्रम जब जगैरिक प्रम का रूप धारण कर गता है जीवोभुया प्रम जब ईश्वराभुवी प्रेम म परिणत हा जाता है तब रागमयी भक्ति की पक्की पृष्ठभूमि तयार हा जाता है।

दाम्पत्य प्रम म प्रमभाव पूण स्फुरण तथा काम का जनयन हा जाता है। असक अतगत स्वाय की गौणता एव पराय की प्रधानता हा जाती है। फल मनुष्य व हृदय म काम भावनाआ का उभाव हाता है जिसकी चरम परिणति ही मधुर रति-साधना है।

मनुष्य द्वारा सवसत्य और सर्वाधिक आनन्द प्रदायक पदार्थ की खोज

लौकिक प्रम व्यवहार म मनुष्य को अनेकानेक बाधाआ एव विपमताआ का कटु अनुभव करना पडता है। जीवन म जहा मिलन सुख के ली हो चार क्षण बडे समय से मिल पान है वहा चिरका लय आला व गामन असफलता निराशा और वियोग वदना की विस्तृत यात्रा का राशि पली रहती है। अत मनुष्य एस प्रमाधार की खोज करना चाहता है जो पूण हा स्थायी हो अनन्त एव अण्य मौल्य रसान-स्वरूप हा।

जगजीवन की क्षणभंगुरता एव लौकिक प्रेम व्यापार की असफलता एव विपमता से जिन तथा विरक्त होकर मनुष्य एस प्रम की खोज म लग्न हो जाता है जा गान्वन हा जो कभी कम न हा और जहा सुख हा सुख हो जहा मिलन के बाद कभी वियोग की वदना न सताए। ऐसी स्थिति म वह इहलोक का अतिक्रमण कर ऐसे आश्विन प्रम और चिरन्तन प्रम पात्र की खोज म निकल पडता है जहाँ उस पूण और स्थायी आनन्द की उपस्थिति हागी जहा उस अनन्त और अक्षयसौन्दर्यनिधि से सामात्कार हागा जहाँ उसकी सभी मनोकामनाआ की पूर्ति का आश्वासन मिग्या। इन्ही भावनाआ से प्रेरित होकर भक्ता एव सत्ता न अपन प्रेमाधार म अनन्तकाल अनन्त गति और अनन्त मौदय की प्रतिष्ठा की है।

जागनिक पन्थों की नजरना तीव्र बनकर कभी कभी मानव मन पर ऐसी गहरी चोट देती है कि वह अण्य एव सवसत्य पन्थ का पता पान उस प्राप्त करने के लिए चिरन्तन हो उठता है। उस एगा बिगाम चढमूठ हो जाता है कि उस मवसत्य पन्थ को प्राप्त करके

१ सर्वे रसारच भावारच तरंगा श्व वारिषा।

उभजित निमज्जित यत्र स प्रेममञ्जय ॥

—रीति कविता और द्वापर रम का विवेचन डॉ रा प्र न १०८ से उद्धृत।

गील रहने का यही रहस्य है। अधनारी-वर व रूप म भगवान गिव का कल्पना का भी सम्भवत यही आधार है।

मनुष्य मे आदशवाद की प्रवृत्ति

मनुष्य द्वारा ज्ञान की कल्पना करना उसका अवपण करना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। मानव स्वभाव की दो प्रवृत्तिया होती हैं—यथायवाणी और ज्ञानवाणी। जीवन का जो भाव है वही उसका यथाय है और जो अभाव है वही उसका ज्ञान है। यथाय व ज्ञान जीवन जावन रहित बन जाता है इसी तरह ज्ञान के अभाव म वह गति रहित बन जाता है। जत मानव जीवन के सम्यक् विकास के लिए यथाय और ज्ञान दोनों का सामंजस्य अपरिहार्य है। यही कारण है कि मानव समाज ज्ञान का चिर-आकांक्षी रहा करता है। यथाय जीवन म प्राप्त होने वाला आनन्द अपूर्ण एक अस्थायी होता है। इसीलिए मनुष्य ऐसे ज्ञान आनन्द की कल्पना एक उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है जो पूर्ण तथा चिरस्थायी हो। यथाय जीवन का प्रेम पात्र नवर एक क्षण क्षण क्षय होने वाला है उसका यौवन-कुसुम जीवन-मृत्त व पड़ने व पड़ने ही कुम्हटाकर मिट्टी म मिटा जाता है। अतएव प्रेमीजन ऐसे आदर्श प्रेम-पान की कल्पना एक खोज करते हैं जो निरन्तर सौम्य रमान् मूर्ति हो गान्धर्व हो जिससे उसे समस्त आत्मा आकांक्षाओं की पूर्ति का विश्वास प्राप्त हो। यथाय जीवन म दुःख ही-दुःख है। इस नवर ससार म सुख और गति कहा ? अगर सौभाग्य से कभी सुख और गति के दो चार क्षण मिल भी जाते हैं तो अपरिमित पीडा की और अधिक घनीभूत बनाने के लिए ही।^१

ऐसी स्थिति म यह सवधा मनोवैज्ञानिक है कि मनुष्य ऐसे जा ग महासुख की कल्पना और सधान करे जो कभी रीता न हो। वह ऐसे महामिलन की मधुर योजना करे जिसकी कभी वियोग की दुःखद छाया छू न सक। राजकुमार सिद्धाथ महावीर सौम्यकर आदि महा प्राण साधना न राज पाठ घर द्वार माना पिता पत्नी पुत्र ज्ञान की त्यागकर एक ही आदर्श जीवन के अनुसंधान के लिए महाभित्तिष्मण किया था जहा राग गान्धर्व और मरण न हो। व ऐसे ही परमनन्द के साम्पाकार के लिए विकल्प जो सत्ता एकदम निगिन् सौम्य रसानन्द-स्वरूप एक सनातन हो।

सारांश यह है कि धर्म भावना व मृत म काम भावना व साध-माय मनुष्य की ज्ञान भावना भी एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति-तन्त्र के रूप म काम करती है। मनुष्य व जीवन म ज्ञान ज्ञानवाणी प्रवृत्ति का ज्ञान व्यापक प्रभाव है कि अत्यसौम्य जनित ज्ञान अमर प्रेम और अविनाशी प्रेम पात्र का पान की आत्मा म मनुष्य स्वच्छता सारी मुख-मुविधाओं की त्रिजगलि दवर अविचल बन जाता है और उसी अविचलता म उम सनाप भा मिलता है।

१ हाथ री दुःख भाति । कहीं नरवर जगती में राति ।

सुनि ही का तापव करानि —स्वप्न इ वही विराम ॥

—मुनिज्ञानानन्द १३ ग्रन्थ १ २८।

आत्म-रक्षण और आत्म-प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति

मनोविद्वत्पण शास्त्र के परिणाम के अनुसार काम जीवन का सर्वाधिक प्रबल एवं व्यापक मनावग माना गया है क्योंकि प्राणी मात्र के सभी कम-बलप के मूल में किसी-न किसी प्रकार काम का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। किन्तु चापक अथवा आत्मरक्षण (Self Preservation) की मूल वृत्ति ही सर्वोपरि सिद्ध होती है। क्योंकि मय भोजनोपाजन पगपन और सधप की वृत्तियाँ वतमान की आत्मरक्षा के विचार से उत्प्रेरित होकर काम करती हैं तथा मयुन अथवा प्रजनन और आत्मप्रतिष्ठा की वृत्तियाँ भविष्य की आत्मरक्षा के विचार में कार्यशील रहती हैं।^१ पुत्र प्रयोजनाद्वारा अर्थात् स्त्री पुत्र के प्रयाजन के लिए है।^२ आदि मिथ्याज्ञान-वाक्या द्वारा भविष्य की आत्मरक्षा योजना की ही पुष्टि की गयी है। मनुष्य युग-युग में अपनी निजानि रखा चाहता है। यही कारण है कि पुत्र या पुत्री का अभाव में लाल मर्त्य, मसजि, कुआँ तालाब विद्यालय आदि लोक-कल्याणकारी एवं धार्मिक कृत्या द्वारा अपने का जमर बनाना चाहता है। आत्मरक्षण की प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही ये सारे काम निय जात हैं। गृहन प्रणाली की रक्षा के लिए ही विवाह-बंधन अथवा दाम्पत्य सम्मिश्रण का विधान किया जाता है तथा म तानोत्पत्ति की पुण्य-काम माना जाता है। मनु न कहा है कि मनुष्य पुत्र से सभी कामों की जीतता है। पौत्र से दीधकाम पयत स्वर्ग सुप्त पाता है और प्रपौत्र से सूर्यदेव की प्राप्ति करता है। पु नाम नरक का है उससे पुत्र पिता का प्राण करता है नीलिका स्वयं ब्रह्मा न उसको पुत्र की सत्ता दी है।^३

देव ऋषि और पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए भी सतानोत्पत्ति का आवश्यक माना गया है। मनुष्य ब्रह्मचर्य धारण द्वारा ऋषि ऋण में यज्ञ द्वारा देव ऋण से और सतानोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से मुक्त होता है। प्रसिद्ध मनाविनामवस्ता भवशुभा न अपत्य स्नह वृत्ति की पान और सत्पाचार का जननी कहा है।

सारांश यह है कि मनुष्यमयी मृष्टि के संरक्षण के मूल में आत्म-संरक्षण की भावना ही उत्प्रेरक शक्ति है। मय भोजनोपाजन सधप आदि वृत्तियाँ का सम्बन्ध वतमान की आत्मरक्षा से है तथा प्रजनन वृत्ति का सम्बन्ध भविष्य की आत्मरक्षा में है। भक्ति भावना के मूल में भी इसी आत्म रक्षण वृत्ति अथवा स्व विस्तार भाव की प्रेरणा काम करती है।

१ "स इति वाच १ का अर्थ पशु के मय वृत्ति दिवो भवत्यात्मनस्तु कामाय वृत्ति त्रिवो भवति न वा अर जायते कामाय जाया त्रिवो भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया त्रिवो भवति न वा अर पुत्राणां कामाय पुत्रा त्रिवो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्रा त्रिवो भवति ।"

—बृहदारण्यक उपनिषद् २।२।१।

२ पुत्रेण सोमामवति पौत्रेणानन्वमरुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण नन्वमरुत्यान्वोति विष्टपम् ॥१॥
पुत्रान्मो नरकाधरमात् आयते पितर सुत
तस्मात् पुत्र इति शोकन स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥२॥

—मनुस्मृति ।

३ "जायमानो न जायन्ति नृका जायते मरुतर्गणैश्चरिष्या बभूव नृकस्य प्रजया पितृभ्य इति ।

—बोपायनस्मृति ।

मनुष्य आत्मा प्रेम आत्मा प्रेम पात्र जोर अनतंगोल गति-सौदयनिधि परमात्मा को प्राप्त कर परमात्मा सुख लाभकर जजरामर हो जाना चाहता है।

आधुनिक मनोविश्लेषका के मतानुसार प्रेम भी आत्मरक्षा का ही एक रूप है। विलियम ड्यूराट ने कहा है कि पूणत्व की प्राप्ति और अवपण का नाम ही 'प्रेम' है। भक्ति भावना में भी अपूण की पूणता का भाव ही विद्यमान रहता है।

मनोविश्लेषण शास्त्र-वेत्ताओं की यह भी धारणा है कि व्यक्ति अपना नाम अधुण रखन के विचार से ही भगवत्प्रेम की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति का विश्वास है कि भक्त हो जाने के बाद वह समार में अमर हो जायगा। लोग उस प्रातःस्मरणीय मानकर उसके प्रति श्रद्धा भाव दिखलाएंगे और उस पूज्य मानकर सत्ता स्मरण करेंगे। ऐसी स्थिति में मनुष्य के मन में आत्म प्रतिष्ठा (Self Assertion) द्वारा आत्म रक्षण (Self Preservation) की मौलिक वस्तियाँ (Instincts) ही कार्य करती रहती हैं। इनके परिणामस्वरूप मनुष्य वषट्क सुख से मह मोडकर आध्यात्मिक सुख की लोभ में सलग्न हो जाता है और इसके बिना सत्कार को दुष्ट तथा अपने जीवन को व्यर्थ समझन लगता है। भगवत्प्रेम के लिए परमात्मा के अनन्त मधुर सयोग के अक्षय सुख को प्राप्त करने के लिए वह सब कुछ करने सहने के लिए तत्पर हो जाता है।

आत्मरक्षा की प्रवृत्ति

कुछ मनावगानिका न काम सिद्धांत का निरूपण करते हुए आत्मरक्षा की मूल वृत्ति (The Instinct of Self Preservation) की सर्वाधिक प्रबल सिद्ध करन का प्रयास किया है तथा सयोगच्छा अथवा प्रजनन की प्रवृत्ति या काम के मनावगानिका मूल में आत्म रक्षा की वृत्ति को स्वीकार किया है। उनका मतानुसार भय तथा भोजनोपाशन की वृत्तियाँ वृत्तमान की आत्मरक्षा के विचार में कार्य करती हैं तथा प्रजनन और आत्म प्रतिष्ठा की वृत्तियाँ भविष्य का आत्मरक्षा के विचार में कार्य करता हैं। 'बह्मरथ्यक उपनिषद्' तथा महाभारतादि^१ ग्रन्थों में भी आत्मरक्षा की वृत्ति का समर्थन किया गया है।

क्या भक्ति-भावना एक सहज (स्वतंत्र) वृत्ति है ?

भक्ति भावना के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनावगानिका के सामान्यतः तीन मत हैं। कुछ विद्वान् भूयः व्यास जी के सत्त्व भक्ति भाव को सहज वृत्ति मानते हैं। अन्य भिन्न विचार रखने वाले विद्वान् न भक्ति भाव का कद वृत्तियों का मिश्रित रूप माना है। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो भक्ति भाव को काम भावना का ही रूप स्वीकार करते हैं किन्तु उनका मत प्रायः अमाय ही सिद्ध हुआ है।

१. रीतिरहित आर्य गृह्यरस का विवेचन ज्ञाता प्र. च. पृ. १८।

२. स होव च न का भवेत्पुनः कर्मण्येव वृत्तिः विद्वो भवत्काम्यमनसु काम्येव वृत्तिः प्रियो भवति—।

—बृहदारण्यक १.४.१॥

३. कामानेव वृत्तिः पुनः वृत्तिः कुरुते।

—महाभारत।

भक्ति भाव को एक स्वतन्त्र वृत्ति मानने वाले पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक प्रो० स्टारवक प्रो० हार्किंग प्रो० मारिम जस्टो डा० विय आदि व मतानुसार भक्ति भाव क्षुधा आदि भावा के सदृश मानव-हृदय की एक सुस्थिर सहज वृत्ति है। यह मनुष्य का जन्मजात भाव है जो मनुष्य के चेतना संस्थान का निम्नतर प्रभावित एवं उत्प्रेरित करता है।^१ किन्तु वैज्ञानिक मानवशास्त्र की पूर्णता के लिए महज वृत्तियाँ की सख्या को सीमित रखने के अमिलामी मनो वैज्ञानिकों की दृष्टि में भक्तिभाव को एक सहज वृत्ति के रूप में स्वीकार करना समीचीन नहीं है क्योंकि यह प्रीति या प्रेम के समान मनुष्य का महज प्रेरित भाव नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्ति भाव को यदि महज वृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाएगा तो फिर अन्य भावों को कैसे छोड़ा जाएगा ?

भक्ति-भावना को विभिन्न महजवृत्तियाँ का मिश्रित रूप मानने वाले मनोवैज्ञानिक ल्यूवा मेन्गुल मिलियम जेम्स थॉर्लस और जेम्स और जेम्सप्रट के मतानुसार भय काम भूय वृत्ति दृढता, प्रायना शरणागति श्रद्धा और आनन्द भक्ति भावना के मूलभाव हैं।^२ डा० मग्डुगल के कथनानुसार, भक्ति भावना में श्रद्धा भय और आनन्द के साथ आश्चर्य, शरणागति (आत्महानता) दयानुता और जिनामा आदि प्राथमिक भावनाएँ मिश्रित रहती हैं।^३ इतने विभिन्न भावाँ का मिश्रित रूप होने के कारण ही भक्ति-भाव व्यापक बनकर दास्य सत्य वात्सल्य और मधुर जस सुदृढ प्रेम का आवरण बन जाता है। विवर्जनीय और व्यापक भाव होने के कारण ही भक्ति भाव को स्थिरवृत्ति के रूप में मायना दी गई है।^४

सारांश यह है कि भक्ति-भाव एक स्वतन्त्र सहज वृत्ति न होकर कई विभिन्न भावाँ का मिश्रित रूप है। इसलिए जीवन में भक्ति भाव का अत्यधिक महत्त्व है। भक्ति-भाव के परिष्कार में समुत्त भावाँ का अवस्थिति के कारण किसी भी अवस्था विशेष में मनुष्य को भक्ति भावना की स्वानुभूति हो सकती है। अनएव स्वतन्त्र और महज वृत्ति न होने हुए भी जीवन में कामादि सहज वृत्तियाँ के समान ही भक्तिभाव का प्रयाप्त महत्त्व है। दुर्भाग्यवश प्रायः न अचरित अधःवृत्तियाँ में परस्पर और ध्यान ही नहीं किया। मनुष्य को सदा ही आध्यात्मिक साहाय्य का आवश्यकता रही है और वह उम अपना घम या भक्ति-भाव से प्राप्त होता रहता है।^५

1 Quoted from Introduction to the Psychology of Religion (Thouless P 124 and The Study of Religion Prof Morris Jastro P 161 163)

2 Psychology & Religious Quest R B Cattell, P 38

3 Introduction to Social Psychology William MacDougall Chap 13 Page 260

4 Its origin is not probably to the fact that many primitive instincts work in such a way as to point to a religious interpretation of the universe and of life and so to give rise to a religious sentiment

—W B Selbie The Psychology of Religion P 31

5 Freud has unfortunately overlooked the fact that man has never yet been single handed to hold his own against the powers of dark

भक्तिभाव और कामुकता

भक्तिभाव और कामुकता को एक ही रूप स्वीकार करने वाले थिएडोर प्रोडर, स्विगार डाक्टर फारमोथ प्रभृति विज्ञान के मतानुसार ईश्वर प्रेम' सामान्य काम प्रेरित प्रेम का प्रचलित रूप है और ईश्वर और कुछ नहीं कामोजनो द्वारा परिकल्पित अपने प्रिय का रूप ही है।^१ इसी प्रकार स्विगार ने भक्तिभाव को आत्मापूर्ण काम भाव के रूप में स्वीकार करते हुए बताया है कि चूंकि कामवृत्ति मनुष्य की सभी सहजवृत्तियों में सर्वाधिक गतिशील है और उसीके ऊपर जातीय विकास की परम्परा निम्न करती है इसलिए घम में आदर्शपूर्ण काम भाव का पूर्ण सन्निवेश होना ही चाहिए।^२ भक्ति के क्षेत्र में प्रचलित लिंगोपासना तथा भक्त-वदियों के सरस प्रेमोदगार इसके प्रमाण बनलाये जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की धारणा रखने वाले विद्वान प्रायः यह भूल जाते हैं कि काम भाव और भक्तिभाव की मूल चेतना में आकाश पाताला का अंतर है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और असंबद्ध हैं।^३ डा० मेडगल ने कामभाव को सभी प्रकार के सामाजिक प्रेम सम्बंधों का मूल भाव मानने से अस्वीकार किया है^४ तथा माउलेस ने भी भक्ति भाव को कामुकता का विकास मान नहीं माना है।^५

सारांश यह है कि भक्तिभाव को कामुकता का रूप मानना तथ्या के प्रतिकूल है।

ness that is of the unconscious. Man has always stood in need of the spiritual help which each individual's own religion held out to him

—Modern Man in Search of Soul C G Yung P 277

- 1 All religion in its beginning is mere misinterpretation of sex ecstasy and the religion of to-day is only the essentially unchanged evolutionary product of Psycho sexual perversion. Thus literally may we say God is Love —Sex Love sometimes in disguise and indistinctly recognised as such by the lover whose love sick longings even now create a God to take the place of undiscovered and much craved by human lover

—Introduction to Psychology of Religion Thouless P 128

- 2 Since sex instinct is the strongest of all instincts the one upon which the perpetuation of the race depends it is to be expected that religion should be full of idealised sex-emotion

—The Psychology of religion W B Selbie P 11

- 3 The Varieties of Religious Experience William James P 13
- 4 Introduction to Social Psychology by Mac Dougall Page 339
- 5 Introduction to the Psychology of Religion by Thouless Page 130 & 134

यद्यपि भक्ति-भाव के स्वरूप निर्माण में कामुक वृत्ति का स्याम स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उसे ही भक्ति मानना सबका अनुचित है।

कामदशा और भक्तदशा

कामो पुरुष का कामिना में आसक्ति और भक्त का भगवान में आसक्ति एवं इन दोनों का आकर्षण का स्वरूप समान है। किन्तु प्रकृत जन की कामना बहुमुखी रहती है और साधक की कामना अन्तर्मुखी रहती है। साधक जब अपनी इन्द्रिया को अन्तर्मुखी बनाकर विश्व प्रपञ्च का ध्यानपूर्वक अवलोकन करता है तब वह सबका उसी चतुर्थ तत्त्व की चरित्राद्य होते हुए पाता है। सामान्य कामिना में व्यक्ति किसी बाह्य वस्तु की ही प्रशंसा करता रहता है किन्तु भक्ति का विनिष्ट भावना में अपने ही चतुर्थ-तत्त्व—उद्गम स्रोत से मिलकर गन शन उसके गुणों को ग्रहण करता जाता है। दूसरे शब्दों में भक्ति-नाम प्रेम की दिव्यावस्था है जिसमें सारे चराचर जगत का समावेश हो जाता है। लौकिक प्रेम का पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो जाना का यही रहस्य है।^१ इस प्रकार व्यक्ति का मोह ही जड़ता उन्नात होते हुए भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।^२

काम अथवा आसक्ति जीवन की सधप्रमुख और गतिशाली भौतिक वृत्ति है। अतएव भगवद् भक्ति में भी विसा-न विसा रूप में उसका सम्मिश्रण विद्यमान रहता है। भगवान् का अतुलित सौन्दर्य की तुलना कामदेव से करने का यह भी एक विनाश कारण है। आकर्षण और आसक्ति सौन्दर्य के दो अमृतफल हैं। आकर्षण की चिर स्थायित्व प्रदान करनेवाला सौन्दर्य, प्रेम और सम्मोहन का अभिप्राय काम अतत्त्वोत्पत्ति मोह का कारण बन जाता है।

धर्म का लिंगिक उद्भव

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार धर्म भाव का सबसे बड़ा स्रोत योनि भाव है। ईश्वर प्रेम और दाम्पत्य प्रेम दोनों ही मनोवैज्ञानिक समान हैं तथा दोनों समान रूप से ही मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार उनके साक्षात्कार के निष्पन्न की अनुभूति और उसकी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा का अस्तित्व-बोध आदि कुछ ऐसे प्रकाश हैं, जिनका समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व और उसके उद्वाधन की भी कई प्रकार से व्याख्या की जाती रही है। जीव जगत और जगत्-वृत्ता से सम्बन्धित इस गहन समस्या पर कई प्रकार से विचार किए गए हैं और एतदविषयक निष्कर्षों को सामन रखा गया है। मनोविज्ञान शास्त्र के इन निष्कर्षों के अनुसार धर्म का उद्भव लिंगिक (Phallic) माना गया है, क्योंकि इसकी दृष्टि में मनुष्य के भावात्मक (Emotional) जीवन का भूगर्भकार काम (Sex) है। यह मायता धर्म

१ 'लोभ और प्रीति शीघ्र निवृत्त आ० रामचन्द्र शुक्ल।

२ 'वे किन्तु ज्ञान-द्वारे द्वारे गये गये।

तोमार ज्ञानन्द खेतार माभक्ताने,

मोह मोह मुक्ति रूपे चनिया

प्रेम मोह अभिन रूपे रहिये फनिया।

प्राण भावुक व्यक्तियाँ को हतप्रभ करनेवाली है किन्तु उस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की आन्त्रि वृत्तियाँ स्वभावतः पागल (Animal) एवं अपरिष्कृत (Savage) हैं। शन शन सम्प्रदाय के तोपान पर चलते हुए मानव ने उन आन्त्रि एवं अपरिष्कृत वृत्तियों को अवचेतन के गह्वर में डाल दिया है। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति से प्रायः मनुष्य अनवगत रहता है। मनुष्य के भाव-जगत में जब कोई बहुत बड़ी क्रान्ति होती है तब वे अवचेतन में गड़ी हुई प्रचलित वृत्तियाँ मनुष्य के मानसिक सतुल्य को अस्त-व्यस्त करके उभर कर प्रत्यक्ष होती हैं।^१

इस स्पष्ट है कि एतदविषय में समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्य मानव-जीवन के ऐतिहासिक विकास की परम्परा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्या घम क्या कला आन्त्रि मानव जीवन के विभिन्न रूप और उनके परिवर्तन की स्थितियाँ घम के लुगिक उदभव के इस तथ्य को अभिव्यक्त करती हैं। यह एक विगुह ऐतिहासिक तथ्य है इससे परे अग्य कुछ नहीं।^२

लिंगोपासना का सूत्रपात

विश्व की विभिन्न जातियों के प्राचीन इतिहास में लिंगोपासना विषय पर्याप्त इनित्त मिलते हैं। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उबरत्त्व की वृद्धि की भावना से ही देवा मानवों और पशुओं की जननेत्रियाँ का पूजन की प्रथा को विगुह प्रथम मिला होगा। उसीसे प्ररित होकर सूर्योपासना का भी सूत्रपात हुआ होगा ऐसा कुछ विद्वानों का अनुमान है। उबरत्त्व की वृद्धि के उद्देश्य को लेकर लिंगोपासना का सूत्रपात होना मिला देव की प्रसिद्ध ओसरिस तथा से भी सिद्ध होना है। ओसरिस मिला का राजा था जो भूमि की उबरता बढ़ाने का बहुत बड़ा हिमायत था। एक बार उसकी अनुपस्थिति से

1 That religion had a Phallic origin and that our emotional life has a sex basis are concepts highly offensive and even shocking to sensitive souls To these it must be pointed out that the primitive in its very nature is animal and savage that we are in no wise to blame for carrying along with us impedimenta that belong essentially to a savage state of existence since these things inhere in the Unconscious and are not accessible to waking consciousness through conscious mental effort that is we are not aware of their existence anymore than a man is aware that he has a vermiform appendix until like an inflamed appendix they create some disturbance and throw us off our mental balance

—Religion and new Psychology P XI XII Swisher

2 Primitive life in all its phases reveals a phallic origin But what of that? We need not blush to own it. It is a historical fact no more no less

—Religion and new Psychology by Swisher, P XII

अनुचित लाम उठाकर उसने भाई टायफोन ने पड़क कर एक घन भाण्ड के अंदर उसे बन्द करवा लिया और उस पर पिघला हुआ शीशा उड़लकर नील नदी में फेंक दिया। सयाग वन ओसरिस की पत्नी आइसिस को किसी तरह वह घन भाण्ड मिल गया, जिसे पुन 'टायफोन' ने हस्तगत कर ओसरिस के शव के छत्तीस टुकड़े करके फेंक दिए। वान म पति की मृत्यु से शोक सतप्त आइसिस को गिरनवाला अंग छोड़कर नार टुकड़े मिल गये जिनका अलग-अलग स्मारक बनवा लिए गए। गिरनवाला अंग न मिलने के कारण आइसिस ने अजीर के काष्ठ का एक लिंग बनवाया, जिसे फल्लस (Phallus)^१ कहकर उसकी पूजा का विधान किया गया।

फल्लस ईसा की चौथी सदी तक बिना किसी अनौचित्य-बाध के लिंगोपासना की परम्परा मिस्र के धार्मिक जीवन में चलती रहा।^२ इसका प्रचार ग्रीस, रोम असीरिया दक्षिण, अरब और ईरान तक में बहुत काज तक रहा और बिना कामुक प्रवृत्ति या अपवित्र विचार के लिंग-पूजा ने धार्मिक रूप ग्रहण कर लिया। कृषि-काय के आरम्भिक दिना में जिन देशों में मातृकुल की प्रथा प्रचलित थी वहां स्त्री यानि को ही प्रमुख उपासना मानकर उसके अनुरूप कौडी की पूजा का सूत्रपात हुआ तथा कौडी को दवी शक्तिधरा से युक्त माना जाने लगा। इसके बाद ही लिंग पूजा प्रचलित हुई।^३ भारतवर्ष में भी बच्चा और कुधार पशुओं को कौडी पहनाना, लक्ष्मी-पूजा के अवसर पर कौडी का रखा जाना उपयुक्त तथ्यों को पुष्ट करते हैं।

ऋग्वेद में भी वही वही गिरनवाला अंग का प्रयोग मिलता है^४ जिसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि शक्ति युग में लिंगोपासना प्रचलित थी। मोहजोदहो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि सिन्धु-सम्पत्ता वाला प्राचीन भारतीया का लिंग-पूजा का पान अवश्य था क्योंकि पत्थर के जो अडाकार बड़े लिंग वहाँ प्राप्त हुए हैं वे निश्चयेह ऐसी पूजा में व्यवहृत होते रहे होंगे।^५ उसी खुदाई में पकी हुई छोटी छोटी स्त्री मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनका सम्बंध पुरुष देवता के साथ भी दिखलाया गया है। इससे विदित होता है कि सिन्धु घाटी में दवी-उपासना के साथ-साथ पुरुष-देवता की भी उपासना प्रचलित थी। उस पुरुष-देवता को बरिलोनिया की देवी 'इस्तर' के सहचर ताम्बुज के समान भी माना जा सकता है।^६ इस प्रकार जब इन देवता का बहिक रुद्र के साथ आत्म सात्व हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया।^७ स्त्री-योनि के प्रतीक अर्धों के ऊपर मध्य में गिव लिंग की स्थापना होनी लगी और उन्हें भगवान् गकर का प्रतीक माना जाने लगा। कालान्तर में गिव लिंग धारण करने वाली का एक लिंगायत सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ।

इन तथ्यों से भी घम के लिंगिक उद्भव की मायता को पुष्टि मिलती है।

१ Phallus शब्द मूलतः यूनानी का हिन् ज्ञान पड़ता है, जिसका अर्थ 'बड़ा फोड़कर निकलता है' का अन्तर घुसेकता है' कहा जाता है।

२ See 'A short History of Sex Worship' by H Cutner Pp 78

३ See Marriage and Morality by Bertrand Russell p 32

४ ऋग्वेद, ७-२२ ५ तथा १-५६ ३।

५ 'हड़प्पा' ५ केन्दरजाय शास्त्री पृ० ६४ (आत्माराम प्रेस सत्र दिल्ली, १९५६ ई.)।

६ 'शिवमत', डॉ० युवराजी विहार रायभाषा परिवार, पटना, १९५५, पृ० ३१।

आदिम धमभाव में कामवासना की उद्दाम अभिव्यक्ति

आदिम धमभाव का रूप अत्यधिक सवेगात्मक है। उसमें पागलिक उद्दाम वासनाओं का गहरा रंग दिखलाई पड़ता है। उसमें अतन्त्र नतिक तत्त्वा का अभाव है क्योंकि उसमें किसी प्रकार के आंतरिक और नतिक द्वन्द्वों का नितान्त अभाव परिलक्षित होता है। इसमें यही निष्कर्ष निकलता है कि आदिम जीवन काय-चारण-बुद्धि से रहित है जिसमें अध-वासना अर्थात् काम वासना मार-काटकर साने की आकांक्षा हत्या एवं सधप की प्रवृत्ति एवं बच्चे तथा स्त्री समेत व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा की प्रवृत्ति ही केवल जाग्रत है। ये सारी प्रवृत्तियाँ और कुछ नहीं केवल काम-वासना का ही विभिन्न रूप हैं।^१

आदिम मानव में भय की भावना और रहस्यमयी शक्ति की कल्पना

इसके अतिरिक्त आदिम मानव में भय की भावना भी निखर आई पड़ती है। वह अपने सहचरो को लड़ाई में जाते हुए देखता है और वह यह भी देखता है कि उसके सहचर का सम्पूर्ण शरीर क्षत विभक्त है एवं उसमें खून की धारा बह रही है। कुछ ही क्षण पूर्व जिसमें प्राण चेतना और गति उद्गार रही थी वह एकाएक निस्पन्द कस हो गया? उसकी साँसें क्यों बंद हो गई? दिन रात गरजते हुए जम्पाना, ताल कड़कापाना एवं दुर्दान्त तरंगों से आलोकित अम्बुधि को देखकर जो उसकी छोटी-सी नौका को पलक मारत निगल जाने वाला है उसने अनुभव किया कि उसकी नही भुजाआ की गति से परे प्राकृतिक जगत् में कुछ ऐसी शक्तियाँ मौजूद हैं जो क्षण मात्र में मृत्यु और सबनाश को ला सकती हैं। इससे वह भयभीत हो गया। भय की इसी भावना^२ के परिणामस्वरूप उसने अनकानक भूत पिशाचों, देवी दैवताओं की परिकल्पना की और उन दूर प्राकृतिक शक्तियों को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता का भी उसने अनुभव किया क्योंकि उनमें उसका सम्पूर्ण जीवन आश्रित था। इसी कारण आदिम धमभाव में जादू-टोना—सम्मानन स्तम्भन त्वनामा को सन्तुष्ट करने के लिए बलि दान पव-उत्सव आदि धार्मिक कृत्यों की विस्तृत पद्धतियाँ का सूत्रपात हुआ।^३ ऋद्ध दवना

- 1 The Primitive is conscious only of blind desire Sex desire desire to kill and eat desire to fight and murder to protect personal property including wife and child All of these are but some form of sex desire
—Religion and the New Psychology SWISHER P 4

- 2 He views the thundering cataract the sharp lightening-stroke the overwhelming waves of the sea that may swallow his frail boat in an instant of time He recognizes that there are forces in nature stronger than his own puny arm mysterious forces that may deal out death and destruction
—Religion & the New Psychology SWISHER P 4

- 3 Man feels impelled to propitiate these ruthless intelligences of which his world is full Hence arise the elaborate systems of primitive religion with their fetishism taboo propitiatory sacrifices ceremonial feasts and ablutions
—Religion and the New Psychology by SWISHER P 4

का प्रसन्न करने के लिए तर-बलि की प्रथा चली, जो कालांतर में सम्यता और सम्मति का विकास के साथ साथ पशु-बलि के रूप में परिवर्तित हो गई। पशुओं में भी उसी पशु की बलि देने की प्रथा चल पड़ी है जिसका जडजड न हुआ हो।

धर्म-सम्प्रदायों के लैंगिक प्रतीक

सभी धर्म-सम्प्रदायों से सम्बंधित दन्त-कथाओं में किसी-न किसी रूप में सप विषयक प्रतीकों की प्रधानता दृष्टिगत होती है। बहुत-से सम्प्रदायों में सप-यूजन का प्रथा भी प्रचलित है। यूनान में कतिपय स्थानों पर एक लिंग अथवा मेष का पिंजरी में रखने का प्रथा भी। हेती और लुगियाना के इन्डोनेशिया में प्रचलित सप-यूजन-सम्प्रदाय का रूप निश्चय ही लैंगिक है।¹ इस प्रकार धार्मिक इतिहास के व्यापक क्षेत्रों में सप के प्रतीक के रूप में लैंगिक भाव की प्रभुता दिखाई पड़ती है।

मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रवक्त फ्रायड ने इसमें एक उदाहरण की स्वर्गीय पवित्रता का नष्ट करने वाली इच्छा को लैंगिक भावना का ही प्रतीक माना है। आत्म और 'इम' विषयक दन्त-कथा प्रकारानुसार से काम-कथा का ही आन्तरिक रूप है। 'इम' द्वारा आत्म की दिया गया फल या फल उमर का माया का प्रतीक है। उमर का दोनों का साथ मिलकर खाना दाम्पत्य-भोग का प्रमाण है। फ्रायड के मतानुसार स्वप्न एक दन्तकथाओं में फल खाने या फल सूखने का तात्पर्य रतिप्रिया ही है।²

जसा ऊपर कहा जा चुका है इसमें एक उदाहरण की स्वर्गीय पवित्रता को नष्ट करने वाली इच्छा लिंग (या मेष) का ही प्रतिरूप है। दोनों की दाम्पत्य क्रिया पाप और पुण्य या अच्छे-बुरे की आरम्भिक उमर ज्ञान-दशा की अभिव्यक्ति है जो काम चेतना का जगानी है। 'इम' का पुण्यदान लिंग द्वारा उसी माया भग का चोरी है। फ्रायड का मत है कि स्नायविक राग से ग्रस्त मरीजों के सपन अनेक प्रकार के सप विषयक विचारों एवं घटनाओं से भरे होते हैं, जो और कुछ नहीं उनका जीवन के असफल प्रणय-व्यापार के ही प्रतीक हैं। इन प्रतीकों का रूप क द्वारा मनुष्य की अव्यक्त काम बलि की ही अभिव्यक्ति होती है।³

- 1 'The Phallic significance of the serpent runs through wide stretches of religious history Dieterich relates that in Greece on certain feasts a phallus or a serpent was placed in a chest The serpent cult of the negroes of Haiti and Louisiana bears a phallic character The mother of Augustus dreamed that she was impregnated by Apollo changed into the form of a serpent and has borne since the figure of a serpent on her thigh

—Psycho analytic Method Pfister p 286 287

- 2 Since bed and board constitute marriage, the former are often put for the better in the dream and as far as practicable the sexual presentation complex is transposed to the eating complex

—Freuds—Interpretation of Dreams p 247

- 3 'Desire in the form of a serpent or phallus disturbs the paradisiacal

उनत सांस्कृतिक दशा एव कामवृत्ति का उन्नयन

सम्यक्ता और सत्कृति व क्रमिक विवास के साथ-साथ मनुष्य की आकांक्षाएँ एवं वृत्तियाँ भी परिष्करण हुआ है। अपनी सम्यक्ता की आरम्भिक दशा में मनुष्य पूर्णतः आत्म-केन्द्रित था। इहलोक को छोड़कर उसने परलोक की कभी कल्पना भी नहीं की थी। उसमें पाप पुण्य की भावना का भी उद्भव नहीं हुआ था। किन्तु आत्मचतना के विकास के साथ-साथ उसमें समष्टि चेतना का आविर्भाव हुआ। आदिम मानव का पाप पुण्य नित्यता अतद्व्यतिरिक्त पारलौकिकता अथवा पारमायिकता का कोई ज्ञान नहीं था। वह अपने चतुर्गुण फल हुए सारे रूप व्यापारा को अपने व्यक्तिगत सत्ता भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं आत्मवृत्ति की सुदृढ़ सीमा में ही ग्रहण करता था। किन्तु उच्च सांस्कृतिक विकास एवं इच्छाओं के परिष्करण के कारण उसमें दलित जीवन के भाव नतिक जाचारानि उनत विचार-दशाओं का मूलपात हुआ। अब वह मात्र अपने क्षत्र स्वार्थों एवं अपरिष्कृत उद्दाम वासनाओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं रहा। व्यक्तिगत स्वार्थों एवं सामूहिक स्वार्थों में एक प्रकार की द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई। पारम्परिक सम्पन्नता के कारण व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं में संघर्ष उत्पन्न हुआ। फलतः वह अब दूसरा के योग क्षम के सम्बन्ध में सोचने लगा। उसके लिए उसे अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थों का वन्त अंगों में परि त्याग करना पड़ा। किन्तु मानसिक त्रासिता का मूल दशा में मनुष्य ने अपना आत्मिक इतिमों का परित्याग नहीं कर लिया बरन् अनेक सामाजिक कारणों से उसे उनका अवदमन अथवा नियन्त्रण करना पड़ा। इस अवदमन क्रिया से काम भाव और संघर्ष यति का विलोप नहीं हो गया अपितु वह अवचतन में जाकर गह हो गई। इस प्रकार मूल रूप से वे चतुर्गुण जीवन से विच्छिन्न हो गई तथा अवचतन में जाकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपना आत्मन जमा लिया। उसी अवचतन से वे मूल वृत्तियाँ समय समय पर सवेगात्मक विप्लव के रूप में प्रकट होती रहती हैं।^१

serenity of the Garden of Eden The conjugal act reveals to the primal pair knowledge of good and evil that is to say it awakens sex-consciousness Eve is deflowered through the instrumentality of the phallus Dreams of nervous patients are likely to be full of various sorts of snakes which are symbols of the thwarted love life of the patient The repressed sex instinct of the individual comes to expression in this symbolized form

—Religion and New Psychology by Swisher p 89

- 1 The group life evolves to a higher plane His individual demands conflict with the demands of the group life a pressure effected by contiguity Meanwhile man retains all of his primitive instincts but with this difference whereas in the savage state instinct exists only to be satisfied in the more highly organised group life for various social reasons these instincts must be repressed Immedi-

मानव की अवदमित आदिम वृत्तियाँ निरंतर अपनी अभिव्यक्ति चाहती हैं किंतु समाज के नित्य नियमों एवं अथवा आचारों के कारण उन्हें ऐसी सुविधा नहीं प्राप्त होता। इनके परिणामस्वरूप मनुष्य आन्तरिक उत्पीड़न द्वन्द्व एवं खण्डित व्यक्तित्व के भावों का अनुभव करने लगता है। एसी दशा में मनुष्य अपने चतुर्दिक फल हुए वातावरण से सवधा बिच्छिन्न होकर तोंत्र मानसिक पीड़ा का शिकार बन जाता है। प्रॉपेट ने इसी दशा को मनुष्य के पाप-बोध की दशा के रूप में स्वीकार किया है। प्रायः के मतानुसार पापबाध की यह दशा हत्या से सम्बन्धित है। यदि ईश्वर-पुत्र ने पूर्व पाप से मानवता के परित्राण के लिए आत्म-बलिदान किया था तब प्रतिगोध के नियम के अनुसार यह पाप अवश्य हत्या-कृत्य ही रहा होगा। प्रायश्चित्त से किसी प्रकार प्राण को लौटाया नहीं जा सका होगा। अतएव यदि पूर्वपाप परमपिता ईश्वर के प्रति पाप था तो मानव-समाज का सबसे पुरातन पाप पितृ हत्या का पाप था, आग्नि मानव समुदाय के आग्नि पिता के खून करने का पाप था। बालान्तर में पितृ हत्या का स्मृति चित्र ही दबता के रूप में परिवर्तित हो गया।^१

साहित्य, कला और धर्म में वृत्तियों का परिष्करण

असम्य मानव समाज में जा वृत्तियाँ अपने मूल रूप में चरितार्थ होती थीं व सम्य मानव समाज में आकर प्रतीकात्मक एवं परिष्कृत हो गई हैं। साहित्य कला और धर्म के विभिन्न रूपों में इसागिए प्रतीकों का आहत्य है।^२ यही कारण है कि आग्नि धर्म लगिन प्रतीकों से ओतप्रोत है। किन्तु आधुनिक अर्थ में इसके विपरीत स्थूल भाव-मूर्ति एवं परिष्कृत प्रतीकों का विधान किया गया है। आधुनिक धर्म के वे रूप जिनमें इस प्रकार के प्रतीकों का प्राचुर्य रहता है सर्वाधिक भावपूर्ण तथा लोकप्रिय सिद्ध होते हैं क्योंकि उनकी यह भावात्मकता आदिम जीवन से सम्बद्ध है तथा इन प्रतीकों के द्वारा अवचतन का यदि पूर्ण और तात्त्विक नहीं तो कम से-कम एक प्रकार के समुत्पन्न ज्ञान का सतोष की उपलब्धि अवश्य होती है।^३

ately a conflict ensues between the demands of the individual and the code of a group Sex desire the fighting instinct are not destroyed by this repression they are submerged in the Unconscious At length they are severed from conscious life and in the Unconscious lead an autonomous life whence they emerge from time to time as emotional disturbances

—Religion and New Psychology Swisher, p 11

- 1 See Religion and New Psychology by Swisher Pages 12 13
- 2 Poetry and painting as well as literature are full of such symbolism That which was literal in the life of the savage becomes symbolized and refined in the life of civilized man

—Religion and New Psychology by Swisher, p 15

- 3 1 Primitive religion reeks with phallic symbolism Modern religion retains the imagery and refines the symbol : Those forms of modern

कामवृत्ति का घमभाव पर व्यापक प्रभाव

मनुष्य की सभी आन्तरिक वस्तियाँ एवं मौलिक मनावर्गों में कामवृत्ति और मनावर्ग सर्वाधिक प्रबल हैं। इन्हींके ऊपर मानव-वृत्ति की अखण्डता निर्भर करती है। अतः ऐसी आशा करना सबथा स्वाभाविक ही है कि घमभाव में उन्नत तथा आदर्श काम-मनोवेगा का प्राचुर्य रहना चाहिए। इसके आधार पर यह ऐकान्तिक रूप से सम्भाव्य है कि सभी घमों का उदभव लौकिकता के आधार पर ही हुआ है। अतः अनुन्नत मस्तिष्क के लिए लौकिक प्रतीक स्वभावतः अत्यन्त व्यापक प्रतीत होंगे तथा ससारोत्पत्ति विषयक दन्तकथाओं के समान सन्धि परक प्रतीक भी लौकिक आधार प्रकार के ग्रहण करेंगे। यही कारण है कि आदिम धार्मिक कृत्य स्पष्टतः नग्न काम प्रतीका से भरे पड़ हैं।^१

घम मूलतः भावनारमक है। अतएव व्यापक अर्थ में यह काम सभूत है। ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि जीवन को यदि उसके यथाथ परिवेश में देखा जाए तो यह मानना अनुचित नहीं होगा कि जीवन के अर्थ विषयों की तरह काम वृत्ति और उसके मनोवेगों में भी उन्नतता एवं भव्यता है। यह विद्वत् मस्तिष्क का ही काम है कि सबका गल्फी-ही-गद्गी देखाता है। इस सम्भ में एक और बात जो महत्वपूर्ण है वह यह है कि यदि इस प्रकार के धार्मिक विधानों से अवचेतन को समुदभूत (Derived) आनन्द या सुप्ति मिल जाती है तो कम-से-कम इससे मनुष्य को घोर पागलिकता के प्रयोगों के गत में गिरने से परित्राण मिल जाता है।

भाषात्मकता के अतिरिक्त घम का एक दूसरा ब्यवहारिक पक्ष भी है। घम का यह व्यवहारिक पक्ष सामान्य जन समुदाय को प्रभावित नहीं कर सकता। घम का यह रूप दार्शनिकों एवं ब्रह्मवादी वदार्थियों के लिए उपयोग हो सकता है। मानव जीवन के पुनरुद्धान के लिए घम का प्रामाणिकता इससे मिश्र नहीं होनी है कि उसमें समझाने बुझाने की कितनी शक्ति है घमसिद्धान्तों के निम्न तार्किक प्रतिपादन की क्षमता कसी है तथा तत्कालीन विश्वास की शक्ति में वह कितनी दूर आगे है अतः घम की प्रामाणिकता और साधकता कायापन

religion which are richest in symbolism make the widest appeal because their appeal is to the primitive. From this symbolism the unconscious obtains a sort of derived if not perfect and essential satisfaction

—The Same p 15 16

- 1 It is extremely likely that all religion has a phallic origin. Phallic symbols would naturally be the most comprehensible symbols to the savage mind and symbols of creation like creation myths would naturally take a phallic form. The rites of Primitive religion are full of an obvious sex symbolism

—The same p 17 18

X

X

X

All certain myths are really symbolization of an individual birth process applied to cosmic birth-processes e.g. the water is really the amniotic liquor

—Coriat p 148

करने वाले महान भावात्मक उत्थानों तथा सावलीक प्रतीक व प्रयोग द्वारा प्राप्त हुए चिन्मय सत्ता व प्रति थदा भक्ति में ही सन्निहित है। इसकी अच्छाई मनुष्य के भावात्मक जीवन में महसूस है। जो क्रियमाण होने पर मनुष्य के चरित्र की पूर्णतः रूपान्तरित कर देती है और मनुष्य यदि बुद्धिमत्ता ॥ इसका उपयोग करे तो वह अपने अंतर के सारे द्वंद्वों से मुक्त हो सकता है तथा वास्तविक आदर्श जीवन के समकक्ष ध्यान का रूप ले सकता है।

भावितभाव के मूल में अभुक्त वासना

प्रसिद्ध मनोविज्ञानज्ञता निगमड फ्रायड, हैबलर एलिस आदि बड़े आधुनिक मनो वैज्ञानिकों ने अभुक्त काम-वासना का ही मनुष्य के सारे व्यापारों के मूल में माना है। उनके मतानुसार अभुक्त काम-वासना ही जीवन के विविध क्षेत्रों में मनुष्य को काम करने के लिए उत्प्रेरित करती रहती है। इस दृष्टि में भक्ति भावना के मूल में भी अभुक्त काम-वासना अथवा असफल काम-जीवन की कुण्ठा का ही रूपान्तरण होगा है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि प्रेम और धर्म अन्वयाधारित हैं और ये दोनों मानव-जीवन के सर्वाधिक गतिगामी और व्यापक मौलिक मानव हैं। जीवन का जन्मजात कामवर्ति यदि अवसर पाकर धर्म भाव में रूपान्तरित हो जाती है तो यह सच्चा स्वामाविक परिणति है।

काम के उत्थान का व्यावहारिक रूप काम-प्रेम तथा आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है

काम के उत्थान का व्यावहारिक रूप काम-प्रेम है तथा उसका आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है। काम की जीवन के मौलिक भाव के रूप में स्वीकार करते हुए काम का स्वभाव प्रणता वास्तविकता में भी काम-प्रेम ध्यान की उत्पत्ति एक सत्तुष्टि को काम की सत्ता का है तथा आनन्दानुभूति ही काम है ऐसा कहकर उन्होंने काम को बड़े लौकिक मूल्य तक ही परिमित न कर उसका क्षेत्र को अत्यंत विस्तृत एवं व्यापक बना लिया है। काम-प्रेम में जब काम का उत्थान हो जाता है तब प्राणी बड़े अपने दुर्ग स्वाध्यायभोगों तक ही सीमित नहीं रहता बरन् उनसे ऊपर उठकर अपने प्रमत्त तथा सत्ताना के योग-प्रेम का भी अभिलाषा

- 1 Religion is primarily emotional and therefore is in the broadest sense of sex origin. There is the rationalistic side of religion, but this makes no appeal to people in general. This aspect of religion is well left to the philosopher and the theologian. The validity of religion for the regeneration of human life lies not in its power to convince not in the cold blooded and logical statement of dogma in which the inquirer is urged to believe it does not lie at all in the field of rationalized belief but in the great emotional upheavals of conversion and the reverence for the Divine engendered through the use of the universal symbol

बनकर परमाय भाव पूरित हो जाता है।^१ उसके हृदय में सुकुमार एवं सात्विक भावनाओं का प्रादुर्भाव होता है जिनका चरम परिणति भक्ति भावना में दृष्टिगत होती है। भावयोग की विणिष्ट दशा में व्यक्ति सबका आत्मवत् मानत हुए सबके अम्युदय की कामना करता है।

इस प्रकार दाम्पत्य प्रेम के मूल में अपने प्रेम-पात्र के साथ एकमेव हो जाने की उत्कट अभिलाषा ही उदय रहती है। द्रव्य में उद्भव स्थापन की यही भावना कागन्तर में स्वरूप प्रेम के रूप में चरिताय हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा के प्रगाढालिंगन में अनुरक्त होकर पुरुष अपना सुख-बुख खो देता है उसी प्रकार परमात्मा के सायुज्य द्वारा जावात्मा के अस्तित्व का सर्वतोभावेन विलोपन हो जाता है।

दाम्पत्य प्रेम ईश्वर प्रेम की मावात्मक अभिव्यक्ति है

यह ससार पुरुष और प्रकृति का त्रीडास्थल है। जगज्जीवन में इसलिए पुरुष और स्त्री के परस्पर आकर्षण और सम्मिलन का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। नर-नारी का संयोग सृष्टि रचना विधान का अदभुत कोण है। यही कारण है कि नर और नारी को किसी एक के अभाव में अपूर्ण कहा गया है। सृष्टि के अस्तित्व का आधार ही दाम्पत्य प्रेम की कल्पना है। दाम्पत्य भाव ही शृंगार का मूल है और शृंगार के अभाव में सृष्टि और साहित्य दोनों ही नीरस एवं अपूर्ण हैं। निरकर के गाने में काव्य का विकास अधनारीश्वर के आशीर्वाद से होता है। हनुमान् के पान करनेवाले नीकट का जय अर्धांग अमृतपूर्ण है यह कल्पना ही मानो काव्य का अपनी पूर्णता की याद दिलाती है।^२ इसमें आनन्द लौकिक सीमा का उत्प्रेषण कर अलौकिकता को प्राप्त हो जाता है। 'दो का एक' भेद में अभेद का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।^३

मानव जीवन में त्रितने प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं, सबसे धनिष्ठ सम्बन्ध दाम्पत्य प्रेम का ही माना गया है। दाम्पत्य प्रेम ही चरम विकास को प्राप्त कर स्वरूप प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। भक्ता और मनों की मधुरापामना का यही मूलधार है।

भक्ति साधना में दाम्पत्य मधुर-भाव बंधन का प्रयोजन

मनुष्य के अनुभवा में दाम्पत्य प्रेम ही आध्यात्मिक अनुभवा के सन्निकट है। यही कारण है कि आध्यात्मिक प्रमानुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए दाम्पत्य प्रेम मूल का सहारा

- 1 He is no longer to live for himself but for his wife and children and in a larger sense for his decedents. He is to continue by transmitting himself that life may remain when he is gone. Love is to conquer selfishness. He is to rise above himself and the present good and future happiness of others are to constitute his well being.

—रमचन्द्र इतिहास, पृ. ८८ में उद्धृत।

१ रमचन्द्र की भूमिका पृ. ७१।

२ नरकम बाहुल्य बगवत् गी. म. पृ. १३२।

लेना पड़ता है तथा शृंगार के आवरण में उसका निरूपण किया जाता है। प्रत्येक दश और प्रत्येक काल के भवत एव सत ब्रविद्या में भगवदप्रेम की अभिव्यक्ति करने के लिए प्राम दाम्पत्य भाव सूत्र को ग्रहण किया है। भारतवर्ष के सन्त एव भक्त ब्रविद्या ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में तथा अपने-आपको उसकी प्रियतमा के रूप में मानकर ईश्वर प्रेम की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति की है। सूफी फकीरा ने उसी परमात्मा को 'मायूक' तथा साधक का आश्रित के रूप में परिकल्पित कर आध्यात्मिक प्रेम पौर का बड़ा ही समरूपी चित्रण किया है। ईसाई सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी आध्यात्मिक परिणय (Spiritual marriage) की योजना द्वारा भक्ति साधना का मधुर वर्णन किया गया है। सोलोमन (Soloman) के श्रेष्ठ गीत दाम्पत्य प्रेम भाव से ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार लौकिक शृंगार अर्थात् दाम्पत्य प्रेम पारलौकिक मधुर रस की अभिव्यक्ति के लिए एक आवश्यक एव अपरिहार्य पृष्ठभूमि है। भक्ति साधना के क्षेत्र में दाम्पत्य मधुर भाव-बोधन का यही प्रयाजन है।

दाम्पत्य-भाव की व्यापकता

दाम्पत्य भाव अत्यन्त व्यापक एव उन्नत भाव है। विश्व के सारे कार्यक्रम दाम्पत्य भाव अथवा युग्म भावना से संचालित हो रहे हैं। प्राणी जगत् की कौन बड़े, जड़-जगत् में भी यह युग्म भावना खरिनाय होती है। ससार की सभी वस्तुओं में समवेष्टा मिलती-जुलती की ब्रति व्यापक रूप में दृष्टिगत होती है। जड़-चतन सभी मन्नामिलाया से आदीर्ण एव संचालित हैं। सौंदर्य, सौकुमार्य और सम्मोहन के अधिष्ठाता रतिदेव का प्रभाव वहाँ नहीं है ?

सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का मूलधार दाम्पत्य भाव ही है। यह आत्मविविक्त अथवा भावी आरम्भ रक्षा के लिए सन्तानोपत्ति का विधान है। दाम्पत्य प्रेम भाव में प्रजनन के अनिवार्य प्रभोक्तम आरम्भोत्पत्ति आदि क्रियाएँ एव उन्नत ब्रतियाँ का अदभुत चमत्कार निरालाई पड़ता है। इसमें नर और नारी नमक और पानी की तरह मिलकर एक हो जाते हैं। अतएव इसमें इन में अद्भुत भाव उत्पन्न करने की विलक्षण शक्ति है। दाम्पत्य प्रेम में आम-ममपण, अपत्य स्नेह आदि सुकुमार भावों का पूर्ण प्रस्फुरण होने के कारण 'राम' भाव की कामुकता और विलासिता का तिरोभाव हो जाता है। अतः दाम्पत्य भाव का प्रेम-प्रवण ही प्रथम विकसित एव परिष्कृत हात हुए विश्व प्रेम तथा अन्तर्भाव का ईश्वर प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार अपने प्रियतम को विश्व-रूप में मान कर व्यावहारिक रूप में प्रियतम प्रेम में ही देखा जा सकता है। समुणमार्गों भक्तों एवं मन्ना का शिष्य प्रयान्तर्गत आश्रित का दर्शन में यह स्पष्ट है कि हमारे अनुभवों में दाम्पत्य प्रेम ही आरम्भ प्रेम का मूल है। प्रकृति के समस्त प्रयान्त प्रेम का प्रयान्त का प्राप्त करने का प्रयान्त प्रयान्त करते रहते हैं। प्रकृति और पुष्प का इस विर विद्या का अनुभव ही मानव भावना की प्रकृति अनेक साधनाया का सर्वोपरि प्रेम है। सत्य यह है कि दाम्पत्य भाव आश्रित प्रेम प्रयान्त का साक्षात् भाव का व्यक्त रूप है। यही कारण है कि भारतीय मन्ना में दाम्पत्य भाव का

वत्पना पुरुष रूप में तथा आत्मा की वत्पना स्त्री रूप में की गई है। सृष्टि करने की इच्छा से ही उस परमात्मा ने अपने को पुरुष और स्त्री रूप में प्रकट किया।^१ सारांश यह है कि पुरुष और नारी का परस्पर आकर्षण और सम्मिलन आत्मा परमात्मा के परस्पर आकर्षण और सम्मिलन की लौकिक अभिव्यक्ति है। इसी भावना से प्रभावित होकर कबीर आदि सत्तो न हरि को पीव और अपा को उमकी बहुरिया के रूप में परिवर्तित करके आध्यात्मिक प्रमानुभूति जमर प्रमवारणी और उसके प्रभाव की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति की है क्योंकि पारमार्थिक प्रेम का पथ भी इसी लौकिक प्रेम मार्ग से होकर जाना है। अपने प्रियतम में उस परम प्रियतम परमात्मा की चलाक पाकर ही उसके वास्तविक स्वरूप के दर्शन किय जा सकते हैं।

दाम्पत्य-भाव का आध्यात्मिक स्वरूप एवं उसकी अवतारणा

दाम्पत्य भाव आत्म रूप पुरुष और अनात्म रूपा नारी के बीच साहचर्य भाव का प्रतिबिम्ब है। विश्व की एकमात्र सत्ता ब्रह्म अर्थात् पुरुष है। जीव और प्रकृति उसी चरम सत्ता के दो रूप हैं। इन्हीं को आत्म और अनात्म की सत्ता दी गई है। आत्मा सक्रिय होकर निष्क्रिय अनात्म को अधिष्ठित करता है और उसके सहयोग से अपना विस्तार करता है। इसीलिए पुरुष को आत्मा और नारी को अनात्म माना गया है। आत्म रूप पुरुष द्वारा स्व विस्तार के लिए की जाने वाली क्रियाओं में प्रजनन कृति की ही प्रमुखता रहती है। यही कारण है कि आत्मरूप पुरुष अनात्म रूपा नारी के मधुर संयोग की सतत आकांक्षा करता है। इससे सिद्ध होता है कि दाम्पत्य भाव आत्म रूप पुरुष और अनात्म रूपा नारी के मधुर संयोग से सम्पन्न होनेवाले स्व विस्तार की आध्यात्मिक क्रिया का प्रथम प्रतीक है आत्मा और परमात्मा विषमन लोकोत्तर प्रेम का लौकिक सस्वरूप है। क्लेशनिवृत्ति में भी कहा गया है कि वह एक में नहीं रह सता। अतः उसने पति और पत्नी रूप में अपने का विभक्त कर दिया।^२

हिन्दी की निगुणमार्गी और गुणमार्गी धाराओं के सन्त एवं भक्त कवियों ने दाम्पत्य स्नेह-सम्बन्ध-मूक के सहारे आत्मा और परमात्मा के पावन परिणय तात्पर्य भाव एवं मधुर मिलन से सम्बन्धित विविध प्रसंगा का बड़ा ही सजीव और मनोहर चित्रण किया है। आत्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय मिश्र प्रसंग आदि मधुर भाव दर्शाते हैं। कबीर आदि सन्त कवियों ने त्रिम प्रकार के उक्त माधुर्यमय रहस्यवादी की अवतारणा की है वह अचन दुःख है। राजा राम का अपना पिता और अपन का उनकी बहुरिया के रूप में परिवर्तित करके सयाग एवं विप्रश्न मधुर भक्ति रस की विविध भाव-रंगाओं का जमा प्राणमय प्रकाश सन्त कवियों ने किया है वही किसी अन्य ने नहीं। सन्त कवियों ने अन्त्यास्ति-पदों का अवलम्ब कर राम की बर्णना के पुरुषार्थ मिश्रणात्मक

१ शिवा कृष्ण रत्ना रेहमडेन पुस्तक भवन।

२ क्लेश नारी नरकादु कोन्मुख विविधा प्रकाश ॥

—मधुराग।

३ कदाही नरमन कात्मनदेव

४ कदाही नरमन कात्मनदेव ॥

—कौन्मुख।

प्रणय निवेदन, विरहानुभूति आदि विविध प्रेम दशाओं की जो मधुर उदभावनाएँ की हैं, वे अपूर्व हैं। सन्तो की दाम्पत्य भाव की उपासना हृदयग्राहिणी एवं माधुर्यमयी है। इसकी विरह वेदनाएँ ममस्पर्शिनी हैं। इसीलिए उनमें मधुर रस का बड़ा ही उत्तम परिष्कार पाया जाता है।

भक्ति भाव और दाम्पत्य भाव का सर्वस्व दास्य सख्य और आत्मनिवेदन है। सन्ता की वाणी में इन तीन भावों का बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य लिखलाई पड़ता है। सन्तो ने इन तीनों रूपा में परमात्मा का स्मरण किया है। सन्तो ने जहाँ विरहिणी आत्मा के प्रणयोद्गारों एवं विरह-वेदनाओं का वर्णन किया है, वहाँ आत्मनिवेदनासक्ति चरमोत्कृष्ट पर पहुँची हुई प्रतीत होती है। प्रिय मिलन की आशा में किसी-न किसी तरह अपने प्राण को रोक्कर रखने वाली कबीर की विरहिणी आत्मा ने आकुल अन्तर के ये प्रणयोद्गार दर्शनीय हैं—

विरहिन दय सदेसरा सुनो हमारे पीव ।
जल बिन मच्छी क्यों जिए पानी में का जीव ॥
अलिखाँ तो भाइ परी पम निहार निहार ।
जीहडिया छाला पडा नाम पुकार पुकार ॥
विरहिन उठि उठि भुइ पर दरसन कारन राम ।
भूए पाछ दहग सो दरसन केहि काम ॥
भूए पाछ मत मिलो नहे कबीरा राम ।
लौहा भाटी मिल गया तब पारस केहि काम ॥
सब रग ताँत रबाव तन विरह बजावैं नित ।
और न कोई सुन सने क साइ के चित्त ॥

पिया मिलन की आस रहों जब लीं खरी ।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी ॥
पाँव नहीं ठहराय चढ़ू गिरि गिरि पर्वे ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन धागे धरू ॥
अग-अग बहराय तो बहुविष डरि रहूँ ।
भरम कपट भग परितो भ्रम में परि रहूँ ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गल है ।
अटपट चाल तुम्हार मिलन बस होइ है ॥
अन्तर पट दे सोल सग उर लावरी ।
लिं बिच दास कबीर मिलैं तोहिं बावरी ॥

विरहिणी ने आत्मरस से अभिसिंचित इन पंक्तियों ने प्रत्येक वाक्य में आत्म निवेदन अपना आत्मोत्सव के भावों की कसी मधुर एवं मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है यह सुस्पष्ट है।

जब ईश्वर प्रेम विषयन मधुरारति स्थायीभाव निखिल सौन्दर्य रसान्दस्वरूप परमात्मा रूपी आत्मन्मन विभाव को पानर, रोमाञ्च अनुपात आदि अनुभावों तथा हृष्य आवेग औत्सुक्य आदि संचारी भावों ने सहारे मधुरा भक्ति में परिणत होता है उस समय भक्ति भावापन्न सहृदयों में जिस अलौकिक मधुर रस का उद्वेग होता है वह कितना चमत्कारपूर्ण, लोकोत्तर

तथा दवी विभूति सम्पन्न एवं आस्वाद्य होता है इसका प्रमाण मधुर भक्तिरस का विपुल साहित्य भण्डार ही है। इसीलिए तो भागवतकार ने कहा है कि तुम्हारे साधारण जाह्लाद के विशुद्ध समुद्र में स्थित होने के कारण भुव समस्त सुख गोप्यद-समान प्रतीत होत हैं।^१

प्राचीन और मध्यकालीन साधना साहित्य में आत्मा और परमात्मा के रहस्यमय माधुर्यभाव की साधना नर और नारी के परस्पर आकर्षण प्रेम मिलन के उन्मादीकरण के ऊपर ही निर्मित है। इससे यही निष्पन्न निकलता है कि मनुष्य जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर अप्रसर हुआ तब उसने काम या प्रेमभाव का परित्याग नहीं किया वरन् उसने उसका उदात्तीकरण किया। वष्णव-माधना के राधा माधव तथा निरगुनिया सन्ता के हरि मेरा पिउ मैं राम की बहुरिया की रहस्यपूर्ण माधुर्य भावना के उदभव का यही रहस्य है।

ऊपर जिन सिद्धांतों के विवचन किये गये हैं उनके फलस्वरूप निम्नलिखित निष्पन्न निकलते हैं—

१ मृष्टि की श्रित्व प्रसूतियाँ में परस्परिक प्रत्याकर्षण की प्रवृत्ति साम्प्रतिक है तथा आत्मोपलब्धि की भावना मृष्टि के सारे व्यापारी के मूल में है।

२ आत्म का उद्वेग रसत्व है तथा उसका उपभोगता अहंभाव है। भव्य आनंद ही रस है।

३ आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में काम्यात्म अलौकिक नहीं लौकिक है।

४ प्रेम या राग मानव जीवन का एकमात्र मौलिक भाव है तथा राग स्व विस्तार अथवा परस्पर सगम-उा जड़ चेतन सर्वत्र विद्यमान है और यही राग फायद का काम है।

५ मधुर या प्रजनन प्रवृत्ति (Pairing Mating or Reproduction) मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ (Primary instincts) में एक प्रवृत्ति है तथा काम एक अति व्यापक मनोवर्ग है।

६ भक्तिभाव के मूल में मनुष्य का कामप्रति सर्वमय और सर्वाधिक जान-प्रणायक पत्नी के आकर्षण की प्रवृत्ति एकरथ स्थापना अथवा पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति आत्मज्ञान की प्रवृत्ति आत्मप्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवृत्ति एवं असफल दाम्पत्य-जीवन के कारण अभुक्त काम-व्यमना की प्रवृत्ति प्रत्येक तत्त्वा के रूप में काम करनेवाणी हैं।

७ प्रेमभाव का सर्वत्र बड़ा श्रोत यानि भाव है और उसका उदभव स्वयं लज्जित है।

८ काम का उन्मयन दाम्पत्य-आत्म का स्वरूप है तथा दाम्पत्य प्रेम और ईश्वर प्रेम की मना-साए समान हैं। काम के उन्मयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रेम तथा आत्म रूप ईश्वर-प्रेम है।

९ दाम्पत्य प्रेम अत्यन्त व्यापक एवं आत्मा परमात्मा के तात्पर्य का प्रतीक है। नर-नारी के रूप में दो हृत्पा की अभिन्नता अविच्छिन्न विनय-जावन की एकात्म अनुभव पथ का गार है।

१ दाम्पत्य भाव का आध्यात्मिक स्वरूप ही मधुर भक्तिरस का उग है।

१ 'स्वस्मादस्वरसोऽहं विशुद्धोऽपि विशुद्धः न।

सुगति मोक्षपात्रे ॥ —भक्तवत्।

तृतीय खण्ड



मधुर रस का दार्शनिक विवेचन

(क) वैष्णव दर्शन

अनुभूति और दर्शन

मधुर रस का अनिच्छित मग्न धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियाँ मधुर जा मूल्य एक रहस्यपूर्ण परिणति अथवा अवस्था उपस्थिति को प्रदान है और त्रिभुज जीवन व सामान्य मूल्या का आधार समझा जाता है। इस प्रकार धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन उन रहस्यपूर्ण मत्ता की मापेभना में लिया जाता है। हम यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन में मग्न होने के अर्थ में स्वयं का अस्पष्ट आभास हो मित्रता है और वह उन समस्त मूल्या का आधार है जिनकी तलाश मनुष्य करता है। मनुष्य ने धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना व उन तत्त्व का उद्भासना के भा एक ईश्वर और सभी अनेक देवी-देवताओं का रूप में की है।

मनाविनाश व अनुमाग धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य व अवचनन अथवा उपवेक्षण मन का प्रारंभ होता है। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का मन्त्र मनुष्य के सम्पूर्ण चेतनामूलक जीवन तथा अनुभूति में होता है। वस्तुतः वह अनुभव मनुष्य की सम्पूर्ण अवस्था अनुभूतियाँ का प्रतीयमान एवता रूप होता है। हम दृष्टि में दर्शन पर यह जान पड़ता है कि दर्शन तथा धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूति में अनिच्छित मन्त्र है। धर्म चेतना में जिस एवता की घुघरी प्रदान होता है उस ज्ञान तत्वाध्याय तथा अथ मूल्या व आत्म समसमस्त का प्रयत्न करना है। अनन्तानन्द आत्मिक मनवात् सभी मयात्रपण व परिणाम हैं।

ईश्वर का अस्तित्व बोध और आनन्द-लाभ

प्रसिद्ध जर्मन विचारक फेनर और अग्रज आत्मिक समुदाय आत्मिक म ईश्वर व अस्तित्व-बोध की प्रामाणिकता पर प्रमाण आत्मिक रूप कहा है कि 'मनुष्य अपने भीतर निमी की उपामना करने का आवश्यकता का अनुभव करता है। जिस तरह भाजना पात्रन, वामवामता आदि मूल अवस्था में मन्त्रित आत्मिकताओं उद्भूत करने का प्रयास की मत्ता की मित्र करती है उसी तरह उपामना की आवश्यकता का अनुभव यह मित्र करता है कि कोई उपाम्य मत्ता या चेतना है जिसके साथ उपामन अपने स्वभाव में ही और प्रवृत्ति व अनुसार अनर रहा में अपना भावात्मक मग्न स्थापित करता है। जिस प्रकार विभिन्न

१. मधुर रस का दार्शनिक विवेचन, डॉ. देवराज पृ. ३०३-३०८।



मधुर रस का दार्शनिक विवेचन

(क) वैष्णव दर्शन

अनुभूति और दशन

मधुर रस का घनिष्ठतम सवध धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियां में है जो मूलतः एक रहस्यपूर्ण परिणति लक्ष्य अथवा उपस्थिति का प्रतीति है और जिसे जीवन के समस्त मूल्या का आधार समझा जाता है। इस प्रकार धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन उन रहस्यपूर्ण सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है। इसमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन से सर्वाधिक उक्त लक्ष्य या सत्ता का स्वरूप का अस्पष्ट आभास ही मिलता है और वह उन समस्त मूल्या का आधार है जिनकी खोज मनुष्य करता है। मनुष्य ने धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना के उक्त तत्त्व की उदभावना कभी एक ईश्वर और कभी अनेक देवी देवताओं का रूप में की है।

मनोविज्ञान का अनुसार धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य का अवचेतन अथवा उपचेतन मन का ग्रन्थ हाता है। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का सवध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतनामूलक जीवन तथा अनुभूति से होता है। वस्तुतः वह अनुभव मनुष्य की सम्पूर्ण अथवनी अनुभूतियों का प्रतीयमान एकता रूप होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दशन तथा धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूति में घनिष्ठ संग्रह है। धर्म चेतना में जिस एकता की घुंधरी प्रतीति होती है उसे दान तत्त्वास्वीय तथा अथ मूल्या के जालों में समझने का प्रयत्न करना है।^१ अन्यान्य दार्शनिक मतवाद इसी सत्यावेषण के परिणाम हैं।

ईश्वर का अस्तित्व बोध और आनन्द-लाभ

प्रसिद्ध जर्मन विचारक फर्नर और जगज्ज दार्शनिक समुहल एन्कडर ने ईश्वर का अस्तित्व बोध का प्रामाणिकता पर प्रमाण डालते हुए कहा है कि मनुष्य अपने भीतर किसी की उपासना करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिस तरह भाजना पाजना, प्रामाणिकता आदि मूल वृत्तियां से संग्रहित आवश्यकताएं उन्हें पूरा करने वाले पदार्थों की सत्ता को सिद्ध करती हैं उसी तरह उपासना की आवश्यकता का अनुभव यह सिद्ध करता है कि कोई उपास्य सत्ता या देवता है जिसके साथ उपासक अपने स्वभाव रजि और प्रवृत्ति का अनुसार अनन्य रूपों में अपना भावात्मक सवध स्थापित करता है। जिस प्रकार विभिन्न

१. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डॉ. शंकराज, पृ. ३२७-३२८।

वगैरारण्य हा यन्मुख्यिनि तथा भावत्वात् न सत्यम् विभिन्न प्रकार का अनुभूतियाँ व्यक्त करते हैं और वे सभी यथाय और प्रामाणिक हानी है उमी प्रकार एव उपाम्य सत्ता या परमेश्वर की अनन्त रूपा म नो तान वाग्नी उन्मात्रना भी तात्त्विक दृष्टि म यथाय और प्रामाणिक है । जत मनुष्य अपनी जन्मजात मृज्जामक सभावनाआ व अनन्त परम तत्त्व की कल्पना अनेक रूपा म कर सजना है जार व सभी रूप शिखरमनीय और प्रामाणिक माने जा सजने हैं । अनन्तता म एवता का यही उदवाहन मर्त्यवृष्ट है । जिस प्रकार प्रम और सीन्य की अनुभूति अपरिमित है उमी प्रकार धामिन् आयातिम अनुभूतिया भी अपर हैं और इनके मूत्र या आधार परमनत्व का भी अनन्त रूपा म परिवर्तित किया जा मरता है । इसम गिद्ध हाना है कि एव उपाम्य सत्ता की अनन्त रूपा म उन्मात्रना करना तत्त्व का हाम नहा है विनाम है ।

सामारिक तापा पर चिन्तय पाना ही जायातिमा गाधना का मूत्र प्रयाजन माना गया है । भारतीय मनीषिया व जानन्वात् व मिद्धात का भी यहा रहस्य है । भारतीय दान व अनुसार जीव म सत चित और आनन्ध तीना तत्त्व पाए जान है जिनम सत और चित व त्रियाणी होन व कारण मनुष्य उनकी प्रत्यक्षानुभूति कर सकता है किन्तु जानन्ध तत्त्व व मुपुष्तावस्था म रहने व कारण उमका कब जाभाम ही मित्रता है प्रत्यक्षानुभूति नहा हो पाती । तसार के सभी प्राणी दुःख निवर्ति जयात सुख प्राप्ति व लिए विभिन्न साधना का अवग्रहन करत है । आनन्ध-तत्त्व ही उह सुख का प्राप्ति व लिए मनन उत्प्रेरित करता रहता है । अध्यात्म व ध्यान म मधुरभाव की साधना का यहा म कारण है जिसका आविभाव मनुष्य के कभी या सम्कारा व अनुरूप हाता है । भारताय मनीषिया व विचार म मनष्य व हृदय स्थित मधुरभाव का अभिप्राय जानन्ध-तत्त्व स ही है जा मधुरापामना व परिणाम स्वल्प हा प्रकट होता है ।

मानव चेतना के विकास से सम्बन्धित कुछ मूल प्रश्न

मानव चेतना व विनाम का निहाम बुद्ध मूर्धन प्रन्ना स आरम्भ हाता है । व प्रन् है मृष्टि की उत्पत्ति का क्या कारण है ? जड और चदन का क्या भेद है ? विश्व और जीवन की उत्पत्ति किम है ? चेतना म भीतिव तन्त्रा का उत्पत्ति है या भीतिव तत्त्वा स चेतना की उत्पत्ति है ? यह जगत क्या है ? हमरा मर्णा कौन है ? जाव क्या है और जरा मर्णा व भय म प्राण पाने का उपाय क्या है ? न्त मवक कारणों का जा कारण है उम प्रयण करने की क्या युक्ति है ? य कुछ एम गात्रन प्रन् है जा विररा स मानव चेतना को आलोचित करन आए हैं तथा उनन मन्त्रिन् वाग् मनीषिया व आत्म मथन व विषय बनत रहैं । एहा प्रन्ना व उत्तर म मानव तान विनाम का उन्ध हुआ है । एसी प्रकार की तन्त्रामात्रा व ऊहावा का नाम दान है और न्त उन्त्रा व अन्तिम उत्तरा का ही उपनिषद कय गया है । मृष्टि की उत्पत्ति और विनाम व कारणों का अवपण करना तथा उन कारणों का प्रयण करान वाग् माधना का उपयाग करना ही वगन्तन्त्रा व उन्मय रूप है ।

ओपनिषत्वि तान की तान वाग्या है—जामान विवन्तान और ब्रह्मन्तान । हम

सबसे पहले आत्म-ज्ञान का आलोक लिया गया है। क्योंकि आत्म-ज्ञान से ही विद्व-ज्ञान और विद्व-दान में ही ब्रह्म-दान सम्भव है। उपनिषद् में ज्ञान की ये तीन परिणतियाँ अपने स्वाभाविक रूप में प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि ज्योत्स्नाविद्या के ज्ञानमार्ग में सबसे पहले उत्तम पुरुष ज्ञात हैं। कौन हूँ, को जानने की चेष्टा की थी और अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह आसवाध हुआ और ज्ञान उद्भूत हो गया। पुरुष ज्ञात हुआ तो जानने का प्रयत्न किया। तत्त्वमसि अर्थात् तुम भी वही हो ऐसा ज्ञान के उपरांत अथ पुरुष का ज्ञान की जिज्ञासा प्रवृत्ति हुई। और उद्भूत अनुभव किया कि मैं तत्त्वमसि ब्रह्म अर्थात् मैं माया विद्व-ज्ञान ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार मानव ने अपने आन्तरिक और बाह्य ज्ञान को जान लने के बाद आत्मा और परमात्मा की अनुभूति प्राप्त की। आत्म-बाध के द्वारा विद्व-बाध और विद्व-बाध के द्वारा परमात्म-बाध की प्राप्ति की। उभय मृष्टि के अणु अणु में व्याप्त विद्व-आत्मा के तत्त्व-दान विद्य-आत्मा उसकी अनन्त मृज्ज-गति तथा उत्तम अलौकिक मातृरूप का साक्षात्कार किया। यह मानव चेतना की उद्भूत उद्दी-विजय थी, क्योंकि मानव चेतना को दाना सर्वात्म्य उपर्य-पर उभय गम्यता सम्पत्ति प्राप्त, विज्ञान धर्म ज्ञान ज्ञान को ज्ञानी ज्ञानी विज्ञान विचार सम्पत्ति का उद्भव और निराम हुआ है।

मानव चेतना का स्वरूप

मनुष्य का आविर्भाव (Advent) और जन्म (Evolution) क्या और कब हुआ, यह विद्यात्मक विषय है। किन्तु उस क्षण का महत्त्व मानव जीवन के इतिहास में एक चमत्कारपूर्ण अविस्मरणीय घटना है जो उसने पहली बार उस जगत जगत का प्रकृति के नाना रूप और व्यापार को देखा और अपने आपको उस विराट् सत्ता के अविनाशी स्वरूप में सह-गुणित पाया। किन्तु मानव प्राकृतिक तत्त्वा के भीषण परिचय प्रत्यापन का देय कर भय और विस्मय की प्रतिरक्षा में मानव चित्त और मानव विचार का जन्मदाना बना होगा। ये समस्त तत्त्व विमल रूप हैं? ये समस्त शक्तियाँ क्या हैं? ये सभी विमल इतिहास पर तात्त्विकतः स्तब्ध हैं? हम अनन्त प्रश्न उभय किन्तु मानव के आत्म-मन चित्त के विषय बनते रहें होंगे और वह उन ममादान को जान के किन्तु हजारा हजारा वर्षों तक मोक्षता विचारता रहा होगा।

पदार्थ विद्व-चेतना का सक्रिय रूप है

आज का मानव पृथ्वी की किन्तु-अवस्था में उद्भूत जाग चला आया है। नवास्तित पृथ्वी के उस धापाकुल वातावरण में तत्त्वा के उस तात्त्विकतः सत्त्व में वह व्यवहार्य अपरिचित है फिर भी ज्ञान, विज्ञान और ज्ञानिक उपर्य-धिया के द्वारा आज उस विद्व-चेतना का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उसने मूल में ज्ञान विराट् रूप का परिचय पा लिया है। आज पदार्थ उसने किन्तु को पहली बार उपस्थित नष्ट है क्योंकि उस पदार्थ का स्वरूप ज्ञात है। वह जानता है कि पदार्थ अविनाश है अनादि है और अनन्त है। वह वक्ता

परिवर्तनीयता व कारण नाना रूपा में परिवर्तित किया जा सकता है। उमड़ा घाय नहीं होता मान रूपांतर होता है।

पदार्थ (Matter) गति और त्रियाहीन भी नहीं है। वह सक् ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर सक्रिय है। वह प्रत्येक क्षण अनाद्य रूप से नवीन मृज्जन में सम्मिलित है और हम प्रकार जीवन की प्रगति या कारण है। पदार्थ विश्व चेतना का सक्रिय रूप है।

पदार्थ-चेतना और जीवन की संपृक्तता

विज्ञान व अनुसार पदार्थ और जीवन संपृक्त हैं। दोनों का साथ ही अभ्युत्पन्न हुआ है। कुछ वैज्ञानिक दार्शनिकों के अनुसार जीवन पदार्थ का ही गुण है। वे दोनों अविभाज्य हैं। बृहत् नक्षत्रों से उत्पन्न सूक्ष्मतम अणु तक सभी सचेतन और सक्रिय हैं। नवीनतम अणु अनुसंधानों से पता हुआ है कि इलेक्ट्रॉन वास्तव में कोई भौतिक इकाई नहीं है। वह केवल एक विद्युत पद है जो गतिमान है और ऊर्जा शक्ति भी रखता है। अणु की यही इच्छा किन्ति वैज्ञानिकों को उत्पन्न में डाल देनी है क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भौतिक पदार्थ (Inorganic matter) में इच्छा या चेतना का होना असम्भव है। उनकी दृष्टि में यह इच्छा किन्ति तो केवल जाव पदार्थ (Organic) में ही होनी चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनी भौतिक मापनामा की सीमा में इस इच्छा तत्त्व को असंगत समझते हैं कि यह चेतना ही वास्तव में विश्व चेतना का प्रतिरूप है। मानव-द्वारा भी किसी पदार्थ को चेतना विहीन नहीं मानता। यह असंभव नहीं और पुरुष भी जो इस अनन्त श्रीराम चेतना व प्रतिविम्ब मात्र हैं किसी निष्क्रिय पदार्थ से नहीं बनते। प्रसिद्ध दार्शनिक बगसा की धारणा है कि चेतन-तत्त्व से जीवन का अभ्युत्पन्न होता है। पदार्थ (Matter) में ही जावन की इच्छा निहित है। यह इच्छा किन्ति बाह्य नहीं आंतरिक है। निरन्तर उच्चमत्वा है। मनुष्य में यही इच्छा चेतना के स्तर पर पहुँच गई है। सभी रूप आकारों में यही इच्छा प्रगतिशील जावन की जननी है। यही ब्रह्म का मातृरूप है।

नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिणामस्वरूप अनन्तरिक्ष (Space) में ब्रह्म (Cosmic) किन्ति की शक्ति न प्रवर्तित का पता चला है। उनसे यह सिद्ध होता है कि विश्व में असीम सक्रियता है और वह अणु-अणु और कण-कण में पुनर्जित हो रही है। मानव जगत की ता बाध ही क्या बनस्पति जगत में भी सृष्टि की यह अद्भुत श्रीराम दृष्टिगत होती है। प्रकृति किम तत्त्व पूरा में रंग गंध आकषण भरकर भ्रमरा की आकर्षित करती है ताकि सृष्टि के लिए आवश्यक पशु परिवर्तन नियमित रूप से होना रहे और अनन्त मृज्जन किया आग बढ़ता रहे।

सृजन आनन्द सृष्टि का प्रेरक तत्त्व

जीव-जगत में यही मृज्जन किया उच्चतर चेतन स्तर पर है। अनुकूल श्रुति के आगमन के साथ ही जीवों में नया रक्त प्रवाह होने लगता है। सहवास-मुख की इच्छा तीव्र हो उठती है और विषम शिरो प्राणी सृष्टि की जाड़ा में रत हो जाते हैं। मानव-जगत में भी सृष्टि की यही अविरल जाड़ा यही किन्ति आकर्षण मात्र गुण और प्रेम-व्यापार के अन्तर्गत अपना

काय करती जाती है और उम्र अपनी उपस्थिति का मान तक भी नहीं होने देती है। इससे स्पष्ट है कि मानव अनुभूति में मृजन का आनन्द जीवन का सर्वोत्तम आनन्द है और यही मृष्टि का प्रत्यक्ष तत्त्व है।

विश्व-चेतना का मातृ रूप और सहार-रूप

विश्व चेतना मातृ रूप में जनित मृजन में सलग्न है। मृजनगील चेतना शक्ति अविनाशी है। जीवविज्ञान जीवन अकुरी व अध्ययन के आचार पर सिद्ध करता है कि जीवों में जीवन-तत्त्व का नाश नहीं होता। यह जीवन अकुरा व साथ ही पीढ़ी-दर पीढ़ी निरन्तर सन्निहित होता रहता है। फलतः जीवन और जाति शाश्वत और अनन्त हैं। हर नए अकुर में अतीत जीवन ग्रहण करता है।

विश्व चेतना का दूसरा रूप सहार का है। मृजन शक्ति में स्थलित तत्त्वों को यह चेतना समेटती चली है। जो मृष्ट होता चला है वह ऊँचमुखी होकर गहरा आता चला है और जो मृष्ट होता चला है वह अन्तमुखी होकर विश्व चेतना में विग्न होता चला है। धरती से उठते हुए अकुर आवाग की ओर बढ़ते चले हैं और गिरती हुई पत्तियों मिट्टी में विलीन होती जाती हैं। सभी तरफ अपने अपने विराट में लीन हो जाते हैं केवल चेतना रह जाती है। यह चेतना जीवन व भौतिक बाधन काल और स्थान से मुक्त रहती है। यह निरपेक्ष नवीन मृजन करने वाली चेतना अविरल अनासक्त और आकाशा रहित है। यही मृष्टि का और जीवन का मातृ रूप है यही ग्रह है समस्त जीवन इसी से गतिशील है।

सभी तत्त्व एक ही विराट् चेतना के स्वरूप हैं

सभी तत्त्व एक ही विराट् चेतना के विभिन्न रूप हैं यह सिद्ध करने में ध्यानियों को जो भी समय लगे किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस सत्य को ग्रहणानियों ने बहुत पढ़े ही आरम्भ-दृष्टि से देख लिया था। उन्होंने अपने अन्तर्मन में उस विराट् शक्ति अनन्त चेतना का आत्म साक्षात्कार कर लिया था। उस विराट् शक्ति उस अनन्त चेतना की जानने का मानदण्ड भौतिक नहीं आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति ही है। पदार्थ और जीवन की एकात्मता तथा ईश्वर जीव और जगत की अद्वैतता से बढ़कर दूसरा कोई विग्नित ज्ञान नहीं है। भौतिक तत्त्व और आदिमक जीवन-तत्त्व दोनों की स्थिति अद्वैत और संयुक्त है।

सृष्टि का कारण

श्रुतवद में मृष्टि के कारण पर प्रमाण डालते हुए कहा गया है कि तीन अनादि स्वयम्भू पण्यों अर्थात् परमेश्वर जीव और प्रकृति के संयोग में मृष्टि का आविर्भाव होता है।^१ ये ही तीन पणाय मृष्टि के उद्भव और विनाश के कारण हैं। परमात्मा ने अपनी ईक्षण शक्ति से प्रकृति में प्रेरणा का संचार किया। प्रेरणा से गति और गति से आकषण

१ ■ मृष्ट्यां सद्युक्ता सत्त्वाया समाना ब्रह्म परिवर्तयन्ते ।

तयोरेव पिप्पल स्वात्त्यनशननयो अभिचाकरोति ॥

उत्पन्न हुआ। आकषण से प्रगति परमाणुआ ने परस्पर मिश्रण रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति पत्ता की। वह स्थिति चत्राकार गति में घूमकर सघन हो गई और उसके चतुर्भुज आकाश उत्पन्न हो गया। उस रिक्त स्थान (आकाश) में वायु का समुद्र भर गया और वायु समुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ जिससे मधु वर्षा मक्षत्र पृथ्वी त्रि और रात उत्पन्न हुई। इस प्रकार जीवों का वन और परमेश्वर की 'याय' यवस्था ही इस सृष्टि के मुख्य कारण है।^१ वसत यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के मूल में ईश्वर गति प्ररणा आकषण और परस्पर सम्मिश्रण की मधुर भावना अनिहित है।

मयुनी सृष्टि का सूत्रपात

यह सृष्टि प्रजात्मा एक पुरुष के पारस्परिक दाम्पत्य अनुरजन का परिणाम है। ऋग्वेद में एक स्थल पर प्रजात्मा और पुरुष की इस अलौकिक प्रणय गीता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि अपने पति के प्रति प्रमासका अनिच्छ पत्नी की भाँति^२ अपना पति की प्रसन्नता तथा उसके आकषण के निमित्त जिस प्रकार कोई कामिनी अपने को सुन्दर शृंगारों द्वारा सुसज्जित किया करती है उसी प्रकार प्रजात्मा पुरुष को अनुरजित करती है।^३ ऋग्वेदिक अनेक मन्त्रों के अनुसार सारा जगत गति की रचना है। स्रष्टा ने विश्व निर्माण की इच्छा से अपने को ब्रह्म और गति इन दो रूपों में प्रकट किया और दोनों के संयोग से सृष्टि का आविर्भाव हुआ। ऋग्वेद के रात्रिमूक्त दवीमूक्त तथा श्रीमूक्त में तथा अथर्ववेद के ऋग्वेद स्थलो में देवी गति की भक्ति और पूजा का विकसित रूप मिलता है। यही गति ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ब्राह्मण और आरण्यक उपनिषद सरस्वती गायत्री और सावित्री के रूप में विश्व रचना करने वाली गति का गुणगान करते हैं। बौद्ध एक जन सम्प्रदायो में भी सावित्री की महिमा के बहुविध वर्णन मिलते हैं। पुराणा में भी देवी का प्रचलित है। अथाय देवा में भी गति मातृका का पूजा के प्रचर प्रमाण मिलते हैं। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खनई से प्राप्त देवी मूर्तियाँ तथा अन्य प्राचीन निबन्धों में गति का उल्लेख गति प्रतिमाएँ यह सिद्ध करती हैं कि गति प्राचीन काल में लेकर अद्यावधि सृष्टि की निर्मात्री के रूप में गति उपासना की एक प्रगस्त परम्परा रही है। चराचर विश्व का गति अन्त वही महागति है। उस महागति के बिना सब कुछ निष्क्रिय है। प्रतिक्षण उसी के विविध रूप निरूपण करते हैं जो चित्त-तत्त्व और गति-तत्त्व के मधुर-संयोग से प्रसूत हैं।

प्रजापति की सृष्टि रचना सम्बन्धी मूलप्रकृति की विवचना करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद के एक मन्त्र में कहा गया है कि वह रममाण नहा हुआ जैसे एकाकी पुरुष भी रममाण नहीं होता और उसने किसी दूसरे की इच्छा की। वह जिस प्रकार परस्पर-आलिंगित स्त्री-पुरुष होत हैं वस ही परिमाण वाग् हो गया और उसने अपनी दह को दो भागों में

१ ऋग्वेद १/१६/१२ १/१/३

यजुर्वेद ३१/४ ३१/६ ३१/ ३१/११ ३१/७।

२ पुरा मन्त्र शतमन्त्रों में भी इस भावना पवित्रुष्येव नारी।

—ऋग्वेद १/७३/३।

३ गति न पानीहानीरुपान् मृगानि इवा रममाण मनीषा।

—ऋग्वेद १/६२/११।

विभक्त कर गंगा जिसमें पति और पत्नी के ग रूप हा गए । फिर वही उस स्त्री में सगुन भी आ और इस प्रकार मानव जाति की मृष्टि हुई ।^१ इसी प्रकार प्रमत्त और जावा की मृष्टि व प्रमत्त उपस्थित किया गए है । वनापनिषद् में भी इस विचार का समर्थन मिलता है । ब्रह्म बिम्ब की एकमात्र सत्ता है । यही अपन-आपना पुरुष और प्रकृति में विभक्त कर लाता है । इस ही आत्म और अनात्म कहा गया है । आत्म सक्रिय है और अनात्म निष्क्रिय है । आत्म अनात्म का अधिष्ठान कर हा अपना विस्तार करता है । आत्म और अनात्म का यही मुख्य मधुर सयोग मृष्टि का रहस्य है । इसीलिए पुरुष का आत्म और नारी का अनात्म स्थापन किया गया है । पुरुष रूप आत्म स्व विस्तार के लिए अनात्मरूपा नारी व माहात्म्य का आधार है । दोनों व मधुर सयोग से ही स्व विस्तार का यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है । शून्यत्व भाव इसी जात्यात्मिक क्रिया का प्रतिबिम्ब है । स्त्रीणि कहा गया है कि वह एक में नहीं रहती । जन्मण पति और पत्नी रूप में उसमें अपन ग भेद कर लिए ।^२ श्रीमद् भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में प्रकृति और पुरुष व सयोग में समस्त जगत की उत्पत्ति बताते हुए श्रीकृष्ण भगवान् न बता है कि मेरी महत्त्व-ब्रह्मण मूलप्रकृति सम्पूर्ण भूता की यानि है अर्थात् सम्पूर्ण का स्थान है और मैं उस यानि में चलन मनुष्य रूप गम का स्थापन करता हूँ । उस जड़ चलन व सयोग में सब भूता की उत्पत्ति होता है । नाना प्रकार की सब यानिया में जितनी भूतिया अर्थात् गरीरधार प्राणी उत्पन्न होते हैं प्रकृति तो उन सबकी गम धारण करने वाला भाग है और मैं सब का स्थापन करने वाला पिता हूँ ।^३ मत्त्वगुण रजागुण और तमागुण प्रकृति में उत्पन्न होत हैं और अविनाशी जावात्मा को गरीर में बाधत है ।^४ माय्यज्ञान व भा भिन्न गुण वाल पुरुष और प्रकृति के सयोग में ही मृष्टि की स्थिति मानी है । पुरुष समस्त पदार्थों में निद्यमान रहता हुआ भा अल्प है । पुरुष प्रकृति में गता अनात्मन रहता है पर प्रकृति अपनी प्रपञ्च रचना द्वारा पुरुष का निय ही बाधन में आने का प्रयत्न करती है ।^५

१ 'सर्वं सर्वं रसं तस्मात्प्राची नररमन म द्वितीयमच्छद् । म हगवानाम तथा स्त्रीपुर्मां परिप्लवत् ॥ रममवात्मान देवापातवत्त पतिश्च पत्नी चा भवति—समभवत्ततो मनुष्या भवत्त ॥'

—बृहदारण्यकोपनिषद् अ १, ब्रा ४, म० १ ।

२ 'प्राची नारमत आत्मान दधा, स्वभवत् पतिश्च पत्नीचामभवत् ॥'

—वेणोपनिषद् ।

३ मम वाणिमहत्त तस्मिन्गर्भे दधाम्यहम् ।
समस्तं सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ॥
मय्योनिषु बान्धेय मूलय ममवति वा ।
तामां ह्य मय्योनिर्ह वीजप्रत् पिता ॥४॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १४वें अध्याय ।

४ सर्वं रजसम रति गुण्य प्रहृतिमम्भवा ।
निष्पन्नति महाबाहो ह्ये दिनमवयम् ॥५॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, १४वें अध्याय ।

५ जटभ्यावृतो जगत् प्रकाशयति चिदप ।

—मार्कण्डेय, अ ३ स० १ ।

एव घर्मा म प्रचलित हैं। मृष्टि का मूत्रपात मूत्रत मयुना ही है। आत्म' और इम मधुर संयोग से मृष्टि रचना के मूत्रपात जान को क्या भी उपयोग तथ्य को मित्र करती है। इम न आत्म को फूट या फूट दिया और जाना न मित्र कर उमका रसास्वादन दिया और इस प्रकार दोनों दाम्पत्य स्नेह मूत्र म आवद्ध हानर मृष्टि रचना म सम्मन हुए। इस प्रकार इम क्या से भी मयुनी मृष्टि के मूत्रपात होने की बात ही सिद्ध होती है क्योंकि फूट फूट इम के कोमल या पूषण यौवन का प्रतीक है और जाना का परस्पर उमका रसास्वादन करना दाम्पत्य सभोग मुख का ही परिचायक है।¹ यहाँ सिर्फ उक्त मयुनी 'यापार' के उत्पत्तीकरण कर दिया गया है ताकि उससे अज्ञानता की भाव न आ सके। वस्तुतः अपने यथाय रूप म यह नर और नारी का परस्पर जाकपणनय सभोग-मुख ही है। काइ भी मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सजना कि प्रेम ईश्वर और नैतिक प्रेम दोनों की विधिया समान ही होती हैं तथा घम और काम की सामान्य और असामान्य दशाएँ एक दूसरे से बहुत अधिक मिली जुली होती हैं।²

जापानी शिंतोधर्म के अनुयायियों के अनुसार मृष्टि रचना का आरम्भ 'जानामी' और 'जानामी' को देवताओं के संयोग से हुआ। जानामाराजिमा नामक टापू पर दोन देवताओं ने आठ फथम का गृह निर्माण किया जिसके मध्य म एक विनाश स्तम्भ बनवाया गया। तब इजानागा (पुरुष) ने इजानामी (स्त्री) से पूछा कि तुम्हारा शरीर किस प्रकार निर्मित है? तब इजानामी ने कहा कि मेरा शरीर पूरा पूरा बन चुका है बस केवल एक अंग ऐसा है जो अतिरिक्त या व्यर्थ सा लगता है। 'जानामी' ने उत्तर दिया यह ठीक है। तत्पश्चात् 'जानामी' ने इजानामी से कहा 'जाओ तुम और मैं दोनों ही हम द्विव्य एवं विनाश स्तम्भ की परिणाम कर और इसका दूसरी ओर जानकर पति पत्नी बन जाए। इजानामी के सहमत होने पर 'जानामी' ने कहा 'तुम बायाँ ओर से घूमो और मैं दायी ओर से घूमूँगी। जब वे 'जाना स्तम्भ' की परिणाम करत हुए एक-दूसरे में सहमा मिले तो इजानामी ने उत्सवपूर्वक कहा 'क्या न जानने की बात है! मुझे एक सन्तान पुत्रक मिलेगा'।

1 The apple given by Eve to Adam is the symbol of her virginity. The mutual eating symbolizes the conjugal relation. In the Aztec form of this myth she presents him a rose that is the flower of her virginity which they smell together. In dreams and myths eating or smelling can by displacement refer to the sexual act. The gross literalness is thus idealized and rendered less offensive.

—Religion And the New Psychology by Swisher P. 7

2 No psychologist can fail to see that love of God and the libido have the same mechanisms and that religions and sex normality and abnormality are very closely connected.

—Stanley Hall

गया। 'तत्र इजानागी न भी क्या क्या ही जान-की जान है। मुझे एवं मन्दर युवनी मित्र गर्त।' और हम प्रकार मयुना मृष्टि का सूत्रपान आया।

निष्पन्न हिन्दू मुम्मान आर्मा आनि जानिया व धम प्रया व अनुसार मृष्टि रचना व क्या प्रसंगा म विमान किसी आनि म्त्री और पुरप के सम्पत्य भाव जय पार स्पष्टि सभागच्छा मयाग-मुख का हा चचा मित्रती है। इस प्रकार जानि पुष्प जीर जादि नारी का यही परम्पर महजाकपण, मयागच्छा और सभाग-मुख मधुर रस व सूत्रम उपानान हैं।

तत्तिरीयोपनिषद म कहा गया है कि आन-ही ब्रह्म है अथानि आन-म ही य मारे प्राणी —प न हने है, उत्पन्न हुए आन-व आश्रय म जात हैं जीर अतत आन-स्वरूप म ही लीन हा जान हैं। आन-द-स्वरूप एवं ब्रह्म है और वनी मवकी अनिम सीमा है। माराग यह है कि प्राणिया की उत्पत्ति स्थिति और प्रत्यम आन-स्वरूप ब्रह्म ही मुख्य कारण है। जो पुष्प स्वरूप ब्रह्म है वही मृष्टि का हनु रस-मुख आन-प्रान बनर वाग है। इस रस को पातर पुष्प आन-हा जाता है यह रस मवका आनि-न करता है।^१ बृहदारण्यकोपनिषद् म ना महा तव कहा गया है कि हम आन-व अमात्र व आश्रय म ही ममस्त प्राणी जानि रहत हैं। आन-अभयत्व अत और नित्य है। लौकिक क्षत्र म नर और नारी तथा पागमायिक क्षत्र म आत्मा और परमात्मा की ब्रह्मावस्था म ही हम आन-की अनुभूति होनी है। श्रीमद्गीता आत्मा और परमात्मा व मित्रन जय महामुल को बतलान व लिए नर-नारी व ममोग-मुख का दृष्टान्त दिया गया है क्योंकि सामारिक सुखा म काम मव सर्वोपरि माना गया है। इसमें स्पष्ट है कि मृष्टि व मूल म मयागच्छा मयाग-मुख और आन-की भावना सनिहित है। आन-हम ही जावन का चरम लक्ष्य है, जा दा व मम्मि लन अथान जन्तानुभूति म नी मभव है।

पिछ-पृष्ठा म पण्य चतना एवं जीवन-तत्त्व की संपूर्णता पर विचार करत हुए यह स्पष्ट करन की चप्पा की गर्त है कि मृजन अथवा स्व विम्वार का आन-ही मृष्टि का प्ररव तत्त्व है। सभी तत्त्व एवं ही विराट चतना के विभिन्न रूप हैं एवं सभी मधुर प्रमा वपण के कोम-तन्तु म जावढ हैं। मृष्टि व मूल म स्मरण गति प्ररणा आकपण और परस्पर सम्मिग्न की मधुरावाता सनिहित है। यह मृष्टि प्रमात्मा एवं पुष्प व दाम्पय अनुरजन का परिणाम है अथात् आत्मरूप पुष्प और अनात्मरूपा नागे का सुख-समोग ही मृष्टि का रहस्य है। हम प्रकार मृष्टि का सूत्रपान मूलन मयुनी ही है और जगत् व ममस्त

1 The comparative study of Religions by Alban G W Widgery

Pp 101 102

निहार राष्ट्रभाषा-परिषद् की परिषद् बत्रिका अर्धत १९६१ ई०, पृ० ४६ पृष्ठ ४७।

२ 'आन-ही महति अयानान्। आन-गद येव अविमानि भूतानि जाय ने। आन-तेन नाशानि जीवति। आन-प्रय-स्वभिसविरा तीनि।

—तत्तिरीयोपनिषद्, भृगुबल्ली, पण्डो-नुबाव।

३ यद्बैतमृत्तम्। रमो है म। रमो होवाय सम्मान-दी अवनि की बा-य-रू प्रावयात्।

—तैत्तिरी, ब्रह्मसूत्र-बल्ली, स-तमो-नुबाव ॥

इस प्रकार पुरुष और स्त्री के मध्यम द्वारा सृष्टि रचना विषयन मिटाने सभी देशों एवं घमा में प्रचलित हैं। सृष्टि का सूत्रपात सूत्रत मयनी ही है। आत्म और इन्द्र मधुर मयों से सृष्टि रचना के सूत्रपात हान की क्या भी उपयोग तथ्य की मिट करती है। इन्द्र ने आत्म को फल या फूल दिया और पाना ने मित्रर उमरा रसास्वादन किया और इस प्रकार दोनों दाम्पत्य स्नह मूल में आबद्ध होकर सृष्टि रचना में लागत हुए। इस प्रकार इस कथा से भी मयनी सृष्टि के सूत्रपात हान की बात ही सिद्ध होती है क्योंकि फल या फूल इन्द्र के वीर्या या पूषण जीवन का प्रतीक है और पाना का परस्पर उमरा रसास्वादन करना दाम्पत्य-समोग मूल का ही परिचायक है।¹ यहाँ सिर्फ उक्त मयनी व्यापार के उदात्तीकरण कर दिया गया है ताकि उसमें अजीवता की संशय न आ सके। वस्तुतः अपने वीर्या रूप में यह नर और नारी का परस्पर आकषणनय समोग-मूल ही है। कर्म और मनोवचनानिक इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रेम ईश्वर और लौकिक प्रेम दोनों की विधियाँ समान ही होती हैं तथा धर्म और काम की सामान्य और असामान्य देगाएँ एक दूसरे में बहुत अधिक मिली-जुली होती हैं।²

जापानी गितोथम के अनुयायियों के अनुसार सृष्टि रचना का आरम्भ रजानामी और इजानामी के देवताओं के संयोग से हुआ। रजानामीरजिमा नामक टापू पर दोन देवताओं ने जाठ पथम का गुह निर्माण किया जिसके मध्य में एक विगाह स्तम्भ बनवाया गया। तब इजानामी (पुरुष) ने इजानामी (स्त्री) से पूछा कि तुम्हारा शरीर किस प्रकार निर्मित है? तब रजानामी ने कहा कि मेरा शरीर पूरा-पूरा बन चुका है जिसका सब एक जग एमा है जो अतिरिक्त या व्यर्थ सा लगता है। इजानामी ने उत्तर दिया कि ठीक है। तदनंतर रजानामी ने रजानामी से कहा जाओ तुम और मैं दोनों ही हम निश्चय एक विगाह स्तम्भ की परिणमा कर और इसकी दूसरी ओर जाकर पति पत्नी बन जाएँ। रजानामी के महमत होने पर रजानामी ने कहा तुम बायाँ ओर में घूमा और मैं दायाँ ओर से घूमा। जब वे पाना स्तम्भ की परिणमा करत हुए एक-दूसरे में सहमा मिले तो इजानामी ने उत्तमपूर्वक कहा क्या मैं जानने की बात है। मुझ एक मात्र युवक मित्र

1 The apple given by Eve to Adam is the symbol of her virginity. The mutual eating symbolizes the conjugal relation. In the Aztec form of this myth she presents him a rose that is the flower of her virginity which they smell together. In dreams and myths eating or smelling can by displacement refer to the sexual act. The gross literalness is thus idealized and rendered less offensive.

गया।' तब इजानागी न भी कहा क्या भी आनन्द की बात है। मुझ एवं सुन्दर युवती मित्र गई।^१ और इस प्रकार मयनी मृष्टि का सूत्रपात हुआ।

निष्पन्न हिन्दू मुसलमान इत्यादि जाति जानिया व धर्म ग्रन्थों के अनुसार मृष्टि रचना व कथा प्रसंगा में विमोचन विभी आन्ति स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य भाव जय पात्र स्पष्टि सभागच्छा मयोग-मुख का ही चर्चा मिलता है। इस प्रकार आन्ति पुरुष और जाति नारी का यहाँ परस्पर सहजापण सयामेच्छा और सभाग-मुक्त मधुर रस व सूत्रम उपादान है।

तत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'आनन्द' ही ब्रह्म है क्योंकि आनन्द में ही मैं मारे प्राणी 'मैं' रहान हैं उत्पन्न हुए आनन्द व आश्रय में जाते हैं और अन्त आनन्द स्वरूप में ही लान हा जाते हैं। आनन्द-स्वरूप एक ब्रह्म है और वही मयनी अन्तिम सीमा है। माराण यह है कि प्राणिया का उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही मुख्य कारण है। 'मैं' पुरुष-स्वरूप ब्रह्म हूँ वही तृप्ति का हनु रस-मुक्त आनन्द प्राप्त करन वांछ है। इस रस को पात्र पुरुष आनन्द हा जाता है यह रस मयनी आनन्द करता है।^२ वृत्तारण्यकोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'मैं' आनन्द व 'जामात्र' व आश्रय में हा ममत्त प्राणी जावित रहत है। आनन्द अभयव अन्त और नित्य है। 'नैतिक' क्षेत्र में नर और नारी तथा पारमार्थिक क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा की अद्वयावस्था में ही 'मैं' आनन्द की अनुभूति होती है। 'मीटिंग' आत्मा और परमात्मा व 'मिशन' जय महासुख का बनगन व 'मिशन' नर-नारा व 'मभोग-मुख' का हृत्पान्त स्थिया गया है क्योंकि सामारिक सुखा में काम मुक्त सर्वोपरि माना गया है। इसमें स्पष्ट है कि मृष्टि व मूल में मयागच्छा मयाग सुख और आनन्द की भावना मनिहित है। 'आनन्द-स्थान' ही जावन का चरम लक्ष्य है जो दो के मम्मि एन अथान अद्वैतानुभूति में भी सम्भव है।

पिछत पृष्ठा में पनाय चनना एवं जीवन-तत्त्व का समुक्लना पर विचार करत हुए यह स्पष्ट करने की चर्चा की गई है कि मृजत अथवा स्व विस्मर का आनन्द ही मृष्टि का प्रकृत तत्त्व है। मयनी तत्त्व एन ही त्रिराट चाना के विभिन्न रूप है एवं मयनी मधुर प्रमा कपण के कोमल तत्त्व में आवद्ध हैं। मृष्टि व मूल में 'मिशन' गविन प्ररणा आकषण और परस्पर सम्मिशन की मधुराकाया सनिहित है। यह मृष्टि प्रमात्मा एवं पुरुष के दाम्पत्य अनुरजन का परिणाम है अथवा आमरूप पुरुष और अनात्मरूपा नारी का सुख सयोग ही मृष्टि का रहस्य है। 'मैं' प्रकार मृष्टि का सूत्रपात मूत्र मयुना हा है और जगत व ममत्त

1 The comparative study of Religions by Alban G W Widgery

Pp 101 102

विहार राधूभाषा परिषद् की परिषद् पत्रिका अ ल १९९१ ई पृ ४२ दफ्तव्य।

२ 'आनन्दो भक्षति भवतानाम्। आनन्दाद्भव गतिमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जायानि जीवन्ति। आनन्दं प्रथममभिभवति तीति।

—तत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्की, चण्डो-नुवाक।

३ यद्वैतमुक्तम्। रसो वै म। रसो बोवाय लम्बान-दी मयनि को हा वासरक प्रायवात्।

—नैचिरी, मद्यान-वल्की, सयमो-नुवाक।

पदार्थों का कारण आधार जीव जगत् ही है। यही जानकर मधुर रस का जन्माद्य है। मधुनी मृष्टि के मृत्रपात ही हम सत्तात्त्विक चक्र के बाह्य अथवा मधुर रस के विषयात्मक परमात्मा तथा आश्रयात्मक जीवात्मा के स्वरूप जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध तथा दाना के तात्त्विक जय मधुरारवि या जीव विज्ञान की दार्शनिक धृष्टभूमि पर जाग विचार किया जा रहा है।

दशनशास्त्र के दो रूप और चार सस्थान

गणितिक पदार्थों के दो वर्ग हैं—जड़ और चेतन। यह दृष्टि गणितिकत्व और चित्तिकत्व भी कहा गया है। जड़ पदार्थ या गणितिकत्व के निर्णायक शास्त्र को विज्ञान की संज्ञा दी गई है तथा चेतन या चित्तिकत्व के निर्णायक शास्त्र का दान कहा गया है। दानशास्त्र के दो रूप मान गए हैं—वन्त्रि और अवन्त्रि। नम म प्रत्यक्ष के ईश्वरवादी और अनैश्वरवादी दो उपभेद स्वीकार किये गए हैं। इनके आधार पर सामान्यतः दानशास्त्र के चार सस्थान निर्धारित हुए हैं—ईश्वरवादी वन्त्रि दान अनैश्वरवादी वन्त्रि दान ईश्वरवादी अवन्त्रि दान और अनैश्वरवादी अवन्त्रि दान।

ईश्वरवादी वन्त्रि दान में वेदांत दान प्रमुख है। निगण या निर्विण्य ब्रह्मवाद और सगुण या सविण्य ब्रह्मवाद इसका दो विभाग मान्य है। निगण या निर्विण्य ब्रह्मवाद को अद्वैत दान कहा गया है। सगुण या सविण्य ब्रह्मवाद की पांच कोटियां हैं जिनका सम्बन्ध पञ्चोपासना के पञ्चतन्त्र—विष्णु शिव गणेश सूर्य और गणेश म है। इससे ही विष्णु दान शिव दान गणेश दान सूर्य दान और गणेश दान का आविर्भाव हुआ है। विष्णु परक ब्रह्मवाद के चार प्रमुख दार्शनिक विभाग हैं—विशिष्टान्तवाद गुडान्तवाद शून्यान्तवाद और द्वैतवाद। इसी तरह जय देवा म सम्प्रति ब्रह्मवाद के भी अन्तर्गत परक दार्शनिक उपभेद प्रचलित हैं।

ब्रह्म जीव एवं जगत् के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध के निर्धारण के लिए ही भारतीय तत्त्वज्ञान के विभिन्न मतों की अवतारणा हुई है जिनके आधार पर विभिन्न भारतीय धर्म माधन्याग प्रणिष्टित हैं। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र म वर्णित ब्रह्म जीव और जगत् के स्वरूप और उनके प्रकृत सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से मनीषियों ने अनेक ब्रह्मसूत्र भाष्य का प्रणयन किया है जिनमें गङ्गाकाव्य का ब्रह्मसूत्रभाष्य रामानुजा काव्य का श्रीभाष्य निम्बार्काकाव्य का बाल्लभारिजान मौर्यभाष्य मध्वाकाव्य का पूषप्रज्ञाभाष्य तथा वल्मभाष्य का अणुभाष्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान जाते हैं। उपयुक्त आचार्यों ने अपन-अपन भाष्य द्वारा म ब्रह्म और जीव के स्वरूप और उनके प्रकृत सम्बन्ध के निरूपण के लिए ब्रह्म अन्तर्वाद विशिष्टान्तवाद शून्यान्तवाद द्वैतवाद और गुडान्तवाद दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की है।

मधुर रस के दार्शनिक विश्लेषण के लिए उगव मायिकत्व और साधन तत्त्व की दार्शनिक भीमामा करना परमावश्यक है। मायिकत्व के जनन परमात्मा जीवात्मा और जगत् के तात्त्विक स्वरूप विचारणीय हैं तथा साधन तत्त्व के अतगत परमात्मा और जीवात्मा उपास्य और उपासक सवर्गस्तिमान और उनका गणितिक पारस्परिक मधुर प्रेम सम्बन्ध विवेक्य है। अतः हम प्रकरण म सर्वप्रथम उन अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों

का मणिपत्र विवचन किया जा रहा है जिनका अनुसार विभिन्न धर्म-साधनाओं का मनापिया न अन्त के मध्य भाविन द्वंद्व की कल्पना की है और उसका आधार पर परमात्मा और जीवात्मा उपाम्य और उपामन सवाकितमान और उनकी गतिधारा का स्वरूप और उनके एकात्म भाव का प्रतिपादन किया है। परमसत्ता और उनकी गतिधारा का एकात्म भाव को प्रदर्शित करने के लिए प्रायः योगी और पारम्परिक मधुर प्रेम-सम्बन्ध की अवतारणा की गई है जिसका आधार भावुक तन्त्र-वृत्ताओं द्वारा निरूपित प्रमत्तान का सिद्धान्त है जिस परम पुष्टपाय की मना दसर अत्यन्त मन्त्रवृत्त माना गया है। सामान्यतः किसी पन्थ का प्राप्ति करने की तीन व्यापार-रूपाएँ होती हैं—समस्त पहले पण्य का जानना, फिर उस प्राप्ति करने के लिए काम करना और अन्त में उममें मन रमाना। पन्थ के तात्त्विक स्वरूप का जान बिना उमका प्रति प्रतापित हा हा नहा मरनी। प्रतीति के लिए कुछ कर्मों का सम्पादन अपर्यय है और मन रमान के लिए उमका साथ रागा-मन सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता होती है। मधुर रस का उपयुक्त शान्ति पन्थ का यही तात्पर्य है।

ब्रह्म भावना के मूल में अदृष्ट शक्तियों की कल्पना

ब्रह्म भावना का मूल में मनुष्य द्वारा अदृष्ट शक्तियों की कल्पना ही है। जिस प्रकार मनुष्य की भोजन तथा कामवासना में सम्बन्धित क्षुधाएँ यह मिथ करती हैं कि उनकी पूर्ति या पूति करने वाले पन्थों का मता है उसी प्रकार मनुष्य के भानर किसी की उपासना करने की जरूरत यह मिथ करती है कि वह उपास्य मता या अदृष्ट शक्ति या देवता है। उपासना मनी का शान्तिना व मत्तानुसार मानव सम्मता का आरम्भ में मनुष्य न भय और विस्मयवर्ण अदृष्ट शक्तियों के अनेक रूपा का कल्पना की। प्राकृतिक पन्थों की मृज्ज एव महारवारी शक्तियों का स्वरूप उगन उसमें देवत्व की उदभासना की और उह प्रसाद एव मन्त्र करन के लिए उपासना का विविध विधियाँ का स्थिर किया। हिन्दु आधुनिक नृत्तत्वशास्त्रियों का मतानुसार यह धारणा शान्तिमूलक है। आग्नि जानिया के ऐतिहासिक अध्ययन तथा उपरान्त तत्त्वा का अनुगमन से यह स्पष्टत मान लिया गया है कि भयमूलक रूपा की कल्पना मानव-सम्मता का आग्नि-युग की दन नहा अपितु मध्ययुग की दन है। प्रागैतिहासिक युग की चित्रित दीवांग गुफाओं आग्नि का मूल अध्ययन से नृत्तत्व वृत्ताओं न आग्नि मानव द्वारा रूप का मृष्टि का दा शान्ति वृत्ताएँ हैं। पहला कारण है चित्रित वस्तु की वृद्धि का विचार तथा दूसरा कारण है उमका ऊपर अधिकार भावना। प्रागैतिहासिक चित्रणा में मृज्ज दुधार पशुओं हर्षिओं घाटा वारिया आग्नि कामनाजू घरेलू पशुओं का चित्र मिलन है। उम प्रकार का रूप-मृष्टि का तात्रिक मृष्टि (Magical creation) की सना दी गई है। यही तात्रिक-मृष्टि मनुष्य की आग्नि मानव-मृष्टि कही गई है।

धीरे धीरे मानव न एव एमी गृह्यमय अनुमनीय शक्ति का अनुभव किया जा उसकी तात्रिक मृष्टि में बाधा उत्पन्न करनेवाली प्रतीति हुई। वह उमका पशु घन का नाग कर मरना यी महामारी पन्थ मरता था जोधी तूफान गकर उमके बाधाधर्म का वर्णन कर

सकती थी। अतः अब उसे यह भी अनुभव होने लगा कि केवल वस्तुआ के चित्र बनाने से न तो उनकी वृद्धि ही हो सकती है और न उन पर उसका अधिकार ही हो सकता है। सम्यता की जय-यात्रा भेद-भेद पर उसे एक अलस गति की भयकरता सम्यगतिमत्ता एवं अनेकरूपता का अनुभव होने लगा। आदिमानव ने उसे सतुष्ट करन के लिए विविध पूजा-अर्चा का विधान किया। मानव सम्यता के इतिहास में भयभूलक रूप की मृष्टि का आरम्भ यही से होता है। 'नाना मनस्य न एक सावभौम' सबव्यापक अदृश्य शक्ति का अनुभव किया जो स्वयं सार की मृष्टि संरक्षण और संहार कर सकती है। सूर्य और चन्द्र उसी की प्रतीति से भासमान हैं। पवन उसी के इंगित पर अविराम चलता रहता है। विस्तृत धरती और विनाशक्याम वितान का भू-कारण वही है। उसी के सकेत पर महाकाल का परिवर्तन चक्र सतत चलता रहता है। वह महान शक्ति अनन्त है अखण्ड है अभेद है निस्सीम है व्यापक है वह ब्रह्म है।

अब मन्त्र बताया गया है कि परमेश्वर सब भूतों को और सब जिन विनिर्माणों को सब ओर से प्राप्त करके सत्य और अनादि स्वयम्भू आत्मा में भी अच्छी तरह प्रविष्ट है।^१ इन्द्र मित्र वरुण अग्नि सुषण विश्व गरुत्मान यम मातरिवर आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं।^२ वही आदित्य वायु ब्रह्म प्रजापति आदि नामों से अभिहित हुआ है। उसकी कोई सीमा नहीं है। वह कहीं से भी पकड़ में नहीं आ सकता। वही देव सधन व्याप्त है और सर्वान्तर में पशु से ही अधिष्ठित है। वह अनाय अछि तथा पाप रहित है। वह शक्ति स्वरूप गुड कवि मनीषी तथा स्वयंसिद्ध है। वही हमारा बन्ध पिता विधाना आदि सब-कुछ है। इसीलिए हम प्राप्ति करने हैं कि वह मोक्षमार्ग में हम पहुँचाए।^३

ब्रह्म भावना के तीन प्रकार

जैसे दुग्ध में घृत घाल रहा है वैसे ही विश्व के अणु-जगु में एक अलौकिक अनिवचनीय तथा अव्यय सत्ता परिलब्ध है। इसी चरम सत्ता की आत्मगत अनुभूति को ब्रह्म भावना की सत्ता दी गई है। आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक ब्रह्म भावना के ये तीन भेद बननाय गए हैं। आधिभौतिक ब्रह्म भावना के अन्तर्गत जड़ मृष्टि के पदार्थों को ब्रह्म रूप में ही समझा जाता है। इस प्रकार के जड़वाद दृष्टिकोण रखने वाले पदार्थों के आत्मन्तरिक सौन्दर्य के दान नहीं कर पाते। आधिभौतिक दार्शनिक अधःशक्तिमात्र में विश्वास करते हैं। ब्रह्म की आधिदैविक भावना के अन्तर्गत पदार्थ के ब्रह्म सौन्दर्य शीघ्र और शक्ति का दवीकरण करके उन्हें अनेक दवी शक्तियों के साकार समुच्चय रूप में उपस्थित किया जाता है। अतः ब्रह्म की आधिदैविक भावना भक्तिभाव पर आधारित है। आध्यात्मिक ब्रह्म भावना उपर्युक्त दोनों ब्रह्म भावनाओं से उत्पन्न है क्योंकि उभय ब्रह्म-सत्ता की अनुभूति निगुण निराकार और अनिवचनाय चरम सत्ता के रूप में होती है। हम स्थिति में साधक

१ यजुर्वेद ३२/११।

२ ऋग्वेद १/१६४/४६।

३ यजुर्वेद, ३२/१५ ३२/१ ४/१०।

सृष्टि के प्रत्यक्ष पन्थ में उस चरम सत्ता का साक्षात्कार होता है बिम्ब के कण-क्षण उस परम सौन्दर्य निधि और परमानन्द स्वरूप परमात्मा की मधुर आभानुभूति होती है।

ब्रह्म का रूप

भारतीय चिन्तन के इतिहास का देखने से यही पता होता है कि भागनाथ मनोविद्या में विद्याल सृष्टि को नाथ रूप में देखा और उसके कारण का ज्ञान में उन्होंने मारी के लगे दी। महा कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय वादमय आध्यात्मिक अन्वेषण का एक गोल इतिवृत्त है। ऊपर कहा जा चुका है कि निम्न प्रकार मनुष्य न एक सव्यव्यापक शक्तिमान अल्प महाशक्ति की चरम-मना का अनुभव किया और उसी का जगत का उससे नाना रूप और व्यापार का अन्तिम और अन्तः कारण माना। इस प्रकार समाप्त समस्त पन्थों का कारण का कारण उस महाशक्ति का ब्रह्म की सत्ता दी गई और उसने की विद्या का ब्रह्म विद्या कहा गया।

सामान्य ब्रह्म और ब्रह्मविद्या का ज्ञान का रूप विज्ञान है—धार्मिक और दार्शनिक। ब्रह्मविद्या का धार्मिक रूप मनुष्य की धार्मिक अवस्था उपामनापरक मनोवृत्ति का रेशम है। इस मनोवृत्ति में प्रेरित होकर मनुष्य न सव्यव्यापक और सव्यव्यक्तिमान विगट की एवमयम इस्वर का रूप में परिचिन्तित किया। 'इस्वर' का इस एवमय बाध का कारण मनुष्य न उस अपने में भिन्न माना तथा अनुभव किया कि इस्वर सव्यमय है दयालु है, अपने भक्ता का भयनाता और उद्धारकर्ता है। वह अगण गण पतिन-पावन और परम प्रेममय है। आत्मा जना की पुकार सुनकर नग पाव दीडन वाला है। वह दुष्का दलन-कृता तथा सज्जना का प्रतिपालन है। भक्ता और प्रमाजना के निकट ब्रह्म का ही रूप पूजन प्रकट होता है। इस्वर का इस एवमय-बाध का कारण मनुष्य का मन में यह तरणा भी प्रदमूल है कि समाप्त में जब जब धर्म की गति होती है तब-तब धर्म की स्थापना के लिए साधुआ का परिणाम एक दुष्का व दलन के लिए भूतन पर इस्वर का चरन होता है।^१ दुष्का भक्ता का लिए ब्रह्म का यही स्वरूप सर्वाधिक स्पष्टीय है तथा भक्ता का स्वभावानुसार पाँच प्रकार की भगवान विषयक रति अर्थात् गान्त स्वभाव की शांता रति शान्त्य-स्वभाव की प्रता रति, सत्य-स्वभाव की प्रययी रति सामान्य स्वभाव की अनुकम्पा रति और मधुर स्वभाव की वाता रति की उदभावना की गई है जिनमें इस्वर विषय प्रेम हान में वाता विषय रति मयप्रष्ट मानी गई है। यही भक्त जना का मयस्व रसरस मधुर रस है।

ब्रह्म और ब्रह्मविद्या को जानने का दूसरा रूप दार्शनिक है। दार्शनिक मनोवृत्ति में प्रेरित होकर मनुष्य न ब्रह्म को निराकार निगुण सव्यव्यापक सर्वानर्थाभी ज्ञान, अनन्त,

^१ महा यथा हि धर्मस्य गतिमिव हि भारत।

अमुपानमधर्मस्य तन्नामान् सृजामहे ॥३॥

परिशायाय च साधूनां दिनाशाय च दुष्कृताय।

धर्मसंस्थापनाय समवाप्तिं युग-युगे ॥४॥

अलण्ड एवं मन और वाणी के परे अनिवर्त्तनीय अन्त तत्त्व के रूप में स्वीकार किया तथा उससे दस्य-अदृश्य जड़ चेतन सबका ओत प्राण माना। इन्हीं दो माध्यमों का स्वरूप समार में अनेकानेक धम्मता और दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई है। धार्मिक मनावृत्ति की प्रधानता होने पर ब्रह्म के सगुण रूप का सर्वाधिक प्रथम न्याय जाना है तथा दार्शनिक मनोवृत्ति की प्रधानता होने पर ब्रह्म के निगुण निराकार सूक्ष्म रूप की तात्त्विक विवेचना का अत्यधिक महत्त्व मिलता है। आगे ब्रह्म के निगुण सगुण रूपों एवं उनका प्रतिपादन करने वाले प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

ब्रह्म का निगुण निर्विशेष रूप और अद्वैतवाद

सामान्यतः ब्रह्म के एक और अनेक दो रूप माने गए हैं। ब्रह्म के साकार एक रूप का सगुण तथा निराकार अनेक रूप को निगुण की संज्ञा दी गई है। प्रत्येक युग के अंतर्गत ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं ने ब्रह्म के निगुण और सगुण इन दो रूपों का अनुभव किया है। ब्रह्म का निगुण और निर्विशेष रूप मूलतः ज्ञानात्मक है मन वाणी के परे अगम और अगोचर है। ब्रह्म का यह निगुण निर्विशेष रूप बौद्धिक विवेचना का ही विषय हो सकता है। ब्रह्म के उस निस्सीम और अचिंत्य गुण प्रकाश रूप को अनुमान और तर्क के सहारे ही स्पष्ट किया जा सकता है। आत्मज्ञान और आत्मानुभव ही उसके जानने के साधन हैं।

निगुण ब्रह्म श्वेताश्वतरोपनिषद् में उस अन्तिम सब के एक विमर्श के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो समस्त भूतों में अंतर्हित है सब-बापी है सभी कर्मों का अधिष्ठाता है सबका माता है सबका चेतनता प्रदान करने वाला तथा निरुपाधि भी है।^१ इसीकी पुष्टि करते हुए गीता में कहा गया है कि वह मण्डूक इन्द्रिया व विषयों का जानने वाला है परन्तु वास्तव में सब ईश्वर स रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण पोषण करने वाला और निगुण होने पर भी गुणों का भाग्यन वाला है। वह अचर सत्त्व भूतों व बाह्य भीतर परिपूर्ण है और चर अचर रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होने से अविशेष है तथा अनि समाप और दूर में भी वही स्थित है।^२ श्वेताश्वतरोपनिषद् एवं ईशोवास्योपनिषद् में भी ब्रह्म के निगुण निर्विशेष रूप की अलौकिकता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि वह परमात्मा बिना शेष पर के ही सब से अलग है और ग्रहण करता है तथा बिना मंत्रों व दत्तों और बिना कर्मों के मुक्त है।^३ इनका ही मत है वह अज्ञान

१ 'कोऽयं सर्वभूतेषु गूढं सर्वत्रासीत् सर्वभूतानां तदा मा।

कामाध्यक्ष सर्वभूतानां विद्वान् मातुं यथा केवलो जगुः खर ॥११॥ — श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ. ६।

२ सर्वेन्द्रियगुणामास सर्वे विविचित्रम्।

अमकत सर्वभूतैव जगुः ख गुणमोक्त ॥१४॥

वन्दितश्च भूतानां मयः परमेश्वर च।

सूक्ष्मत्वात्पदवित्तैव दूरस्थ चानिह न तत् ॥१५॥

— श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १३।

३ अनापिप्राप्ते अवतो प्रतीति परस्वचक्षुः स ह्यात्म्य इह।

स वक्षि वयं न च तस्य निवृत्तिः तमादुरमयं पुरुषं महं तम् ॥

— श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१।

है और नहीं भी चलता है वह दूर भी है और समीप भी है वह इस सम्पूर्ण जगत के भीतर भी है और इस सबके बाहर भी है।^१ इस प्रकार अनेकानेक व्याघातात्मक उक्तियों के द्वारा निगुण ब्रह्म की अलोक्तिकता को सिद्ध किया गया है। यह विषय अपने आपमें अनन्त और बिनाल है। वेद उपनिषद् शास्त्र पुराण गाना दशन आदि अध्यात्म ग्रन्थों में चरम सत्ता या परम तत्त्व पर पर्याप्त विचार किया गया है जिनके परिणामस्वरूप अनेक दार्शनिक मतवाद प्रचलित हैं। जो सत् या परमतत्त्व को एक मानते हैं उन्हें एकत्ववादी और जो अनेक मानते हैं उन्हें अनन्तत्ववादी बहुत्ववादी या बहुत्ववादी कहा जाता है। अनेकत्ववादियों को ही द्वैतवादा कहते हैं। इससे भिन्न अद्वैतवादी 'सत्' को 'एक' या अनेक न मानकर उसे अगम अपोचर अचिन्त्य और अनिवचनीय मानते हैं। अद्वैत सत् का कोई सपमान नहीं हो सकता और न उसकी कोई सख्या हो सकती है। सत् कबीर के 'गंगा में यहू' है तो मही पर जमा का तत्ता है। इसी को सत् सुन्दरदास ने 'बोझ-अबोल के मध्य है सोई कहा है।

'अन्त सत् क्या है इसको लेकर अनेक तत्त्ववादों की उत्पत्ति हुई है। इसे शून्यवादी बौद्ध 'शून्य' विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान 'शून्य'वादी व्याकरण, स्फाटवादी शब्दशक्तिवादी शक्ति निवृत्तवादी निवृत्त और अद्वैत वेदाङ्गी आत्मा कहते हैं। हिन्दी के मतों में इसे 'सत्' मय नाम सत्तनाम, हरि आदि कहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों में सत् फिडेटे ने इस आत्मा गैलिंग ने अनात्मा (प्रवृत्ति) हीरेल ने निरूपेण 'प्रत्यय', ग्रीन ने अपरिच्छिन्न चतुर्थ और ब्रडले ने अपरोक्षानुभव की सजायी है। उपर्युक्त विभिन्न तत्त्ववादों में आत्मा द्वैतवाद ही सर्वप्रमुख है। शून्याद्वैत विज्ञानाद्वैत 'शून्याद्वैत सन्ताद्वैत आदि सत् आत्माद्वैतवाद भिन्न प्रस्ताव होता है क्योंकि इसमें अनुसार प्रत्यक्ष अनुभूत होनेवाली चतुर्थ-स्वरूप आत्मा ही तत्त्व है न कि कोई अन्य भाव या अभाव परम तत्त्व है। सभी अद्वैत तत्त्ववाद यही सिद्ध करते हैं कि अद्वैत सत् में ही सन्नभूता की सत्ता मायमा विद्यमान है। उसीमें व मायमा आविर्भूत होते हैं और उसीमें उनका मायमा निरोभाव हो जाता है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

उत्तरकालीन अन्तिम साहित्य छात्रोंमें ब्रह्मसूत्रम् साण्डूक्य आदि उपनिषद् ग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में अद्वैतवाद का विस्तृत विवेचन मिलता है। शान्त को अवाटय तर्कों पर आधारित कर उसमें प्रवृत्त का मुख्य अर्थ शंकराचार्य को ही है। उन्होंने बौद्ध यों में वर्णित मायावादा या विवर्तवादा की सुस्पष्ट और विस्तृत व्याख्या में आत्म उठाकर अन्तर्वादा का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य के मतानुसार परमात्मा सत्-सत्त्व-गुण, अन्त और सत्य तत्त्व है। जगत् मिथ्या है ब्रह्म और जीव तात्त्विक दृष्टि में एक ही है। आत्मा स्वयंसिद्ध प्रत्यय है। यह सत्ता अनुभूति पर आधारित है। अनुभव के दृष्ट में अन्त

१ गङ्गाति ॥ गङ्गाति सत्त्वे तत्त्विते ।

तत्त्वं तस्य सत्त्वस्य तत्त्वं सत्त्वस्य सत्त्वस्य ॥

—इशावास्योपनिषद्, ५

२ ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) २, १ ७ दृश्यम् ।

की सत्ता स्वयं सिद्ध रूप से स्थित है।^१ आत्मा ज्ञान रूप भी है। आत्मा स्वयमिदं ज्ञानरूप होते हुए भी अन्त रूप है। इसी अद्वैत तत्त्व की स्थापना गार्ग्य अन्तवाद का मुख्य प्रतिपाद्य है।

गर्गराचाय ने निर्विकल्प निरुपाधि निराकार निगुण निर्विकार सत्ता को ब्रह्म माना है। उन्होंने उपनिषद्वादी के निगुण ब्रह्म की स्वीकार कर स्वरूप और तत्त्व दोना लक्षणों से ब्रह्म निरूपण किया है। स्वरूप लक्षण से ब्रह्म जगत का कारण ज्ञान-स्वरूप पर्याप्तान्तर मे अखण्ड सच्चिदानन्द रूप है। तत्त्व-लक्षण से यही ब्रह्म मायावर्तिष्ठान होने पर सगुण ब्रह्म हो जाता है।

निर्विण्य ब्रह्म से सर्वांग जगत की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए गार्गराचाय ने मायावाद की अवतारणा की है। उनका यह माया तत्त्व ब्रह्म के समान निरालम्बाधिता से अरहित होने के कारण सत नहीं है तथा प्रत्यक्ष प्रतीयमान होने के कारण असत भी नहीं है। यह सत असत से परे अनिवचनीय है। आवरण और विसर्प इसकी दो गतियाँ मानी गई हैं। आवरण गति से यह ब्रह्म के घुड़ स्वरूप को आच्छादित कर लेती है तथा विसर्प गति से प्रपञ्चपूर्ण जगत जाल की रचना करती है। इस प्रकार मायोपाधिक ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। मकड़ी द्वारा निर्मित जाल के समान ब्रह्म भी जयन का निर्मित और उपादान दोनों कारण है। गार्गराचाय के मतानुसार बह्विन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मण का भोक्ता आत्मा ही जीव है। आत्मा नित्य एक अजन्मा है। ब्रह्म से स्वभावगत ऐक्य होने के कारण आत्मा भी वस्तु स्वरूप है। उन्होंने आत्मा को विभु ही माना है। व उस अण नहीं मानते। जादू की अतमखी और बहिमखी दोनों ही प्रकृतियाँ हैं। बहिमखी होने पर जीव जड़ो मुख जयान ससारो मुख होता है तथा अतमखी होने पर वह ईश्वरो मुख होता है।

ब्रह्म जीव और जगत के सम्बन्ध में गार्गराचाय के उपयुक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गार्गराचाय का जड़त्व वेदांत तथा मायावाद का सिद्धांत सवया बौद्धिक था। पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण रहन हुए भी उसके अतमगत त्रियात्मक जावन के सवग का सवया अभाव था। अतएव वह सृष्टि बाधगम्य न हाकर सूक्ष्मचक्षा बुद्धिजीविया के वाग्विगम और गार्ग्य दार्शनिक वाग्विवादा का विषय ही बना रहा। इन सीमाओं के रहने हुए भी गार्गराचाय का चरित दान का देश-व्यापी प्रचार हुआ। भारत के गृह्य बौद्ध-दान एवं औपनिषद् दान के प्रचार प्रसार मे वरान अरु मित्र आदि एगियाई देगो मे भी अन्तर्वात का विकास हुआ था जो मुसलमानों का भारत आगमन के बाद सूफी अन्त के रूप में भारत में पुन प्रतिष्ठित हुआ। निगनिया सतो एक सूफिया का अद्वैतवात पर गार्गरा अन्तवात का पूर्ण प्रभाव परि लभित होता है। कबीर आदि सत्ता का ईश्वर एक है।^२ वह अरूप और निराकार है।^३

१ इतिहासेन प्रवक्ष्यामि यत्कन अथ कोनियि ।

मय ब्रह्म जगमिदं ज्ञान जीवो ब्रह्म व नापरम् ॥ — गार्गराचाय ।

मया माद्वय एव दृष्टा यत् न ज्ञाय ।

मात्रिदृष्टा नो ब्रह्म हृदय धरा रिमाय ॥ — कबीर बचनावनी ।

२ जादू मुख माय नो जनी रूप ब्रह्म ।

पुनर काम नै दानश मेमा तत्त्व अनुर ॥

वह निगुण और सगुण में परे है।^१ वह सत्ता के अणु-अणु में व्याप्त है। वह केवल अनुभवगम्य है।^२ वह ज्योति-स्वरूप ब्रह्म अल्प निरञ्जन है किन्तु इसके साथ-साथ वण्णव भाव साधना और सूफी प्रेम-साधना के प्रभाव के कारण वह निगुण निरुपाधि अद्वैत ब्रह्म परम-सौन्दर्य निधि परम प्रामाण्य और परमानन्द-स्वरूप भी है। निराकार ब्रह्म स सम्भव जानने के लिए भाव भगति की साधना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।^३ अपने उपान्य के इसी स्वरूप को लेकर हिन्दी के मर्मों कवियां न मधुर रस की भाविक अभिव्यक्ति की हैं जो सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में अनुपम है। हिन्दी के साधना-साहित्य के भावात्मक रहस्यवाद का यहो दार्शनिक आधार है।

ब्रह्म का सगुण-निर्विशेष रूप और विभिन्न दार्शनिक मतवाद

उपरिलिखित विवेचन में यह स्पष्ट है कि श्री गकाराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त और मायावाद के मिश्रता द्वारा उस समय की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का आयाजन रहा हो सका। गकारमत तत्त्विक दृष्टि से पूर्ण हात हुए भी 'यावहारिक दृष्टि से असफल सिद्ध हुआ। यही कारण है कि आगे चलकर चार प्रमुख वण्णवान्नाय—श्री रामानुजाचार्य श्री मध्वाचार्य श्री विष्णुस्वामी श्री निम्बार्काचार्य ने क्रमशः गकारमत का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैतवाद द्वैतवाद गुडाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन कर सगुणोपपत्ति का पथ की प्राप्ति किया।

'पाचराश्रय भागवत-मत के अनुसार ब्रह्म अद्वैत अनादि अनन्त निर्विकार निरवयव अन्तर्धामी सबव्यापक और असीम आनन्द-स्वरूप है। वह प्रकृत गुणातीत निराकार दश-काल रहित पूर्ण नित्य और व्यापक है। किन्तु अप्रकृत पञ्चगुणा (जान गति एवम वल, बीम और तेज) से युक्त होने पर उसी परब्रह्म का भगवान् कहते हैं। जान अजड स्वप्रकाश नित्य और सारस्व का अग्रग्राह्य करने वाला गुण है। गति जगत का उपादान कारण है। एवम जगत के वस्तुत्व सम्बन्धना के गुण का नाम है। जगत के निर्माण में ध्रुम के अभाव की ही वज्र कहते हैं। जगत का उपादान कारण होने पर भी विचार रहित ज्ञान का गुण ही बीम है। गति की सृष्टि में किसी सहकारी की अनावश्यकता ही तेज है।^४ सबद्वैत विनिर्मुक्त सर्वोपाधि विवर्जित सत् कारण का कारण, पञ्चगुण रूप परब्रह्म निगुण भी है और सगुण भी। प्रकृत गुणा से रहित ज्ञान के कारण उस निगुण तथा पञ्चगुणयुक्त होने के कारण उस सगुण कहते हैं।

वण्णव आचार्यों ने परमपुरुष के तीन रूप बतलाए हैं—ब्रह्म परमात्मा और

^१ त्रिगुण की सेवा करके सगुण का करो ध्यान।

त्रिगुण सगुण में पर तहाँ हमारी ज्ञान ॥ —कबीर बाबाजी।

^२ पारमार्थिक के लक्ष्य का वैसा ही अनुमान।

कवि हैं माया का श्रवण ही परमानन्द ॥ —कबीर।

^३ निराकार निज रूप में प्रेम प्रीति में भव। —कबीर प्रभावली।

भाव गति विमलानन्द किन्तु वही न सम गुण ॥ —कबीर, पृ. ३४८।

जब लगी भाव भगति नहीं बरिदा तब लगी भवसागर चरों तरिदा। —कबीर, पृ. १०, ४४।

^४ हिन्दी साहित्य बोध, पृ. ४० = ४।

भगवान् ।^१ परमतत्त्व के विगुह्य ज्ञानमय रूप को ब्रह्म कहते हैं । इसमें ज्ञान और नय का भेद नहीं रहता । परमात्मा योगिया का उपास्य है । इसमें ज्ञाता और नय में भेद रहता है । अप्रकृत पदगुणयुक्त हो जाने पर वही परमतत्त्व भगवान् कहा जाता है । प्रमा भक्तजना के निकट ब्रह्म का यही परमानन्द प्रम स्वरूप पूण रूप में प्रकट होता है । मध्ययुग की भारतीय धर्म-साधना में ब्रह्म के ऐश्वर्य तथा ब्रह्मत्व में माधुर्य की अवतारणा द्वारा अभिनय रंग परिवर्तन हुआ है । अनादि अनन्त अखण्ड अखण्ड और अभेद ब्रह्मप्रम के वर्गीभूत होकर अहोरेख की छोहरियों के सामने छछिया भरि छाछ प नाचने लगता है ।^२ इसीसे तो कहा गया है कि जो उसे जानमय समझते हैं ब्रह्म समझते हैं वे उसके एक अंग को जानते हैं पर जो उसे प्रममय समझते हैं वे उसके सम्पूर्ण अंग को जानते हैं । ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं प्रम ही परम पुरुषार्थ है— प्रमा पुमर्थो महान् ।^३ जगत के कल्याण के लिए भगवान् स्वयं ही व्यूह विभव अर्चावतार और अंतर्मायी—एन चार रूपों में प्रकट होते हैं । सधर्म में यही पाचरात्र या भागवत मत है जिस अवधि घोषित कर गवराचाय ने जड़ित किया किन्तु प्रसिद्ध कण्व दागनिक रामानुजाचाय ने उसे वै विहित सिद्ध करते हुए बान्द्रायण के ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या श्रीभाष्य में उस प्रामाणिक बनगया तथा उसे दागनिक भित्ति पर दृष्टतापूर्वक सुस्थिर करने के लिए विनिष्ठाद्वतवाद का प्रतिपादन किया । रामानुजाचाय के इसी विनिष्ठाद्वत के सिद्धांत के आधार पर आगे चलकर कई कण्व दागनिक मतवात प्रतिष्ठित हुए भक्ति साधना के अनेक सम्प्रदाय स्थापित किए गए जिसे मधुर रस के प्रतिपाद्य भगवान् के विभवावतारों की गीता का भजन-कीर्तन उनकी आराधना और मधुरापासना की विविध भाव भूमिया का सूत्र विधान किया गया । अतएव इस प्रसंग में उनकी दागनिक व्याख्या करनेवात प्रमुख दागनिक मतवात तथा भक्ति साधना पर उनके प्रभावों का विवेचन अपर्य है ।

रामानुजाचाय का विनिष्ठाद्वतवाद

विनिष्ठाद्वत दो विनिष्ठा के अन्त या तात्पर्य को कहते हैं । दूसरे अन्त में स्थूल घनतता और अचेतनता से विनिष्ठा जीव एवं सूत्र चेतनता और अचेतनता से विनिष्ठा परमात्मा का अभेद ही विनिष्ठाद्वत है । इसी को कारणब्रह्म और कायब्रह्म (जीवा सहित समस्त जगत) का एकमय होना भी कहा गया है । इन स विनिष्ठा अन्त के अर्थ में स्थापित किया जाना है । कुछ विद्वान् इस विनिष्ठा प्रकार का अन्त वर्णन भी मानते हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि अन्तवात के प्रतिष्ठापक श्री गवराचाय और विनिष्ठाद्वतवात के प्रतिपादक श्री रामानुजाचाय दोनों ही अति प्रामाण्यवात थे । दोनों न तत्त्वत ब्रह्म को निरपाधि निर्विकार और अन्त माना । किन्तु दोनों न उसकी अन्य अन्त व्याख्याएँ की ।

वि नि तत्त्वचिन्मन्त्रं यजमानमन्त्रम् ।

प्रति परमन्त्रि भावनिनि राक्षसे ॥ — श्रीमद्भगवत १२११ ।

२ नाहि मन नि मनन कएन भदेन मन सुरे बताई ।

नाहि अहोरेख की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै जल नचव ॥ — रमयान ।

३ मधुर रस में धर्म साधना का हृदय मधुर रस में विनी, ५ २४३ ।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म की 'युत्पत्ति' वह धातु से 'मनिन प्रत्यय' का प्रयोग कर ब्रह्म के चिदचिद् विगिष्ट तत्त्व का सिद्ध किया तथा उसमें चित् अचित् और ईश्वर—एन तीन का समावेश करके भक्ति साधना के नये मार्ग का अनुसंधान किया। इस प्रकार उन्होंने तब अनुभव और श्रुति के सहारे शङ्कराचार्य के अद्वैतवात् और मायावाद का खण्डन किया।

विगिष्टाद्वैतवात् के अनुसार परमात्मा (ईश्वर), चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) —ये तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं। परमात्मा सर्वोपर्यामी ईश्वर है। चित् भाक्ता जीव है और अचित् भोग्य जगत का पर्यायवाची है। जीव और प्रकृति एव ईश्वर में जगत् और अजगत् अथवा जगत् और अजगत् का सम्बन्ध है। चित् और अचित् से विगिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत् है। चित् और अचित् द्रव्य तथा गुण दोनों हैं। परमात्मा सगुण द्रव्य है। परमात्मा एक और अन्तिमी होने के कारण सजातीय विजातीय भेद से मूल्य है। किन्तु चित् और अचित् के गुण भी होने के कारण वह स्वगत—भेद-सम्पन्न है। ईश्वर का चित् अचित् के साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। इसे विनोप्य विनोप्य-सम्बन्ध भी कहा गया है। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य ने ईश्वर को विनोप्य तथा चित् अचित् को विनोप्य कहा है।^१ तात्पर्य यह है कि ईश्वर जाव और जगत का पूर्ण आन्तर सम्बन्ध है। जिस प्रकार मधुखी अपने अन्तर से ही जाला उत्पन्न करती है उसी प्रकार ईश्वर अपने भीतर से ही जगत की रचना करता है। अतः ईश्वर का लाला विलास ही सृष्टि और प्रलय का प्रयोजन है। सृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण करने पर ब्रह्म का वार्यावस्थ तथा प्रलयकाल में सूक्ष्म चित् अचित् विगिष्ट रहने के कारण कारणवस्थ रूप विद्यमान रहता है।

सारान् यह है कि ईश्वर या ब्रह्म सत् ज्ञान अनन्त नियामक, अप्रकृतपाप्मा सुन्दर आनन्दमय आनन्द-स्वरूप साकार, चित्-अचित् का आधार नियता और गेयी है। चित् और अचित् आधाय नियम्य और गाय है। भुवन सुन्दर होने के कारण ब्रह्म उदात्त भी है। विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार नारायण, ध्यूह विभव अन्तर्धामी तथा मूर्ति इन पांच प्रकारों से ईश्वर ध्यय है। नारायण परब्रह्म या परम वासुदेव बनुष्ठ में श्री (लक्ष्मी) भू (पृथ्वी) और लीला इन भक्तियों के साथ पायदा-सहित निवास करते हैं। वासुदेव (आत्मा) सन्पण (जीव) प्रद्यम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार), ये ईश्वर के चार गूह रूप हैं जिन्हें पूजा तथा सृष्टि के लिए ईश्वर धारण करता है। मत्स्य वाराह राम कृष्णादि ईश्वर के दस विभव रूप (अवतार) हैं। अन्तर्धामी रूप में ईश्वर विश्व हृदय में निवास करता है। ईश्वर का पाँचवाँ रूप मूर्ति का है। इन्हीं के अनुसार बनुष्ठ वास करना सालोच्य मुक्ति भगवान् का सामोप्य-लभ करना सामोप्य मुक्ति भगवान् जसा रूप प्राप्त करना सारूप्य मुक्ति तथा भगवान् के साथ ऐक्य-लभ करना सामुय या वक्त्य मुक्ति कही जाती है। भगवान् के साथ ऐक्य-लभ करने का यही वाछा मधुरोपासना का चरम लक्ष्य है यही मधुर रस की नित्यपत्ति का मुख्य कारण है।

चित् अर्थात् जीव दहेय्य मन प्राण बुद्धि से विलक्षण अजड आनन्दरूप नियम्य अत्यन्त अचित्य निविकार और ज्ञानाश्रय है।^२ यह हृदयावस्थित है। जीव अपने

१ श्रीभाष्य रामानुजाचार्य, २।१।६।

२ तत्त्वत्रय श्री रामानुजाचार्य, ५।५।

प्रेयस्व गुण के कारण सदैव अपने सारे कर्मों के लिए अपने गयी ईश्वर के ऊपर निर्भर करने वाला है। जीव अनन्त और अणुरूप है। जीव ब्रह्म अपृथक् हैं। चित्तु गुणों के विचार से दोनों में पृथक्त्व भी है क्योंकि मुक्त जीव भी ईश्वर की भाँति गृष्टि का कर्त्ता और नियन्ता नहीं हो सकता। इन गुणों के अतिरिक्त अय समस्त गुणों में जीव अपनी मक्तावस्था में ईश्वर से अभिन्न हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी जीव प्रकृति और ईश्वर के अपृथक्त्व तथा पृथक्त्व पर बड़ी स्पष्टता के साथ विचार किया गया है जिससे उपप्लुत मायताओं की गृष्टि होती है।^१

रामानुजाचार्य के मतानुसार अचित्त ज्ञानगुण्य विकारास्पद सत्त्व है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध सत्त्व मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य। शुद्ध सत्त्व नित्यविभूति है। मुक्तावस्था में जीव देह का निर्माण इसी से होता है। मिश्र सत्त्व रजोगुण और तमोगुण से मिश्रित है। यही जगत का उपादान कारण है। इसी को माया प्रकृति अविद्या की सत्ता दी गई है। सत्त्व शून्य सत्त्वकाल है। ब्रह्म जिज्ञासा से ब्रह्म के स्वरूप को जानने और उसे प्राप्त करने की इच्छा का नाम मुमुक्षा है। मुमुक्षु जन मोक्ष या भक्ति प्राप्ति के हेतु कमयोग ज्ञानयोग और भक्ति योग का अवलम्बन करत हैं। इनमें कमयोग कमकाण्डमूलक तथा ब्राह्म विधान प्रधान है।

विशिष्टाद्वैतवाद और भक्ति-साधना

निष्काम कम अहंकार विनाशक विषय विकार से मन को मुक्त करने वाला तथा चित्त को स्थिरता प्रदान करने वाला है। यही आग चक्रर ज्ञानयोग में रूपान्तरित हो जाता है। ज्ञानयोग ब्रह्म प्रधान निवृत्त्यात्मक एव रहत है। यह हृदय नहीं मस्तिष्क की वस्तु है। ब्रह्म के सनन अभ्यास सतत सत्त्व चिन्तनादि से सत्त्वज्ञान होगा है और तत्पश्चात् कवल्य लाभ होता है। यह ज्ञान माग तलवार की धार पर चलने के समान अनि दुःसाध्य है। कवल्य को अभ्युष्ण बनाए रखने के लिए भक्ति की आवश्यकता होती है क्योंकि भक्ति में कम और ज्ञान की पराकाष्ठा है। भक्ति-साधना के क्षत्र में आकर सत्त्ववाग्नियों का निरावार निगुण निरुपाधि ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। चित्त अचित और ब्रह्म के सत्त्व-बोध के अनन्तर उसी ईश्वर के प्रति अनयासक्ति का नाम भक्ति है। उपान्य के प्रति मधुर मनारोग का ही भक्ति कहत हैं। इस दया में भक्त अपन को सबलभोवन ईश्वर पर समर्पित कर देता है सन-कुछ त्यागकर भगवान का जरण में चला जाता है। यहा स प्रपति माग आरम्भ होता है।

प्रपत्तिवाद

प्रपत्तिवाद भक्ति-साधना का सर्वोपरि विधान है। प्रपत्ति का रह अय आम निवृत्तन है। चित्तु भक्ति-मन्त्र में प्रपत्ति का प्रयाग भगवन् जरणामनि व अय में होता है। सभी धर्मों और समस्त साधना का परित्याग कर भगवान की जरण में जाना ही प्रपत्ति है। गीता तथा उपनिषद् में भी प्रपत्ति का महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। वायुपुराण में प्रपत्तिभाव

१ शान्ति शास्त्र वीरानीशास्त्र दोनों में भक्ति-मन्त्रों में प्रपत्ति का अनन्तर माया विवरूपों के दृष्टा जय मद वि न ब्रह्म ३३ ॥ ॥

के छ अंग बतलाय गय हैं । वे हैं (१) उन विषया एव कर्मों का करन वा सकल्प करना जो भगवान् के अनुकूल हैं। (२) उन विषया एव कर्मों का परित्याग करना जो भगवान् व प्रति कूल अर्थात् अप्रमत्त करन वाले हों। (३) सवगतिमान भगवान् मरी रक्षा करेंगे—यह दृढ़ विद्वान् करना। (४) एवान्तरूप से भगवान् का ध्यान करना, उनकी महिमा का वणन करना। (५) अपन आपकी पूर्णतः भगवान् के आश्रित कर देना तथा (६) अपनी दीनता अकिंचनता एव क्षुद्रता का आत्मनिवदन करत हुए भगवान् की महत्ता का वणन करना।^१ यही प्रपत्तिपरता अथवा भगवद् गराणागति भक्ति का सवस्व है क्योंकि इसीसे द्वारा उपास्य व प्रति उपासक की अनयासक्ति और आत्मनिवन्नासक्ति चरमोत्पत्ति पर पहुँच जानी है जिससे सहारे भक्त भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी हो जाना है। माजार-न्याय और मकट पाय व अनुसार भगवान् कभी भक्त के प्रति भगवान् की अहत्तुकी कृपा हाती है और कभी भक्त का भी इससे लिए थोड़ा प्रयास करना पड़ता है।

प्रपत्तिवाद भारतीय तत्त्व चिन्तन तथा धर्म साधना का एक विनिष्ट धर्म है जिसका मुख्य श्रेय विनिष्टाद्वन्द्वता के प्रतिष्ठापक वण्णव दार्शनिक रामानुजाचार्य को है। इसकी महत्ता इस बात से भी सिद्ध है कि निगुण और सगुण दोनों प्रकार व साधना में अपन-अपन साधना मार्ग में प्रपत्तिवाद की पूर्णरूपण स्वीकार किया है तथा उस उपासना का प्राण माना है।

प्रपत्तिवाद की आधारभूत प्रवृत्तियाँ

निगुण और सगुण दोनों प्रकार के साधना-मार्गों में प्रपत्तिवाद की दो आधारभूत प्रवृत्तियाँ— उपास्य व प्रति अनयता तथा आत्मनिवन्नासक्ति—चरम विवक्षित रूप में पाई जाती हैं। श्रीमद्भागवत में श्रवण, कीर्तन स्मरण पाठ-मनन अथवा वन्दन दास्य, सम्य एव आत्मनिवन्ना नाम में नवधाभक्ति का वणन किया गया है।^२ यह वर्गीकरण अपन दृष्टान्त व प्रति भक्त की उत्तरोत्तर बढ़ मान भक्ति भावना व अनुरूप ही हुआ है। श्रवण कीर्तन और स्मरण द्वारा का जान वाली भक्ति में भक्त और भगवान् का सामिप्य प्राप्त हो जाना है जो उपासना का उद्देश्य है। दास्य, सम्य और आत्मनिवदन की दशा में भक्त का साथ भगवान् भी सन्निध हो उठत हैं। आत्मनिवन्ना भक्त और भगवान् व भावपूर्ण अनि सामिप्य की दशा है जिसमें पहुँचकर उपासक अपन उपास्य व समान अपना सम-बुद्ध काल्पर रतन में सम्य होता है। सम श्रियति में भक्त और भगवान् में कोई दुराव नहीं रह जाना। अनएव व्यावहारिक दृष्टि से भी आत्मनिवन्ना भक्ति की अन्तिम और सर्वोत्तम प्रक्रिया है।^३

भक्ति व प्रतिपात्ता ने भक्ति का स्वरूप व प्रति परानुरक्ति व परमप्रमत्त्वका

१ आनुष्ठानस्य सप्त व प्रानिद्वन्द्वस्य वननम्।

रजिष्यतीति विश्रामो गोपुत्रव वरण तथा ॥

आ मनिरप कापश्य वन्दिता शरणागति ॥

—वायुपुराण।

२ श्रवण कीर्तन शिष्यो स्मरण व संसर्जनम्।

अथ वन्दन दास्य सम्यमात्मनिवेनम् ॥

—श्रीमद्भागवत, अ १ स्कंध ३।

३ बी, रत्ना २४।

४ ग परानुरक्तिरिति।

—शाब्दिकभक्तिवृत्त २।

तथा अमृत स्वरूपा^१ बतगते हुए एकादशधा भक्ति भर्त्ता गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्म निवेदनासक्ति तमयतासक्ति और परमविरहासक्ति के नाम दिये हैं।^२ नारदभक्तिसूत्र और श्रीमदभागवत के भक्ति विभाजन में कोई तात्त्विक अंतर नहीं प्रतीत होता। नारद की स्मरणासक्ति दास्यासक्ति और सख्यासक्ति श्रीमदभागवत के स्मरण दास्य और सख्य के ही रूप हैं। पूजासक्ति पाद-सेवन अर्चन और वन्दन में अन्तर्भुक्त की जा सकती है। इसी तरह गुणमाहात्म्यासक्ति तथा रूपासक्ति के साथ श्रवण और कीर्तन एवं आत्मनिवेदनासक्ति तमयतासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति और परमविरहासक्ति को एक साथ समाविष्ट करने आत्मनिवेदन के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस प्रकार श्रीमदभागवत और नारद भक्ति सूत्र दोनों के अनुसार आत्मनिवेदनपरक भक्ति ही सबसे अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती है क्योंकि आत्मनिवेदनपरक भक्ति की सर्वोपरि विशेषता आराधक और आराध्य का अनन्यभाव है जो मधुर भक्ति रस का प्राण है। इसमें उपासक अपने उपास्य के प्रति पूर्ण तमयता का भाव प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसे अपने इष्टदेव के अनुग्रह और प्रेम का दृढ़ विश्वास रहता है। फलतः अयो-याश्रयता एवं समरमता के भाव अनायास ही इसमें आ जाते हैं। विगुड आत्मनिवेदन की दशा में कृत्रिमता अथवा विधि नियम के प्रति निरपेक्षता तथा आचरण की स्वच्छता भक्त के जीवन की स्वाभाविक क्रिया बन जाती है।

भक्ति की दाम्पत्य भाव दशा

दास्य तथा वात्सल्य भाव की दशाओं की अपना दाम्पत्य भाव की दशा में ही भक्त के जीवन की स्वाभाविकी क्रियाएँ अधिक सम्भव हैं क्योंकि दास्य और वात्सल्य की दशाओं में भक्त और भगवान् उपास्य और उपासक के बीच पूर्णरूपेण समानता नष्ट आ पाती। सख्य भाव में भी छोटे-बड़े के भेद भाव कुछ सीमा तक विद्यमान रहते हैं। केवल दाम्पत्य भाव की दशा में ही विधि नियम से विरत होकर सारी बातें विगुड एवं स्वाभाविक रूप में व्यक्त होती हैं। इस विगुड भाव-दशा में भक्त का हृदय स्वन स्फूर्त होकर प्रेम की मधुर मधुर ऊमियों से लहरा उठता है। कभी-कभी भावावगो की तीव्रता के कारण प्रेमोत्सुकता की भी स्थिति आ जाती है। नारदभक्तिसूत्र में परमप्रेम रूपा भक्ति का निरूपण करते हुए कहा गया है कि भक्त अपने अंगों को भगवान् के प्रति अर्पण करने तथा उनके विचित्रमात्र भी विस्मृत हो जान पर अतिशय व्याकुलता का अनुभव करने लग जाता है।^३ इससे भी आत्मनिवेदनासक्ति तथा परमविरहासक्ति के स्पष्ट संवेत मिलने हैं जो का नामक्ति के साथ पाई जाती है। वाता भाव की उपासना के अन्तर्गत भक्ति-रूपा के वर्णन में आत्मनिवेदनासक्ति और प्रिय वियोगजन्य व्याकुलता के वर्णन में परमविरहासक्ति चरमोत्पत्ति को प्राप्त होती है। उपासना की इसी विगुड भाव-रूपा में उपास्य को छोड़कर उपासक का अपना कुछ भा नष्ट रह जाता। उपास्य के प्रति अतिशय अनुरक्ति के कारण

१ सा स्वस्मिन् परमश्रेष्ठरूपा । अमृत स्वरूपा च ।

—नारदभक्तिसूत्र २३ ।

२ ना भ सूत्र ८२-८३ ।

३ नारदभक्तिसूत्र १६ ।

क्षणिक विरह भी असह्य हो जाता है। इस कोटि के साधक के लिए शास्त्राचार और लोकाचार के बंधन 'यथ सिद्ध' होते हैं। इस प्रकार की प्रभावित को अपना लेने के बाल साधक को ब्रजगंगाभा के समान ही मुक्ति के लिए किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती।'

विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव

उपयुक्त विचार बिंदुओं से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन भारतीय साधना के क्षेत्र में विशिष्टाद्वैतवाद के सहारे भक्ति के राज-मय के निर्माता श्री रामानुजाचार्य ही हैं। उनके विशिष्टाद्वैतवाद से प्रसूत भक्तिवाद और प्रपत्तिवाद के प्रभाव से समस्त मध्ययुगीन धर्म साधना ओत प्रोत है। भक्तनिरोमणि तुलसीदास आदि सगुणोपासक भक्त कवि तथा कबिर दादू आदि निगुणोपासक सत कवि रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से अनुप्राणित हैं।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतदर्शन के आधार पर उत्तर भारत में रामोपासना के प्रवर्तक श्री रामानन्द ही हुए। तत्त्वतः रामानुजाचार्य के मतावलम्बी होते हुए भी उन्होंने विष्णु के अय रूपों में राम रूप को सर्वाधिक महत्व प्रदान कर अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति का प्रवर्तन किया तथा श्रीवष्णव सम्प्रदाय का संगठन किया। इन्होंने वैकुण्ठवासी विष्णु का स्वरूप न ग्रहण कर संसार में लीला विस्तार करने वाले राम को इष्टदेव माना तथा रामनाम को मूलमंत्र स्वीकार किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उनके पूर्व भी 'राम' की महिमा का प्रचार था, किन्तु लीला विस्तार करने वाले अवतारी रूप को प्रथम नहीं मिला था। बाल्मीकि रामायण में राम के नारायणत्व की अपेक्षा नरत्व की प्रधानता है। अय प्राचीन रामकथा काव्यों में भी राम महापुरुष तथा महानायक के रूप में ही प्रदर्शित किये गये हैं। श्रीमद्भागवत शाण्डिल्यभक्तिसूत्र नारदभक्तिसूत्र अयात्मरामायण राम तापनीयोपनिषद् तथा इही जसे अन्य परवर्ती ग्रन्थों में राम कृष्ण के अवतारी के प्रति 'पापक श्रद्धा' भक्ति और प्रेम उत्पन्न करने वाले दाक्षिणात्य वष्णव आचापगण ही हैं, जिनमें भक्ति भावना को 'पावहात्मिक' रूप देने वाला भी रामानन्द एवं बल्लभाचार्य (सं० १५३५—सं० १५८७) अग्रगण्य हैं।

आगे चलकर रामानन्द की शिष्य परम्परा में राम-कथा और राम भक्ति के प्रमुख प्रचारक एवं गायक गोस्वामी तुलसीदास हुए जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की चार चरिता वाली की उत्पत्ति पर पट्टा दिया। गोस्वामीजी ने अपने इष्टदेव की ऐश्वर्य माधुरी के साथ साथ रूप माधुरी और प्रेम माधुरी का भी यथास्थान चित्रण किया है किन्तु उसमें कहाँ भी उदात्तता नहीं आने पाई है। आगे चलकर कृष्णमार्गी भक्ति काव्य धारा में जब राधा कृष्ण की रूप-माधुरी लीला माधुरी प्रेम माधुरी तथा केलि कीड़ा माधुरी की अनिवार्यता के कारण मध्ययुगीन साधना के सभी क्षेत्रों में उदात्त शृंगार की स्रोतस्विनी बड़े वेग के साथ प्रवाहित होने लगी तब उसमें राम भक्ति काव्यधारा के धर्मात्मिका के बगैरा की डाहकर सरपट पर गिया। पञ्च सीताराम भक्ति की मधुरोपासना के क्षेत्र में अनजानेक रमिता सम्प्रदायों की स्थापना होने लगी जहाँ राम और रामकथा सीता और उनकी सन्निधियों का हाम विलास

प्रम प्रलाप केलि झीडाएँ एव उनकी अनेकानेक अतदंगामा के नाना रमणीय रूपखण्डों एव प्रम-व्यापारों की मधुर कोमल भाव भूमियों की ज्ञाती लिखाई जाने लगी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुगीन धर्म साधना का विवेचन करते हुए बतलाया है कि मध्यकालीन भारतीय धर्म साधना के समानान्तर यूरोप में भी उसी काल में ईसाई धर्म-साधना के अतगत प्रचण्ड प्रमधारा प्रवाहित हुई थी। कहेना प्रम और क्षमा के अवनार प्रभु ईसामसीह अदभुत प्रममय पतितपावन दीनदयालु अगारण शरण के रूप में चित्रित हुए हैं। बष्णव साधना के अतगत राम-कृष्ण का व्यक्तित्व भी यसा ही है। इसीलिए उनके भक्त अथ धर्म और मोक्ष की याचना नहीं करते। उन्हें तो उनकी अविकल भक्ति अखिल प्रीति चाहिए।^१ यह उपास्य का चरम सृष्टि है। यहा आकर भगवान् भक्त के स्वभावानुसार उसके अपने हा जात हैं। वेद और पुराण धर्म और दान जिसके सधान में असमयता प्रकट करते हैं वे अपने अनवर भक्त के साथ हो जाते हैं।^२ इसीलिए ज्ञानमार्गी सन्तो ने भी एकमात्र ज्ञान को निस्सार मानकर भक्ति का आश्रय ग्रहण किया और अपनी पलकों का परदा गिराकर ना मैं देखू और को ना तोहि देखन देउ की घोषणा करते हुए अपने दिल के अंदर अपने शिखर के दीदार का रसपान किया। मध्ययुगीन भक्तों और सत्ता की वाणियों में विनिष्टाद्वत-दंगन का व्यापक प्रभाव निललाई पड़ता है क्योंकि इससे ही प्रभूत भक्तिवात् और प्रपत्तिवात् कालान्तर में कांताभाव की उपासना के रूप में परिपलकवित होकर मधुर रस साधना में रूपायित हुए हैं।

भगवान् का भाव-गृहीत रूप तथा द्वत अद्वतपरक दाशनिक्त मतवाद

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म का त्रिमुद्र रूप त्रिगुण निराकार निरपाधि तथा निर्विकार ही है। वही परब्रह्म एकमात्र सत् है और सभी मायिक हैं। किंतु पावहारिक क्षत्र में उसी परब्रह्म के चित्त अचित और स्वरूप में तीन रूप हो जाते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि आध्यात्मिक साधना का सर्वाधिक सरल और सहज बोधपथ भक्ति साधना ही है क्योंकि भक्ति भगवान् के प्रति भक्त का मधुर मनोराग है। भक्ति-साधना में भगवान् के प्रति भक्त की तमयता आत्मनिबंदनामक्ति चरमोपय को प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह भक्ति त्रिगुण ब्रह्म के प्रति सम्भव नहीं है। गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है कि अय्यवन में चित्त की एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है क्योंकि उस अय्यवन की गति का प्राप्त करना दहानिमानिया के लिए स्वभावतः अनिकष्टायर है।^३ जो प्रमी भवनजन नगवान् में अपने मन को एकाग्र कर निरन्तर अनिगम्य श्रद्धा से युक्त होकर साधुसंघ परमेश्वर का भजन हैं वे यागिया में अयुतम यागा मान जाते हैं। एम प्रमी

१ हरय न धर्म न कामरति गति न ह्य निरवान ।

जनम जनम रणबीर भगति यत् करान न हन ॥

—नुवमीनाम

२ ब्रह्म जो मध्य पुताननि में ने लिखा पचास सारिना पवन । —रमनाम

३ बनरो पिङ्गरस उषा दक्षामकनचमाम् ।

अपरागा दि गतिः । ह्यत् रका पने मर ॥

—धीन-भगवद्गीता अ १० ।

भवतों को भगवान् सीधे ही मत्पुरुष ससार-सागर से उद्धार कर देते हैं ।^१ मगुणोपासना की ओर भक्त जनों के उमुख होने का यही रहस्य है । भक्ति भावापन्न भक्त हृदय की सात्त्विक अन्यासक्ति है और यह आसक्ति सगुण और साकार ईश्वर के प्रति ही सम्भव है क्योंकि भक्ति में मन का केन्द्रोद्भूत होना परमावश्यक है । मन को केन्द्रित करने के लिए श्रद्धा और प्रेम भाव का होना अनिवार्य है । ऐसी दशा में ईश्वरीय सौंदर्य बोध तथा तान प्रेम की प्राप्ति के लिए अपेक्षित है । प्राप्त प्रेम की स्थिरता के लिए किसी-न किसी आश्रय की आवश्यकता होनी है । साधना के क्षेत्र में सगुण और साकार ब्रह्म की कल्पना इसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति का मधुर आयोजन है जहाँ उपासक अपने स्वभाव के अनुरूप अपने आदर्श उपास्य को मनोनीत करता है । बाणी द्वारा अप्रकाश्य तथा मन-बुद्धि द्वारा जग्राह्य परमतत्त्व जब भक्त के मानस मन्दिर में प्रकट होता है तब वह भक्त हृदय के मधुर भाव बंधन को स्वीकार कर उससे भाव गहीत रूप में ही अभिव्यक्त होता है । ब्रह्म का यही भाव गहीत रूप मधुर रस-साधना का मूलधार है ।

भगवान् के ज्ञानाश्रित और भावाश्रित रूप

भगवान् का एक रूप ज्ञानाश्रित है और दूसरा भावाश्रित । ज्ञानाश्रित रूप की कल्पना तीन तथा अनिवचनीय कहा गया है । किन्तु भावाश्रित रूप का सम्बन्ध भक्त के हृदय से होता है । भावाश्रित होकर पुष्टपासक तत्पश्चात् अति सूक्ष्म अनूप तत्त्व भक्त के हृदय में उसकी भावना के अनुरूप प्रकट होता है और उससे मनोभावा के मधुर बंधन में आबद्ध रहता है । भक्त की मनोवृत्ति के अनुसार वह स्वामी सत्ता कात् आदि कई रूपा में व्यक्त होता है ।

मध्ययुग के साधकों ने भगवान् के भावाश्रित रूपा का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है । मन-बाणी के अगम अयोधर अचित् परमात्मा के नाम और रूप की कल्पना द्वारा रागमयी भक्ति की ऐसी व्यापक स्थिति भूमि का अनुसंधान किया गया है जिसके भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जगत् समाहित हो जाता है । आत्मा और परमात्मा के बीच दाम्पत्य प्रेम सम्बन्ध की उद्भावना द्वारा जीव और ब्रह्म के तादात्म्य और आन्तर मिलन की मधुर छाकी दिखाने, इतने में अद्वैत का साक्षात्कार कराने एवं लौकिक प्रेम को पारलौकिक प्रेम में रूपांतरित करने की यह मधुर भाव योजना अपूर्व है अद्भुत है । बण्ण साधना के अन्तर्गत भगवान् के नाम और गुणमय रूप की उपासना का यही रहस्य है जिसका प्रचुर प्रभाव निगुनिर्वाणता पर भी पड़ा है । मध्ययुग के सभी साधना मार्गों में नाम साधना तथा रूपोपासना का महत्त्व किसी-न किसी रूप में अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है क्योंकि निगुण, निराकार ब्रह्म जब तक नाम और रूप की सीमा में नहीं आता तब तक वह सर्वजन सुगम सहज बोध-गम्य और ज्ञेय-ग्राह्य नहीं हो सकता । भगवान् के नाम स्मरण का अर्थ ही है भगवान् के भाव गहीत रूप का स्मरण करना ।^२ भगवान् के रूपा भाव गहीत रूप के

^१ श्रीभगवद्गीता, अ० १२ श्लोक २।६।७ ।

^२ दाम्पत्य रूप नाम आधोना । रूप ग्यान नहीं नाम रहित ॥

रूप विमेष नाम विभु जाने । करतल मन न परित्यजि जाने ॥ — रामाश्रितमानस, पृ० २४ ।

माध्यम से भक्तजन उस अनादि अचित्य अगोचर ब्रह्म को जान पाते हैं। सतजन प्रमाजन चक्षुरित भवित रूपी लोचनो से सदब उनका साक्षात्कार करते रहते हैं तथा अचित्यगुण प्रकाश अरूप ब्रह्म को प्रमाजन से अनुगमित करके अपने हृदय में विगिष्ट बनाकर देखा करते हैं।^१

नाम और रूप की उपासना

इस प्रकार भगवान के नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन धर्म साधना की मौलिक विधेयता है। बौद्ध सिद्धों के प्रसोपाय—अद्वयत्व क्षुब्धता और वरुणा के सम्मिलन युगनद्ध मुत्ता साधना जनों की गति कल्पना गवो और नाया व गिव गति-सामरस्य बीजाक्षर मन्त्रा के जप आदि प्रसंगों में प्रकारान्तर से नाम साधना और रूपोपासना-मुत्तम मधुर आन्तर मिलन की मनोरम पृष्ठभूमि की अवतारणा दिखलाई पड़ती है। आशाय हजारों प्रसाद द्विवेदी के गानों में जप की महिमा का खान उस देग में नया नहीं है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने यजाना जप यज्ञोऽस्मि कहकर जप की महिमा बताई है पर साधारणतः जप मन्त्र विधि का हुआ करता था। भगवान के नाम का ही सबसे बड़ा मन्त्र मानना और उसीके जप को समस्त सिद्धियों का मूल मानना उस युग की बहुत बड़ी विधिपता है और इस विधिपता ने ही भगवान के भाव गहीन रूप को इतना महत्त्व दिया है। भगवान का संगुणोपासना के मूल में यह भावगहीत रूप ही है अन्तर केबड़ा इतना है कि यह भाव गहीत रूप भगवान के पूर्व निर्धारित किसी रूप को आश्रय करके होता है। इस प्रकार यद्यपि सूरदास के कृष्ण और हिन हरिवंश के भाव गहीत रूप में थोड़ा अंतर हो सकता है परंतु है वह एक ही शास्त्र समर्थित श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर आधारित। वस्तुतः निगुण बड़े जाने वाले रूप में भगवान की उपासना करने वाला भक्त भी भगवान के इस भाव गहीत गुण विगिष्ट रूप को ही अपनाता है। फिर भी उमकी विधिपता यह है कि उमका भाव गहीन रूप किसी पूर्व निर्धारित और शास्त्र समर्थित आकार को आश्रय करके नहीं होता।^२

पीछ कहा जा चुका है कि भक्ति भावापन साधक के हृदय में उदा और प्रम की जागति के लिए तथा उह स्थिरता प्रदान करने के लिए अनन्त सौम्य अनंत शक्ति और अनन्त गीत से मुक्त आश्रय का होना परमावश्यक है। इसीलिए सत्ता और भक्तों में तीन प्रकार के आश्रय की उभावना की है—

- (१) भगवान का बुद्धि विनिमित्त साकार विग्रह।
- (२) भगवान का प्रतीकमय साकार स्वरूप।
- (३) भगवान का भावना विनिमित्त विग्रह।

भगवान के बुद्धि विनिमित्त साकार विग्रह का परिचय सबसे पहले श्रुतवत् के पुराण

१ प्रमाजनचक्षुरितस्मिन् विलोचनन
मन्त्र मन्त्रैश्च हृदयस्थलोक्तयति।
यस्य मधुररसविषयं गुणप्रकाश
मोदि तन्मिदुक्थं तदहं भवामि॥

—मदनमोहना।

२ मध्यकालीन धर्मसाधना की द्वितीयमात्र विधि, पृ. १४।

सूक्त म त्रिवर्ण पड़ता है। उस विराट् पुरुष का परिचय देते हुए कहा गया है कि उसके सहस्र मिर महत्त्व नत्र तथा सहस्र चरण ये। उसन पृथ्वी को चारा आर स घेर ग्ना था फिर भी वह ग्नागुल मात्र था।^१ 'श्रीमद्भगवद्गीता' म भी भगवान् के विराट् रूप का बड़ा ही विस्मयकारी वर्णन किया गया है।^२ स्वतास्वनरोपनिषद् म भी कहा गया है कि मृत्ति स्थिति और प्रलय—द्वन तान कायों क तीन वर्ता—ब्रह्मा विष्णु और रुद्र ब्रह्म के ही तीन नाम हैं।^३ भक्ता एव सत्ता ने भी भगवान् की अनन्त शक्ति, अनन्त सौम्य और अनन्त पराक्रम को अभिप्रेक्ष्य करने के लिए भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन किया है।^४

ब्रह्म का प्रतीकमय साकार रूप

ब्रह्म क प्रतीका की रूपना सूक्त और समूक्त दो रूपाम की गई है। वद और उपनिषदा म प्रतीक-याजना क अनेक उदाहरण मिलते हैं। तत्तिरीयोपनिषद म ब्रह्म को अन्न प्राण, मन, पान और आनन्द रूप कहा गया है।^५ बृहदारण्यक म अज्ञानानु ने सबप्रथम आन्तिव, चद्र विद्यत आकाश, वायु अग्नि और ग्नाआ म रहने वाले पुरुष की ब्रह्मरूप स उपासना यन्तई है।^६ प्रतीकीकरण मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्रतीका से भरा पड़ा है। यही कारण है कि जीवनके सभी क्षेत्रा म प्रतीक-याजना का ब्राह्म्य मिलना है। घम माधना के क्षत्र म तो प्रतीका का सर्वाधिक महत्त्व स्थिराई पड़ता है। धार्मिक सम्भार और कम काय की विधिया का मन्त्रों के निमाण एव साकार का एव विगिष्ट अय और महत्त्व होता है। ईश्वर निराकार है उसका नाम और उसकी प्रतिमा उसक प्रतीक हैं। हिरण्यगभ आकार स्वयम्भू विम्बनमा सच्चिदानन्द आनि ग्ना उनके गान्त्विक प्रतीक हैं। मययुग की आन्तिवनामूक भावधारा ब्रह्म क प्रतीकमय साकार स्वरूपा स परिपूर्ण है। सन काव्य धारा म तो मन्त्र-श्रुत प्रतीका क द्वारा हा कहा गया है। भक्ता और सत्ता न ईश्वर क प्रति वात्सल्य और दाम्पत्य दाना प्रकार क प्रतीका को अपन काव्य म प्रथम लिया है। अपन साध्य

- १ महत्सरीषा पुरुष सहस्रच सहस्रान्।
म भूमि विश्वतो वृत्ताः पन्धिर्दृशागुलम् ॥

—ऋग्वेद १०।६।१२

- २ परथम प धम्पाणि शगशीष महत्सरा।
नानाविधानि । यानि नानावस्थाः कीनि ॥ २॥ (६ और ३ श्लोक भी)
—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ११

- ३ एको हि ग्ना न द्वितीयोऽय सः शुभ इमोऽस्मीकानीशत इशानीमि।
प्रत्यङ्ग अनारिधति सनुकीगतसाल ममूय विश्वा भुवनानि गोपा ॥२॥

—श्वेतास्वनरोपनिषद् पृ ३०

- ४ कोटि घट जाक परगाम कोटि महादेव अत्र कविनास।
गा कोटि जरी मन्त्र करी, ब्रह्मा कोटि के उच्चरी।
कल्प को ज्यै सब न धरदि अजर अजर मनमा हरदि ॥

—करीर प्रथमानी पृ २५८

- ५ तत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्म नन्वत्तो २ मे ७ अनुव २ द्रष्टव्य।
६ बृहदारण्यकोपनिषद् अ २ श्लो० १।

और उसकी दिव्यानुभूति के स्वरूप में सामान्य भाषा में अप्रपण्य होने के कारण इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने सब कुछ प्रतीकों के माध्यम से ही कहा है।

भगवान् का भावना विनिर्मित रूप

उपासना का एकमात्र लक्ष्य भगवद सान्निध्य अर्थात् भगवद प्रीति को प्राप्त करना है। अतः भक्ति भावापन साधक भावावेश में आकर अपने उपास्य देव में सर्वोत्तम मानवीय गुणा का आरापण करता है क्योंकि वह उनसे द्वारा अपने इष्टदेव के अत्यधिक सान्निध्य पहुँचना चाहता है।

सामान्यतः सभी मानव एक दूसरे के साथ पाँच स्वभावा तथा रसों द्वारा सम्बन्धित हैं। ये रस हैं राग रास्य सख्य वात्सल्य और मधुर। मनुष्य के कुछ आत्मीयजन ऐसे होते हैं जो सभी प्रकार से अपने सम्बन्धी का आदर-सत्कार करते हैं तथा उसे दण्ड-मुनकर आनन्दित भी होते हैं किन्तु उनकी ममत्वबुद्धि उस सम्बन्धी के प्रति उतनी नहीं होती कि वे अपने सबसुख का परित्याग कर निरन्तर उस सम्बन्धी के सुख के लिए प्रयत्न करें। सम्बन्धी के प्रति उनकी प्रीति पूज्य क्रियाशील नहीं होती। ऐसा सम्बन्ध राग रस का कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे परिजन होते हैं जो राग रस निस्वार्थ भाव से अपने सम्बन्धी को सुख पहुँचाने में व्यस्त रहते हैं। सम्बन्धी के प्रति उनकी ममतामयी हृत्ति काम करती होती है जो राग रस का आश्रय करनेवाले सम्बन्धियों में नहीं पाई जाती। इस लोका का सम्बन्ध दास्य रस का सम्बन्ध है।

उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे रसिक सहचर होते हैं जो अपने प्रीति-कौतुक के द्वारा सन्निध सहयोग देकर अपने सम्बन्धी को अपनी प्रगाढ़ प्रीति प्रदान करते हैं। उपपन्न स्वजनो की अपेक्षा ये अधिक अन्तरंग होते हैं। ऐसा सम्बन्ध सख्य रस का कहा जाता है।

माता पिता में ममता की अधिकता होती है। वे दोनों वात्सल्य रस द्वारा मनुष्य को पालन-पोषण और रासन-योग्य समझकर सखाया की अपेक्षा अधिक प्रगाढ़ प्रीति से उसका पालन-पोषण करते हैं। यह सम्बन्ध वात्सल्य रस का कहा जाता है।

सर्वोपरि ममता और प्राप्ति की अधिकता और प्रगाढ़ता अवयवभाव से एकीभाव से सात्त्विकभाव से पुष्ट काता के माध्यम से मधुबलित उज्ज्वल वामक मधुर रस में निहित हो जाती है। स्वागम्यतः सबस्व का भी दान देकर ऐसी घनिष्ठ बन्धु सन्नम रति मधुर रसमयी सेवा का भी अर्थ निहा सम्बन्धियों और सखाया में सम्भव नहीं है। उनमें भी यदि यह प्राप्ति परकीया भाव में अनुत्थित होती है तब मम रसास्वादन में उत्तमोत्तम माध्यम की पराकाष्ठा हो जाता है यद्यपि ऐकिक दृष्टि से यह निःस्वीय एवं वर्जित है। इस प्रकार की माध्यमोपानना में रस माधक मुक्ति को भाँगीदार करना नहीं चाहता।

१ किन्तु प्रीति-मुद्रा में निहित है।

सिद्धि-रसने अनु मुक्ति परवि-पि १९॥

नव-रस निता ७१ रागि-न-नमा ।

दश-कीरा म-रसि मना इन्द्र न शक्तु-र- १७३ ।

निद्र-रस व-रसि का-र-स्व-र- १७४ ।

रमेना-र-र-र-र-र-र-र-र-र-र- १७५ ।

—भक्तिरसमयमि ५ भा १ लक्ष्मी

क्याकि उनके लिए उपास्य की प्राप्ति ही सम्बन्ध है उपास्य की अमिल भक्ति ही अभिषय है और उपास्य का प्रेम महाधन ही प्रयोजन है। इस प्रकार भगवत्प्रम ही ऐसे साधक का नि श्रेयस मंगल है।

दाम्पत्य-भाव में प्रेम की अनन्यता और आत्मनिवेदनासक्ति का चरमोत्कर्ष

उपयुक्त विचार विट्ठला में यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवद भक्ति तथा भगवत्प्रेम प्राप्ति के लिए साधक जितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है उनमें दाम्पत्य सम्बन्ध में ही प्रेम की अनन्यता एवं आत्मनिवेदनासक्ति का चरमोत्कर्ष पाया जाता है। यही कारण है कि भगवद-भक्ति और भगवद प्रीति में पिपासु भक्तजन दाम्पत्य-सम्बन्ध की अपना दाम्पत्य-सम्बन्ध के प्रतीका का अपनाकर जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य भाव को चरिताय करत हैं तथा दोनों के विभाग सयोग की विभिन्न भाव-रूपाओं की अवतारणा द्वारा परमोक्त मधुर रस की भांगि अभियोजना करत हैं।

दाम्पत्य प्रतीक का प्रयोग स गूढ आध्यात्मिक विचार मधुमयी कोमल भावनाओं का रूप में व्यक्त होत हैं जिसमें वाच्य में अलौकिक आनन्द निरम स्फुरित होन लगता है। दाम्पत्य प्रेम में बिट्ठ और मिलन की मधुर और कामल परिस्थितियाँ आता हैं। लौकिक वाच्य में इन परिस्थितियों के चित्रण कामना के उद्दीपक प्रतीत होते हैं और आध्यात्मिक वाच्य में ही चित्र आत्मा की मधुर रसमयी स्थिति की अलौकिक अभिव्यक्ति करन में समय होते हैं।^१ भक्तों तथा सत्ता में आत्मा और परमात्मा में बिट्ठ और मिलन-जय अनेकानेक प्रमाणोन्मिलन मधुमय चित्र दाम्पत्य प्रतीका के सहारे ही अभिव्यक्त किये हैं। मध्ययुगीन संगुण वण्णव रस साधना का त यह सवस्व हा है।

मूल में अद्वैत किन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ भावित द्वैत की कल्पना

मध्ययुगीन धर्म साधना में अन्तर्गत मूल में अन्त किन्तु भगवत्-भक्ति एवं भगवत्प्रीति से प्राप्त आनन्द के रसास्वादन के लिए भाविन द्वैत की कल्पना सदाया बिलक्षण है जहाँ निराकार आकार ग्रहण करत हैं जहाँ निगुण ब्रह्म अपनी अचिन्त्य निष्कलील शक्ति में अप्रमृत्त गुणगण को स्वीकार करत हैं जहाँ वषट्क मुख सुग स्वस्व परमात्मा का अंग बन जाता है जहाँ मन्त्रध्यापक परमात्मा परम प्रभाम्प्य बनकर रसमय प्रेममय और मधुमय हा उन्नत है जहाँ प्रीति प्रभु का स्वभाव बन जाता है जहाँ रसरूप भगवान् रस पाकर आनन्दी होते हैं तथा भाविन द्वैत अन्त से श्रुष्ट बन जाता है।

इस प्रकार मूल में अद्वैत किन्तु आनन्द के लिए द्वैत की कल्पना आवश्यक है। नर और नारी प्रकृति और पुरुष तथा आत्मा और परमात्मा मन्त्र एवं और अनिन है। दोनों का एक दूसरे का पूरक माना गया है। अतएव दोनों में एक-दूसरे का प्राप्त कर पूजना प्राप्त

१ पदों की विचारधारा का गहिना विगुणावध पृ ३६०।

करने की मधुर चाह है।^१ यह पूरा आंतर मिलन दाम्पत्य माधुर्य भाव में ही सम्भव है। यही मधुर रस साधना का रहस्य है।

इस प्रसंग में एक और भी उत्प्रेक्षणीय बात यह है कि पारमार्थिक सत्य की अपेक्षा किंचित्पूरा सत्ता का एक और सत्य माना जाता है जो भजनोपयोगी है। इससे उस पारमार्थिक चरमसत्ता की अद्वैतता में कोई त्रुटि नहीं आती। अद्वैत ज्ञान होने पर यदि भजनोपयोगी द्वय मानकर भगवान् में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सक्टा मुक्तिया में भी श्रृष्ट है। प्रत्यक्ष चतुर्थाभिन्न परब्रह्म का विज्ञान होने के पहले द्वयज्ञान या द्वयभाव जीव के बधन का कारण होता है किन्तु विज्ञान के बाद भेद मोह के नष्ट हो जाने पर भक्ति के लिए भावित द्वय भाव ज्ञान से भी उत्पन्न है।^२ मध्यकालीन सगुणोपासक भक्ता की मधुरोपासना तथा निगनिया सत्ता का माधुर्यमय रहस्यवाद अद्वैत ज्ञान के बाद भावित द्वय की ही मधुर अभिव्यक्ति है।

मध्यकालीन धर्म साधना के विभिन्न मार्गों पर गहराचाय के अद्वैतवाद तथा रामा गुजाचाय के विविष्टाद्वैतवाद का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है उसकी घुंका की जा चुकी है। जब आगे मूर्त में अद्वैत किन्तु आनन्द के लिए भावित द्वय की कल्पना द्वारा मधुरोपासना को दार्शनिक आधार पर खड़ा करने वाले एवं इस प्रकार के प्रमाविष्ट जाघ्यादिमय वातावरण में निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवर्धन किया जा रहा है।

द्वैतवाद

परम तत्त्व एक है या दो या दो से अधिक है—जान प्रश्नों का लेकर अन्तर्वादा द्वैत वादी द्वैतान्तवादी जाति कई प्रकार के दार्शनिक मतवाद प्रचलित हैं। जो चरम सत्त की एक मानते हैं उनके दार्शनिक सिद्धान्त को एकत्ववाद जो दो मानते हैं उनके सिद्धान्त को द्वैतत्ववाद जो दो से अधिक मानते हैं उनके सिद्धान्त को बहुत्ववाद और जो इन सबके समकित रूप को मानते हैं उनका सिद्धान्त को गुढान्तवाद विविष्टान्तवाद और द्वैतान्तवाद कहा जाता है।

द्वैतवाद भी अथ दार्शनिक मतवाद का समान वर्णन है और इसका भी लक्ष्य मात्र मानित्य प्राप्त करना है। यह भी ब्रह्मवाद ही है किन्तु इसमें जगत् और ब्रह्म की परस्पर भिन्नता माय है। ज्ञान का प्रवर्तक मन्वाचाय (१३वीं सदी का उत्तरार्ध का) है। एनीति इस मान्यमन की सत्ता भी दो गई है। मन्वाचाय का ज्ञान या

१ One longs for another for perfection

—M M Gopinath kaviraj

२ दाम्पत्यम न दत्त भजनहृदय ।

न दृष्टी यदि भक्ति स्वाम्या तु मुक्तिराय धिक्ता ॥

न मोहय बाध गुरु जाने बाध मनीषया ।

भक्त दध भावित द्वयन तावि मुक्तम् ॥

—नन्दाय न भक्ति-युक्त में उद्भूत

स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद मूलन मकरावाय के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में भविष्यवाणी के प्रवर्तन का ही प्रतिफल है। मकरावाय ने श्रुति तथा तर्क का आधार पर सिद्ध किया है कि ससार मिथ्या नहीं है जीवब्रह्म का आभास नहीं है और ब्रह्म ही एकमात्र सत् नहीं है। इस प्रकार मकरावाय ने अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए पंचनित्य भेद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिससे अनुसार ईश्वर का जीव से नित्य भेद है, ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है जीव का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद है तथा एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद है। अपरम मन के समर्थन में मकरावाय ने अद्वैतवाद की स्पष्ट पुष्टि करने वाले उपनिषद् के बहूनाम वाक्यों (यथा—तत्त्वमसि अथमात्मा ब्रह्म ब्रह्मविद् ब्रह्म य भवति 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म सर्वं त्वत्त्वं ब्रह्म आत्मा आत्मा') की हननाती व्याख्या की है। जिसके अनुसार इन वाक्यों का यह अर्थ गम्यमान हो जाता है कि केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और अन्य सब कुछ मिथ्या है।

माध्वमत में कुछ दस पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष विनिर्दिष्ट अणु, शक्ति सादृश्य और अभाव। इनमें प्रथम पाँच और अन्तिम वाग्विषय पदार्थ ही हैं। नैप माध्वमत की वाग्विषय मन में विनिर्दिष्ट है। इस मत में योग्य प्रकार के द्रव्य माने हैं—परमात्मा ज्ञानी जीव, अध्यात्म आराग प्रवृत्ति गुणत्रय अन्तर्गत तत्त्व बुद्धि मन इन्द्रिय मात्रा भूत ब्रह्माण्ड अधिष्ठाता कण अधिष्ठाता धामना वाय और प्रतिनिधित्व। इनमें से अधिष्ठाता साध्यात्मन के तत्त्वा से सगर्हीन किया गए हैं। माध्वमत का ईश्वर वास्तव अणु में मान्य के ईश्वर से सादृश्य रखता है। उसकी प्रवृत्ति साक्ष्य की प्रवृत्ति से मिलती जुटती है।

मकरावाय के मतानुसार 'ब्रह्म सगुण और त्रिविध है। अनन्तगुण परिपूर्ण जाब और जगत से सबका विच्छेदन, एक होकर भी नाना रूप धारण करने वाले परमात्मा ही साक्षात् विष्णु हैं। लक्ष्मी उनकी शक्ति है जो परमात्मा के अधीन होने हुए भी उनमें मिलती है। जीव अणु परिमाण है। भगवान् और जीव में तत्त्वभेद सम्प्रत्यक्ष है। ससार सत्य है। पदार्थ या तत्त्व के दो भेद हैं—स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र। अणु सद्गुण भगवान् विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं तथा जीव और जगत अस्वतन्त्र तत्त्व हैं। इस प्रकार माध्वमत पूर्णरूपेण द्वैतवादी है।'^१

माध्वमत में जीवशक्ति और निवाणशक्ति को निरन्तर वतलाकर वकुण्ठ प्राप्ति को ही शक्ति माना गया है। शून् सूर्यम सब वस्तुओं के यथायथ ज्ञान होने पर ईश्वर और जीव के पृथक्त्व के पूर्ण ज्ञान होने पर ईश्वर के गुणों की उपरान्त ज्ञान पर, ईश्वर के अनन्त सौन्दर्य

१ मकरावाय द्वारा उपनिषद् के अद्वैतवाद परक वाक्यों का दैनिक अर्थ इस प्रकार किया गया है—

तत्त्वमसि—इसका अर्थ 'तू तू है' ऐसा न मानकर 'तू तूमा है अर्थात् तूने और तूमें भेद है' ऐसा कहा गया है।

अथमात्मा ब्रह्म—इसका अर्थ 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा न मानकर 'यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म नहीं है, ऐसा कहा गया है।

ब्रह्मविद् ब्रह्म ब्रह्मवि—इसका अर्थ 'ब्रह्मविद् ब्रह्म ही होता है, ऐसा न मानकर 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के समान हो जाता है' ऐसा कहा गया है।

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, 'सर्वत्र ब्रह्म का अर्थ यह नहीं है कि केवल ब्रह्म ही परमात्र सत् है और सब कुछ मिथ्या है।

२ 'हिन्दुस्तान', १९४६, १६२।

अन्त गति और अनन्त नील का बोध होने पर तथा समस्त जागतिक पदार्थों के मयाय स्वरूप का बोध होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।^१

इस प्रकार जीव जगत और ईश्वर के पृथक्त्व को सिद्ध करके मध्वाचार्य ने साधन रूप भक्ति को पूरा विकसित किया। राधा-कृष्ण की भक्ति के प्रसार प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान देकर मध्यकालीन वष्णव धर्म-साधना के अन्तर्गत निरन्तर प्रवहमान मधुर रस साधना को अक्षण्ड धारा का उदघाटन किया तथा नाम और रूपोपासना के भक्ति-द्वार को खोलकर उसे सबजन सुलभ एवं सबजन ग्राह्य बना लिया। गिराचार्य के मायावाद के कारण जनता में नराशय निरीहता और नि सहाय भाव का जो कुहरा फल चुका था उसे बहुत-कुछ दूर करके राधा-कृष्ण की युगलोपासना की मधुर रस धारा से जन मन की अभिसिंचित एवं सतृप्त कर उसमें नवीन आगा उत्साह और नव्य जीवन-स्फूर्ति भरनेवाला मध्वाचार्य का नाम सबसे पहले आता है।

द्वताद्वतवाद

द्वताद्वतवाद-मत का इतिहास पर्याप्त प्राचीन है। ब्रह्मसूत्र से ज्ञात होता है कि महर्षि बादरायण के पूर्व औडलोमि और आश्वमेध ने भेदाभेदवाद का प्रतिपादन किया था। इनके मतानुसार कारणात्मका जीव और ब्रह्म में अभिन्नता है किन्तु कार्यात्मका दोनों में भिन्नता भी है। इनके अतिरिक्त गिराचार्य के पूर्ववर्ती भट्टप्रपञ्च रामानुजाचार्य के पूर्ववर्ती भास्कर तथा पञ्चातमावी याज्ञवल्क्य भेदाभेदवादी दार्शनिक थे जिन्होंने नियणवात् तथा मायावात् को अमाय सिद्ध किया था। किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्र की विष्णुपरव व्याख्या द्वारा कृष्ण के साथ राधा की उपासना का समावेश करके द्वताद्वतमत की स्थापना करने वाले दाक्षिणात्य तन्त्र ब्राह्मण निम्बार्काचार्य ही हुए। वष्णवों के चार प्रमुख सम्प्रदायाँ (ती वष्णव सम्प्रदाय माध्व सम्प्रदाय रद्र सम्प्रदाय और सनक सम्प्रदाय) में एक निम्बार्क सम्प्रदाय (सनकादि सम्प्रदाय) की भी गणना होती है।

निम्बार्काचार्य के मतानुसार ब्रह्म द्वन भी है और अन्त भी। जीव और ब्रह्म में अगाधि भाव सम्बन्ध है। ब्रह्म स सत्ता की भिन्नता भी है और अभिन्नता भी। इस प्रकार ब्रह्म जीव और जड़ अर्थात् चेतन और अचेतन से अत्यन्त पृथक् और अपृथक् है और ये दोनों दत्ताएँ समान रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार जीव और जगत को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न और अभिन्न मानना यद्यपि व्याधानामक प्रतीत होता है तथापि यही वास्तविक सत्य है। जिस प्रकार काय हरी घट कारण हवा मिट्टी में अभिन्न है क्योंकि दाता की एक ही मायमयी है और साथ ही दाता एक-दूसरे से भिन्न भी है क्योंकि दोनों के नाम रूप आकार प्रयोजन आदि अलग-अलग हैं उसी प्रकार काय रूप जाव और जगत् कारण रूप ब्रह्म में भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। ब्रह्म अन्त अमान एवम् है तथा उसका परिणाम रूप जाव और जगत् अन्त अर्थात् नाना रम्य है। इस प्रकार अन्त ब्रह्म ही द्वन समार का रूप धारण करता है। काय-कारण-सम्बन्ध के अनुसार तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर द्वताद्वतवाद या भेदाभेद ही सर्वाधिक माय्य ठहरता है।

रामानुजाचार्य व ममान निम्बार्काचार्य ने भी परमतत्त्व व तीन रूप मान हैं—ईश्वर जीव (चित) और जड जगत् (अचित)। ईश्वर में अनन्त वस्तुआ का उत्पन्न करने की शक्ति है। ईश्वर अपनी शक्ति का अनुभव मात्र करने से नामरूपात्मक ममान का रूप धारण करता है। ब्रह्म के सगुण और निगुण दोनों रूप हैं पर शक्ति व शक्ति सगुण का ही विग्रह महत्त्व है। भीतर और बाहर सब ईश्वर व्याप्त है। परमब्रह्म नारायण भगवान् कृष्ण पुरुषोत्तम आदि उनके अनेक नाम हैं। विविधद्वन्द्ववाच्या के समान निम्बार्काचार्य जीव और जगत् को ईश्वर का अग्रभूत नहीं अपितु शक्ति मानते हैं। इनके मन में जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानाधार्य है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता भी है। परिमाण में वह अणु है विभु नहीं। वस्तुत्व की दृष्टि में जीव स्वतन्त्र है किन्तु भाग प्राप्ति की दृष्टि से वह दशराधीन है।

अचित अथवा जड जगत् व तीन रूप हैं—प्रकृति अथवा महत्तत्त्व से उत्पन्न महाभूत तथा प्रकृति से उत्पन्न जगत् अप्रकृत अथवा प्रकृति व रास्य से बहुभूत तथा काय।

निम्बार्क-मत व अनुसार भक्ति का प्रमुख साधन प्रपत्तिभूतक भक्ति है। ईश्वर के प्रति सदात्म समर्पण और भगवद्-परायणता से ही जीव भगवत् अनुग्रह का अधिपति होता है। प्रपत्ति के बिना ईश्वर में मिश्रण असम्भव है।

निम्बार्क का प्रथम बर्णन है जिन्होंने कृष्ण और राधा को सर्वप्रथम विग्रह महत्त्व दिया। महत्त्वा मन्त्रिया में घिरी हूँ राधा और उससे बल्लभ कृष्ण निम्बार्क के आराध्यदेव हैं। दोनों का जाल ही सृष्टि का रहस्य है। रामानुज व पूर्व भक्ति का अथ परमेश्वर व प्रति अनन्य प्रेम ही था। रामानुज ने इस अर्थ में औपनिषदिक उपमानों (मनन अवन और चिन्तन) का मिला दिया। निम्बार्क ने हमको अमाय समझ व शक्ति का भूत अथ ही ग्रहण दिया। रामानुज ने एवम प्रधान भक्ति की गिना दी। उनके मन में ईश्वर की भक्ति इसलिए होती है कि ईश्वर उत्तम अनुत्तम महान्-महान और अनन्त है और इन गुणों व कारण उसके प्रति आकर्षण श्रद्धा और भक्ति होती है। निम्बार्क ने इस एवम प्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति की गिना दी। भगवान् व एवम से उनकी ओर आकृष्ट होना प्रेम-साधना का आरम्भ मात्र है। मन्त्र साधना तो उससे प्रेम तथा जीवन्त साहचर्य में बंधना है उनकी मधुरिमा का आम्बान करना है और उसे मधुर रूप में दत्तना है। जीव और ईश्वर व सम्बन्ध में माधुर्य भाव का पुट देना निम्बार्क का ही काम था।^१

परब्रह्म कृष्ण के साथ राधा की उपासना का समावेश

श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर उनके साथ राधा का उपासना को समाविष्ट करके एवम प्रधान भक्ति व स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित करने का निम्बार्काचार्य ही हैं। उन्होंने अपने शिष्या की नामक स्तोत्र में राधा को कृष्ण की भूत प्रवर्ति मानते हुए सदा राधा कृष्ण को माधुर्य प्रधान भक्ति पर ही जोर दिया है। ब्रह्म में

१ हिन्दी साहित्य-बोश, पृष्ठ ३५।

२ अने तु नाम कृष्णानुश मुना

विराजमानामनुकूलमभगाम्।

मयोमदधौ परिमविता मदा

रमेम मेवी सकलेष्टकामान्॥

भिन्न होते हुए भी उगमे अपने अस्तित्व का विलयन करना ही जीव की चरम साधना का मधुर गोपपत्र है। जीव और ब्रह्म के इस आंतर मिलन की साधना लीला-युगलोत्तम कृष्ण और अपूर्व माधुर्य रस आगरी श्री राधा की युगलोपासना से ही चरितार्थ होती है।

राधा कृष्ण की युगलोपासना का रहस्य

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की युगलोपासना के रहस्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि भगवान के पुरुष विग्रह में जिस तरह श्रीकृष्ण भूति प्रधान है, स्त्री विग्रह में उसी तरह श्री राधिका भूति प्रधान है। श्री राधिका भगवान की आह्लादिनी भक्ति हैं। सतचित और आनन्द-स्वरूप परब्रह्म की आह्लादिनी भक्ति हो उसकी विपत्ता है। सतचित सत्ता और चतुष्टय तो जीव में भी पाये जाते हैं ब्रह्म की विवेचना उसका सन्तान-दमय रूप है। राधा उसी सन्तान-दमयता को रूप देने वाली आह्लादिनी भक्ति है। इसलिए राधिका अथ गोपिया से गूढ़ है।^१

भगवान के माथ सयुक्त रूप में स्त्री भूति की भक्तिपूर्वक अचना करने से स्त्री-भूति के प्रति काम भाव का तिरोभाव हो जाता है और स्त्री पुरुष के मियुनीकृत भाव का भगवल्लीला के रूप में दान करते करते साधक सहज ही निष्ठा प्राप्त करके तद्विषय में निमग्नत्व प्राप्त करता है। इसीलिए तो भावन भक्तगण श्रीकृष्ण के वामांग में विराजिता श्रीकृष्ण के अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणों से समचिन्ता नित्य निरंतर सहस्र सहस्र सखियाँ से परिसरिता तथा मकर जना की अभीष्ट प्रणयिका प्रमत्त बना बध्मानु नदिनी श्री राधा का ध्यान करते हैं।^२ श्री भट्ट रचित जुगलसत तथा हरिव्यास रचित महावाणी रंग सम्प्रदाय के दो प्रमुख ग्रंथ हैं जिनमें राधा कृष्ण के नित्य विहार का वर्णन ही व्यापक एवं सरस निरूपण किया गया है।

हिन्दी के सभी निगुनिया सत्ता तथा सगुणोपासक भक्ता पर निम्बार्कधायक इन्द्राक्ष वाच अथवा भेगभेवाच का सद्बालिक एवं व्यावहारिक दानो रूपों में स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को बतलाने के लिए उन्होंने जिन रूपों का प्रयोग किया है उनमें यह स्पष्टतः मिश्र हो जाता है। जैसे बूँद में सागर है और सागर में बूँद है वन है जीव में ब्रह्म है और ब्रह्म में जीव है। इस प्रकार के रूपों में यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों का तत्त्ववाच भेगभेवाच इन्द्राक्ष पर ही आश्रित है। तबले सगुणोपासक मधुर रसवादी भक्ता के राधा-कृष्ण का जो नियम प्रम विहार है वह निगुनिया सत्ता के राजाराम और उसी मुक्ति गुणित के अतीव्र प्रणय-व्यापार से भिन्न नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि में वर्णाश्रम में वर्णव मधुर रस-साधना का प्रवेश शीघ्र स्वाभाविकता का सिद्धान्त ही है।

सुद्धाद्वैतवाद

सुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक श्री विष्णुस्वामी भा दार्शनिक वर्णव आचार्य थे। सिद्धान्त में मध्वाचार्य के मतानुसार यह किन्तु उन्होंने मध्वाचार्य के द्वैतवाद में धारणा १ मध्वाचार्य के मतानुसार डॉ. ए. प्र. वि. १९२१।
२ मध्वाचार्य के निम्बार्कधायक दृष्टिकोण।

परिवर्तन करके शुद्धाद्वत व दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इन्होंने अद्वतवाद से माया को हटाकर, कारण रूप और कार्य रूप दोनों प्रकार से ब्रह्म को गुद्ध माना। इनका मतानुसार माया रहित ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। सारा जगत प्रपञ्च उसी का लीला विलास है। इस सिद्धान्त के अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है मायिक नहीं। विष्णुस्वामी ने राधाकृष्ण की भक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। नाभाभाष्य के अनुसार विष्णु सम्प्रदाय या रूद्र सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव त्रिलोचन आदि सन्त हुए और उन्हीं की परम्परा में दाक्षिणात्य बल्लभाचार्य का आविर्भाव (१४७६ ई०) हुआ जिन्होंने विष्णुस्वामी व शुद्धाद्वतवाद की पूर्ण स्थापना की तथा पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया। इसीलिए बल्लभाचार्य को इस मार्ग का मुख्य दार्शनिक आचार्य कहा जाता है। बल्लभाचार्य ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए अणु भाष्य, जमिनि पूव मीमांसा भूत्रभाष्य, सुबोधिनी तत्त्वतीपनिबन्ध आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वत व गकराचार्य व भाषावाद को संवत्सरा जस्वीकार किया गया है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से माया से रहित अद्वैत ही शुद्धाद्वत है। बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वत में ज्ञान से अधिक महत्त्व भक्ति को दिया गया है क्योंकि ज्ञान मार्ग से ब्रह्म का केवल निरूपण किया जा सकता है किंतु भक्ति मार्ग से उसकी साक्षात् स्वानुभूति ही होती है। जिस प्रकार रामानन्द ने रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत को मानते हुए अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति का प्रवर्तन किया उसी प्रकार बल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का ग्रहण करके अपने पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया।

बल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग

बल्लभाचार्य ने श्रुति स्मृति को एकमात्र प्रमाण मानकर सभी पदार्थों को ब्रह्मस्वरूप माना। वह एक और अद्वितीय सत्त है। उपनिषदा न उसको ब्रह्म कहा गीता ने पुष्टपोत्तम और भागवत ने परमात्मा या कृष्ण। कृष्ण ही ब्रह्म ईश्वर या परमात्मा हैं। वे सगुण हैं पर निर्विण्ण भी हैं सगुण हैं पर निगुण भी हैं अणु हैं पर महान भी हैं अचक्षु हैं पर कूक्ष्य या अक्षर भी हैं गम्य हैं पर अगम्य भी हैं। वे विरुद्ध धर्मों या गुणों का आधार हैं। वे सत् चित और आनन्द हैं। उनके सभी गुण उनसे स्वभावतः अभिन्न हैं वे उनकी शक्ति या माया नहीं हैं। उनके स्वरूप से ही समस्त जगत आविर्भूत होता है और ऐसा होने पर भी वह अविवृत रहता है। इस मत को स्वरूप-परिणामवाद कहा जाता है। जगत काय रूप स ब्रह्म ही है। जगत की उत्पत्ति और नाश नहीं होता प्रत्युत आविर्भाव और निरोध होता है। अनुभव-योग्य होने पर जगत का आविर्भाव होता है और अनुभव-योग्य न होने पर जगत का निरोध। हम मन ईश्वर की इच्छा ने विनाश से प्रादुर्भूत पदार्थ को जगत कहते हैं और अविद्या या अनान ने द्वारा जीव स कल्पित ममता-अहंता रूप पदार्थ को समारम्भते हैं। ससार की सत्ता अविद्या के कारण है। ज्ञानोपपत्ति से ससार का नाश होता है पर जगत् ब्रह्म रूप होने से सत्ता अविद्याही और मत्त्व रहता है।^१

१ 'हिन्दी-साहित्यकोश', १, ७६१, ७, ७।

^२ 'मम सत्य जगत् सत्य विद्या समारम्भते'—बल्लभाचार्य।

प्रकार प्रेमभाव की चरम-सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है। अन भगवान् भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेमतत्त्व को बल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनसे अनुप्रायी कृष्ण भक्त कवि इसी को लेकर चले।^१ इस प्रेम-साधना में एक भयादा और वेद-मर्यादा के त्याग की विधेय ठहराया गया।

बल्लभाचार्य के मतानुसार प्रेमलक्षणाभक्ति की ओर भगवान्नुग्रह से ही जीव की प्रवृत्ति होती है। यह स्नेहोदय भगवान् के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। भगवान् के इस अनुग्रह को पोषण या 'पुष्टि' कहते हैं। बल्लभाचार्य ने इसी को पुष्टि-मार्ग (Path of Devine Grace) कहा है, जिसका प्रचुर प्रभाव सभी क्षणिक भक्त कवियों पर पड़ा है।

ब्रह्म-सम्बन्ध और ताप

स्नेह साधना में सद्गुरु को ही ईश्वर की प्रीति का प्रदाता माना गया है। साधक और माध्य का स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सद्गुरु की सहायता के बिना स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी को पुष्टि मार्ग में ब्रह्म सम्बन्ध' कहते हैं। 'ब्रह्म सम्बन्ध के बगैरे ही मिलनच्छा प्रवृत्ति हो उठती है, जिसे ताप कहा जाता है। यह ताप ही पुष्टि-साधना का मुख्य तत्त्व है। पुष्टि मार्ग के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिरायजी के मतानुसार जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक सवाम तथा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप प्राप्ति में साधन है अथवा जहाँ जो फल है वहीं वह साधन है उसे पुष्टि-मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग में समस्त मिद्विषय का एकमात्र धारण भगवान् का अनुग्रह ही है जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं जिस मार्ग में भगवद विरहावस्था में भगवान् की लीला के अनुभव-मात्र से सयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में सब भावा में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावा के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है वह पुष्टि मार्ग कहलाता है।^२

पुष्टि के भेद

बल्लभाचार्य ने चार प्रकार की पुष्टि भक्ति का वर्णन किया है—प्रवाह पुष्टि मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। ससार में रहते हुए महसूस जीवन-यापन करते हुए श्रीकृष्ण की भक्ति करने वाले प्रवाह पुष्टि भक्ति करते हैं। ससार के वपयिक मुक्त से विमुक्त होकर ईशानुत्पत्ति, चित्तन कीर्तन करने वाले मर्यादा पुष्टि भक्ति की साधना करते हैं। पुष्टि-पुष्टि भक्ति के साधक पहले ईश्वर की कृपा प्राप्त कर भक्त बनते हैं और फिर ईश्वरानुग्रह-लभ कर अधिकारिण ब्रह्म जान और हरि भक्ति के अधिकारी जाना होते हैं। शुद्ध पुष्टि भक्ति पथ के साधक भगवान् से अमित प्रेम करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते। वे सबनोभावन कृष्णमय हो जाते हैं। प्रेम, आसक्ति और व्यसन इनके तीन साधन हैं। शुद्ध पुष्टि भक्ति का उत्साहरण गोविंदा की भक्ति है। इस वाटि के भक्त सायुध मुक्ति का

१ रीतिरालीन कविता और मधुर रस का विवेचन डॉ० रा० प्र० शुक्ल, पृ० १६०।

पोषण सम्प्रदाय।

—भाष्यतत्त्वार्थ १० स्व०, अ० १, श्लो० ४ दृष्टव्य।

२ भक्तदास और बल्लभ सम्प्रदाय में 'श्री पुष्टिमार्ग सद्यस्यानि' नामक निबन्ध दृष्टव्य।

भी निरस्कार कर भगवान् की रासलीला में भाग लेने को ही परममुक्ति मानते हैं। श्रीकृष्ण रसराज निखिल सौन्दर्य रसानन्द मूर्ति है तथा सभी रसों को विरोधन मधुर रस को प्रकाशित करने वाले है। वे अपने भक्तों के सम्मुख मधुर रस के संयोग और विप्रक्रम दोनो रूपों का अभिव्यक्ति करते हैं। प्रपत्ति संवरणावत्सल भगवान् आप ही आप पुष्टि दे देते हैं। इस प्रकार प्रपत्ति से ही पुष्टि का आरम्भ होता है।

पुष्टि भेद के अनुरूप तीन प्रकार के जीव माने गए हैं—पुष्टि जीव मर्यादा-जीव और प्रवाह-जीव। ईश्वर का परम कृपा पात्र बनकर ईश्वर से अनन्य प्रेम करने वाले पुष्टि-जीव हैं। वह विहित भाग से ईश्वर की पूजा करने वाले तथा वेदाध्ययन करने वाले स्वर्गावासी मनुष्य मर्यादा जीव कहलाते हैं। समस्त प्रवाह में बहने वाले और वषट्क सुख भोग से आनन्दित निरुद्धय जीवन बिताने वाले प्राणी को प्रवाह जीव की संज्ञा दी गई है।

राधा कृष्ण भक्तिमार्गी मधुर रस-साधना के विकास की दृष्टि से बल्लभाचार्य के पुष्टि भाग में तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं—गोप और गापिया के जीवन का भक्तों द्वारा अनवरण गापिया का कृष्ण प्रेम की वास्तविक अधिपति हाना तथा साक्षात्कृत जीवन-साधन करते हुए राधा कृष्ण भक्ति के लाला रस से आप्लावित हाना। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रवाह पुष्टि के नाम पर अनेक सखी सम्प्रदायों की स्थापना होने लगी तथा शैविक शृंगार रस की धारा बगवत्क प्रवाहित होने लगी।

निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य ने अपने-अपने दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक सिद्धांतों के अनुसार जिस राधा कृष्ण मार्गी मधुर रस-साधना का सूत्रपात किया उसे सबसे पहले भक्ति वाच्य-शब्द के अंतर्गत प्रगल्भ रूप में प्रस्तुत करने का अभिनवनीय प्रयास महाकवि जयदेव ने किया। इन महापुरुषों के सत्प्रयास से बल्लभाचार्य के समय तक राधाकृष्ण की युगोपासना का पर्याप्त प्रचार प्रसार हो चुका था जिसने परिणामस्वरूप मधुर रस की मन्दाग्नि बड़ वेग के साथ प्रवाहित होने लगी थी। श्री बल्लभाचार्य ने अपने पुष्टि भाग की गार्होक्त व्यवस्था द्वारा राधा कृष्ण की प्रेम-लक्षणाभक्ति तथा मधुर रस साधना को उत्तर पर पहुँचा दिया। इनके अनयायी भक्त-कवियों में अष्टछाप के गिरधारी महाकवि मूरदाम अग्रगण्य हैं। मूरदास ने भगवन्प्रेम के रति भाव के तीन प्रमुख रूप—सख्य रति वास्तव्य रति और दाम्पत्य रति को अपना कर रागात्मिका भक्ति को प्रतिष्ठित किया तथा सायुज्य मुक्ति का मार्ग-ज्ञान किया। मूरदास की तार्किक सफ़लता यही है कि सच्च प्रेम-भाग के त्याग और पवित्रता का ज्ञान भाग के त्याग और पवित्रता के समर्थन रखने में बड़े सुख सफल हुए हैं। साथ ही उन्होंने उन त्याग को रागात्मिका-भक्ति द्वारा प्रतिष्ठित किया कर भक्ति-भाग या प्रेम भाग की गुणमत्ता का प्रतिपादन भी किया है।^१ महाकवि मूर एवं अन्य कृष्ण भक्तकवियों के सत्प्रयास में समस्त उत्तर भारत में राधा-कृष्ण की प्रेम-लक्षणाभक्ति के प्रचार प्रसार द्वारा मधुर रस की प्रभाव-वर्धक प्रवृत्ति प्रवाहित होने लगी जिसमें मध्यकालीन सभी प्रकार के निगुण मगुण-साधना-शत्रु का आप्लावन कर दिया। राधावल्लभाचार्य आदि कई राधा भाव प्रधान सम्प्रदायों का स्थापना होने लगी जहाँ राधा-कृष्ण के नित्यविहार को अंग्रेजिक गीताओं की अनजाने मधुर भाव भूमियाँ का भट्टि की जान लगी। यहाँ तक कि एक प्रमाण में

विधि निषेध और मर्यादावादी के कठिन बगारा से प्रवाहित होने वाली राम भक्ति धारा में भी मधुरापासना के कमनीय कमल खिलने लग गये। मर्यादापुरुषोत्तम राम और सीता की माधुर्य विभूतियाँ की गतश अभिचयना की जाने लगी और उससे सम्पन्न म सहिता ग्रन्था की रचनाएँ भी की जाने लगी।

अचित्यभेदाभेदवाद

अचित्यभेदाभेदवाद के दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन महाप्रभु चतुर्थ हैं। उन्होंने अपने जीवन में ही ब्रह्मचर्य की गोपियाँ की आनन्दमयी भाव विह्वलता की अनुभूति प्राप्त की थी। उन्हें स्वयं श्री राधा की गम्भीर विरह-वेदना की पूर्ण अनुभूति हुआ करती थी और उस महाभाव दशा में उनके भावाकुल नेत्रों से प्रमाद्यु की धारा प्रवाहित होने लग जाती थी शरीर गोमाचित हो उठता था और वे ग्राह्य सजा भूय हो जाते थे। श्री चतुर्थ ने भगवान के प्रति रागमयी भक्ति पर विशेष बल दिया है। 'जिस प्रकार कोई पर-पुरुष-अनुरक्ता पर कीया नारी गह-कामों में व्यस्त रहनी हुई भी अपने हृदय में अवश प्रेम की आनन्दानुभूति के लिए यत्न रहा करती है उसी प्रकार भक्त भी अपने लौकिक कृत्या में सलग्न रहने पर भी प्रियतम प्रभु के रसमय ध्यान में मग्न रहता है।'^१

ब्रह्म और जीव का भेदाभेद

हमो परकीया भाव को अपनी भक्ति भावना का आदर्श मानकर श्री चतुर्थ ने चतुर्थ या गौडीय ब्रह्मव सम्प्रदाय का स्थापना की तथा इस दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए अचित्यभेदाभेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और जीव में भेद भी है और अभेद भी। ब्रह्म और जीव तात्त्विक रूप से चित हैं। अतः दाना में अभेद है। लेकिन ब्रह्म अणी है और जीव अणु है ब्रह्म विभु चित है और जीव अणु चित है ब्रह्म सत्त्व तथा सवगन्निमान् है और जीव अल्पण एव रघुगन्निमान् है, ब्रह्म परमानन्दमय विग्रह है और जीव मायाग्रस्त हा दुःख भोगने वाला है। अतएव ब्रह्म और जीव में स्पष्ट भेद है। ब्रह्म और जीव के इस भेदाभेद सम्बन्ध को साप और उसकी कुण्टली बस्तूरी और उसकी गंध तथा अग्नि और उसने स्फूर्लिंग के उन्माहरणा द्वारा स्पष्ट किया गया है और कहा गया है^२ कि जीव-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व के सम्बन्ध में गीता विष्णु पुराणादि का भी यही प्रमाण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं और उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं। जीव भगवान् की शक्ति है और भगवान् स्वयं स्वशक्तिमान हैं। ब्रह्म मज्जातीय

१ परमपतिनी नारी स्वयापि गृहमयि।

संवासायस्य त परमरमायनम् ॥

— पञ्चशी ६।८४

२ इवेर तत्त्व येन चित्तचक्रन।

जीवेर स्वरूप येन स्फुल्लिमर कण ॥

जीव तत्त्वशक्ति, कृष्णतत्त्व शक्तिमान्।

गीता विष्णु पुराणादि तादात्म्ये प्रमाण ॥

विजातीय और स्वगत—तीनों भेदों से परे है। वह स्वयं सिद्ध है किन्तु जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं की जा सकती। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में भेद भी है और अभेद भी। इसीलिए जीव तत्त्व और ईश्वर तत्त्व के इस विलक्षण सम्बन्ध को भेद-भेद की सत्ता दी गई है।

शक्ति और शक्तिमान में न तो परस्पर भेद ही मिश्र किया जा सकता है और न अभेद ही। अतएव जीव और ब्रह्म का यह भेदाभा सम्बन्ध तक द्वारा अचिन्त्य है। श्री रूप गोस्वामी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि अचिन्त्य अनन्त शक्तियों के कारण एक ही परम पुरुष में एकत्व और पृथक्त्व अभाव और अगित्व का रहना कदापि अयुक्त नहीं रहता।^१

श्री रूपगोस्वामी के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी स्वरूप शक्ति शक्तियों से अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य होने के कारण भिन्न प्रतीत होता है और उनसे भिन्न रूप से चिन्तन करना भी अशक्य है। अतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान में भेद और अभेद दोनों की प्रतीति होती है और दोनों ही अचिन्त्य शक्ति हैं। इसीलिए हमें अचिन्त्यभेदाभेद कहा गया है।^२

ब्रह्म का स्वरूप

द्वन्द्व की इस पद्धति में हरि परम सत् भगवान् या ईश्वर है। उसकी अग-वार्ति निर्विण्ण ब्रह्म है। उसका एक अशमात्र ही परमात्मा है जो सत्ता में अन्तर्यामी है। हरि अग्नी है और परमात्मा उसी का अग्नि है। पूण श्री पूण ऐश्वर्य पूण वीर्य पूण यश पूण नान और पूण वराण्य—इन षट ऐश्वर्यों की एकता हरि ही हैं। इनमें श्री गुण के स्मानीय है और अय सभी इसके अंग भूत हैं। हरि या ब्रह्म का मुख्य अंग परम ब्रह्म स्वयं भगवान् है। वे षट ऐश्वर्य-पूण और अनूढ हैं।^३ भगवान् गुड मत्त्वमय चिदानन्द स्वरूप हैं उनका घाम उनके परिवर वग सभी उन्हीं के ममान हैं। अपनी परिपूर्णता के अंग में हरि कृष्ण राधा के एक्य में युगल भूत हैं। कृष्ण राधा परस्पर भक्ति और प्रेम के अपरिहाय बन्धन से बंध हैं—हरि आध्यात्मिक है। वह विगुड सत्त्व है। वह अनन्त सात सवत्र और एकत्र सब हो सत्ता है क्योंकि यही तो उसकी अचिन्त्य शक्ति का लक्षण है। इस शक्ति के कारण हरि सूर्य हावर भी विभु है।^४ भगवान् की सारी विभूतिषा चिन्मय या अप्रकृत हैं।^५ उनकी

१ पदार्थ पृथक्त्वव समाशास्त्र भूतश्रिताः।

हरि-नेकत्र नातुक्त अचिन्त्यानन्तराश्रितः ॥

—सधुमागवत् रूपगोस्वामी १।४

२ स्वरूपाभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वं भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वं अभेदश्च प्रतीकते इति शक्ति शक्ति मनोर्भेदाभेदो भयोदृष्टौ। ता च अचिन्त्या। स्वमने तु अगित्वभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिभ्याम्।
—अध्वरसर्ग जीवगोस्वामी।

३ ब्रह्म राक्षसं सुस्वभवे बहे भगवान्।

वैश्वर्यपरिपूर्ण अनूढ समान ॥

—वे च आन्तिता, ७ १११

४ शिन्दी साहित्य-कोश ५० = १।

५ 'तद्वाह विभूति' १६ सब विभूतिका।

—बही ७ ११२

अनन्त शक्तियाँ, उनका विकास, विकास स्तर तथा काम सभी नियत हैं। ब्रह्म की शक्ति द्वारा निविण्य वस्तु सविशेषत्व को प्राप्त होती है।

ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियाँ स्वरूप-शक्ति, तटस्थ-शक्ति और माया-शक्ति

भगवान् की अचिन्त्याकार शक्तियाँ म स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और माया शक्ति प्रमुख हैं, जो उनके स्वरूप व ऊपर भी प्रभाव का विस्तार करती हैं। मत चित और आनन्द के कारण भगवान् की इस एकात्मिका स्वरूप शक्ति के तीन रूप हैं—सधिनी शक्ति और ह्लादिनी। सधिनी शक्ति द्वारा भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं^१ तथा दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं। सवित् शक्ति द्वारा भगवान् स्वयं अपने को जानते हैं तथा अपने भक्तों को भी इसका ज्ञान कराता है। ह्लादिनी शक्ति द्वारा भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और अपने भक्तों को भी आनन्दित करते हैं। विष्णु पुराण में कहा गया है कि हे भगवान्! ह्लादिनी सधिनी और सवित्—ये आपकी तीन स्वरूप शक्तियाँ एकमात्र आप में हैं जब मैं नहीं। ह्लादकरी सात्विक शक्ति तापकरी तामसिक शक्ति और दोनों का मिश्रित रूप सुख दुःख देने वाली राजसिक शक्ति तुममें नहीं है। तुम इन त्रिगुणों में परे हो। ये सभी शक्तियाँ जीव में हैं।^२ स्वरूप शक्ति को चिच्छक्ति या अतर्का शक्ति भी कहते हैं क्योंकि उसी के द्वारा लीला-पुरोत्तम श्रीकृष्ण अन्तरंग विलास में प्रवृत्त रहते हैं। स्वरूप शक्ति की क्रिया द्वारा ब्रह्म, जो समस्त विविधता धारण करते हैं वे सभी आनन्द वचित्री हैं। आनन्द अपने आपमें आस्वाद्य है और उसका आस्वादा ब्रह्म की स्वरूप शक्ति व प्रभाव से साधित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। अतः वे स्वयं आस्वाद्य अर्थात् स्वयं रस हैं तथा अपनी स्वरूप शक्ति की क्रियाशीलता द्वारा उसका आस्वादन कर रहे हैं। इस तरह ब्रह्म स्वयं आस्वाद्य और आस्वादक दाना है। अतः जो ब्रह्म है वही रस है और जो रस है वही ब्रह्म है। ब्रह्म की रस-स्वरूप कहन का यही कारण है। तत्तिरीयोपनिषद् में 'रसावस' के द्वारा आनन्द रूप ब्रह्म के इसी रस स्वरूप का उदघाटन किया गया है। रस और ब्रह्म एक ही तत्त्व के दो भिन्न नाम हैं।^३

भगवान् की तटस्थ शक्ति परिच्छिन्न स्वभाव वाले अणु-स्वरूप जीवों व आविर्भाव का कारण है। इसीलिए हमें जीव-शक्ति भी कहने हैं। यह अन्तरंग चिच्छक्ति और बहिरंग माया शक्ति दोनों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं है। माया शक्ति प्रकृति तथा जगत व आविर्भाव का

१ सच्चिदानन्द पूर्ण कृष्ण रूपैः स्वरूपः।

एकं चिच्छक्तिं तत्र तत्र तीन रूपः॥

आनन्दो ह्लादिनी, सन्तो सधिनी।

तिस्रो सम्बिद् यो ज्ञान करि भावि॥

—च. १०, भा० ली० ४ ६१ ६३।

२ ह्लादिनी सधिनी सम्बिद्व्येना समरिष्यती।

ह्लातापकरी मित्रा स्ववि नो गुणवर्जिने॥

—विष्णुपुराण, प्रथमांश, अ० १२, श्लो० ६६।

३ अमरुणि सादित्य रामपूजन विवारी, पृ० ७३।

कारण है। इसका काय क्षेत्र प्रकृत ब्रह्माण्ड है। यह स्वरूप गति का विरोध है। जीव गति में स्वरूप गति और माया-गति दोनों की विशेषताओं का समावेश है। अतः जीव साक्षात् सच्चिदानन्द भी है और उससे भिन्न भी है। त्रिगुणामिवा (सत्त्व रज और तम) माया गति को गुणमाया कहते हैं जो ईश्वर की गति से जगत में गौण उपात्तन के रूप में परिणत होती है। माया गति के कारण जीव अविद्याग्रस्त होकर भगवान् से अपने वास्तविक सम्बन्ध को भूल जाता है इस जीव-माया कहते हैं। उनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की एक और गति 'योगमाया' है। यह चि-उक्ति का एक और भूत विग्रह है। इसका क्षेत्र विमल भगवन् धाम है। यह श्रीकृष्णलीला में सहायता प्रदान कर लीला रस का आस्वादन कराती है यह लीला में भक्तगण और परिकरा में मुग्धत्व उत्पन्न कर लीला रस-वैचित्र्य के आस्वादन का सुयोग प्रदान करती है।

भगवान् के ऐश्वर्य-रूप और माधुर्य रूप

भगवान् के दो रूप हैं—ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूप में भगवान् परात्पर हैं जिसकी सिद्धि ज्ञान-मार्ग से होती है। माधुर्य रूप में भगवान् मानव दह धारण कर मानवोचित व्यवहार करता है और भक्त अपने स्वभाव और रस के अनुसार गान्त दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर भाव से उसकी उपासना करता है। चतुर्थ मत में भगवान् के इसी माधुर्य रूप को प्रत्यक्ष दिया गया है जिसमें कान्ता भाव को सर्वप्रथम माना गया है। भगवान् को अपने प्रियतम के रूप में ग्रहण करके अतीविक्रम लाभ करने को ही चतुर्थ-मत में पञ्चम पुरपाय माना गया है जो चतुर्विध पुरपाय से श्रेष्ठ है। चतुर्थ मत में इसी मधुर भाव के अतिरिक्त उक्त एक प्रमाणान्त का उल्लेख रस अथवा मधुर रस की संज्ञा दी गई है। वृष्णव रस साधना में गान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर—ये पांच मुख्य रस माने गए हैं तथा गय सात रसों को गौण बनाया गया है। इसमें मधुर रस को रसरत्न के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

श्रीकृष्ण-तत्त्व

चतुर्थ मत में श्रीकृष्ण-तत्त्व की प्रमाणता है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् पूर्ण ज्ञान पूर्णानन्द परमेश्वर और परमेश्वर हैं।^१ अथ सभी अवतार प्रथम पुरुष महावृष्ण के अंग या कला हैं किन्तु एकमात्र कृष्ण स्वयं भगवान् हैं तथा सभी अवतारों के गिरोमणि हैं।^२ अथ अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण में ही सार्वविश्वमात्रागिनी गति का अपूर्व विकास हुआ है। किन्तु श्रीकृष्ण में ब्रह्म का ऐश्वर्य-शक्ति और माधुर्य गति दोनों की पूर्णतम अभिव्यक्ति हुई है। अपन प्रकाश विराट् में श्रीकृष्ण ब्रह्म परमात्मा और भगवान्—य तीन नाम धारण करत

१ स्वयं भगवान् कृष्ण कृष्ण परतत्त्व ।

पूज्य ज्ञान पूज्यन्त परम महत्त्व ॥

—चै व भा ली २ ५ ।

२ अवतार सर्व पुरुषेश्वर देवा अरा ।

कृष्ण स्वयं भगवान् सर्व-अवतार ॥ —चै व , भा० ली २ ७ ।

है। भक्ति भावापन माधक के लिए श्रीकृष्ण का अवतार रूप ही सर्वोच्च महत्वपूर्ण माना गया है। श्रीमद्भागवत^१ ब्रह्मसंहिता^२ आदि में श्रीकृष्ण के उपयुक्त स्वरूप की पुष्टि होती है।

श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप, रस-स्वरूप भावनिधि एवं लीलात्मक हैं। आनन्द की प्रणवा एव रमास्वात्म की स्मृता में ही वे लीला में प्रवृत्त होते हैं। श्रीकृष्ण का समस्त लीलाजी मन्द-लीला ही स्वश्रेष्ठ है।^३ हमारे लिए उनके तीन प्रकार के बयान (कौमार वीरगुण और वृद्धा) में उन्हें कथोक्त ही अनि प्रिय है क्योंकि उसी बयान द्वारा वे अपनी परम ह्लादिनी भक्ति श्री राधिका तथा अन्य गोपिका के साथ राम-लीला में प्रवृत्त करते हैं।

धाम

लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीलाभूमि को ही धाम कहा गया है। श्रीकृष्ण-लीला में सम्बन्धित सभी धाम निर्यामिद और चिन्मय हैं। श्रीकृष्ण के विग्रह और विभक्ति आदि गुणों के अनुरूप उनका परम्योम धाम है जो भावानीय है। हमारे अन्तर्गत मया प्रकृष्ट वक्रुण और अपाध्याय धाम-समूह स्थित हैं। श्रीकृष्ण के सभी अवतार-इष्टी धामों में अवस्थान करते हैं। परम्योम धाम का ऊपर कृष्णलीला है जिसमें द्वाका मधुरा तथा गाङ्गुल भित्ति स्वरूप हैं। इन तीनों में गाङ्गुल या व्रजधाम द्वारा तथा मधुरा के ऊपर है। इसी को गालान्द्वय तथा वन्दन भी कहा गया है। गालोक तथा व्रज में श्रीकृष्ण का नियत लीला निरन्तर चलती रहती है। गालोक तथा व्रजधाम स्वरूप एक ही ही श्रीकृष्ण का पृथक् पृथक् लीलाजी के स्थान हैं। गालोक में श्रीकृष्ण की नित्य तथा अप्रकट स्वकीया लीला चलता है तथा व्रज में उनका प्रकट प्रकट परकीया विहार चलता रहता है।

श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम और भक्ति निरोधण हैं। लीला में आस्वादन के लिए व्रज में स्वयं विराजमान रहते हैं जहाँ उनका गोप वगैरे गोप भाव का अनुरूप उनकी शान्त लीला चलती रहती है। मधुरा और द्वाका की लीलाओं में लक्ष्य के साथ माधुर्य रूप भी विद्यमान रहता है किन्तु व्रज लीला में गुह्य माधुर्य की ही प्रधानता रहती है। व्रज में ही श्रीकृष्ण के माधुर्य रूप का पूणतम विकास होता है। कृष्णोपासक वृष्णव रस-माधवना के अतमगत् श्रीकृष्ण का यही माधुर्य रूप मधुर रस का आश्रय है।

राधा तत्त्व

रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण प्रेम के उत्तर-अनुक्रम से स्नेह भाव प्रणय राग अनुराग भाव तथा महाभाव भेद बताया है। यहाँ उनका सागोपाय विवेचन न कर केना वक्तव्या

१ श्रीमद्भागवत १।१।२८।

२ रत्नरत्न पदमं इत्येव सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिनिर्गोचरं स व गच्छति गच्छति ॥ — ब्रह्मसंहिता अध्याय ५ श्लोक १।

३ कृष्णो यत्रैव सौम्यः सर्वोत्तमः नरसीमा।

नर-वपुः तां तां स्वयम्।

गोपवेशः केतुवरः नव विशोरः नन्दवरः,

नर-लीलाय इव अनुसृतः ॥

— १ च० म स्ती०, २१ १०१।

ही पर्याप्त है कि महाभाव-दशा श्रीकृष्ण के प्रेम का परमोत्कृष्ट है। महाभाव के दो स्तर बतलाये गए हैं—मोदन और मानन। इस मादन महाभाव की अवस्थिति एकमात्र राधा में है। श्री राधा श्रीकृष्ण प्रेम की घनीभूत चरमावस्था का प्रतीक हैं।^१ श्री राधा से ही नाना भाव और रस का विस्तार करने वाली श्रीकृष्ण की अथ प्रमिकात्री का प्रादुर्भाव हुआ है। श्री राधा के अंग प्रत्यंग में सम्पूर्ण सौन्दर्य की वान्ति उदभासित हो रही है। वह मूर्ति मती ह्लादिनी शक्ति है कृष्ण प्रेम की अधिष्ठात्री है। कृष्ण-सुख ही उनका एकमात्र काम है। वस्तुतः राधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति हैं। श्रीकृष्ण की सभी आकांक्षाएँ एवं कामनाएँ श्री राधिका में ही चरिताय होनी हैं। श्रीकृष्ण विन्व मोहन हैं किन्तु श्री राधिका स्वयं श्रीकृष्ण को मोहित करनेवाली हैं। इसीलिए उन्हें परमपूज्या कहा गया है। श्री राधा श्रीकृष्ण से अभिन्न है किन्तु लीला रस के आस्वादन के लिए ही राधा-कृष्ण के युगल रूप का विधान है। श्री राधा का प्रेम श्रीकृष्ण के माधुर्य रूप का पूणतम विकास करने वाला है। गोपिया श्रीराधा की बाध्य व्यूह रूपा हैं जो कातारस वचित्री के उत्साह तथा आस्वादन के लिए सहायिका हैं। श्रीकृष्ण बाछा पूति ही गोपी प्रेम का सार है क्योंकि प्रेम का सुख प्रियतम का सुख ही है। इसीलिए गोपी प्रेम को निमल उज्ज्वल दग्ध हेम के समान काम गन्ध हीन कहा गया है।^२

जीव तत्त्व

ऊपर श्रीकृष्ण के अचित्य सवशक्तिमान स्वरूप का चर्चा का जा चका है और यह भी निखलाया जा चका है कि ब्रह्म और जीव में भेदाभेद सबध है। किन्तु चतुर्थ मत में जीव को ब्रह्म का अंग किस प्रकार से कहा गया है इस स्पष्ट करने के लिए भगवान के स्वर्ण और विभिन्नान पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि यही दोनों अंग रूपों में भगवान अनन्त रूप धारण करते हैं तथा अनन्त वकुण और ब्रह्माण्ड में जीव विस्तार कर रहे हैं। श्रीकृष्ण का स्वर्ण वामुन्वाणि चतुर्भुज और सभी अवतारगण हैं तथा उनका विभिन्नान जीव है। नस प्रकार श्रीकृष्ण का एक एक अंग का विस्तार-स्वरूप जावतत्त्व है।^३ भगवान् श्रीकृष्ण और

१ ह्लादिनीर सार प्रेम भवसार भाव।

भावेर परमकाण्डा नाम महाभाव ॥

महाभाव स्वरूपा श्री राधा ठाकुराणी।

मवगुण-शानि कृष्ण-काशिरामणि ॥

२ अनेन्द्रिय प्रीति बाँझा तारे बनि काम।

कृष्ण-प्रीति-दशाधरे प्रेम नाम ॥

कातर तापपय—निज सम्भोग केवय।

कृष्ण सुख-नन्दन्य हय प्रेम मानन ॥

३ अस्वदन तत्त्व कृष्ण स्वय भगवान्।

स्वरूप शक्तिरूपे तौर हय अवस्थान ॥

स्वारा विभिन्नारा रूपे हरया विस्तार।

अनन्त बंशठ ब्रह्मण्डे करेन विहार ॥

स्वारा विस्तार-चतुर्भुज अवतारगण।

विभिन्नारा जीव, शक्ति ने गणन ॥

—चैतन्य-चरितामृत (श्री लीला) ४ ६८ ६९।

—चै चरितामृत (श्री लीला) ४ १६४ १६५।

—चै च म० ली० १७ ७-९।

उनके विभिन्न जीव के भेदाभेद सबध को मूल और उसकी रश्मि के उदाहरण से भी स्पष्ट किया गया है। रश्मि के समान जीव श्रीकृष्ण का विभिन्न है।

जीव के दो भेद हैं—नित्य मुक्त और नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव श्रीकृष्णो-मुक्त नित्य पाप गण हैं जो श्रीकृष्ण-मेवा म रत होकर परमानन्द लाभ कर रहे हैं। श्रीकृष्ण से विमुक्त जीव को नित्यबद्ध कहा गया है जो जीवन मरण के चक्र में पड़कर चिरकाल तक त्रयतापो को सहते रहते हैं। साधु-भगति और श्रीकृष्ण की शरणागति से ही भायाप्रस्त नित्य बद्ध जीव को भव-चक्र से प्राण मि- सवत्ता है।

पुरुषाय चतुष्टय (काम धम अय, मोक्ष) जीवमात्र के वाच्य हैं किन्तु नित्यमुक्त जीव इनकी उपेक्षा करते हैं तथा इनस बद्धर कृष्ण प्रेम को मानते हैं। चत य मत में इसी लिए प्रेम को पञ्चम पुरुषाय कहा गया है।^१

जगत्-तत्त्व

चतय मत में जगत् सत्यभूत पण्य है क्योंकि यह सत्य-सर्वस्व हरि की बहिरंग शक्ति का विलास है। श्रुति, स्मृति में भी जगत् की सत्यता सिद्ध होती है। ईगवात्स्योपनिषद् के अनुसार भगवान न ग्रास्यत वा त्व यथाय भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया।^२ विष्णु-पुराण के अनुसार भी यह जगत् आविर्भाव और विरोभाव, सृष्टि और प्रलय आदि विवल्पा स मुक्त होने पर भी अन्त्य तथा नित्य है।^३ महाभारत में भी सत्य भूतमय जगत् की उद्घोषणा करके जगत् की निरयता को प्रमाणित किया है।^४ जिस प्रकार जगत् में रात्रि काल में पक्षिया की सत्ता रहता है उसी तरह प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है।

सक्षेप में नानन्दन श्रीकृष्ण ही परमाराध्य हैं। उनकी लीला का परम धाम वृन्दावन ही सेव्य है। प्रजागताओं के द्वारा की गई रमणीय मधुगोपासना ही प्रामाणिक उपामना है। श्रीमद्भागवत ही इसका निमल प्रमाण ग्राह्य है तथा प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषाय है। चतय

१ पञ्चम पुरुषाय सेह प्रेम महाधन।

कृष्णैर माधुर रस कराव आस्वात्न ॥

प्रेम हैते कृष्ण हय निरुभक्त बरा।

प्रेम हैते पाय कृष्णैर सेवा सुधरत ॥

—गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धा न (रासपूजन त्रिवारी), पृ० ८७।

२ कविमनीषी परिभू रवयभू

याथातथ्यतोऽयान् व्यन्धाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य ।

—इरावात्स्योपनिषद् ८।

३ तदेतच्चय नित्य भग-मुनिचरास्मिन् ।

आविभाव विरोभाव न मनाराविहृत्पवन् ॥

—विष्णुपुराण, १/२२/६०।

४ नदा सत्य नय सत्य सत्य जीव प्रभापति ।

सत्याश्रयानि आताभि सत्य भूतमय जगत् ॥

—महाभारत, भरव० पर्व, १५/३४ ।

अव्यावहारिकता ईश्वरावतार, भक्ति की अनिवार्यता, अनन्य प्रेमात्मिक जीवन मुक्ति व बदल विदेह मुक्ति ईश्वर प्राप्ति व निष्परा प्रपत्ति अथवा अनन्य शरणागति सदाचार नाम माहात्म्य रूपोपासना एवं लीला माहात्म्य पर जोर दिया है। यही सारे तत्त्व सगुणोपासक भक्तों की मधुरोपासना के प्रेरक श्रोत हैं जिनमें सर्वोपरि है लीला-तत्त्व। वृष्णवन्दन का यह लीला-तत्त्व ही मधुर रस का उत्तम है जहाँ से उसकी प्रसन्नता धारा पुनः पुनः स प्रवाहित होती रही है।

उपभुक्त आचार्यों की इन्हीं साधना प्रणालियों में से भक्ति तत्त्व नाम माहात्म्य पराप्रपत्ति या अनन्य शरणागति अनन्य प्रेमात्मिक आदि तत्त्वों का ग्रहण कर कबीर दादू आदि निगनियों मता न भी अपनी निगुण भक्ति का अत्यधिक प्रचार प्रसार किया तथा परमात्मा की प्रियतम एवं जीवात्मा की प्रियतमा के रूप में परिवर्तित कर मधुर रस की जो मर्मस्पर्शी अभिव्यञ्जना की वह काव्यगत सौन्दर्य भाव प्रवणता हृदय पाहिता और सरसता आदि दृष्टियों से अनुपम है।

सर्वेश्वरवाद का सिद्धांत

ईश्वर सब कुछ और सब कुछ ईश्वर है—इस दार्शनिक सिद्धांत की 'सर्वेश्वरवाद' की सत्ता दो गत है। सक्षेप में ईश्वर जगत है और जगत ईश्वर है। ईश्वर और जगत दोनों एक हैं। सर्वेश्वरवाद के अनुसार जगत ईश्वर से उत्पन्न नहीं है अपितु स्वयमेव साक्षात् ईश्वर है। गौडपादाचार्य के मत में यह अजातिवाद है। सूफीमत में सर्वेश्वरवाद को 'हम्माओस्त' अर्थात् सब ईश्वर है' कहा गया है। हम्माओस्त अर्थात् सब ईश्वर से है यह ईश्वर-मूर्तिवाद या ईश्वरवाद है।

सर्वेश्वरवाद का आधार अद्वैत मत है। ईश्वर ही एकमात्र अद्वितीय परमतत्त्व है। अन्य सभी ईश्वरीय या ईश्वर के आभास हैं। कुछ लोग सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के अर्थ में सर्वात्मवाद का प्रयोग करते हैं किन्तु यह भ्रमन धारणा है। सर्वात्मवाद के अनुसार जो कुछ धर्म है वह आत्मा है और ऐसी आत्माएँ अनन्त हैं। जगत् का अन्तर्भाव इन्हीं आत्माओं में हो जाता है। पाकराचार्य के अनुसार आत्मवाद सर्वम अर्थात् आत्मा ही यह सब कुछ है। सबको आत्मभूतक समझ देने पर सब कुछ आत्मा ही मान जाते हैं।

सर्वेश्वरवाद एवं ईश्वरवाद या बहुदेववाद में भिन्न है। वस्तुतः यह दोनों का समन्वय है। सर्वेश्वरवादी का ईश्वर जगत है यह किसी धर्म विशेष के ईश्वर को स्वीकार नहीं करता।

सर्वेश्वरवाद के दो रूप हैं। इनमें एक रूप का पञ्चमान भौतिकवाद में होता है जहाँ जगत की देवता ईश्वरत्व का अभिधान किया जाता है। इसमें जगत् का दार्शनिक अध्ययन उसकी अनन्तता और वस्तुत्व का प्रमाण बिन्दु है। दार्शनिक वस्तुओं की एकता ही साध्य है जिसे ईश्वर की सत्ता दी जाती है। सर्वेश्वरवाद का दूसरा रूप धार्मिक है। इसमें ईश्वर ही प्रत्यक्ष बिन्दु है। दार्शनिक या धार्मिक विचार साधन हैं व्यक्तिगत अनुभूति है तथा सभी दुःखमान पदार्थों में ईश्वर का रूप-रूप ही साध्य है। यहाँ ईश्वर ही एकमात्र सत्त है और सभी उमने नाम रूप हैं। यूरोप में स्पिनोजा अरब देश में इब्रतुल अरबी और भारत

म शाण्डिल्य गवराचाय, वल्लभाचार्य आदि इस धार्मिक या आध्यात्मिक सर्वेश्वरवादा का पुरस्कर्ता माने जाते हैं।

ब्रह्मदेववाद की अधिकता विभिन्न धर्मों के घात प्रतिघात धार्मिक विधि विधान एवं बाह्याचार जगत-व्याप्त अन्तिम नियामक तत्त्व की धारणा रहस्यवाद्या की चरम साधनानभूति जगत की महत्ता विचित्रता अनन्तता गतिशीलता सुन्दरता सोपान्यता आदि को देखकर ब्रह्मिया एवं दार्शनिकों द्वारा परम तत्त्व से प्राप्त जगत की उद्भावना ही सर्वेश्वरवाद का उत्पत्ति का मूल कारण है।

सर्वेश्वरवाद के अतगत ईश्वर जड़-चेतन से परे एक सर्व-यापी तत्त्व माना गया है। छांदोग्य उपनिषद् के सब सखिब्रह्म वाक्य द्वारा शाण्डिल्य ने सर्वेश्वरवाद के इसी ईश्वर रूप पर प्रकाश डाला है। शंकराचार्य ने आत्मवाद सवम तथा आत्म व्यतिरेकेण अप्रहृणात् आत्मैव सवम द्वारा सर्वेश्वरवाद के ईश्वर का ही सङ्गत किया है। सन्ता ने भी इसे सत्ता मात्र माना है तथा अपनी सत्ता से इसका तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया है। सोहमस्मि और अमलह्व इसके प्रमाण-वाक्य हैं। कुछ सन्तों ने इस अनाम अवाक्य अनिश्चिनीय तत्त्व अन्तिम आदि कहकर मौन धारण करना ही श्रयस्कर माना है। कुछ सन्तों ने ईश्वर को भाव-अभाव बोल-अबोल ही और ना के मध्य स्वीकार कर उसे जसा-का तसा कहा है। वह एक अनेक के द्वन्द्व से रहित है। सभी दिशाओं में वही पीव अपने को चरितार्थ कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि सर्वेश्वरवाद के ईश्वर की कल्पना ईश्वर विषयक सामान्य कल्पना से संवधा भिन्न एवं निरपेक्ष है। इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्मवाद ही इसका दार्शनिक आधार है। जीव ईश्वर से अभिन्न है जीव परस्पर अभिन्न है जड़ वस्तुएं जीव से अभिन्न हैं जड़ वस्तुएं परस्पर अभिन्न हैं जड़ वस्तुएं ईश्वर से अभिन्न हैं—इन पञ्चधा अनेक का स्थापन ही सर्वेश्वरवाद का प्रमुख प्रयोजन है। दृश्यमान वस्तुओं के अन्तरात्त में जो इनका सत्त्वा स्वरूप है इनका अन्तर्मामी भी जो है वही मय-मूछ है वही ईश्वर है। सब और

१. नाहीं नाहीं कर कहै हेइ कहै नखनि।

न ही है के मय है सो अनुभव करि गनि।

—सत सङ्गरास

ह नाही खँ रहिय है महबो नो भगवत।

—सङ्गवादा

नोर कहँ सोइ है नहि सुन्दर है सो सही पर जैमो व तैसो।

—सत सङ्गरास

एक कहूँ तो ह नही दोय कहूँ तो गारि।

ह जैमा तैमा रहै कहै कबीर बिचारि ॥

—सत कबीर

‘भोवा देवन एक है चिरनिम भया जनन।

दई भानम मरुष घट यह गनि अनहि मन ॥

—सत भोवा माहव

दूदूखौँ दयन को बहरि भीतरि सोइ।

मन मिमि खौ पीव को दूसर नाही कोइ ॥

—मन दादूदास

ईश्वर' नित्य एक हैं उनका द्विविध अभिधान केवल समझन और समझान के लिए किया जाता है।

कुछ विद्वानों ने सर्वेश्वरवादा का सवसा बौद्धिक माना है किन्तु इसके भावात्मक पक्ष को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि साधक जब जगत के नाना रूपा और व्यापारा के बीच उस चरम सत्ता को चरितार्थ होत हुए देखना है सभी दृश्यमान वस्तुओं के अन्तराल में उभरी एकमात्र सत्ता का साक्षात्कार करता है, सबत्र उसी परम सौन्दर्य निधि की झँकी झँकी पाता है, तब वह आत्म विभोर हो उद्धोषणा करता है कि 'सबत्र उसी के लाल की लाली कभी हुई है सभी उसके लाल की लालिमा से अनुरजित हैं सबत्र वही परम प्रियतम प्रीति-कौतुक कर रहा है और सभी उस निखिल मौदय रसानन्द परमसत्ता से आत प्रीत हैं।'^१ ईश्वर जगत में और जगत ईश्वर में व्याप्त है। इस प्रकार घट घट में व्याप्त परमसत्ता ही हरि है।^२ यही स्वानुभूति भावात्मक रहस्यवाद का उत्स है क्योंकि इसी भाव सरणि के सहारे साधक जीवात्मा और परमात्मा के बीच दाम्पत्य सम्बंध की परिवर्तना करता हुआ परमानन्द की प्राप्ति करता है।

सत रदास ने सर्वांगी सर्वेश्वर की सन्त-यापकता का वर्णन करते हुए उस शिव-अशिव धर्म-अधर्म ध्यान-मोक्ष जन्म-मरण मय नाग पय ज्ञान दृष्टि-अदृष्टि सेवक-स्वामी आदि द्विधाओं से परे बताया है।^३ उन्हें देखी तर्हे एक दोदर की अनुभूति का कारण हा कबार रदास दादू आदि निगुनिया सत्तों ने बाह्याचार का विरोध करते हुए मानसीपूजा धर्म के सात्त्विक रूप और साम्प्रदायिक ऐक्य पर बल दिया है तथा विश्व-बन्धुत्व भाव के आधार पर सामाजिक याय की प्रतिष्ठा पर जोर दिया है। निगुनिया सत्ता ने अद्वैत और सर्वांगी दोनों प्रकार के सर्वेश्वरवाद का पर्याप्त विवेचन किया है। निगुनिया सत्तों ने ईश्वर को परात्पर या सर्वतीत मानते हुए सबव्यापी या विश्व रूप माना है। किन्तु सगुणोपासक भक्ता ने ईश्वर को सबव्यापी मानते हुए उसे परात्पर स अधिष्ठा अर्थात्मा के रूप में स्वीकार किया है। सत्तों में ईश्वर की वहिर्गमिता तथा भक्ता में उसकी अतर्गमिता^४ का विरोध

- १ लाली भरे लाल की अति रेखा तित लाल ।
लाली देखन मैं गर मैं भी हो गर लाल ॥ —बबीर
- सब मैं भूँ आप मरदिन मैं आप आप सँ खेलै ।
नाना मोति धरे सब मोति रूप धरे धरि मेल ॥ —बबीर
- २ 'खानिक खलक खलक मैं खानिक सब घट रखा समार । —बबीर
दूध धी इव रमि रखा व्यापक सबही ठौर । —बबीर
भरन भरन कह जनि बोद । घट घट यापि रघौ हरि सोद ॥ —रैदास

- ३ है सब आत्म गुण परकास सौँचों ।
आनि मय्य भीसान पजरम, तार बयो हो भार ।
बावर, जगम कीट पतंगा दूरि हयो हरिरार ॥
सर्वेश्वर सबानी सब गति करता हरता सोद ।
मिब न भसिब साध भम सेवक वनै आव नहि बोद ॥
परम अपरम मोक्ष नहि बधन, जरा मरन अब नामा ।
दृष्टि अदृष्टि हेय भन काना, एकमेक रैदासा ॥ —रैदासजी
- ४ सीयराम मय सब जग जानी । करी प्रनाम जोरि जुग पानी ॥ —गुलसीनस

प्रकाशन हुआ है। भक्तों की नाममहिमा से भी अगुण और सगुण से परे सर्वेश्वरवाद की पुष्टि होती है। प्रमयोगिनी मीरा ने तो सर्वेश्वरवाद के रमणीय रूप का स्वयं अनुभव किया था। विष के प्याले का अमृत हो जाना वस्तुओं के ईश्वरीय रूप का ही तो प्रतीक है। सदा नटवर नागर क्ष्याम के ही रंग में रंगी मूरदाम की गोपिया ने भी ऐसा ही अनुभव किया है। तभी तो सवत्र उहे कृष्ण ही कृष्ण के दान होते हैं। मूरदास ने अपने मूरसागर में सर्वेश्वरवाद की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की है।

सूफी साधकों ने भी जड़ चेतन सवत्र एकमात्र शरम सत्ता को ही अपनी ईश्वर-दृष्टि से चरिताय होते हुए देखा था। प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी की भी यही स्वानुभूति थी कि जगत दपण है और उसमें ईश्वर की परछाई ही सवत्र दृष्टिगत हो रही है। ईश्वर ही जगत् है वही दपण है वही अपने में अपना प्रतिबिम्ब देखता है।^१

सूफिया के सर्वेश्वरवाद में दार्शनिकता की अपेक्षा भावात्मकता और रहस्यात्मकता अधिक है क्योंकि उन्होंने सर्वेश्वरवाद के साथ साथ सृष्टिवाद का भी प्रतिपादन किया है। भावात्मकता के साथ काल्पनिकता के समाविष्ट हो जाना व कारण सूफी प्रमात्यान के काव्य धर्म का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ है। रहस्यवाद के कारण उसके अज्ञात साधनों के विविध सोपान भी वर्णित हुए हैं।

सूफियों के सर्वेश्वरवाद को देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने साहूत और नामूत की अन्तानुभूति की महाभाषा में ही साधना के अंतिम सोपान या नीपपत्र के रूप में सर्वेश्वरवाद को ग्रहण किया था। वस्तुतः यह सर्वेश्वरवाद ही साधना-काव्य के क्षेत्र में माधुमय रहस्यवाद का जन्मदाता है, मधुर रस-साधना का स्रोत है।

साक्ष्य दर्शन का पुरुष और प्रकृति तत्त्व

साक्ष्य-ज्ञान के प्रवर्णन कथित हैं। कथित-ज्ञान में सत्त्वा ज्योति सत्यक ज्ञान को प्रधानता दी गई है। सत्त्वा का ज्योति सत्यक स्याति का ज्ञान। अतः साक्ष्य-ज्ञान विगुह ज्ञान माग है। प्रत्यक्ष और अनुमान ही इसके मुख्य प्रमाण माने गये हैं। साक्ष्य भाग का पहला दान है जिसमें मौलिक तत्त्वों की सत्त्वा की गई। श्री बलदेव उपाध्याय के विचारों के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष व पारस्परिक विभेद को न जानने के कारण हम दुःखमय जगत को सत्ता है। परन्तु जिस समय पुरुष के विगुह स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय दुःख की आधुनिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक ज्ञान कारण है तथा दुःख निवृत्ति काय है। हम ज्ञान की पारिभाषिकी सत्ता है प्रकृति पुरुषादना-ज्ञान या प्रकृति पुरुष विवेक। साक्ष्य दर्शन में सत्त्वा व नितान्त मूलभूत सिद्धान्त ज्ञान व कारण हम दर्शन का नाम साक्ष्य पद।^२

१. कापुहि काप जो गरी चहा। कापनि प्रभुन कापु मो वहा ॥
मरे जगत् दरपन के लख। कापुहि दरपन कापुनि न्या ॥
कापुहि बन का कापु घरेक। कापुहि सोत्रा कापु बहेक ॥
कापुहि पुहुप कुनि बन पन। कापुहि भवर काम रस भूने ॥
कापुहि घ-यट मह मुख गढ़े। कापुहि कापन रूप मराह ॥ —ब्रह्मावत जायसी
२. दां त्रि ना दो —सुन्दर-दान कृष्ण ३३।
मन्द-दान बलदेव उपाध्याय पृ. ३३ (श्रीवीर सत्कारण)।

अनुमानत ७०० ई० पूर्वसा आचार्य कपिल ने सांख्य-सूत्र का प्रणयन किया। लगभग प्रथम शताब्दी में ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-कारिका की रचना कर साम्प्रदायिक सांख्यिकरण किया। इसके अनिरुद्ध साम्प्रदायिक के दूसरे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—विनातमिश्र रचिन सांख्य प्रवचन-सूत्र भाष्य चरक-संहिता गुणारत्न लिखित 'पठद्वयान ममुच्चये आनि।

सांख्य ज्ञान में तत्त्वा की संख्या कहा चौबीस वहीं पञ्चोस और कहा छत्तीस मानी गई है। किन्तु सामान्य रूप से तत्त्वा की पञ्चोस संख्या ही भाग्य है। इन तत्त्वा का ज्ञान प्राप्ति कर लेने से किमा भी आश्रय का प्रयत्न बाहे वह जटी हो मुष्णी हो या शिखी हो दुःख में भाग्य प्राप्ति कर लेता है।^१

प्रसववती प्रकृति

सांख्य-कारिका के अनुसार प्रकृति विवृति प्रकृति विवृति (उभय) और न प्रकृति न विवृति (अनुभय) प्रकृति मूल कारण को कहते हैं। यह अचेतन है सत्त्व रज और तम—इन तीनों गुणों का साम्यावस्था है। प्रकृति को प्रसववती कहा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति वह तत्त्व है जो सबका कारण तो है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता। प्रसववती प्रकृति से कुछ वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं यही विवृति है। अर्थात् विवृति व तत्त्व हैं जो कार्य ही होते हैं अर्थात् किसी से उनकी उत्पत्ति तो होती है पर वे स्वयं दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। विवृति से पहले महत् उत्पन्न होता है महत् से अहकार अहकार से गुणपत। इनसे तीन प्रकार के तत्त्व प्रकट होते हैं—मन, इन्द्रियाँ और तन्मात्राएँ। हस्त पाद मुख पायु और उपस्थ ये पाँच कर्माद्रियाँ हैं। चक्षु घ्राण, रसना, स्पर्श और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानद्रियाँ हैं। रूप गन्ध, रस स्पर्श और शब्द क्रिया इनके विषय रूप पञ्च तन्मात्राएँ हैं। इन्हीं पञ्च तन्मात्राओं में से तज, पृथ्वी, जल वायु और आकाश नामक पञ्च महाभूतों का विकास होता है। इस प्रकार एक मन, दस इन्द्रियाँ और पञ्च महाभूत—इन सोलह तत्त्वा को नैवम विवृति कहते हैं। महत् अहकार और पञ्च तन्मात्राएँ—इन सान तत्त्वा को प्रकृति और विवृति दोनों कहते हैं क्योंकि एक ओर तो वे कारण हैं और दूसरी ओर कार्य। अर्थात् उत्पादक भी हैं और उत्पन्न भी। कहने का अभिप्राय यह है कि वे तत्त्व जो किन्हीं को जन्म देते हैं तथा स्वयं किन्हीं तत्त्वा से उत्पन्न भी होते हैं उन्हें प्रकृति विवृति कहते हैं। इस प्रकार एक प्रकृति, सात प्रकृति विवृति और सोलह विवृति—इन चौबीस तत्त्वा से पृथक् ब्रह्म-सं पुरुष हैं जो न प्रकृति हैं न विवृति हैं। अर्थात् वह तत्त्व जो कार्य एवं कारण दोनों से भूय रहता है उस न प्रकृति और न विवृति तत्त्व कहते हैं क्योंकि न वह कार्य ही है और न कारण ही। यह अनुभय तत्त्व पुरुष है। इस तरह तत्त्वा की कुल संख्या पञ्चोस है। इनका वर्गीकरण निम्नांकित है—

१ पञ्चविंशतिवर्षको यत्र कुशाग्रमे बभूव ।
जटी मुष्णी शिखी नापि मुच्यन्ते नाम सराय ॥

रस रूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान अव्यक्ता, प्रकृति
विकृति	१६	५ चानेन्द्रिया ५ कर्मेन्द्रिया मन एव पञ्चमहाभूत
प्रकृति विकृति	७	महत्तत्त्व अहकार और तन्मात्राएँ
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

मूल तत्त्व पुरुष और प्रकृति

उपयुक्त पञ्चीस तत्त्वा म पुरुष और प्रकृति ही दो मूल तत्त्व हैं। पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और उसमें विपमता उत्पन्न होती है। विपमता से प्रकृति गतिशील होती है जिसके परिणामस्वरूप महान् क्रियम संभव सभी तत्त्वों का विकास होता है। पञ्चमहाभूतों मन तथा इन्द्रिया के ही संयोग से अनकृतमूलक जीव-जगत का उदभव होता है। पुरुष स्वभावतः प्रकृति से अनासक्त है किन्तु जगत में वह प्रकृति के काय कलाप से संबद्ध जसा लगता है। ज्ञान द्वारा इसी सम्बद्धता को दूर करके पुरुष का अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही मोक्ष है। इस तरह एक तत्त्व से किस प्रकार अनेक पदार्थों का विकास हुआ इसी प्रश्न के समाधान में समस्त दार्शनिक और धर्म विचारक सलग्न रहे हैं। ब्रह्मसिद्धि में कहा गया है कि इन्द्रिया से परे अथ अपर्योस परे मन मन से परे बुद्धि बुद्धि से परे आत्मा या महान् महान् से परे अव्यक्त अव्यक्त से परे पुरुष और पुरुष से परे कुछ नहीं क्योंकि वह परागति है।^१

जगत के आधारभूत तत्त्व प्रकृति का अनमान सत्कायवादी के ऊपर निर्भर है। न्यायिक तथा वाक्यिक दाना उत्पत्ति से भी पूर्व काय को असत् मानते हैं। किन्तु सार्व में विकास क्रम में सत्कायवादी या प्रकृति-परिणामवादी के सिद्धांतों को मानकर कारण में ही काय की अवस्थिति मानी गई है। तत्पर्य यह है कि काय कारणावस्था का व्यक्त रूप है। सार्व कारिका में कारण के व्यापार से पूर्व काय सिद्ध करने में पाँच हेतु लिये गए हैं—

प्रकृति परिणामवाद पंच प्रमाण

- १ जन्म-कारणान्—अथान् अमन् को सत्ता में लाना सम्भव नहीं है।
- २ उपादानप्रवृत्तान्—अर्थात् उपादान के ग्रहण से भी काय (घट) का उपादान कारण (मृत्तिका) में सम्बन्ध जाना है।
- ३ सवसम्भवाभावान्—अथान् काय-कारण में सम्बन्ध न मान्य होने पर काय सिद्ध हो सके—यह अनभव के विरुद्ध है।
- ४ शक्तस्वकारणान्—जयान् शक्त पन्था शक्ति का ही उत्पन्न कर सक्ता है।

१ इन्द्रिय-बराबर कर्मेन्द्रिय पर मत।

मनसस्तु परा बुद्धिश्चोरात्मा महापर ॥ १ ॥

महत् परम-वस्तुम-वस्तुतत्पुरुष पर।

पुरुषान् पर विविक्ता कण्ठा सा परा गति ॥ ११ ॥

५. कारण-भावना—प्रधान सभी काय कारणात्मक होने हैं कारण में भिन्न नहीं ।
इन पंच प्रमाणों का माराग यह है कि कारण के पूर्व भी कारण में काय की सत्ता
विद्यमान रहती है । सांख्य-ज्ञान के अनुसार किसी वस्तु का न उत्पन्न होना है न नाश ।
केवल वस्तु-ध्यापार से अयत्न वस्तु व्यक्त रूप को प्राप्त होती है और गति के स्थिर
होने पर वस्तु स्थूल से सूक्ष्म रूप में बदल जाती है । यही सांख्य-ज्ञान की तत्त्व मोक्षार्थ का
आधारभूत सिद्धान्त है । सांख्य-ज्ञान के अनुसार मयार के सभी पदार्थ त्रयोगुण सम्पन्न हैं ।
अतः उनमें साम्यभाव है । जगत् का भूत कारण एक तत्त्व प्रकृति-मात्र है । जिस क्रम से प्रकृति
सृष्टि करती है उसी के विपरीत क्रम से विनाश या लीनोभाव भी करती है । प्रकृति
का सर्वप्रथम विस्तार महत्तत्त्व या बुद्धि है । महत्तत्त्व से अहकार का जन्म होता है और फिर
उससे मन पञ्च ज्ञान-द्रव्यों पञ्च कर्मों द्रव्यों, पञ्च तन्मात्राओं और पञ्च महाभूतों का विकास होता है ।

सांख्य के मतानुसार पुरुष निगुण एवं असंग है । पुरुष एवं प्रकृति के बापों में बहुत
घनिष्ठ सम्बन्ध है । सांख्य-ज्ञान ने पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए चार युक्तिया
का निर्दोष किया है—

१. समस्त वस्तुएँ संपादन रूप हानी हैं अर्थात् उनका अस्तित्व दूसरों के लिए होता
है । जस भवन आवास के लिए होते हैं तो फिर उनके अधिवासी का सहज ही अनुमान किया
जा सकता है ।

२. सुख-दुःख में जितने पण्य हैं उनका कोई-न-कोई अधिष्ठाता अवश्य है । इसमें
स्पष्ट है कि महत् तत्त्व एवं अहकार का कोई अधिष्ठाता अवश्य है ।

३. सुख-दुःख आदि का भोक्ता होना आवश्यक है । भोक्ता के अभाव में अनुकूल
एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का ज्ञान किस और कैसे होगा ?

४. मानव में बन्धन के लिए प्रवृत्ति का होना भी पुरुष के अस्तित्व का बोधक है
क्याकि कामना जब तत्त्व में नहीं होती है । ये सारी युक्तियाँ उपाधि-संगुक्त पुरुष को सिद्ध
करती हैं ।

भिन्न गुण वाले पुरुष और प्रकृति के भोग से सृष्टि की स्थिति

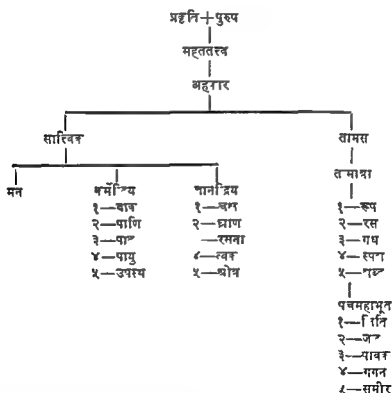
पुरुष और प्रकृति विषम गुण वाले पदार्थ हैं । फिर भी दोनों के भोग से ही सृष्टि
की स्थिति है । पुरुष समस्त पण्यों में विद्यमान रहता हुआ भी अग्नित है । पुरुष प्रकृति में
सदा अनागत रहता है पर प्रकृति अपने प्रपञ्च की रचना द्वारा पुरुष का निम्न भाग धन
में डालने का प्रयत्न करती है ।^१ इस प्रकार पुरुष अनाति एवं निमित्त कारण कूटस्थ अवस्था
है । प्रकृति अनाति एवं सृष्टि के उपादान का कारण है । पुरुष समस्त प्रपञ्च से तटस्थ होकर
वर्णनमुक्त होने के लिए लागित रहता है परन्तु प्रकृति अपनी माया द्वारा नाना प्रकार

१. संपाद पदार्थानां निगुणानां विषयवाचिष्ठानां ।

पुरुषोऽस्ति मोक्षार्थमात्रं वैद्व्यायं प्रवृत्तेन ॥१०॥

२. 'नदम्पादुतो नद प्रकाशयति चिद्रूपं ।

के प्रपञ्चों की रचना किया करती है। ये ही प्रपञ्च मनुष्य को माया जाल में फंसाते हैं। पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत् की स्थिति उसी प्रकार है जैसे अग्नि की उत्पत्ति मूल एवं दण्ड के संयोग से होती है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के ससर्ग से सुई गतिशील हो जाती है वायु के संयोग से उल्धि में तरंगें उत्पन्न होती हैं तथा मूल के प्रकाश से नेत्र बाह्य जगत् के रूपों को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना होती है।^१ सृष्टि के मयुनी मूलपात का यही उपक्रम है। पुरुष और प्रकृति का यही गायन मधुर भाव जब विषयक होने से लौकिक शृंगार रस तथा चिजगत् का विषय होने से अलौकिक मधुर रस में परिणत हो जाता है। इस प्रकार सात्त्विक-ज्ज्ञान के अनुसार पुरुष और प्रकृति के संयोग से एक महत्तत्त्व महत्तत्त्व से दो अहंकार अहंकार से पञ्च तन्मात्राएँ पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई है—



- १ पुरुष प्रकृति संयोग जगत् उत्पन्न है तेने ।
 रवि दण्ड इच्छात अग्नि उत्पन्न है तने ॥
 सुई होहि चुम्बक यथा चुम्बक है सगा ।
 यथा पवन संयोग उल्धि महि बढहि तरगा ॥
 अह यथा मर संयोग पुनि चक्षु रूप का प्रगट है ।
 यों बह-वेगन संयोग ते सृष्टि उत्पत्ती कहत है ॥

इनमें अहंकार ही समस्त पिण्ड और सूक्ष्म देहों का कारण है। सत तम और रज अहंकार के तीन प्रकार हैं। जिस प्रकार का अहंकार होता है उसी प्रकार का रूप होता है।^१

सारय-दशन के उभयरूप

साख्य दशन व प्रायः दो रूपों की चर्चा की जाती है। ईश्वरकृष्ण को निरीश्वरवादी दार्शनिक कहा गया है तथा विज्ञान मिश्र को सेश्वरवादी। इन्हीं दार्शनिकों के विचार सूत्रों का आधार पर निरीश्वरवादी दशन तथा सेश्वरवादी दशन की उद्भावना की गई है। सेश्वर साख्य दशन में पञ्चीस तत्त्वों में पृथक् ईश्वर-तत्त्व का भी माना जाता है और इस तरह तत्त्वों की संख्या वहाँ पञ्चीस हो जाती है। चरक-महिता में केवल चौबीस तत्त्व उल्लिखित हैं। वहाँ पुष्प और प्रकृति मोना को अत्यन्त मानकर अपृथक् कर लिया गया है। पटञ्जल समुच्चय के भाष्यकार गुणरत्न (१६वीं शताब्दी) ने मौलिक साख्य और उत्तर साख्य के नाम से साख्य दशन के दो सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। मौलिक साख्य में पुराण का साथ साथ प्रकृति भी अनेक मानी गई है किन्तु उत्तर साख्य में पुराण अनेक और प्रकृति एक ही मानी गई है।

हिन्दी के साधना साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना की दृष्टि से साख्य-दशन का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। टी० रामाष्ट्रानन व मतानुसार रामानुजाचार्य तथा अय्य वण्णव एव गण वण्णितयो ने साख्य-दशन के ही आधार पर मध्ययुग में दशन तथा धर्म के सम्प्रदायों की स्थापना की। पौराणिकों की भाँति हिन्दी के इन ज्ञानियों ने भी साख्य के विकासवाद को स्मृतियों का मूलवाद से समर्थित किया जिसमें अण्ड से प्रायः सृष्टि मानी जाती है।^२ मूल भाँति सगुणवादी भक्त-कवियों ने सेश्वर साख्य को अधिक महत्व दिया है। साख्य की प्रकृति का माया कहा गया है और तिरमुनी माया या त्रिगुणात्मिक प्रकृति को उसका लक्षण माना गया है।^३ मूरदाम में सेश्वर कबीर^४ नानक मुन्दरदास गरीबदास, फलूदास आदि भक्त गव सन्त कवियों ने साख्य-दशन के इस विकासक्रम का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। निरीश्वरवादी तथा अनेकवादी साख्य को

१ त्रिविध शक्ति है त्रिगुणमय तम, रज मत्त सुषुप्त।

इति यदि पिण्ड स्थूल है, इति यदि सूक्ष्म शुद्ध ॥

—शानसमुद्र (शुद्ध दशदास), वृत्तीयोत्तम।

२ हिन्दी साहित्य-कोश, १०-८२६।

३ मया वा त्रिगुणात्मक जानौ। सत, रज तम साके गुन मानौ ॥
निन प्रथमहि महत्त्व उपजायो। जातौ अहंकार प्रवदायो ॥
अहंकार किछो तीन प्रकार। सत तै मन मूर सात भक्त चार ॥
रजगुन तै इन्द्रिय निस्तारी। तमगुन तै तमात्रा सारी ॥
निन तै पंच तत्त्व उपजायो। इन सबको एक अण्ड बनायो ॥
अण्ड सो नह चेतन रहि होई। तब हरिपद ध्यावापन पार ॥

—सरसागर ३।

४ कबीर वचनावली १०-१५६ १६१, १८४, १९४ दृश्य।

शानसमुद्र (शुद्ध दशदास) वृत्तीयोत्तम १-७, ६, १० और ५६ दृश्य।

भी हिंदी के साधना-साहित्य में भाव्यता दी गई है। हिंदी के सन्न-मन की परम्परा में पुरुष प्रकृति के सिद्धान्त गुण सिद्धान्त तत्त्व सिद्धान्त सत्तारोत्पत्ति के सिद्धान्त स्थूल और सूक्ष्म देह सिद्धान्त इन्द्रियाँ मन और बुद्धि के सिद्धान्त आदि साध्य के अनेकानेक मत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुए हैं।

साध्य-दान के पुरुष प्रवृत्ति तत्त्ववाद के आधार पर ही आगे चत्वर उपासना के क्षेत्र में जीवात्मा परमात्मा शक्ति और सर्वशक्तिमान के बीच दाम्पत्य प्रेम-सम्बन्ध का अवतारणा की गई है जो साधना-साहित्य के भावात्मक रहस्यवाद तथा मधुर रस साधना का प्रेरक तत्त्व है।

योग-दर्शन

योग जीवात्मा द्वारा परमात्मा के साथ तादात्म्य-स्थापन की विशिष्ट प्रणाली है

योग सिद्ध-ज्ञान की गौरवपूर्ण उपलब्धि है। वेद से लेकर उपनिषद् श्रीमद्भागवत श्रीमद्भगवद्गीता योग-वार्ताष्ठ तन्त्रग्रन्थ बौद्ध धर्मग्रन्थ जैन धर्मग्रन्थ आदि धर्मग्रन्थों में योग की प्रक्रियाओं का प्रतिपादन किया गया है। योग शब्द का प्रयोग कई अर्थों में मिलता है। सामान्य अर्थ में यह सम्बन्ध का वाचक है। दान में जीवात्मा परमात्मा के सम्बन्ध को योग कहते हैं। सम्बन्ध-स्थापन के साधन को भी योग कहा जाता है। देहात्म बुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना भी योग है। दुःखमुखादि पर विजय प्राप्त कर समरथ की प्राप्ति जाना भी योग कहा जाता है। कम-बन्धन से विरक्त रहना भी योग है। गीता में कम-कौशल को योग भी कहा गया है। इस प्रकार अनेक अर्थों में योग शब्द का प्रयोग मिलने है।^१

ध्युत्पत्ति की दृष्टि से योग शब्द युक्त धातु के पञ्चात कारण एवं भाववाच्य में घट प्रत्यय लगन में बनता है। युक्त समाधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। समाधि का अर्थ पूर्णावस्था परब्रह्म के साथ युक्त हो जाना है अर्थात् सभी प्रकार की वासनाओं और कामनाओं का पूर्णावस्था परित्याग कर स्वरूप में मिल जाना ही योग है। इस प्रकार ज्ञान शास्त्र की दृष्टि से योग का अभिप्राय उक्त विशिष्ट प्रणाली या साधना-भाग से है जिसका अनुसरण कर साधक आत्मा एवं परमात्मा में तादात्म्य स्थापित करता है। यह एकात्मता की स्थिति चञ्चल चित्त-वृत्तियों के निरास में ही सम्भव है। माराग यह है कि योग एक आध्यात्मिक विद्या है जो आत्मा और परमात्मा के मध्य तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रियाओं का निर्देश करती है। योग वह परमाय विद्या है जो मन्त्रिन् आनन्द-स्वरूप के स्थिति का मातात्मार कराने वाला है।

योग-शास्त्र में योग-साधना के क्षेत्र में योगी का गति के अनुसार उक्त चार वर्ग

निधारित किये गए हैं। पतञ्जलि ने मधुमती भूमिका व रूप में प्रतिभमान की बड़ी उदात्त कल्पना की है। मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। 'अज्ञ' अथ और ज्ञान इन दोनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। इस पाथक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्प्रयोग विलीन हो जाते हैं उसे पर प्रत्यक्ष या निर्विकल्प समापत्ति कहते हैं। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वर्तित की प्रधानता का परिणाम है।^१ योगी अपनी साधना से जब इस विशेष अवस्था में अपने चित्त को स्थिर कर सकने में समर्थ होता है तब सभी पदार्थ उसे दिव्य लगते हैं और स्वप्न का द्वार उसके लिए उन्मुक्त हो जाता है। पातञ्जल-योग सूत्रों के भाष्य-कर्त्ता वेदव्यास के वचनानुसार मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की दृष्टि सात्त्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उसका आह्वान करने लगते हैं—'इधर आइए यहाँ रुमिए, इस कमनीय भोग के लिए श्लोक गरसा करते हैं। देखिए, कसी कमनीय बना है ? यह रमायन जरा मरण को दूर करने वाला है। व्योमयान ये अमृत फल खाने का पदार्थ यह पुण्य सत्त्विका महाकाली, ये सिद्ध महर्षिगण ये उत्तम और धनोन्मुख अप्सराएँ ये शिष्य श्रवण और नेत्र ये वज्रोपम शरीर—इन सबको आपने ही अपने गुणों से उपाजित किया है। फिर पधारिए न, इस देवप्रिय अश्वय, अजर अमर स्थान में।'^२

पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र में योग साधना के आठ अंगों का वर्णन किया है जिन्हें अष्टांग योग कहा है।^३ वे हैं—यम नियम आसन प्राणायाम, स्वाहाहार धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें प्रथम पाँच को बहिरंग साधन तथा अन्तिम तीन को अन्तरंग साधन कहते हैं। पातञ्जल-योग-ज्ञान के अनुसार यम के अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच भेद हैं।^४ हठयोग प्रदीपिका में यम के अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, क्षमा, क्षति, दया आश्रय मित्राहार और नीच—य दस भेद वर्तमान हैं। पातञ्जल योग ज्ञान के अनुसार नीच सत्ताप तप, स्वाध्याय और श्रद्धा प्रणिधान—ये पाँच नियम निर्धारित किये गए हैं।^५ हठयोग प्रदीपिका में नियम के दस भेद कह गये हैं। यथा—तप, सन्तोष आस्तिक्य दान पूजा मित्रात वास्य-श्रवण ह्री, मनि, जप और होम। हठयोग प्रदीपिका में आसन और प्राणायाम साधना के पूर्व वाया दृष्टि के लिए घट कर्मों के अन्तर्गत छौति वस्त्र ननि त्राटक, नील तथा कपाश्यानि त्रियाश्रो^६ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

१. मैत्रुत (धनुवा) की भूमिका प० केशवप्रसाद मिश्र।

२. 'मधुमती भूमिका में छात्र बुधतोऽथ देवा सत्त्वशुद्धिमानु परवत् स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—भो इन्द्राय नमः, इन्द्राय नमः, कमनीयोऽयं भोग कमनीयेषु बना रसायनमिव जराशुभापने वैश्वसमि' सान्त्त कमनीय इत्यादि, पुण्या महाकाली, सिद्धा महर्षिगण, उद्यमा धनोन्मुख अप्सराएँ, शिष्य श्रोत्रपुत्री, वज्रोपम वाय स्वर्गलोक सर्वभिक्षुगणितयायुष्यता, प्रदिव्ययतामिन्द्रपदमजर ममरस्था देवाना मिश्रमिति । —वेदव्यासहृत पतञ्जलियोगसूत्र भाष्य।

३. 'यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टाङ्गानि ।'

—पातञ्जल योगसूत्र २६, साधनापाठ २।

४. 'अहिंसा मत्यादेव ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा ।' —पातञ्जल योगसूत्र, साधनापाठ २, सूत्र ३०।

५. 'नीच सत्ताप तप स्वाध्यायेश्वर त्रिषिद्धानि नियमा ।' —कौटिल्य, सूत्र १२।

६. पौत्रिवस्त्रिष्य नैनि नीलिकी त्राटक तथा ।

कपातमानि रत्नानि बटवमाणि समाचरेत् ॥

—श्रीरघुपद्धति ।

आरम्भ मे हठयोग का उद्देश्य काया पुद्धि और मनामारण ही माना गया था किन्तु नायक मे काया-माधन को ही मुक्ति का सोपान माना जाने लगा । फलतः देह गद्धि के लिए पट कम को सम्पादित करना योगी के लिए परमावश्यक हो गया । पातजल-योगदान मे निश्चल होकर एक ही स्थिति मे दीघकाल तक बठने का अभ्यास करना आसन है ।^१ शरीर को सीधा एवं स्थिर सुखपूर्वक बठ जाने के बाद शरीर विषयक सारी चेष्टाओं का त्याग कर देना ही प्रयत्न गणित्य है । इससे स्थिर चित्त होकर परब्रह्म मे मन नियोजित होता है तथा आसन की सिद्धि होती है । योग दान मे शरीर को रोग शोक से मुक्त रखने के लिए आसन साधना का विधान किया गया है । आसन योग-कला का एक अनिवार्य तत्त्व है । इस योग कला को जानने के कारण ही शिव नित्य शिवा के साथ विचरण करते हुए भी अचलासन हैं ।^२ हठयोग विषयक ग्रन्थो मे अनेक आसनों का वर्णन किया गया है । शिव संहिता मे ८४ प्रकार के आसनों का उल्लेख है जिनमे पद्मासन सिद्धासन वीरासन स्वस्तिकासन भद्रासन, दण्डासन मयूरासन सिंहासन गवासन मुक्तासन उग्रासन आदि गान्धि प्रसिद्ध हैं जिनमे पद्मासन और सिद्धासन सार रूप माने गये हैं ।^३ योग भाग मे साधक को आसन के बाद प्राणायाम की साधना करनी पड़ती है । पतञ्जलि के शान्ति मे आसन की सिद्धि हो जाने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का स्थगित हो जाना ही प्राणायाम है ।^४ जिस प्रकार धातुओं को अग्नि मे तपाने से उनका भस्म जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार श्वास और प्रश्वास के नियन्त्रण से इन्द्रिय-दोष भी दग्ध होकर समाप्त हो जाते हैं । प्राणायाम के तीन भेद हैं—पूरक कुम्भक और रेचक । पूरक का अर्थ है साँस खींचना अर्थात् अपान वायु को नासिका द्वारा खींचकर उदर मे भरने का नाम पूरक है । उदर मे भरी हुई वायु को यथा समव रोक रखने को कुम्भक कहते हैं । इसके आठ भेद बतलाये गये हैं । रद्ध तथा अगुद्ध हुई वायु को नासारोम द्वारा धीरे धीरे बहिर्गमन को रेचक कहा गया है । योग दान मे आसन और प्राणायाम की साधना के लिए तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए मुद्राओं का निर्देश किया गया है क्योंकि मुद्राओं के बिना आसन और प्राणायाम करना हानिप्रद है । अनेक भिन्न भिन्न आसनों और प्राणायामों के सम्पादन के लिए भिन्न भिन्न मुद्राओं के प्रयोग निश्चित हैं । योग भाग के साधक के लिए सात प्रकार की मुद्राएँ आवश्यक बतलाई गई हैं—१-मूलाबन्ध २-जलघर बन्ध ३-उद्धिद्वयान बन्ध ४-साम्भवी मुद्रा ५-सचरी मुद्रा ६-अश्विनी मुद्रा और ७-यानिमुद्रा ।

१ शिबरमुद्रामासनम् ।

—शान्त्यन योगदर्शन सा पा २ सूत्र ४६ ।

२ शिव जानत है सब योगकला ।

नित मग शिवा पुनि है भक्तला ॥

—मत्त मुद्राश्रम ।

३ आसनभ्य समस्तभ्यो ह्यङ्गुलद्वयाङ्गुलम् ।

एक निद्रामन प्रोक्त शिवाय कथयामनम् ॥ १ ॥

—योगउद्बन्धि ।

४ 'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वास शान्ति विच्छेद प्रत्यायाम' ।

—योगसूत्र मा पा ३ सूत्र ४८ ।

नाद

मन के रस का सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान माना गया है। शंकराचार्य ने 'योग तारावली' में लिखा है कि योगी तारा के प्रवर्तक स्वयं भगवान् शिव हैं तथा उन्होंने मन के रस को के सवा लाख साधन बताया है, जिनमें नानुसंधान सुलभ एवं श्रेष्ठ है।^१ 'शिवसहिता' में भी नाद-साधना को सर्वोत्तम साधन मानते हुए कहा गया है कि सिद्धासन के सङ्ग न तो कोई आसन है और न कुम्भक के समान कोई शक्ति। न खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा है और न नाद के सङ्ग मन के रस का कोई साधन है।^२ मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। योगी जब कुण्डलिनी को जाग्रत कर उदबुद्ध कर लेता है तब वह ऊर्ध्वमुख संचरण करती है। उसकी इस ऊर्ध्वगति से जो स्फोट होता है उस 'नाद' कहते हैं। नाद अनाहत रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हठयोग प्रदीपिका में नाद के दस भेद वर्णित हैं।^३ नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग इन्हीं को कनी मूल चन्द्र और अग्नि और कभी ब्रह्मा विष्णु और शिव भी कहते हैं। वस्तुतः यह जो नाद और बिन्दु है वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्त्त में होता है तब उसे नाद बिन्दु कहते हैं।^४ जिस प्रकार मकरन्द पान में मत्त भँवर गंध की ओर ताकता भी नहीं उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है।^५ दुनिया के किसी और विषय की परवाह नहीं करता। इन्द्रिया का अपने विषयों से विरत होकर चित्त का स्वरूपानुसार होना अर्थात् अनुकूलता को प्राप्त हो जाना प्रत्याहार है।^६ इस दशा का प्राप्त हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ मनोनुगामिनी हो जाती हैं।

१ सप्त शिबीरानि सहायलक्ष लयावधानानि वसति स्मरे ।

नानुसंधान समाधिमेक मयामह मायतम ज्ञानाम् ॥

—शंकराचार्यन 'योगतारावली'।

२ नासन मिद सदृश न कुम्भक सम बलम् ।

न खेचरी सदृश मुद्रा न नाद सदृशो लय ॥

—शिवसहिता ।

३ भाग्यं जपरि त्रीमूत भेरो भ्रमर लभवा ।

मध्वे मन्त्रसंश्लोका यथा काव्यलज्जस्तथा ॥ ८४ ॥

अन्तेन किञ्चिन्ना वरा बीया भ्रमर नि स्वना ।

इति नामाविधा नदा ध्वने ऽहमव्यया ॥ ८६ ॥

—हठयोगप्रदीपिका, उप० ४ ।

४ शरीरं द्यौं ह० प्र क्षि, ५० ५६ ।

५ मकरन्द विन्दुं मृगो गन्धमापेक्षते यथा ।

नादामकत तथा चित्तं विषया नहि काञ्चति ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

६ 'रमविषया सप्रयोग विरतस्य स्वरूपानुसार इन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः ।'

—बालकृष्ण योग दर्शन साधनापार ३ सूत्र १२४

आरम्भ में हृत्पत्र का उद्भव वायु पुच्छि और मनोमारण ही माना गया था किन्तु नाग पद में वायु-मापन को ही मुक्ति का साधन माना जाने लगा। पञ्च देव गच्छि के लिए पञ्च कर्म को सम्पादित करना वाणी के विजय सम्पादनक हो गया। वायु-योग-पञ्च में निश्चय होकर एक ही स्थिति में शीघ्रता से सब बँदे का सम्पादन करना आगत है।^१ शरीर को शीघ्र एक स्थिर मुद्राबद्ध बन जाने के बाद शरीर विरामकारी मुद्राओं का स्थापन करना देना ही प्रथम विचार है। इसमें स्थिरचित्त हाथर पञ्चक में मन निश्चित होना है तथा आगत का निश्चि होना है। योग-पञ्च में शरीर का शान्त भाव में मुद्रा रखने के लिए आगत मापन का विधान किया गया है। आगत वायु-जल का एक अनिवार्य भाग है। इस योग कला को जानने के कारण ही निम्न निम्न विचारों का साथ विचारण का हृत् भाव सम्पादन है।^२ हृत्पत्र विचारण कला में अनन्त आगत का ज्ञान स्थिर होता है। निम्न गति में ८४ प्रकार के आगतों का उद्भव है जिनमें पद्मागत मिथ्यागत योगगत स्वस्थितागत भगवत दण्डागत मयूरागत मिहामगत शवागत मुद्रागत उषागत आदि आदि प्रसिद्ध है जिनमें पद्मागत और मिथ्यागत गारुड मान लिये हैं।^३ योग भाग में साधक का आगत के बाद प्राणायाम की साधना करनी पड़ती है। पञ्चविध के शरीर में आगत का निश्चि हो जाने के बाद स्वाम और प्रणाम का गति का स्थिति हो जाना ही प्राणायाम है।^४ जिन प्रकार धातुओं की अग्नि में तपान से उनका मूल जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वाम और प्रवसा के नियमन से इन्द्रिय-शेष भी दग्ध होकर समाप्त हो जाता है। प्राणायाम के तीन भेद हैं—पूरक कुम्भक और रेचक। पूरक का अर्थ है शरीर शीतला अपान वायु की नाभिका शरीर शीतकर उत्तर में भरने का नाम पूरक है। उत्तर में भरने हुए वायु की यथा समस्त रोच रखने की कुम्भक कहते हैं। इसका आठ भेद बनलाय गए हैं। एक तथा अणुद हुई वायु को नासार-प्र द्वारा धीरे धीरे बहिर्गमन को रेचक कहा गया है। योग-ज्ञान में आसन और प्राणायाम की साधना के लिए तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए मुद्राओं का निर्देश किया गया है क्योंकि मुद्राओं के बिना आसन और प्राणायाम करना हानिप्रद है। अतः भिन्न भिन्न आसनों और प्राणायामों के सम्पादन के लिए भिन्न भिन्न मुद्राओं के प्रयोग निश्चित हैं। योग भाग के साधक के लिए सात प्रकार की मुद्राएँ आवश्यक बतलाई गई हैं—१-मूलबध २-जलधर बध ३-उडिडयान बध ४-गाम्भवी मुद्रा ५-सचरी मुद्रा ६-अश्विनी मुद्रा और ७-योनिमुद्रा।

१ स्थिरमुखमासनम् ।

—पातञ्जल योगदर्शन सा. पा० २ सूत्र ४६ ।

२ शिव जानते हैं सब योगकला ।

निज सग शिवा पुनि हैं बचला ॥

—सत सुन्दरदास ।

३ आसनेभ्यः समस्तभ्यो द्यमत्तदुदाहृतम् ।

एक सिद्धासन प्रोक्त द्वितीय कमलासनम् ॥ १ ॥

—गोरक्षधनि ।

४ तस्मिन् सति श्वास प्रवसास योगेति विच्छेदः प्राणायामः ।

—योगसूत्र सा. पा० ३ सूत्र ४६ ।

नाद

मन व रस का सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान माना गया है। शंकराचार्य ने योग तारावली में लिखा है कि योग शास्त्र के प्रवक्ता स्वयं भगवान् शिव हैं तथा उन्होंने मन के लय होने के सदा रास साधन बतलाये हैं जिनमें नादानुसंधान सुष्ठम एवं श्रेष्ठ है।^१ 'शिवसहिता' में भी नाद-साधना को सर्वोत्तम साधन मानते हुए कहा गया है कि मिथ्यासत्ता के सङ्ग न तो कोई आसन है और न कुम्भक के समान कोई शक्ति। न खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा है और न नाद के सङ्ग मन के रस का कोई साधन है।^२ अनुपम के शरीर में साठे तीन कोटि रोम हैं। जब सायक साठ तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। योगी जब कुण्डलिनी को आप्रत कर उदबुद्ध कर लेता है तब वह ऊर्ध्वमुख स्वरूप करती है। उसकी इस ऊर्ध्वगति से जो स्फोट होता है उसे नाद कहते हैं। नाद अनाहत रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हठयोग प्रदीपिका में नाद के दस भेद वर्णित हैं।^३ नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी 'योग इन्हीं को सभी सूय चन्द्र और अग्नि और सभी ब्रह्मा विष्णु और शिव भी कहते हैं। वस्तुतः यह जो नाद और बिन्दु है वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भाव में सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्त में होता है तब उसे नाद बिन्दु कहते हैं।^४ जिस प्रकार मकरन्द पान में मत्त भँवरों गन्ध की ओर सावधानी नहीं, उसी प्रकार योगी का नादासवन वित्त नाद में ही रम जाता है।^५ दुनिया के किसी और विषय की परवाह नही करता। इन्द्रियों का अपने विषय में विरत होकर वित्त का स्वरूपानुसार होना अर्थात् अनुकूलता को प्राप्त हो जाना प्रत्याहार है।^६ इस दशा को प्राप्त हो जाने पर सायक की इन्द्रियाँ मनोनुयामिनी हो जाती हैं।

१ सदा शिवोक्तानि सभान्तस्य लवावधानानि वसन्ति लोके ।

नादानुसंधान सभाभिरेकं न कामहे साधनमवधानम् ॥

—शंकराचार्यकृत 'योगतारावली'।

२ नासन मिद सद्गुरु न कुम्भक सम बलम् ।

न खेचरी सद्गुरु मुद्रा न नाद सद्गुरु लयः ॥

—शिवसहिता ।

३ आत्मा जलपि जीमूत मरी भङ्गुर सभवा ।

मण्डे मन्दैलरागोत्था घटा काङ्कलजाह्नवा ॥ ५१ ॥

अन्तेतु किञ्चिच्छी वरा बीणा भ्रमर नि स्वना ।

इति नानाविधा नादा धृक्ते देहमध्यगा ॥ ५२ ॥

—हठयोगप्रदीपिका, उप० ४ ।

४ शरीरं ह्येह प्र० ि, पृ २६ ।

५ मकरन्द विवर्णं शृङ्गो गन्ध नापेक्षते यथा ।

नादासवन तथा वित्त विषया नहि काञ्चति ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

६ 'शिवविषया सप्रयोग विचरत्य स्वरूपानुसार इन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः ।'

—भगवद् योग दर्शन साधनापाद २, सूत्र १ ५४

योगमूल के अनुसार प्रत्याहार मिला हो जाये पर धारि की दृष्टि भी पूर्णरूपेण व्यतीत हो जाती है। यह सुस्पष्ट है कि जिस प्रकार व्यतीत धारि की भीतर समा होता है अर्थात् धारि की विराम रम व्यतीत का वरग करती है। उगी प्रकार साधक प्रत्याहार साधना द्वारा विराम विराम कर उसे व्यतीत बनाता है।

आध्यात्मिक आधि विर और आधिभौतिक धारि म म विरि व्यतीत के विराम म विराम को एकाग्र करता ही धारणा है। धारणा की साधना म मन को किसी ध्यान म वस्तु विशेष म लगाता होता है। धारि व व्यतीत इनके विराम म आध्यात्मिक ध्यान निर्धारित है—तामि हृदय व्यतीत कर मुक्त तामिराण देव भूमि म सुखसाधन और प्रादुर्ग।

ध्यान वस्तु का साधक जब एकाग्रता म म प्रवृत्ति होता है और उस दधान व निर कोई व्यतीत नहीं होता तब ही ध्यान कहा है। मरुति वनत्रि व मरुतिगार ध्यान वस्तु म विराम को नियामित करता उगी म विराम का एकाग्र होना व्यतीत वर्य ध्यान मान की एव ही तरह की वरि का वरम बनाता। उगी वरम म व्यतीत वरि का उर्य न होना ही ध्यान है।^१

मन की एकतावता की धरम मीमा समाधि है। समाधि दधान को प्राप्त होना योग साधना की अनिम परिणामि है। समाधि-दधान को प्राप्त कर साधक के हृदय और मरुति म केवल एव विचार और एव ही प्रवृत्ति रह जाता है और वह विचार या प्रवृत्ति है ब्रह्म का। साधक इसी प्रवृत्ति-मूल म स्वा ही हो जाता है। जब ध्यान और ध्यान वस्तु एकाग्र हो जाती है तब उसे समाधि कहते हैं। पतञ्जलि व वचनानुसार ध्यान करते करते विराम ध्यान के ही आकार म परिणत हो जाता है और उस ध्यान तथा ध्याता की एकाग्रता जाता एव ध्यान की भिन्नता का अभाव ही समाधि है।^२ ब्रह्म म चित्तवृत्ति का पूर्णरूप से लीन हो जाना व्यतीत स्वरूप का ध्यान होना ही समाधि है। समाधि की अवस्था म साधक समस्त भेद भावो मनोविकारो एव दीनाम्प्राप्ति प्रभावो स परे हो जाता है। जिस प्रकार लवण जल म दुग्ध दुग्ध म घत घत म एव जल जल म मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं उसी प्रकार समाधि-दधान म ध्याता और ध्यान एकाग्र हो जाते हैं।

समाधि दो प्रकार की मानी गई है—सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि म ध्यान वस्तु का ज्ञान बना रहता है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि म ध्यान ध्याता और ध्यान का एकाग्र हो जाता है। प्रथम को सजीव और द्वितीय को निर्बीज समाधि कहते हैं।

योग के भेद

योग मार्ग म साधक की प्रवृत्ति के अनुसार योग के तीन भेद माने गये हैं—सर्विकल्प योग निर्विकल्प योग और निर्बीज योग।

१ 'तत्र प्रत्यक्षानता ध्यानम्।

—बड़ी विभूतिपात्र ३ सूत्र २।

२ 'तदेवाध्यात्मनिभास स्वरूपस यमिव समाधि।

—पातञ्जल योगदर्शन विभूतिपात्र ३ सूत्र ३।

सर्विकल्प यथा साधना की प्रारम्भिक अवस्था को, निर्विकल्प यथा निर्विचार समाधि दशा को तथा निर्बीज योग कवत्यावस्था को कहते हैं, जिसमें चित्त की ममस्त वृत्तियों के परिणामन के उपरांत आत्मा अपने निज-स्वरूप को प्राप्त हो जाती है।

योगिक प्रश्रिया की दृष्टि से योग के अनेक भेद हैं—यथा—राजयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, अष्टांगयोग, लक्ष्ययोग, साध्ययोग, व्रतयोग, भक्तिपाग, ज्ञानयोग, प्रमयोग, ब्रह्मयोग, ध्यानयोग, चर्चायोग आदि। पतञ्जलि के योग-सूत्रों में मुख्यतः अष्टांगयोग और राजयोग की ही विवेचना की गई है। इससे भिन्न हठयोग का सम्प्रदाय तार्किक परम्परा से माना जाता है। जन और बौद्ध-साधना में पतञ्जलि निरूपित अष्टांगयोग के बदले पद्म-योग (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि) को स्वीकार किया गया है। प्रत्याहार में चाक्षरूपानि में अप्रवृत्ति तथा त्रधातु^१ बुद्धि विषय का दान, ध्यान में सर्वधर्म शून्यता में चित्त प्रवृत्ति, प्राणायाम में ललना, रमना (इहा पिंगला) का माग निराप कर मध्य माग अवधूती (सुषुम्णा) में प्राण-वायु का संचालन धारणा में बिन्दु का प्राण प्रवेश, अनुस्मृति में चण्डदेवता का प्रतिविम्बाकार दान और समाधि में प्रज्ञा एवं उपाय के अद्वय की सिद्धि बताई गई है।^२

योगिक साधनवाद के स्वरूप निर्णय के इस प्रसंग में योग के विभिन्न भेदों की सांगोपात विवेचना में बर केवल वहाँ तक विषय को सीमित रखने का प्रयत्न किया गया है, जहाँ तक उसमें मधुर रस के स्वरूप का किसी-न किसी रूप में स्पष्टीकरण होता है।

योग-साधना के क्षेत्र में राजयोग और हठयोग समानांतर चलते रहे हैं, किन्तु हठयोग से राजयोग सदैव श्रमस्वर माना गया है। सत्सङ्ग की स्थिति एवं विनाश में उलझे हुए मन की एकाग्र करने परब्रह्म के आनन्द-स्वरूप का भजन करते हुए आत्म-समाधिस्थ हो ब्रह्म में मिलना ही राजयोग है। इस प्रकार राजयोग की साधना बहिर्जगत के भीतर अन्तर्जगत का मानसिक प्रत्यङ्गीकरण है क्योंकि राजयोग का साधक सम्पूर्ण बहिर्जगत को सूक्ष्म-जगत का स्थूल विकास मात्र मानता है। इस दृष्टि से मूलतः राजयोग-साधना मन-साधना में सम्बन्धित है। इसमें योग के बहिर्गम यत्न साधनों (धर्म नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) के साथ साथ तीन अन्तरंग साधनों (धारणा, ध्यान और समाधि) पर ही विशेष बल दिया जाता है। सत्य में सर्वप्रथम मन की एकाग्रता नदन्तर मन के भीरीरतम प्रदेश के विभिन्न कार्यों का उद्बोधन तत्पश्चात् उनके साधारण सत्यो की निष्कालकर अपने एक मिद्धान्त पर दृढ़ होना—यही राजयोग की निम्ता है जो किसी धर्म विनियम पर आधारित नहीं है। इस विनिष्ट योग-मदति को राजयोग कहने का यह भी एक प्रमुख कारण है।

राजयोग की बड़ी महिमा गाई गई है। इसी की साधना द्वारा योगेश्वर शिव साकि के माथ रमण करते हुए भी विषय विकारा से परे रहे।^३ राजयोग का साधक भोगमय सत्सङ्ग के बीच रहकर भी उसमें 'पश्यपन्नमिव' निरल्प रहना है। राजयोग में ज्ञान और भक्ति के

^१ हिंदी साहित्यकोश पृ. ८८०।

^२ राजयोग कीना शिवराज। गौरा सग अजग न जाइ ॥

एन नहि नै अग्नि के पामा। राजयोग का बड़ा तमाशा ॥ १४ ॥

गुप्तर समन्वय का यही कारण है। परम प्रेम स्वक्या भक्ति का समावेश हो जाने व वाग्य स्वभाव का कारण म मधुर रम का गतिरूप हो जाता है। यहाँ की वाग्यता म मोग और प्रेम के मधुर सामन्वय को बना ही आकर्षक एवं शर्म बनावर प्रयुक्त किया गया है।^१

लययोग

योग-साधना म विद और ब्रह्मांड का अभिन्न साक्षात् किया है। भौतिक जगत् व सभी पदार्थों की स्थिति विद एवं ब्रह्माण्ड में समावेश में है। अतएव विद व स्वयं का जानना ब्रह्माण्ड व रहस्य को जानना है। मधुर रम का विज्ञान साधना तथा आत्म विचार द्वारा विद ज्ञान के उपरांत आत्मिक विद्याया द्वारा प्रकृति को पुरुष में लय करना ही लययोग है। योग साधना द्वारा सुगुण आत्म पद्वि बुद्धिमान्ति का प्रवृत्त कर पुरुष व वाग्यताय गत्यार दल धन में लय करने की क्रिया को ही लययोग कहा है। ध्यय म विषय विभूति अर्थात् वाग्यताओं का लय हो जाता है। लय किया है। स्वयं द्वारा योग शून्य गरीर का ज्ञान प्राप्त करता है तथा बुद्धिमान्ति धारि को प्रवृत्त करने उग पट धन म अग्रगण्य करने हुए ब्रह्म में लीन कर देता है। मन्त्रधन व विज्ञानमाय म स्वर मिर व ऊर्ध्व भाग मर विषय गता स्थानों (पक्षा) की महायना म योगी प्रहृति धारि (बुद्धिमान्ति) की प्रयोग ऊपर ल जाकर साक्षात् सहस्रद्वय व स्थान म विषय विज्ञान व गद्याय द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। सहस्रार म विषय और धारि का यह महामिलन अपूर्व और अवर्णनीय है। यही योगिक साधुपदा का प्रतिपाद है तथा योग-साधना का दीर्घकर्म है। विषय और धारि के महामिलन से त्रिम मधुर रम धारा का प्लावन होना है वह अलौकिक अग्रगण्य और अनुपम है। हमने रसा स्वात्म व वास्तविक अधिकारी कोई बिरल सिद्ध जन ही होत हैं। सन गुप्तराम ने लययोग की लय क्रिया का स्पष्टीकरण करत हुए सातव का पीव ' पीव ' की रट लगाते हुए प्रियतम की रोज म ध्यापुत्र फिरता बड़ी और बूम का ध्यान से अर्थ को सेना मय का बसुरी की मोहक तान सुनकर आत्म मुक्ति सेना पतिहारि का अपने सिर पर गागर रस कर गुरति म हिलता कुलना आदि दृष्टान्त के प्रयोग किये हैं।^२

मन्त्रयोग

अपन विषय अथ म मन्त्र धारि कई प्रकार की साधना पद्धतिया से सम्बद्ध है। योगमूल म तत्त्व काव्य प्रणय द्वारा मन्त्रयोग का निर्देश किया गया है। योग शास्त्र के

१. हिंडोलना तहँ झूले आतगराम ।

प्रम भगति हिंडोलना सख सतन की विधाम ।

चंद्र सूर दुई खमबा नवनानि की डोरि ।

झूले पंच विमारिबा तहँ झूले जीव मोर ।

दास्त गम व अंतरा म अमृत को वाम ।

मिन पदु अमृत चाखिया सो ठाकुर हय दास ।

सहन मुनि को नहरी गगन मल्ल सिर मोर ।

दोक कुल हम आगरी ओ हम झूले हिंडोल ॥

२. सत सु दरदाम सवामयोगप्रतीपिना तितीयोपदेश ।

—बबीर प्रभावली पृ ६४।

अनुसार यह सृष्टि नामरूपात्मक है। अतएव नाम और रूप व अवलम्बन स ही साधक सृष्टि के बंधनो से विमुक्त हो सकता है। मनुष्य जिस भूमि पर फिमल कर गिरता है पुन उसी का महाग लंबर वह उठने में समय होता है। नामरूपात्मक विषय मनुष्य को मधुर भाव-बन्धन में बांधने हैं और नामरूपात्मक प्रकृति-बन्धन से जीव अविद्या-ग्रस्त रहते हैं। अतएव स्व मूलम प्रवृत्ति और प्रवृत्ति का अनुमरण कर नाममय गन्ध और भावमय रूप के अवलम्बन से जो साधना की जाती है उसे ही मन्त्रयोग कहा गया है।^१ राग में मनुष्य बंधन में पड़ता है और राग से ही वह बंधन विमुक्त भी होता है। इसी सिद्धान्त का मानकर मन्त्रयोग का विधान हुआ है। साधना क्षेत्र में मधुर रस साधना का यही रहस्य है।

हठयोग

हठयोग योग-साधना की कृच्छ्र पद्धति है। स्वामि प्रवास तथा गौरीरिष अवयवों का नियन्त्रण कर उनका उचित संचालन करत हुए मन का एकाग्र करना तथा उस परब्रह्म में नियोजित करना हठयोग है। हठयोग में 'युत्पत्तिमूलक' अर्थों की अभियोजना करत हुए कहा गया है कि इसमें ह का अर्थ चन्द्र है और ठ का अर्थ सूर्य है। सूर्य और चन्द्र क्रमशः क्षिति और काम स्वरूप प्रतीकाय में भी ग्रहण किये गए हैं। इन दोनों का सम्मिश्रण ही हठयोग है।^२ इसी को च्छा और विमला नाडी जयवा प्राण और अपान वायु का समीकरण भी कहा गया है। विषमता समारात्पत्ति का कारण है और समता प्रत्य की सूचिका है। इन प्रकार जगत में दो परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं जो एक-दूसरे को धर्मित करके अपना अधिपत्य जमाने का प्रयास करती रहती हैं। यह शक्ति की प्रधानता होने से सृष्टि हानी है तथा अतः शक्ति की प्रधानता होने से संहार होता है। स्थिति दोनों की साम्यावस्था है। निव शक्ति पुरष प्रवृत्ति आत्मा गन्ध आत्मा द्रव्य के परिचायक हैं। जीव-अहंकार अतगत में उभय शक्तियाँ प्राण और अपान रूप में रहती हैं। इन दोनों के द्वन्द्व का दूर करके दोनों में समता लाना ही हठयोग-साधना का लक्ष्य है।

हठयोगप्रतीक्षा में योगी के कुण्डल और कुल्पातक नामक दो भेद किये गए हैं। पंचमकार अर्थात् मूल्य माम मरुत्य मुद्रा और मधुन^३ का भवन करने वाला योगी कुण्डल पहलाना है और इसमें इतर सभी कुल्पातक कह गए हैं। उपयुक्त पंचमकार का बड़ा हा

- १ नामरूपात्मिका सृष्टि वस्मात्तत्त्वबलम्बनात् ।
बन्धन मुक्त्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधक ॥
तामेव भूमिमाबल्यं यं स्वयमेव यत्र जायते ।
उच्छिष्टानि जन सर्वो यच्चैतत्समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकं कर्मावबोधनं नितिला जना ।
अविद्यामिदं तद्वै तादृशं प्रवृत्ति रैमवन् ॥
आरमन् गृह्य प्रवृत्ति प्रवृत्ति चानुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनो रागभावधोरवसंधनान् ॥

—मुन्दरान में उद्धृत पृ. १४४।

२ नामरूपात्मिका हठयोगप्रतीक्षा की टीका।

३ हठयोगप्रतीक्षा ३४२-२८।

हा जाने पर माधव घट-जवहना सिद्ध हो जाता है और कायिन मन में ऊपर उठ कर उभर उठता है। इसका लिए योगाभ्यास में सुदीर्घ चिंतन के पश्चात्पक्ष में सूक्ष्म शरीर विज्ञान का विधान किया है जिसमें बहत्तर हजार नाडियाँ उभर प्रमुख पञ्चभोगों पर चक्र सहस्रार-रूप चक्र ब्रह्मरूप और उनके अधिष्ठाता महादेव अमृत भावी चन्द्र-तत्त्व मूलाधार स्थित मूल-तत्त्व चर्मण्डल संधिमा पाश्चात्तरा पञ्चप्राण पञ्चवायु दस नाडी और सर्वोपरि व्यष्टि में एक आत्मशक्ति कुण्डलिनी और महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की अवतारणा की गयी है।

नाडी-विज्ञान

यागाम्याम के लिए अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है नाडी शुद्धि। यागाम्याम में प्राणायाम द्वारा नाडी शुद्धि पर बहुत जोर दिया गया है। प्राणायाम के अभ्यास से शरीरस्थ नाडियाँ गतिविधित्व से तथा चक्र-तत्त्वित एव चतन्योत्तम हो जाती हैं जिनसे माधव में योगिन शक्तियाँ का स्फूर्ण होता है।

शिवसहिता के अनुसार मनुष्य के शरीर में ३५ हजार नाडियाँ हैं। हन्याग प्रदायिना में नाडियों का मध्य ७२ हजार बताई गया है। नाभि के ऊपर शरीर के मध्य भाग में वरुण का स्थान है जिसकी आवृत्ति कुक्कुट के अण्ड के समान है। शरीरस्थ सभी नाडियों का यही उद्गम-स्थान है। यही में निवृत्त कर नाडियाँ ममस्त शरीर में भिन्न भिन्न शाखाओं की ओर जाती हैं।^१ ७२ हजार नाडियों में ७२ मुख्य हैं जिनमें इडा पिंगला सुषुम्ना माधारी, हस्तिजिह्वा पूषा यगतिवनी अलम्बुषा कुहू और घग्निना १० नाडियाँ प्रधान हैं।^२ इन दस नाडियों में इडा पिंगला और सुषुम्ना सब प्रधान हैं। सुषुम्ना के भीतर ब्रह्मा नाडी, उदर भीतर चित्रिनी नाडी और उदर भीतर अग्नि मूल ब्रह्मनाडी है जिसमें हाव्य कुण्डलिनी शक्ति सम्भार में प्रवेश करती है। शिवसहिता के अनुसार इडा मानव शरीर में मरुण्ड की बायी ओर रहती है तथा सुषुम्ना से लिप्यन्ती हुई नाभिका की दायाँ ओर जाती है।^३ पिंगला मरुण्ड का दायाँ ओर स्थित है तथा सुषुम्ना से लिप्यन्ती हुई नाभिका की बायाँ ओर जाती है।^४ इडा और पिंगला के मध्य में सुषुम्ना नाडी स्थित है। इसकी छह स्थितियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं।^५ एकमात्र सुषुम्ना ही शरीर की शक्ति है।^६ पाप नाडियाँ

१ शक्तिनाभेरध रजो-हम्यगन सः ।

कुक्कुट एतमाकार मवनामीममाधव ।

—योगरमाधनम् ।

२ दासजनि सदस्यसि नाडी दार्शयि पञ्च ।

नेपु नाडीमहते पु रिम नमिनादना ।

प्रधाना प्राणवादि यो मूयन्तासु दशमृता ।

—ठवोग-दीपिका ४/२०

३ इडा नाडीतु या नाडी वाममर्गे-ववस्थिता ।

सुषुम्नायां समाश्लिष्य दश नासापु गता ।

—गि म , नीय पत्र २१ ।

४ पिंगला नाम या नाडी दक्षमर्गे व्यवस्थिता ।

मध्यनाडी समाश्लिष्य नाम नासापु गता ॥

—वही, श्लोक २६ ।

५ इडा रिपलमोमधे सुषुम्नाया अवस्थिता ।

७ स्थानेषु च पटशक्ति च पचम् योगिना वि, ॥ —वही श्लोक २७ ।

निगम है। पिप्पि की दृष्टि में इस ओर पिप्पि की अपात मुमुक्षा का बहुत महत्त्व माना गया है। योगसाधन^१ के अनुसार मुमुक्षा योगनिमित्त^२ विद्या है।^३ मुमुक्षा की अतितादा भी बता गया है।

रसज्ञानितक (बोद्ध प्रज्ञापी) मन्त्रों को मन्त्रा विभाग को रमता और मुमुक्षा की अवधूती को गज्ञा को गर्ह है।^४ मन्त्रों का विमर्श, महत्त्व या निराशा भी बता है। मन्त्रा प्रज्ञा रूप तथा मन्त्रविद्या है। रमता उपाय रूप तथा अवधूतिका प्रज्ञापाय म परे मन्त्र माग है। यह व ग का मुत्ता का है ता उपायनाम अवधूत है। मध्य माग मन्त्रा मन्त्र मन्त्रों आत्मी आदि इसकी गज्ञा है। मन्त्रो नाशो रोपनरूप मन्त्र जाता है ता बोद्ध-मन्त्रों का रममाण ब्रह्म १ है। मन्त्राणां र मन्त्रिण्डा और मन्त्राणां अवधूता के दो रूप वर्णित है जिन्ना मन्त्रो दोस्वी और टिप्पिना बता है। दोस्वी म बाधिवित्त ममायम करता है तथा पिप्पिना म भेद ना बता करता है। मन्त्रा और रमता के कुछ और भी नाम हैं—भागी-बागी मन्त्र मन्त्र रज पुत्र जाति। भागी म अप है अ म प्रारम्भ होत बागी मन्त्रमात्र और बागी म अप है र म प्रारम्भ होत बागी मन्त्रनमात्र। तन्त्रों म स्वर नाति म मन्त्रवृत्ति है और मन्त्राणि म। अ म मन्त्रा मन्त्रिण्डा आत्मी है रमता मन्त्रिण्डा बागी।^५ योगसाधन म इस विमता और मुमुक्षा का ज्ञमना गया मनुना और मन्त्राणां बता गया है।^६ म मन्त्रा का ज्ञो ब्रह्म १ म मन्त्र मन्त्रा है वन्त्रो विवेकी या प्रमाण है। कवीर माग बागी मन्त्रा विवसन्ति आदि ह्योत म मन्त्रो की भाति इसा विवेकी म रमता मन्त्र का विधान करने हैं। कवीर की उत्पत्तिमिया और योगामक रूपरा की कवीर म मन्त्रा इन माहन्त्रि मन्त्रा का नहा भूतना चाहिए।^७ अथ पिप्पिना सता ने कवीर म इस दृष्टिकोण का अनुमरण किया है। इसा नीत स्वभाव की बही गर्ह है और उमम चन्त्र का वाग माना गया है। अन इसा को चन्द्रनाडी भी कहते हैं। इसके विपरीत पिप्पिना उष्ण स्वभाव की है तथा उसम सूय का वाग है। अन पिप्पिना को मूयनाडी की भी सता दी गयी है। इसा और पिप्पिना के मध्यवर्ती होत के कारण मुमुक्षा त्रिगुणमयी है। अन उम चन्त्र सूय अग्नि स्वरूपा कहा गया है। सूय और चन्त्र का यन्त्रि प्रवृत्ति और पुरय का प्रतीक मान १ तो यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति पुरय म आलिंगन स ही मध्य माग (मुमुक्षा) रज सबता है। इसा पिप्पिना म समीकरण म ही कुण्डलिनी जाग्रत होनी है।

४ मुमुक्षा सांभवीरहित शेषा वेग निरधका ।

—इष्टमागप्रतीपिका २१- ।

×

×

×

इकाव मे सिद्धता नि य पिप्पिना दक्षिणे तथा ।

मुमुक्षा मध्यमा श्रेया योगनिमित्त प्रतीपिनी ॥

—योगरसायनम् ।

२ १ हीन इन तन्त्रात—पी सी० बागवी ।

३ इसा योगवती मन्त्रा विमता मनुना नदी ।

इसा विमतामोमध्ये मुमुक्षा च सरस्वती ॥

—योगरसायनम् ।

४ टा इ म णि कवीर, पृ ४४, ४५ ।

पटचक्र का भेदन कर जब कुण्डलिनी गन शान ऊपर चढ़कर सहस्रार चक्र स्थित परम शिव व आलिंगन के लिए आगे बढ़ती है तब शिवशक्ति का यह आग्निगन् महान् आनन्द को उत्पन्न करता है। इसी दशा को युगल रूप कहते हैं।

पटचक्र विज्ञान

नाडी विज्ञान ने वायु हृत्प्राण-साधना का दूसरा प्रमुख तत्त्व है चक्र विज्ञान। प्राणा वायु आग्नि यौगिक क्रियाओं द्वारा उदबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति उध्वमुख होकर इडा विंगण के मध्य स्थित सुषुम्णा के भीतर सूक्ष्मरूप ग्रहणाढी स होती हुई पटचक्रों का भ्रमण कर जब सहस्रार चक्र में पहुँचती है तब योगी की सम्पूर्ण यौगिक क्रियाएँ मिश्र हो जाती हैं और वही कुण्डलिनी शक्ति और परम पुरुष शिव का मयुर भिन्न होता है। अपन पूर्वस्थान (मूलाधार चक्र) से उठकर अपने गत स्थान (सहस्रार चक्र स्थित ब्रह्मरूप) तक की यात्रा में कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा के भिन्न भिन्न अंग या स्थितियाँ में अग्रसर होना पड़ता है जिन्हें पट चक्र के नाम से अभिहित किया गया है।

शिवपुराण, लिंगपुराण, स्वर्गपुराण और अग्निपुराण के अतिशक्ति तंत्र शास्त्र विषयक ग्रन्थों में पट चक्रों का विस्तृत विश्लेषण मिलता है। देवी भागवत में पट चक्र भ्रमण की प्रणाली मूलाधार में कुण्डलिनी के माथे जीव को हृत् द्वारा मिलाये जाने के उपाय आग्नि विषय के रहस्यमय यणन विधेय हैं। शक्तिसम्प्रोहनतंत्र, महानिर्वाणतंत्र आदि तान्त्रिक ग्रन्थों में नवचक्रों का उल्लेख है। पटचक्र भिन्न भिन्न रूपों वाले कमल-पुष्प के आकार के माने गए हैं जो मेरुदण्ड के भिन्न बिंदुओं पर अवस्थित हैं। प्रथम चक्र 'मूलाधार' है जो मेरुदण्ड के नीचे गुण और लिंगमूल के मध्य स्थित, सुषुम्णा के मुख में सलग्न चार कमल-पत्रों के आवरण का तथा पीत रंग का है।^१ शरीर विज्ञान के अनुसार इसे वमिक पञ्चमस कहते हैं। इसी के अन्तर्गत प्राणशक्तिसहित कुण्डलिनी त्रिकोणाकार अग्निचक्र (त्रिपुर) में स्थित स्वयम्भू लिंग से साढ़े तीन वर्गों में लिपटी हुई निश्चेष्ट पड़ी रहती है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो लिंग मूल में स्थित है। यह छह कमल-पत्रों के आवरण का है^२ तथा इसकी अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे हाइपोगैस्ट्रिक पञ्चमस कहते हैं। तृतीय चक्र मणिपूरक है जो नाभि के समीप स्थित है। यह दश कमल-पत्रों के आवरण वाला तथा हेमवर्ण का है।^३ इसकी अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। शरीर विज्ञान के अनुसार इस 'गोत्र प्लेक्सस' कहते हैं। चतुर्थ अनाहत चक्र है जो हृत् में स्थित है। यह द्वात्रिंश कमल-पत्रों के आवरण का है तथा रक्तवर्ण है।^४ इसकी अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि में इस कार्डियक पञ्चमस कहते हैं। पंचम विषुदाह्य चक्र है जो वट में स्थित है। यह सोलह कमल-पत्रों के

१ शिवसहिता, पृ० १०, श्लो० २।

२ शिवसहिता, पृ० १० श्लो० ७४।

३ बही, श्लो० ७६।

४ बही, पृ० १०, श्लो० ८३।

निरयक है। सिद्धि की दृष्टि से इडा और पिंगला की अपेक्षा सुषुम्ना का बहुत महत्व माना गया है। यागरमायन^१ के अनुसार सुषुम्ना यागसिद्धिदायिनी है।^१ सुषुम्ना को अग्निनाडी भी कहा गया है।

वज्रकुण्डलिक (बौद्ध प्रणाओ) में इडा को ललना पिंगला को रमना और सुषुम्ना को अवधूती की सजा दी गई है। 'वही को निअड्डा गडुरो या तिनाडी' भी कहते हैं। ललना प्रज्ञारूप तथा रात्रिरूपिणी है। रमना उपाय रूप तथा अवधूतिका प्रज्ञोपाय से परे सहज माग है। वह केओ को धुनने वाली है अतः उसका नाम अवधूता है। मध्य माग नरात्मा सहज मुदरी जोगिनी आदि इसकी सजाए हैं। यही नाडी 'रोचनगर' तक जाती है जो बौद्ध-पद्धति का 'गामधार ब्रह्मरंध्र' है। चर्वापदो में परिणुद्धा और अपरिणुद्धा अवधूती के दो रूप वर्णित हैं जिन्हें क्रमशः डोम्बी और छिनाली कहते हैं। डोम्बी से बोधिवृत्ति समागम करता है तथा छिनाली में भेद पात्र बना रहता है। ललना और रमना के कुछ और भी नाम हैं—आगे-वागे घमन चमन रज गुन आदि। आगे व अय हैं अ से प्रारम्भ होने वाली स्वरमात्रा और कानी के अय हैं व से प्रारम्भ होने वाली 'यजनमाला'। तत्रों में स्वर मात्रि में सम्बद्ध है और 'यजन' नि स। अतः ललना रात्रिरूपिणी आली है रमना निवमरूपिणी कानी।^२ योगरमायन में इडा पिंगला और सुषुम्ना की क्रमशः गणा यमुना और सरस्वती कहा गया है।^३ इन ताना का जहा ब्रह्मरंध्र में संगम हुआ है वही त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीर दास कभी कभी त्रिवेह्निता आदि हठयोग के प्रयोग की भाँति इसी त्रिणी में स्नान करने का विधान करते हैं। कबीर की उक्तबामियों और योगामक रूपका का कजा व समान इन सांकेतिक गणों को नहा धूतना चाहिए।^४ अय निगणिया सता न कबीर के इस दृष्टिकोण का अनमरण किया है। 'इडा गीत' स्वभाव की वही गर्ह है और उमम च' का वाम माना गया है। अतः इडा को च'नाडी भी कहते हैं। इसके विपरीत पिंगला उल्ल स्वभाव की है तथा उमम सूय का वाम है। अतः पिंगला का सूयनाली की भी मगर दा गया है। इडा और पिंगला के मध्यवर्ती हान व कारण सुषुम्ना त्रिगुणमयी है। अतः उम च'-मूय अग्नि-स्वरूपा कहा गया है। सूय और च' का यत्नि प्रवृत्ति और पुरय का प्रवीर मानें तो यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति पुरुष व आलिंगन में हा मध्य माग (सुषुम्ना) त' मवता है। इडा पिंगला व समीकरण में ही कुण्डलिनी जाग्रत होती है।

४ सुषुम्ना शान्तिशक्ति शीघ्र व निरुधका।

—टकागप्रतीपिका ५१-।

× ×

इ व म रिपता नि य विगया अजिये तथा।

सुषुम्ना मध्यमा केया योगसिद्धि प्रदायिनी॥

—योगरमायनम्।

१ रत्नी-इन तत्र-बी सी वगवी।

२ इडा योगवती रगा पिंगला यमुना जना।

इडा निवदामध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

—योगरमायनम्।

४ र' ह प्र ि० कबीर ५ ४५ ४६।

पटचक्र का भेदन कर जब कुण्डलिनी गान घान ऊपर चढ़कर महेश्वर चक्र स्थित परम शिव के आलिंगन के लिए आगे बढ़ती है तब शिव शक्ति का यह आलिंगन महान आनन्द को उत्पन्न करता है। इसा दशा को गुगल रूप कहते हैं।

पटचक्र विज्ञान

नाडी विज्ञान के बाद हठयोग-साधना का दूसरा प्रमुख तत्त्व है चक्र विज्ञान। प्राणा घाम आदि योगिन क्रियाया द्वारा उदबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर इडा पिंगला व मध्य स्थित सुषुम्णा के भीतर सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडी से होती हुई पटचक्रों का भेदन कर जब महेश्वर चक्र में पहुँचती है तब योगी की समस्त योगिक क्रियाएँ सिद्ध हो जाती हैं और वही कुण्डलिनी शक्ति और परम पुरुष शिव का मधुर मिलन होता है। अपन पूर्वस्थान (मूलाधार चक्र) से लेकर अपने गतस्थ स्थान (महेश्वर चक्र स्थित ब्रह्मरन्ध्र) तक की यात्रा में कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा के भिन्न भिन्न अंग या स्थितियाँ से अग्रसर होना पड़ता है जिन्हें पटचक्र व नाम से अभिहित किया गया है।

शिवपुराण लिंगपुराण स्वर्धपुराण और अग्निपुराण के अनिरिक्त तन्त्र शास्त्र विषय ग्रन्थों में पटचक्रों का विस्तृत विवेचन मिलता है। देवी भागवत में पटचक्र भेदन की प्रणाली मूलाधार में कुण्डलिनी के साथ जीव को हंस द्वारा मिलाये जाने के उपाय आदि विषयों के रहस्यात्मक वर्णन किये गए हैं। 'शक्तिसम्मोहनतन्त्र' 'महानिर्वाणतन्त्र' आदि तान्त्रिक ग्रन्थों में पटचक्रों का उल्लेख है। पटचक्र भिन्न भिन्न दश वाले कमल-गुच्छों के आकार के माने गए हैं जो मेरुदण्ड के मिलन बिन्दुओं पर अवस्थित हैं। प्रथम चक्र मूलाधार है जो मेरुदण्ड के नीचे गुदा और लिंगमूल के मध्य स्थित सुषुम्णा के मुख में सलग्न चार कमल-पत्रों के आकार का तथा पीत रंग का है।^१ शरीर विज्ञान के अनुसार इसे बसिक प्लक्सस कहते हैं। इसी के अन्तर्गत प्राणशक्तिसहित कुण्डलिनी त्रिकोणाकार अग्निचक्र (त्रिपुर) में स्थित स्वयम्भू लिंग में साठ तीन बलियाँ में लिपटी हुई निश्चेष्ट पड़ी रहती है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो लिंगमूल में स्थित है। यह छह कमल-पत्रों के आकार का है^२ तथा इसकी अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे हाइपोगैस्ट्रिक प्लक्सस कहते हैं। तृतीय चक्र मणिपूरक है जो नाभि के समीप स्थित है। यह दश कमल-पत्रों के आकार वाला तथा ह्रस्व रंग का है।^३ इसकी अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। शरीर विज्ञान के अनुसार इसे मध्य प्लक्सस कहते हैं। चतुर्थ अनाहत चक्र है जो हृदय में स्थित है। यह द्वादश कमल-पत्रों के आकार का है तथा रक्त रंग का है।^४ इसकी अधिष्ठात्री देवी शक्तिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे कार्डियक प्लक्सस कहते हैं। पंचम विशुद्धाख्य चक्र है जो कंठ में स्थित है। यह सान्द्र कमल-पत्रों के

१ शिवसहिता, पृ. ५०, श्लो० ५।

२ शिवसहिता, पृ. ५० श्लो० ७४।

३ बरी, श्लो० ७६।

४ बरी, पृ. ५०, श्लो० ८३।

आकार का है तथा गुण स्वर्णाभा व समान है।^१ इसका अधिष्ठाता अद्वितीयनटेश्वर है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इस 'फरियो' प्लेक्स' कहते हैं। पृष्ठ आना चक्र है जो भूमध्य में स्थित है।^२ इसका आकार दो कमरों जमा है और इसकी आभा गोल वण है। सहस्रार चक्र में स्थित श्री गुरु से इसा स्थान में महामिथुन की आज्ञा प्राप्त होती है। इसकी अधिष्ठात्री देवी हाविनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इस कवरनस प्लेक्स कहते हैं।

उपयुक्त पट चक्रों व अतिरिक्त सातवा सहस्रार चक्र है जिसका अवस्थिति मूला में मानी गयी है। इसमें सहस्र कमरों की कल्पना की गयी है।^३ इसके अधिष्ठाता कामन्दरी कामनाथ हैं। योग-तत्त्व वेत्ताओं के मतानुसार इस सहस्र कमल दल की कर्णिका में एक द्वादश कमल दल है। उसके ऊपर एक पश्चिमाभिमुख योनिमाल है। इसी योनि में विदु रूप सुपुष्पा का विवर है। इसी विवर के मूल में ब्रह्मरन्ध्र है जो गूयाकार है। इसी को गूय चक्र गूयमन्त्र गगनमण्डल के गगन मानसरोवर तथा इस ब्रह्माक्षर भी कहा गया है। इसी में ब्रह्मा की अवस्थिति है। इस रन्ध्र में छह दरवाजे हैं जिसमें बन्ध-कपाट का कुण्डलिनी ही योगिनी है। यहां पर जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का धर्म-साध्य है। यही आत्मशक्ति तथा कुण्डलिनी का परमात्म पुरुष शिव में समागम होना है। कुण्डलिनी का शिव के साथ यह मिथुन जगत के मायिक विकारा से ऊपर उठने और जीवात्म-तत्त्व के परमात्म-तत्त्व में लीन होने का प्रतीक है। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का महामिथुन होता है। यहाँ अमृत रस का अजस्र वर्षा होता है जिसे पान कर साधक अजरामर हो जाता है। अमर वारणा के रस-मान तथा कङ्कितों गति और परब्रह्म के महामिथुन का अनरानर भाव भूमिया का परिवर्तना द्वारा योग-साधना ने भी मधुर रस-साधना की वही ही धार्मिक अभिव्यजना की है।

कुण्डलिनी

योग शास्त्र का मूल सिद्धान्त है कि जा ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह व अन्तर विचारक तथा विविध ब्रह्माण्ड (चक्रों) की उद्भावना की गयी है। हृत्पाग-साधना-मन्त्रों के अनुसार महाकुण्डलिनी नामक शक्ति सम्पूर्ण शृष्टि में परिभ्रमण है। व्यक्ति (व्यक्ति) में व्यक्ति होने पर इस शक्ति का कुण्डलिनी कहते हैं।^४ कुण्डलिनी का व्युत्पत्ति करने हुए कहा गया है कि कुण्डलिनीस्य स्तुति कुण्डलिनी। अर्थात् वह शक्ति जिसमें सा ब्रह्म है। सा और विगत है इस शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। यह अतिरिक्त साक्षात्कारा समुपभोगात्मक होने तथा जाकार प्रभूता मातृरात्रा का जिह कुण्डलिनी भा वस्तु है धारण करने के कारण भा इस शक्ति का कुण्डलिनी वस्तु है।^५ इस अतिरिक्त ब्रह्माण्डा मुद्रा नागिन शक्ति स्वयं वस्तु अर्थात् यात्रणा अति स्वयं का नाम है।

१ बही खोद ६०।

२ बही खो ६६।

३ बही पचम पृष्ठ ०११।

४ द हारी-पञ्च विनी बहार ५ ४४।

५ द खो नि बहीर की विचारणा, ५ ३४।

कुण्डलिनी एक शक्ति है। निवाण जाव कुण्डलिनी क प्रभाव म हो अपन का जगत ओर ब्रह्म म भिन समझना ह। कुण्डलिनी मयम निचर चक्र मूलाधार म सविणी-मी सार्ह रहनी है। उसका डम प्रकार सोना वधन और अज्ञान का छोनव है अत उस जाग्रत करना आवश्यक है। जब वह जय उठनी है ता पट चक्रा का भेदन करनी हुई ब्रह्माण्ड गव म पहुँचनी है और बहा गिव म मिलकर अभिन्न हा जानी है। कुण्डलिनी का गिव व साथ वह मिलन दश्य जगत व समग्र मायामय विकारा के विसर्जन और जावात्मा और परमात्मा की तत्ताकारता का प्रतीक है।^१ बह्मन का अभिप्राय यह है नि कुण्डलिनी जगत-मृज्जन क्रिया की सूत्रधारिणी है। जब तब उसकी जगत-मृज्जन चेतना विद्वचेतना (परमात्मा) स तत्ताकार हा जाती तब तब साधन और साध्य की भिन्नता वनी रहनी है। इस जगत मृज्जन क्रिया का स्व जाना ही जीवात्मा का परमात्मा स एकाराज हाता है जिस निवाणा बस्था या समाधि-रूपा कहन हैं। तात्पर्य यह है कि कुण्डलिनी हो व्यक्तिगत गरीर म उस महान विद्व शक्ति का प्रतीक है जा विश्व का निर्माण और धारण करती है। जम वह व्यक्ति गन शक्ति जा वर्मकलक चेतना क रूप म जाव-स्वरूप है विश्व चेतन रूप प्राण गिव म विगनेन हा जानी है तब जीव क लिए जगत का लोप हो जाना है और उस मुक्ति की प्राप्ति होनी है।^२

कुण्डलिनी (Vagus Nerve) हठयोग-भाषना म बहुत बड़ी शक्ति मानी गयी है। वह जगत्समृष्टि रूपा है। वह दार्शनिकी वाग्नी है।^३ वह सप क समान सोना है और स्वय प्रभावमु-वर्णा है।^४

कुण्डलिनी की अवस्थिति और शक्तिय

‘योगरमायनम्’ के अनुसार नाभि क ऊपर गदर के मध्य भाग म सब नाडी समा श्रय^१ क कर स्थान है जिसकी आवृत्ति बुक्कुटाण क समान है। उमी कद के ऊव भाग म कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है, जा मात्र तीन वर्णा क आवार वा सप क समान कुण्डगावार है।^२ जिस माग स मागी अपन प्राण का ऊवमुख कर गीप स्थान अथात् ब्रह्मरूप म जाना चाहते हैं उमक द्वार को अपन मुख स अवरद्ध कर नीचे निर रिये वह नागव-यका

१ डॉ० धर्मेन्द्र शक्ताचारी शास्त्री सतवन का मरमग सम्प्रदाय, पृ० ४८ (साधना)।

आर्थर वमालोन (Avalon) या सर जान वडरफ (Woodroff) के Serpent Power पृ० २४५ २४६ दृष्ट य।

२ डॉ० प० न० शास्त्री सप्त कवि दरिया एक अनुसूचित पृ० १ २।

३ जगत्समृष्टि रूपा सा निवालो सतवोधता।

वाचाम वाच्या वाग्नी सदा देवेनमरुता ॥

—सिखमन्त्रा, द्वि० प०, श्लो० २५।

४ शुक्तातामोवमा हाँवा सुदरसी प्रमया स्वय—

—वही, प०म पदल, श्लो ५८।

५ कशेरुगिता निरय शक्ति कुण्डलिनी वरा।

साद निवलयकाकारा ससुता भद्रमोवमा ॥

—योगरमायनम्।

निश्चेष्ट सुपुष्पावस्था में पड़ी रहती है।^१ त्रिवसहिता में कहा गया है कि परम देवता कुण्डलिनी शक्ति की आहुति विद्यलता जमी है जो सात तीन बन्धों में लिपटी कुण्डलिनी शक्ति की समान सुपुष्पावस्था में सम्मिलित है।^२ पुनः त्रिवसहिता में पंचम पत्र में कहा गया है कि कुण्डलिनी मरुदण्ड के अधोभाग तथा शुभा और लिंग के मध्यस्थ मूलाधार चक्र के चतुष्पाण्ड मंडलाकार के अन्तर्गत एक त्रिकोण में स्थित है। त्रिकाणाहुति अग्निचक्र में अवस्थित कुण्डलिनी स्वयम्भू शक्ति सात तीन बन्धों में लिपटी अपने मुख से अपनी पूछ देवाय सुपुष्पा के छिद्र के पाम सुपुष्पावस्था में पड़ा रहती है। ऐसा दंगा में जीव अज्ञानों धनार में जावत्त हा मोह निशा में ही भटकना हुआ विविध विषय वासनाओं का कीत दाम बना रहता है। धरणा सहिता में कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन बड़ विस्तार के साथ किया गया है। उसके अनुसार कुण्डलिनी आत्मशक्ति है। वह परमदेवता रूपी शक्ति सात तीन बन्धों में लिपटी शक्ति की समान मूलाधार चक्र में सुपुष्पावस्था में पड़ी है। जब तक वह महाशक्ति सुपुष्पावस्था में निश्चेष्ट पड़ा रहती है तब तक जीव पशुवत् अज्ञानावरण से ढका रहता है। एमी दशा में वाटिका योगाभ्यास करने से पान की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार ताला खोल कर हठात कपाट को खोला जा सकता है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाहन से ब्रह्म-रस उदघाटित हो जाता है।^३ कण्डलिनी का सन्तुल्य शोषण सहस्रार चक्र है। माधन का मुख्य शोषण योग के पंच बहिरंग साधन (यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार) की साधना द्वारा मूलाधार स्थित सुपुष्प कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके शूय गगन स्थित सहस्रार-चक्र में मिटा देता है। आत्मशक्ति स्वरूप कुण्डलिनी प्रकृति का प्रतीक है तथा परमात्म त्रिवस्वरूप सहस्रपद्म सत्पुरुष (ईश्वर) का प्रतीक है। इस प्रकार कुण्डलिनी का काम में सहस्रपद्म में विगीत हो जान का अर्थ है—आत्मा का प्रकृति के बंधना में मुक्त होकर पुनः अपनी मूलभूत शिष्य पवित्र और पुरुष रूप सत्ता को प्राप्त करना।^४ प्रायः सभी सत्ता में इस शिष्य भाव-रसा का वर्णन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है। प्रकृति और पुरुष शक्ति और शिव का यह संगम मिश्रण अदम्य है अप्रूष है अनिर्वचनीय है। आत्मा और परमात्मा का यही महामिशन मधुर रस का निष्पाक तत्त्व है।

१. देव मार्गेण गच्छति गगनं मूढनि योनिः ।

मुनेनाद्याप तद्द्वारं मुना सा नावद्वन्द्वम् ॥ —योगसूत्रम् ।

२. तत्र विषयवताकारा कुण्डली परवत्ता ।

साधनिकरा कुण्डलिनी सुषुप्ता मागमस्थिता ॥

—शिवम हता नितीय पत्र २३ ।

३. मूलधार आत्मशक्ति कुण्डली परवत्ता ।

राशिना भुजगाकारा सर्पविवचयान्विता ॥

बाह मा निद्रिता नह नव-नीच पशुपथा ।

एत न जयते तावको यो समभ्यवेत् ॥

उत्पट्टेभ्यः च यथा कुण्डलिका हठम् ।

कुण्डलिनी यो निद्रिता नह नव-नीच पशुपथा ॥

—देवमहिता कृतीवाचन ४६ ५१

४. हों प म हां सत्त्वविरहिता

—शिव कुरुतीव ५ १ १ ।

कुण्डलिनी-उत्थापन क्रिया

याग-माग म प्रवृत्त साधक का प्रथम लक्ष्य मूलाधार स्थित सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर ऊर्ध्वमुख करना है तथा अन्तिम लक्ष्य त्रिमया पटचक्रा का भेदन करते हुए उस सहसार चक्र म पहुँचाना है जहाँ कुण्डलिनी के पहुँच जान पर साधक को समस्त योगिक क्रियाएँ मायिक हो जाती हैं और वह अनाहृत नाद का श्रवण तथा अमरवार्त्तणी का पान करता हुआ जरा मरण भय से विनिमुक्त हो ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। अतः साधक के लिए कुण्डलिनी उत्थापन की प्रक्रियाओं का अवलम्बन परमावश्यक है। यम नियम आसना की साधना के उपरांत साधक प्राणायाम की साधना द्वारा पंचप्राण और पंचवायु को नाभि मूल से ऊपर की ओर उठाता है और उह यथासम्भव अवरोध करता है। इन्हीं की साधना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। इसे मूल भेद कुम्भ की क्रिया कहते हैं। घेरण्ड संहिता म इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि मूल भेद कुम्भ जरा मरण का विनाशक है तथा इसकी साधना से कुण्डलिनी शक्ति प्रबुद्ध होती है।^१ कुण्डलिनी शक्ति को स्वयमेव उदबुद्ध करने के लिए छेचरी मुद्रा की साधना भी महत्त्वपूर्ण बतलायी गया है। मुपुत्तावस्था म यही कुण्डलिनी मूढ़ जनों के जरा मरण के घटन का कारण है तथा प्रबुद्ध होकर यहाँ जरा मरण के घटन से मुक्त कराने का अमोघ साधन भी है।^२

कुण्डलिनी शक्ति जब उदबुद्ध होकर ऊर्ध्वमुखी होती है तो स्फूर्त होना है जिसे नाद कहा गया है। यह नाद पिंड और ब्रह्माण्ड म सतत होता रहता है पर मोहाविष्ट जन इसकी अनुभूति नहीं कर पाते हैं। कुण्डलिनी के उदबुद्ध होते ही साधक का इस नाद की अनुभूति होती है। यागगात्र म इस ही अनाहृतनाद कहते हैं जिस सतवाणी म प्रायः अनहृत डाल का बजना कहा गया है।

योगविषयन ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मरूप के सहस्रार पथ के मूल म यानि नामक त्रिगुणात्मक शक्ति का केन्द्र है वही चन्द्रमा का स्थान है। इससे सतत अमृत झरता रहता है।^३ जब तक कुण्डलिनी शक्ति मुपुत्तावस्था म पड़ी रहती है तब तक मूल के द्वारा उस अमृत बिंदु का लय होना रहता है। अतः साधक कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर क्रमशः पंचक्रा का भ्रमन करते हुए छेचरी मुद्रा की सिद्धि द्वारा चन्द्र तत्त्व से निरन्तर प्रस्रवित होने वाले सामग्न का रसास्वादन करता है। इस उन्नतावस्था भी कहा गया है। इस चक्र तत्त्व का यागिया तथा सत्ता म प्रायः ऊर्ध्वमुख कुड़िया तथा औषा कुँवा कहकर सम्बोधित किया है।^४

१ कुम्भक मूलभेदस्तु जरा मृत्यु विनाशक ।

बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं शान्तं त्रिकपदेत् ॥

—घेरण्ड संहिता, पंचमोपदेश, श्लो० ॥६७॥

२ यथायं य मूलानि यन्मां वेत्ति स वेत्ति ।

—गोरक्षपद्धति ।

३ ब्रह्मरूपे हि परमं महेश्वरं यद्विश्वम् ।

तत्र तत्र दिवा योनिं तस्य चन्द्रो यद्विद्यते ॥

त्रिकायाङ्गिस्तस्या गुहा धरति सज्जतम् ।

—शिवमहिम्ना ५ २०३ ।

४ गगन मरुत में औषा कुँवा तहाँ अमृत का वासा ।

सगुरा होइ तु भर भर पीया निगुरा जाइ पियासा ॥ —गोरक्ष ।

हठयोगप्रदीपिका आदि एतदविषयक ग्रंथां म कुण्डलिनी उद्घापन की प्रक्रिया का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। इसमें अतिरिक्त यजुर्वेद^१ त्रिपुर सार-समुच्चय नानाणवनत्र गंधवतत्र कामकचरतत्र त्रिवसहिता घरणसहिता योगरसायनत्र गारक्ष पद्धति आदि ग्रंथां म भी कण्डलिनी उद्घापन प्रक्रिया का सद्धातित्व एवं पावहारिक विवेचन किया गया है क्योंकि हठयोगप्रदीपिका व अनसार कुण्डलिनी साधना सभी प्रकार की योगिक प्रक्रियाओं का मूलधार है। कण्डलिनी उद्घापन की प्रक्रिया म सफलता प्राप्त करने पर ही साधक आत्म-ज्याति ज्ञान तथा अनहन्नाद श्रवण करत है। आत्म शक्ति रूपा कण्डलिनी स्वयं नाभ स्वरूपा ज्योति स्वरूपा एवं शक्ति-स्वरूपा है और साधक का अपन भावानु रूप उसकी अनुभूति प्राप्त होती है।

कुण्डलिनी साधना हठयोग-साधना का अनिवार्य अंग है। इसीलिए प्रायः हठयोग के लिए कुण्डलिनीयोग का प्रयोग मिलता है। म म० प गोपीनाथ कविराज के कथनानुसार कुण्डलिनी शक्ति बहिव सिद्धांतानुसार नहीं है तथा वेदानुबूल दान शास्त्रों म इसका ग्रहण नहीं हुआ है। अधिक क्या वातजन्म-योगशास्त्र म कुण्डलिनी बधवा वट चक्र आदि म से किसी एक का भी उल्लेख नहीं है। बौद्ध तथा जनादि ग्रंथों मे भी स्पष्ट रूप से कुण्डलिनी की कोई आलोचना नहीं है। यह तत्रशास्त्र का अंतरण विषय है।^२ सिद्धों न बौद्धतन्त्र से तथा नाथ पधिया ने शाक्ततन्त्र से कुण्डलिनी-योग और उसकी सारी प्रक्रियाओं को 'यो-का-न्यो अपनी साधना म ले लिया है और वही स ग्रहण कर सतो ने अपने सतमत म इसे समाधिष्ट किया है। हिंदू तथा बौद्ध दोनों प्रकार की साधना पद्धतियां म हठयोग साधना की निष्पत्ति-दशा म समाधि की उपलब्धि मानी गई है। नाथ सम्प्रदाय म हठयोगी साधकों ने इस समाधि-दशा म कुण्डलिनीरूपा आत्मशक्ति तथा सहस्रार-चक्र स्थित परम शिव के मधुर मित्र को स्वीकार किया है और इस सम्बन्धित मनोरम भाव भूमियों की उद्भावना की है। तांत्रिक बौद्ध साधका ने इस समाधि-दशा म प्रज्ञा और उपाय के अद्वय मित्र की उन्नत कल्पना की है। सत्ता ने भी इस समाधि-दशा को जीवात्मा और परमात्मा व महामित्र का घोरक माना है और इस प्रसंग म उद्धृति आन्यामिक परिणय की परियाजना द्वारा मधुर रस-साधना का मूल ही हृदयमूर्ति बनाने किया है। इस प्रकार वाग ज्ञान व अनयन आत्मशक्तिरूपा कुण्डलिनी और परमात्मा रूप शिव के समागम की उद्भावना द्वारा योगिक मधुर रस-साधना का मरस एवं व्यापक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। रसा का आश्रय ग्रहण कर वागान्तर म बौद्ध सिद्धों ने प्रज्ञोपाय व अश्रवण शिव साधका न शिव शक्ति-सामरस्य और सत्ता एवं भजना न जायामा और परमात्मा के वाक्य परिणय और मधुर मित्र की अभिनव कल्पना द्वारा अयोगिक मधुर रस का अवतारणा की है।

१ कुण्डलिनी रश्मि कवस्था त्रय वि-ने।

—यजुर्वेद।

२ कुण्डलिनी रश्मि वि की कजिज्जन् मय पृ १७१

—म म १० गोपीनाथ कविराज।

(ग) तन्त्र, शैव और शाक्त-दर्शन

तन्त्र-मन्त्र का आविर्भाव

'तन्त्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन शास्त्रों को तन्त्र बतलाया गया है जो तन्त्र मन्त्रों से समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करते हैं और त्राण भी करते हैं।^१ तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तन धातु से हुई है और तन्मयविस्तारयुक्त ज्ञानम अनेन इति तन्त्रम के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो फलाता है विवक्षित करता है या विस्तार देता है उसे तन्त्र कहते हैं। ज्ञात होना है कि धर्म साधनाओं में जिन नई पूजाओं तन्त्र पद्धतियाँ देवी देवताओं अनुष्ठानों यन्त्रों और योग-साधनाओं का प्रयोग हो रहा था उन्हें पूरा रूप से एक ज्ञान या चिन्तापद्धति के अन्तर्गत समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासन में सुनियोजित कर देने वाली प्रणाली का नाम 'तन्त्र' पड़ गया।^२

तन्त्र का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। यह शास्त्र सिद्धांत अनुष्ठान विज्ञान आदि सबके लिए प्रयुक्त हुआ है। गकाराचार्य ने स्मृति को और महाभारत ने याम धर्मशास्त्र योगशास्त्र आदि को 'तन्त्र' कहा है। किन्तु सीमित अर्थ में तन्त्र उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनमें दैवी शक्तियों में स्वरूप गुण कम आदि का चिन्तन किया गया हो तद्विषयक मन्त्रों का उच्चारण किया गया हो उन मन्त्रों को तन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पंचांग (पटल पद्धति कवच सहस्रनाम और स्तोत्र) का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन किया गया हो। वाराहीतन्त्र के अनुसार सृष्टि प्रलय दवाचन सबसाधन पुरश्चरण पटकमसाधन (गान्धि धर्मीकरण, स्तम्भन विन्धन उच्चाटन और मारण) और ध्यान योग—इन सात लक्षणां संयुक्त ग्रन्थों को आगम कहा गया है।^३ आगम तन्त्र का ही अपर नाम है। भारत वर्ष की सम्प्रदाय और संस्कृति निमगममूलक है। जिस प्रकार भारतीय सम्प्रदाय धार्मिक ज्ञान को आश्रित कर प्रवृत्त होती है उसी प्रकार वह अपनी प्रतिष्ठा के लिये तन्त्रों पर भी आश्रित है।^४

तन्त्राचार का भारतीय धर्म साधना में सन्निवेश

भारतीय धर्म साधना के अन्तर्गत तन्त्राचार के सन्निवेश के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद नहीं है। श्री हरप्रसाद शास्त्री श्री विनयतोष भट्टाचार्य प्रभृति विद्वान् भारतवर्ष में तन्त्राचार को राजे का श्रेय शक्तों के महापुरोहिता को देते हैं। प्राचीन भारतीय वादमय में

१ ततोति विपुलार्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान् ।

शाण्डिल्य कुर्वते यस्मान् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

—शैवसिद्धान्त प्रथम विमर्श भाष्य ।

२ हिन्दुशास्त्र-कोश डॉ. धर्मवीर भारती पृ. ३२१ ।

३ सृष्टिरयं प्रलयश्चैव देवतानां यथार्थम् ।

साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥

पटकमसाधनं चैव ध्यानं योगश्चतुर्विधः ।

सप्तमिलचरैर्युक्तमागमं तन्निदुष्यते ॥

—वाराहीतन्त्र ।

४ वाददर्शन, पृ. ४१८, पं. बलदेव उपाध्याय ।

यत्र तत्र तत्राचार का अपरिचित अदभुत और ज्वलित बतलाना, तत्रा को आगम के नाम से अभिहित करना तत्र ग्रन्थों में तत्राचार के प्रचारक के रूप में बाहर से आये हुए देवता का उल्लेख करना कूर्मपुराण में द्विज सुतभ वेदाध्ययन के अधिकार से वचित ब्राह्मणों द्वारा तान्त्रिक-सम्प्रदाय के प्रवर्तित होने का वर्णन करना आदि ऐसे सबल प्रमाण हैं जो तत्राचार को अवदिक साधना भाग सिद्ध करत हैं। लगना है कि आरम्भ में तत्राचार को अवदिक मान कर रुढ़िवादी ब्राह्मणों ने इस अग्रह माना। परन्तु बाद में इसके लोक प्रचलित हो जाने पर उन्होंने इसे बौद्ध परम्परा में आत्मसात कर लिया।

अथर्ववेद में मारण मोहन उच्चाटन मन्त्र-तन्त्र सिद्धि आदि गुह्य साधनापरक अभिचारों के पर्याप्त वर्णन मिलते हैं जिन्हें भारत के अनाय आदिवासियों से सम्बंधित माना जाता है। इन अनाय आवासियों की विचार धारा से पहले पहल आने वाले आय प्रभावित हुए जो बाद में आने वाले आर्यों द्वारा इसालिय ब्राह्म्य कहलाये। कालान्तर में इन्हीं ब्राह्म्यों के माध्यम से गान गान आर्योत्तर साधना-पद्धतियाँ तथा उनके अभिष्ठाता देवी-देवता आय भाव धारा में समाविष्ट हो गये।

सारांश यह कि तत्र निम्नवर्गीय आवासियों के जीवन में सम्बंधित अनेक लोक चारा रहस्यपूर्ण अनुष्ठानों देवी देवताओं की पूजन विधियाँ मन्त्र-यन्त्र टोना-टोटका आदि गुह्य साधनाओं का समन्वित रूप है। कालान्तर में इन सर्वों को ग्रहण कर कई सम्प्रदायों की सृष्टि हुई जिन्होंने अपनी अपनी साधना के अनुसृत देवी देवताओं और उनके स्वरूप सम्बंध स्तंभाव व्यवहार किया अभिचार मन्त्र यन्त्र आदि का निर्धारण किया। इन तत्र सम्बंधी विविध सम्प्रदायों के उन्मूलन बाद तत्र-साहित्य का अत्यधिक विकास हुआ और यह बौद्ध ग्रन्थों के समान ही समझा जाने लगा। बौद्ध और तान्त्रिक संस्कारों के बीच अपनी अपनी श्रद्धा सिद्ध करने की स्पष्टा चलनी रही। बौद्ध मतानुयायियों ने तान्त्रिक मत को अमरतीय कहकर उसकी विमर्शना की है तथा तान्त्रिक संस्कार वाला न बौद्ध संस्कार वालों को अपवित्र कहा है। समस्त तत्र साहित्य में वन का वन्य कहकर नियम माना गया है।

निगमागम के पारस्परिक सम्बंध निर्धारण का विषय अत्यंत जटिल है। क्योंकि तत्र का एक रूप तो सवधा वस्तुतः है तथा दूसरा संवधा वस्तु बाह्य। कई तत्र और आचार पाश्चात्य और आगम के कई मिश्रण वस्तुतः हैं फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में उन्हें वन-बाह्य घोषित कर दिया गया है। आगम-मत के सप्तविध आचारा में से केवल वामाचार को तामसिक रूप में ही घटा कर उस वन-बाह्य कहा जाता है। एक विचार रखने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि अनवरतक शाक्त-तत्र वस्तुतः है। श्रुत व वाग्यभूषी भूक्त (१/१२५) में प्रतिपादित शक्ति-तत्र का ही भाव्य शाक्त-तत्र में दृष्टा है। वृद्धारण्यक उपनिषद् (६/२) तथा छांन्दाग्योपनिषद् (५/८) में पंचाग्निविद्या के प्रथम में याया वात्र गोतामानि १ आग्नि रूपक का यो स्वरूप है। मनुविद्या का भा यथा रहस्य है। मुप का ऊर्ध्वमुप रं नदी मधु नादियं

१ वन व वानिन-निरुत्तरा उदस्य वन मनि-दुर्ग-वधन ॥ प्रमो वागिरधिवदन

कालि वेत्तारा कर्त्तव्य विदुर्नियम ॥१॥

दरि-नन्दि-नन्दिनी वा रेता जुहति सव्या कर्त्तव्य मनि ॥२॥

—छान्दोग्योपनिषद्, ५/८।

हैं गुह्य आत्मा मधुर हैं ब्रह्म ही पुष्प है उससे प्रग्वन्नि हान वाले अमृत का देवतागण उपभोग करते हैं ।

सब तो यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से साधना की दो समानांतर विचार धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं । एक विचार धारा (वन्त्रिक धारा) सर्वसाधारण के लिए प्रकट रूप से सिद्धांता का प्रतिपादन करती है और दूसरी विचार धारा (तांत्रिक धारा) चुन हुए अधिकांश कारिया के लिए गुप्त साधना का उपाय देती है । एक बाह्य है तो दूसरी आन्तरिक पहली प्रकट है तो दूसरी गुह्य । परन्तु दोनों धाराएँ प्रत्येक काल में साथ-साथ विद्यमान रही हैं । इसीलिए जिस काल में वन्त्रिक यज्ञ-यागों का बोलबाला था उस समय भी तांत्रिक उपासना अज्ञान में थी तथा कालान्तर में जब तांत्रिक पूजा का विशेष प्रचलन हुआ उस समय भी वन्त्रिक ब्रह्मज्ञान विष्णुनि के गम में विलीन नही हुआ ।^१ अनन्त वन्त्रिक पूजा के साथ तांत्रिक पद्धति के सह अस्तित्व की कल्पना करना कथमपि निराधार नहीं है ।^२

तांत्रिक अद्वैतवाद

सत्र अन्तवाद का साधना भाग है । सभी साधना भागों की पूर्णावस्था अन्तवाद में ही परवर्तित होती है । अन्त में सच्चे शासन साधक की भी यही अद्वैतानुभूति होती है कि मैं स्वयं देवा रूप हूँ मैं अपने इष्टदेव में भिन्न नहीं हूँ मैं शाक विमुक्त साक्षात् ब्रह्मरूप में ही नित्य, मुक्त सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ । —

अहं हवीं न चायं स्मि ब्रह्म ब्राह्म गोवर्भाक ।

सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्य मुक्त स्वभाववान् ॥

कुलाशक्तत्रय के अनुसार परब्रह्म निष्कल शिव सब में स्वयंज्योति आद्यनहीन निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है और जब एक जगत अग्नि स्फुल्लिगवन उसी से उत्पन्न हुए हैं ।^३ इस प्रकार ब्रह्म अग्नी है और जीव अग्नि है । पूर्णता प्राप्ति के लिए अग्नि रूप जीव का अग्नी ब्रह्म से साक्षात् हो जाना ही मधुर रस साधना का चरम उद्देश्य है ।

भाव प्रथम

सत्र-साधना में साधक की मानसिक घोषणा के अनुरूप तीन भाव निर्दिष्ट हैं—पशु भाव बीर भाव और शिष्य भाव । जिन प्राणियों में अधिवास के कारण अद्वैतज्ञान का स्पर्श मात्र भा रहा रहता उनकी मानसिक प्रगति पशु भाव की होती है । वे पशुवन अज्ञान रज्जु में बंध रहते हैं । जो प्राणी अन्य जानामृत का आस्वादन कर अज्ञान रज्जु का काटन में किसी अंग में समय होता है वह बीर भाव का साधक कहलाता है । इतने को दूर कर शिष्य की सत्ता में अपना गति के पूर्ण विन्यय द्वारा अज्ञान रस का आस्वादन करनेवाला शिष्य भाव का साधक माना जाता है ।

१ बीर दशन, पृ० ८१६-८२, पृ० ५ अन्तर्गत अध्याय ।

२ डॉ० विनयनोद महापात्र—प्रेम इन्द्रेन्द्रमन ऊँ शिष्य इन्द्रमन वृ० ४३-४४ अध्याय ।

३ कुलाशक्तत्रय १/६—१ ।

सप्त आचार

उपयुक्त तीन भावों के अनुरूप तत्र साधना में सप्त आचारों की व्यवस्था की गई है। प्रथम चारों (वेणुआचार वण्णवाचार धावाचार और दक्षिणाचार) पञ्च भावों के स्वतन्त्र वादों के दो (वामाचार और सिद्धान्ताचार) को चौर भावों के और अंतिम (कौलाचार) को त्रिभुज भावों के साधकों के लिए निर्धारित किया गया है। सप्त आचारों में कौलाचार सर्वप्रथम है। सत्त्वा कोष्ठ वदम और चन्दन में गन्धु और मित्र में शम्भान और गृह में स्वर्ण और तृण में लणमात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रखता।^१ वेणुआचार में वद विहित कम माय है। वण्णव आचार में सात्त्विक भोजन, वत उपवास ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति का विधान है। गवाचार में मम नियम ध्यान धारणा और समाधि विहित गिव गक्ति की उपासना की जाती है। दक्षिणाचार में उपयुक्त तीन आचारों का सम्पादन करते हुए रात्रि-काल में भाग सवन कर मन्त्र जप का विधान है। वामाचार में आत्मा को वामा (गविन) रूप में कल्पित करके साधना की जाती है। सिद्धान्ताचार में मन गुद्धि द्वारा सबन्ध परमगिव की प्रत्यक्षानुभूति की जाती है। कौलाचार में नियमान्ति का सबन्ध अतिरक्षण कर साधक अद्वयमूलक साधना में सम्मिलित हो जाता है। कौल गन्ध कुष्ठ से बना है। कुण्डलिनी गक्ति को कुल तथा परम गिव की अकुल कहते हैं। योगाम्बास द्वारा कुण्डलिनी को उद्बुद्ध कर सहस्रार चक्र स्थित सत्तागिव के साथ संयोग कराने वाले साधक ही कौल या कुलीन कहे जाते हैं।^२ कुण्डलिनी के प्रति किये गये आचार ही कुलाचार हैं जो पञ्चमकार अर्थात् मद्य मांस मत्स्य मुग्ध और मद्यन द्वारा अनुष्ठित होते हैं। पञ्चमकार की यह साधना अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय है।

तांत्रिक-साधना में दक्षिणाचार और वामाचार ही अधिक प्रचलित हैं। दक्षिणाचार में गन्ध की मांस धारण करन उन व आसन पर बैठ कर त्रिवाङ्म जप करने तथा अपनी पत्नी में समाग करन का विधान है। स्वर्ण विपरीत वामाचार में मद्य-मांसान्ति सवन करने वपाङ्मात्र धारण करन एवं परस्त्रिया के साथ मद्यन करन का विधान है। वामाचार में पञ्च विधान (मद्य मांस मत्स्य मुग्ध और मद्यन) द्वारा भरवा चक्र की साधना की जाती है। उन चक्रों में साधक मह माधिकाशा व माध मद्यान्ति-मद्यन एवं परस्पर मनोरथ मुला का पूति करन हैं। प्रत्यक्ष भरवा चक्र सर्वे वणा निजानय व सिद्धान्तानुसार इसमें वण और जाति का भेद भाव नहीं रहता। भरवा चक्र के चार राज और दक्ष नामक तीन भेद हैं। राज चक्र में मामिका द्यानिता रवरा स्वपचा और वजनक नारा को पञ्च गक्ति व रूप में धृष्ट किया जाता है। दक्ष चक्र में राज-वद्या नारी गुणवद्या दक्षवद्या और ब्राह्मवद्या

^१ कर्मवैतन्त्रिक-विन निराशा तथा विद्वत् ।

रत्न ने भवने त्रि त्रैलोक्यन एव ॥

न न दाय तदा विम कर्म परकीर्तन ॥

—भाष्यद्वयमपि तत्र

^२ कुल रत्निरिति श्रेष्ठतम इति उच्यते ।

अत्र कुलमद्य मद्य व कौलविरुद्धिः ॥

—स्वच्छन्दम् ॥

पंच गति का रूप में स्वीकृत की जाती है। स्पष्ट है कि भरवी-वक्ता में सुरापान तथा विभिन्न व्यक्तियों की मुन्त्रियाँ को पंच गति के रूप में परिकल्पित करने एवं उनके सेवन करने के कारण रहस्यमय तांत्रिक भाष्यवाद की अवतारणा होगी है और उसमें मधुर रस के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। तन्त्राचार की यह मधुर रस-साधना अत्यंत गोपनीय, रहस्यपूर्ण एवं दुर्लभ है। इसीलिए आममसार में तांत्रिक-साधना को खडग धार पर चलने के समान बतलाते हुए तन्त्राचारों के सवेताओं का निर्देश किया गया है।

बीजाक्षर

मन्त्रों का एक एक अक्षर में धनीभूत करने की प्रगति सभी तांत्रिक पद्धतियों में विद्यमान है। मन्त्र का जिस अक्षर में धनीभूत किया जाता है उस बीजाक्षर कहते हैं। बीजाक्षरों में विभिन्न अधिष्ठाता देवताओं की वरपना की जाती है जिसका आधार भीमासना का तन्त्र सिद्धांत है। इस सिद्धान्त के अनुसार तन्त्र शास्त्र है और अक्षर रूप में (वर्णमाला में) वह सत्ता विद्यमान रहता है। जिस प्रकार शास्त्रों में अक्षर रूप में वर्णमाला में सत्ता अवस्थित है उसी प्रकार आत्मिक शक्ति रूप में अपने को चरितार्थ करती है। साधक जब गति रूपान्तरों का भवन करता है तब वह अपने को प्रकृत जनन मानकर परमेश्वर मानने लग जाता है क्योंकि गति के साथ सयोग स्वीकार करने का एकमात्र अधिकारी परमेश्वर ही है अन्य कोई नहीं। इस प्रकार तन्त्राक्त बीजाक्षर विज्ञान में भी मधुर रस-साधना के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है।

मंडल चक्र

मन्त्र चक्र विधान तांत्रिक-साधना का गुहा अनुष्ठानों का एक प्रमुख अंग है। मन्त्र चक्र के अनुष्ठानों से ही साधन की दीक्षा दी जाती है। तन्त्र दर्शन के अनुसार सहस्राधिका या अन्य मन्त्र गति का भवन रूप है। यह गति-तत्त्व तांत्रिक साधना का मुख्य तत्त्व है। इसका प्रतीक त्रिकोण है। यन्त्रों में भी त्रिकोण को मूल तत्त्व माना गया है। त्रिकोण की ही भंग कहा गया है और उसे सिद्धांत बनाकर समशीलन होने वाले को भगवान् कहते हैं। यह द्वारा सहस्राधिका का गुह्यकरण के उपरान्त ही गिण्डे उसके साथ अभिषेक किया सम्पन्न कर मन्त्र में प्रविष्ट होता है। बीज-तन्त्र के अंतर्गत तन्त्रागत और उनकी गति का युगल मन्त्र ही सर्वोत्तम माना गया है।

छठी सती में एकर बारहवीं-नरहवीं सती तन्त्र सम्पूर्ण दंग में अनेक तांत्रिक सम्प्रदायों का संगठन हुआ। उस अवधि की समस्त भारतीय नितन धारा तन्त्र प्रभावापन स्थित पड़ती है क्योंकि सभी प्रकार के तन्त्राग्रेय भाषा भाषों में तन्त्रोक्त गति तत्त्व का सतिवर्ण विहीन किसी रूप में अवश्य मिलता है। यही गति-तत्त्व मधुर रस का उत्तम है। वर्णवा पात्रों तथा बीज सिद्धांत में भी वही उत्साह का साथ तन्त्राचारों को अपने-अपने साधना-मार्गों में समाविष्ट करके अपने ढंग में उनकी व्याख्या की है। तन्त्र दर्शन में मूल तत्त्व गतिवाद को ग्रहण कर उन्होंने अपने साम्प्रदायिक विचारों का अनुरूप मधुर रस-साधना का स्वरूप और साधना का विधान किया है।

पर पंचार्थी भाष्य लिया है। ये काव्य कारण योग विधि और दुःखात्त पंचि पणाय मानते हैं। जीव और जड़ काव्य हैं तथा परमात्मा कारण है। इसमें जीव पशु जड़ पाग तथा परमात्मा पति माने गये हैं। चित्त द्वारा पशु और पति का मिलन ही योग है। पति को प्राप्त करने वाले माग पति की पूजा पति का प्रसन करने के लिए नाचना गाना आदि कृत्य विधि हैं। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति दुःखात्त या मोक्ष है। पाशुपत सम्प्रदाय का सम्बन्ध गावन्मत से भी माना जाता है जिसे जोड़ने का प्रयास सोम सिद्धान्त ने किया।

शिव सिद्धांत

शिव सिद्धांत के अन्तर्गत पति पशु और पाग—ये तीन परम तत्त्व मान्य हैं। ईश्वर को पति तथा जीव को पशु का सगा दी गयी है। पशु अण और अण है। जीव रूपी पशु मल कम माया और रोध गति नामक पाग चतुष्टय में आवद्ध है। पशु पति के शक्तिपात (अनुग्रह) से मुक्त हो सकता है। पाश रहित होना ही पशु की मुक्तावस्था है।

शिवमत का त्रिक दशन

शिवमत में आगमशास्त्र स्वर्गशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक दशन कहते हैं। तत्त्व अतिरिक्त शिव ज्ञान के अभेद भेद और भेदभेद तीन पणों परा अपरा और परात्परा तीन अवस्थाओं इच्छा ज्ञान और क्रिया तीन गतियों एवं पश्यती मध्यमा और बक्षरी तीन वाचाओं का भी त्रिक ज्ञान से बोध होता है।

त्रिक ज्ञान का सबसे बड़ा अनुशासन सामरस्य है। तत्त्व सारय दशन के समान प्रकृति को श्रवणा निरूपण सत्ता नहीं माना गया है तथा अन्तर्ज्ञान के समान निष्कलन ब्रह्म के रूप को नष्ट ग्रहण किया गया है। यह मानव स्वभाव के सभी पणों को निष्पट्ट करने का प्रयत्न करता है क्योंकि तत्त्व अनुसार चतुष्टयस्वरूप होने का कारण त्रिक प्रत्येक वस्तु के साथ तात्कालिक स्थापित करके जान कराने हैं अपना गति के साथ सत्ता लीलाएत होने के कारण प्राप्ति जगते हैं तथा गति के ऊपर गयी होने का कारण अप्रतिहत इच्छागति भी पशु करत हैं।^१ कश्मीरी शिव-भाषना की मधुरोपासना का यही रहस्य है। सम्भवतः कश्मीरी शिव ज्ञान की उपयुक्त भाषनाएँ ही मध्यवर्ती भाषना का शिव में जान कम और गति पाग गति और मोक्ष तथा माग जान और गति का समन्वित रूप में स्वीकृत होकर अतिरिक्त त्रिक ज्ञान का रूप में पश्यति हुई हैं। जान और माग का साथ गति तथा पाग और गति का साथ मोक्ष का सम्मिश्रण से स्वभावतः मधुर रस भाषना का माग मिश्र हो जाता है।

शिवगम

शिवगम त्रिक ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह शिव सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाला मौखिक ज्ञान तत्त्व है। शिवगम में प्रमुख हैं—मातृनी शिवगम स्वर्ग

विज्ञान भरव, ज्ञान-द भरव भग-द, मातंग नत्र न द्वास, स्वयम्भू रदयामल और कामिका । य सभी द्वतवाद के प्रतिपादक हैं । भारतीय जीवन का और माहिय की दृष्टि से इन आगम शास्त्रों का बहुत महत्त्व है । भारतीय लोक विश्वास के साथ गायामा की सरसता के कारण नाटक नृत्य शिल्प वास्तु चित्र, संगीत, गान गान्ध योग गान्ध गाय गान्ध साक्ष्य विशेष के क्षेत्रों में इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है । इन आगम शास्त्रों का तत्त्व निरूपण विशेष महत्वपूर्ण है । सारय निरूपित चौबीस तत्त्वों के अनिरक्त काल नियति कला, विद्या राग अङ्क माया और प्रकृति माया—इन सात मिथ तत्त्वों तथा गिव गक्ति सदागिव ईश्वर और विद्या—इन पांच गुह्य-तत्त्वों का समावेश करने इन्होंने छत्तीस तत्त्वों की उद्भावना की है । इनमें राग शिव और गक्ति तत्त्वों की उद्भावना द्वारा कालांतर में विकसित होने वाले गिव गक्ति सामन्त्य के अंतर्गत मधुर रस का सुंदर प्रतिवेग मिलता है ।

काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद

शामभार्गी रहोपासना की शैवमत पद्धतियों के प्रति प्रतिश्रिया के कारण ही नवीं सदी में काश्मीरी शैवमत का उदय हुआ । इसमें गान्ध अद्वतवाद से प्रभावित होकर गिवरूप की प्रधानता दी गयी तथा सत्य गिव, सुंदर की एकमक कर अद्वत ब्रह्म के रूप में गिव की अवधारणा हुई । काश्मीरी शैवमत के भूत प्रवक्तृ वसुगुप्त हैं जिन्होंने नवी गतांगी में गिव मूर्त की रचना कर काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय के सैदान्तिक पक्ष की सुदृढ़ किया । इनके कल्ह और सोमानन्द नामक दो सुयोग्य गिप्य हुए जिन्होंने क्रमशः स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की । इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक मतानुसार काश्मीरी शैवमत की दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र । स्पन्दशास्त्र की परम्परा में वसुगुप्त के 'गिवसूत्र', भट्ट कल्ह की स्पन्दकारिका और स्पन्दवर्ति क्षमराज वृत्त स्पन्दगण्य और 'स्पन्दसंग्रह' रामगण्य वृत्त विवति तथा उत्पलवर्ण्य वृत्त प्रतीपिका प्रमुख हैं । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अंतर्गत सामानन्द रचित गिव दृष्टि उत्पलवाच्य वृत्त ईश्वर प्रत्यभिज्ञा काशिका विमर्शिणी एवं तन्त्रसार तन्त्रालोक, परमाथ शास्त्र आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त शैवराज्यवाद है । इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर स्वतंत्र वर्तता स्वस्व है और माया उसकी स्वातन्त्र्य गक्ति है । ईश्वर स्वच्छन्दता नद्वत लीला विस्तार के लिए इस प्रयुक्त करते हैं तथा इसका मायम से स्वस्फुरण किया करते हैं । निम्न आत्मा का स्वभाव या आंतर धर्म है । यहाँ गान और क्रिया में कोई भिन्नता नहीं । दाता की अनुसूता ही उसकी 'इच्छा' है । स्पन्दमत में ईश्वराद्वय की अनुभूति प्राप्त करने का साधन ईश्वर-गान और उसने द्वारा मन्त्र निवारण है । परन्तु प्रत्यभिज्ञा-द्वय में ईश्वर के रूप में अपनी ही प्रत्यभिज्ञा अर्थात् उससे स्वस्व की प्राप्ति द्वारा ईश्वरात्म्य की अनुभूति होती है ।

काश्मीरी शैव मत का इन दोनों शाखाओं के दार्शनिक विचार या तत्त्ववाद समान हैं जो गानत तत्त्ववाद से साम्य रखते हैं फिर भी कई दृष्टियों से उनमें वषम्य सिद्ध परिस्थित होते हैं ।

पर पचार्थो भाष्य लिखा है। य भाव, कारण योग त्रिभि और दु गान्धर्वा पचाय मानत है। जीव और जड बाय हैं तथा परमात्मा कारण है। इसमें जीव पचु जड पाच तथा परमात्मा पति पाने गये हैं। चित्त द्वारा पचु और पति का मिश्रण ही योग है। पति को प्राप्त करने वाले माय पति की पूजा पति का प्रसन्न करने के लिए नाचना माना आदि कृत्य विधि है। दु पा की आत्यन्तिक निवृत्ति दु गान्धर्वा योग है। पाचुपत सम्प्रसाय का सम्बन्ध शावकमत से भी माना जाता है जिसे गोप्ते का प्रयाग मोम सिद्धान्त ने रिया।

शंख सिद्धांत

शंख सिद्धांत के अंतर्गत पति पचु और पाच—य तीन परम तत्त्व मान्य हैं। ईश्वर को पति तथा जीव को पचु की सत्ता दी गयी है। पचु अन्न और अण है। जीव रूपी पचु मन्त्र कम माया और रोध गति नामक पाच वस्तुषट्पद म आरब्ध है। पचु पति के गतिपान (अनुग्रह) से मुक्त हो सक्ता है। पाच रहित होना ही पचु की मुक्तावस्था है।

शवमत का त्रिक दशन

शवमत में आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक-दशन कहते हैं। इसमें अतिरिक्त शव दशन के अभेद भक्त और भेदाभेद तीन पक्षों परा अपरा और परात्परा तीन अवस्थाओं इच्छा ज्ञान और त्रिपा तीन शक्तियाँ एव पच्यती मध्यमा और बहरी तीन वाचाया का भी त्रिक शास्त्र से बोध होता है।

त्रिक दशन का सबसे बड़ा अनुशासन सामरस्य है। इसमें सांख्य दशन के समान प्रकृति को तत्वार्थ निरूपण सत्ता नहीं माना गया है तथा अन्त वेदांत के समान निष्कैवल्य ब्रह्म के रूप को नहीं ग्रहण किया गया है। यह मानव स्वभाव के सभी पक्षों को निरूपित करने का प्रयत्न करता है क्योंकि इनके अनुसार चतुष्टय स्वरूप होने के कारण शिव प्रत्येक वस्तु के साथ सादात्म्य स्थापित कराकर ज्ञान कराते हैं अपनी शक्ति के साथ सदा लीलारत होने के कारण प्रीति जगाने हैं तथा शक्ति के ऊपर बनी होने के कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पदा करते हैं।^१ बदमीरी शव-साधना को मधुरोपासना का यही रहस्य है। सम्भवत बदमीरी शव दशन की उपयोग मायनाएँ ही मध्यवालीन साधना के क्षण में ज्ञान कम और शक्ति गीत शक्ति और सौंदर्य तथा योग ज्ञान और शक्ति के समन्वित रूपों में स्वीकृत होकर अभिन्न त्रिक दशन का रूप में प्रकटित हुई हैं। ज्ञान और योग के साथ शक्ति तथा शील और शक्ति के साथ सौन्दर्य के सम्मिश्रण से स्वभावत मधुर रस साधना का माय सिद्ध हो जाता है।

शवागम

शवागम त्रिक दशन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह शव सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक दशन शास्त्र है। शवागम में प्रमुख हैं—मालनी विश्वास स्वच्छ

विज्ञान भरव आनन्द भरव मगद्व मातम नत्र न दवास, स्वयम्भू हृदयामल और कामिका । य सभा द्रुतवाद के प्रतिपादक हैं । भारतीय जीवन कला और साहित्य की दृष्टि से इन आगम शास्त्रों का बहुत महत्त्व है । भारतीय लोक विश्वास के साथ आगमों की सरसता के कारण नाटक नृत्य, गीत, वास्तु चित्र संगीत, आशास्त्र योग शास्त्र याय शास्त्र साध्य वनस्पति के क्षेत्रों में इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है । इन आगम शास्त्रों का तत्त्व निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है । साम्य निरूपित चौबीस तत्त्वों के अनिर्वचन काल नियति कला, विद्या राग, अज्ञ माया और प्रकृति माया—इन सात मिश्र तत्त्वों तथा शिव शक्ति सत्तागिद ईश्वर और विद्या—इन पाँच शुद्ध-तत्त्वों का समावेश करने इन्होंने छत्तीस तत्त्वों की उद्भावना की है । इनमें राग शिव और शक्ति तत्त्वों की उद्भावना द्वारा कालांतर में विकसित होने वाले शिव शक्ति सामरस्य के अन्तर्गत मधुर रस का सुन्दर सन्निवेश मिलता है ।

काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद

वाममार्गी शैवमत की बीससे पड़नियाँ के प्रति प्रतिक्रिया के कारण ही नवीं सदी में काश्मीरी शैवमत का उदय हुआ । इसमें शास्त्र अद्वयवाद से प्रभावित होकर शिवरूप की प्रधानता दी गयी तथा सर्व शिव सुन्दर की एकमेव कर अद्वय ब्रह्म के रूप में शिव की अवतारणा हुई । काश्मीरी शैवमत के मूल प्रवक्ता वसुगुप्त हैं जिन्होंने नवीं शताब्दी में शिव मूल की रचना कर काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के सद्दालिक पथ को सुदृढ़ किया । इनके कलह और सोमानन्द नामक दो सुयोग्य शिष्य हुए जिन्होंने क्रमशः स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की । इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक मतानुसार काश्मीरी शैवमत की दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र । स्पन्दशास्त्र की परम्परा में वसुगुप्त के शिष्यमूत्र भट्ट कलह की स्पन्दकारिका और स्पन्दवृत्ति क्षमराज वृत्त 'स्पन्दनियम' और 'स्पन्दमन्त्रोद्' रामराज वृत्त विवर्ति तथा उत्पन्नवर्णक वृत्त प्रणीपिका प्रमुख हैं । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत सोमानन्द रचित शिव शक्ति उत्पल्लाघा वृत्त ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका विमर्शिणी एवं तन्त्रमार, तन्त्रालोक 'परमाथ शास्त्र' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत ईश्वराद्वयवाद है । इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र वर्तन-स्वरूप है और माया उसकी स्वान्वय शक्ति है । ईश्वर स्वेच्छया नदबत लीला विस्तार के लिए इस प्रयत्न करते हैं तथा एक माध्यम से स्वसुरण किया करते हैं । विमल आभा का स्वभाव या आंतर धम है । यहाँ ज्ञान और क्रिया में कोई भिन्नता नहीं । दोनों का उद्भवना ही उसकी इच्छा है । स्पन्द मत में ईश्वराद्वय का अनुभूति प्राप्त करने का साधन ईश्वर-ज्ञान और उसने द्वारा मन्त्र निवारण है । परन्तु प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में ईश्वर के रूप में अपनी ही प्रत्यभिज्ञा अर्थात् उभय स्वरूप की प्राप्ति द्वारा ईश्वराद्वय की अनुभूति होती है ।

काश्मीरी शैव मत का इन दोनों शाखाओं के दार्शनिक विचारों में तत्त्वज्ञान समान है जो शास्त्र सत्यवाद से साम्य राग है । फिर भी कई दृष्टियों से उनमें अल्पम विन्तु परिलक्षित होता है ।

पर पंचार्थ भाष्य लिखा है। ये वाय, वारण योग त्रिधि और दुर्गात पाँच पञ्च माने हैं। जाव और जड वाय हैं तथा परमात्मा वारण है। इगम जाव पञ्च जड पाण तथा परमात्मा पति माने गये हैं। चित्त द्वारा पञ्च और पति का मिलन ही योग है। पति को प्राप्त करने वाले माग पति की पूजा पति का प्रसन्न करने के लिए नाचना गाना आदि नृत्य विधि हैं। दुर्गा की आत्यंतिक निवृत्ति दुर्गात या मोक्ष है। पाण्डित सम्प्रदाय का सम्बंध वाक्वमत से भी माना जाता है जिस ओम् के वा प्रथम साम सिद्धान्त में दिया।

शय सिद्धान्त

शय सिद्धान्त में अन्तर्गत पति पञ्च और पाण—य तीन परम तत्त्व मान्य हैं। ईश्वर के पति तथा जीव को पञ्च की सत्ता दी गयी है। पञ्च अण और अण है। जाव रूपी पञ्च मूल कम माया और रोध गति नामक पाण चतुष्टय में आगुल है। पञ्च पति के गतिपान (अनुग्रह) से मुक्त हो सकता है। पाण रत्न हाना ही पञ्च की मुक्तावस्था है।

शयमत का त्रिक दशन

शयमत में आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक-ज्ञान कहते हैं। शयक अतिरिक्त शय दशन के अर्थ भू और भूभाभू तीन पक्षों पर अपरा और परात्परा तीन अवस्थाओं द्वारा पान और त्रिया तीन गतिधियाँ एवं पञ्चमी मध्यमा और बहारी तीन वाचाओं का भी त्रिक दशन से बोध होता है।

त्रिक ज्ञान का सबसे बड़ा अनुपासन सामरस्य है। इसमें सात्य दशन के समान प्रवृत्ति की अवस्था निरूपेय सत्ता नहीं माना गया है तथा अन्त-वेग्यत के समान निष्क्रेवल ब्रह्म के रूप का नही ग्रहण किया गया है। यह मानव स्वभाव के सभी पक्षों को निरूपित करने का प्रयत्न करता है क्योंकि इनके अनुसार चतुर्थ स्वरूप होने के कारण शिव प्रत्यक्ष वस्तु के साथ सादात्म्य स्थापित कराकर ज्ञान कराते हैं अपनी गति के साथ सत्ता लीलात्त होने के कारण प्रीति जगाने हैं तथा गति के ऊपर गयी होने के कारण अप्रतिहत इच्छागति भी पदा करते हैं।^१ कश्मीरी शय-साधना की मधुरोपासना का यही रहस्य है। सम्भवतः कश्मीरी शय दशन की उपमकन मायनाएँ ही मध्यवालीन साधना के क्षेत्र में पान कम और भक्ति गीत गति और सौन्दर्य तथा योग पान और भक्ति के समन्वित रूप में स्वीकृत होकर अभिनव त्रिक दशन के रूप में प्रस्तुत हुई है। ज्ञान और योग के साथ भक्ति तथा शील और गति के साथ सौन्दर्य के सम्मिश्रण से स्वभावतः मधुर रस साधना का माग सिद्ध हो जाता है।

शवागम

शवागम त्रिक ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह शय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक दशन शास्त्र है। शवागमों में प्रमुख हैं—मालवी विश्वास स्वच्छन्द

विज्ञान भरव, ज्ञान-द भरव भये द्र मातंग नेत्र, न श्वास स्वयम्भू, रदयामल और कामिका । य सभी द्रवतवाद के प्रतिपादन हैं । भारतीय जीवन कला और साहित्य की दृष्टि से इन आगम शास्त्रों का बहुत महत्व है । भारतीय लोक विश्वास व साथ गायत्री की सरसता के कारण नाटक नृत्य गीत, वास्तु चित्र सभीन आद आसन योग शास्त्र ध्याय शास्त्र साख्य वेदेषिक के क्षेत्रों में इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है । इन आगम शास्त्रों का तत्त्व निरूपण विशेष महत्वपूर्ण है । सारय निरूपित चौबीस तत्त्वों के अनिवार्य काल नियति कला विद्या राग अङ्क माया और प्रकृति माया—इन सात मिश्र तत्त्वों तथा गिव गक्ति सप्तगिव ईश्वर और विद्या—इन पाँच शुद्ध-तत्त्वों का समावेश करके इन्होंने छत्तीस तत्त्वों की उदभावना की है । इनमें राग गिव और गक्ति तत्त्वों की उदभावना द्वारा कालांतर में विकसित होने वाले गिव गक्ति सामरस्य के अन्तर्गत मधुर रस का सुन्दर सन्निवेश मिलता है ।

काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद

बामनार्गी रदोपामना की श्रीमत्स पद्धतियों के प्रति प्रतिनिधता के कारण ही नवीं सदी में काश्मीरी शैवमत का उदय हुआ । इसमें गायर अद्वतवाद से प्रभावित होकर गिवरूप को प्रधानता दी गयी तथा सत्य गिव, सुन्दर की एवम्बर कर अद्वत ब्रह्म व रूप में गिव की व्यतारणा हुई । काश्मीरी शैवमत के मूल प्रवक्तृ वसुगुप्त हैं जिन्होंने नवा गलाणी में गिव सूत्र की रचना कर काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के सद्धार्शनिक पक्ष का मुद्रक किया । उनके कल्ह और सोमानन्द नामक दो सुयोग्य शिष्य हुए जिन्होंने क्रमशः स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की । इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक मतानुसार काश्मीरी शैवमत की दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र । स्पन्दशास्त्र की परम्परा में शङ्कराचार्य के 'गिवसूत्र' भट्टकल्ह की स्पन्दकारिका और स्पन्दवृत्ति धामराज वृत्त शङ्कराचार्य और स्पन्दसंदाह' रामकाण्ड वृत्त विवति तथा उत्पलवर्णन वृत्त 'प्रत्यभिज्ञा' शङ्कराचार्य । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत सोमानन्द रचित 'गिव दृष्टि, उत्पलगाय वृत्त शङ्कराचार्य कारिका विमर्शिणा' एव तत्रसार', तत्रालोक परमाय गायत्र' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत 'ईश्वराद्वयवाद' है । 'यद्विदुः शङ्कराचार्य ईश्वर स्वतंत्र कर्ता स्वरूप है और माया उसकी स्वानुगत गति है । ईश्वर का माया का लक्षण विस्तार के लिए हम प्रयुक्त करते हैं तथा इसका माध्यम शङ्कराचार्य का 'गिव' विमर्श आत्मा का स्वभाव या आंतर धर्म है । यहाँ नाम और शक्ति का द्वैतत्व है । दोनों की उन्मुखता ही उनकी इच्छा है । स्पन्द मत में ईश्वर का शक्ति का साधन ईश्वर-ज्ञान और उसने द्वारा मत्त निराकरण है । ईश्वर का माया का रूप में अपनी ही प्रत्यभिज्ञा अर्थात् उगम स्वरूप का अस्ति का रूप में माया का रूप होता है ।

काश्मीरी शैव मत की इन दोनों शाखाओं का मत ही है कि ईश्वर का माया का रूप ही है जो गायत्र तत्त्ववाद से साम्य रखता है । गिव की शक्ति का रूप ही है ।

स्पन्दवाद का सिद्धांत

स्पन्द का शाब्दिक अर्थ होता है—कम्पन गति स्फुरण । स्पन्द' गति का प्रथम स्फुरण ही है । एक तरह से गिव जब यह जानते हैं कि मैं ही गिव हूँ तभी इनमें पहला स्पन्दन होता है और वह पहला स्पन्दन ही गति तत्त्व बनता है । जब ध्यान का बाध होता है तब दक्षिण तत्त्व की प्रधानता हो जाती है । वाम-नग विभाग में गिव और गति के लिए बिन्दु गान का प्रयोग किया गया है । दक्ष और रक्त उसका दो रूप हैं ।^१ बिन्दु ही सृष्टि का कारण है । गारदानिलक के अनुसार मानव शरीर में अग्नि और सोम दो तत्त्व हैं । अग्नि सूय है तथा सोम निगारर । सूय दक्ष तथा सोम वामपक्ष हैं । वामपक्ष को ऋद्धा तथा दक्षिणपक्ष को गिगन्ना कहते हैं । इसी के अनुसार गारदानिलक के भाष्यकार ने शुक्रम अग्नि रूपम रक्तम् ऋद्ध रूपम कहकर बिन्दु निरूपण किया है ।^२ मन्त्रगिव में इसी प्रकार ऋद्धा गति की ईश्वर में जान गति की और गुड विद्या में त्रिया गति की प्रधानता हो जाता है । गुड विद्या से लेकर गिव तत्त्व सब ऊर्ध्वगामा जीव का प्रयत्न करने को आत्मरूप में गहीत करने का होता है । वस्तु का पूर्णरूप से आत्मगत होना विषय का विषयी में सात्म्य होना एवं बिन्दु और व्यक्ति में समरसता होना ही स्पन्द है । साधन में स्पन्दवाद की यही दार्शनिक मायता है । जब साधना के अन्तर्गत स्पन्दवाद एक तथी दार्शनिक विचार धारा का परिचायक है क्योंकि इसके द्वारा दान के साथ भावना के सम्मिश्रण का सुन्दर विधान किया गया है । जान के साथ भक्ति तथा दान के साथ भावना के सुख सहाय होते ही मधुर रस का स्रोत फूट निकलता है । इस प्रकार स्पन्दवाद के प्रतिपादन द्वारा सर्वप्रथम मानद की सत्य की भूमि से ऊपर उठाकर स्पन्द या स्फुरण लोकोत्तर चमत्कार अथवा आरम विमल की कोमल भूमि पर पहुँचाकर मधुर रस साधना का सम्मिलन किया गया है ।

प्रत्यभिज्ञा दशन का ईश्वराद्वयवाद

प्रत्यभिज्ञा का सामान्य अर्थ फिर से पहचानना पुनः स्वरूप प्राप्त करना होता है । प्रत्यभिज्ञा दान के अनुसार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति या मोक्ष केवल ज्ञान या भक्ति द्वारा सम्भव नहीं है । ज्ञान और भक्ति के सुखद संयोग से ही दुःख का पूर्ण निरोध हो सकता है । शुद्ध भक्ति की साधना में द्वैत भाव अपक्षित होता है । ऐसी स्थिति में मोक्ष के उन्मेष की सम्भावना रहती है किन्तु ज्ञान के वाच्य भक्ति के द्वैतमूलक भाव में इस प्रकार का भय नहीं रहता । अतएव जो जानात्रित भक्ति होती है वही उच्छेद है । प्रत्यभिज्ञा दशन के अनुसार साधक अपनी जानी हुई वस्तु को फिर जानकर प्रसन्न होता है । वह अद्वय ईश्वर को गुह्य की सहायता

१ भिनशोणनि-३ युगल विविक्तशिवशक्ति सत्सुख प्रसरम् ।

—वाम कला विलास (पुष्पानन्दकृत)

२ अग्निपोमात्मनो ऽहो विन्दुयुग्मयत्नम् ।

दक्षिणाश रघून् सूर्यो वामभागे निराकर ।

रक्षा वामे तनोमध्ये सुषुम्न्या गिल परे ।

से निष्पन्न रूप से जानकर अपना रता है। ऐसी अवस्था में उसकी स्वानुभूति अनिवचनीय आनन्द की सृष्टि करती है। अतः प्रत्यभिज्ञा-दर्शन अद्वैत में द्वैत तथा निगुण में सगुण की अभिनव एवं मधुर कल्पना है। 'शिवमत' का यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन बहुत कुछ ब्रह्मवा के द्वैताद्वैत विलक्षण दार्शनिक मतवाद से साम्य रखता है। ब्रह्मवा के द्वैताद्वैतवाद के समान शिव के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ईश्वराध्यवाद के अन्तर्गत भक्ति की द्वैतमूलक भावना का सन्निवेश कर शिव और शक्ति के सामरस्य या तादात्म्य सम्बन्ध की अभिनव सृष्टि की गयी है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिवागम के द्वैत भाव पर अद्वैतवाद की स्थापना की गयी है। इसमें प्रवारातर से ग्राह्य अद्वैतवाद की नये परिधि में उपस्थित किया गया है। दृष्टि गोचर और पार्यय जगत की स्वीकृति माया का अनिवचनीय मानकर सत् मानना शक्ति को जड़ न मानकर चित मानना मोक्ष से बड़ा पुरुषार्थ स्व विमर्श को मानना प्रत्यभिज्ञा दर्शन की नवीन उदभासनाएँ हैं। इसने अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में अपने स्वरूप को फिर से पहचानकर मोक्ष या स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है।

वस्तुतः स्वात्म्य भक्ति की आन्तरिक सत्ता है वही शक्ति है वही विमर्श है। जब शिव शक्ति में प्रतिबिम्बित होते हैं तभी सत् के साथ वह विमर्श जगता है। यह वह विमर्श ही मूल बिम्ब है और इसी के प्रतिबिम्ब या आभास रूप में विश्व की स्थिति है। विश्व ग्राहक और ग्राह्य दोनों है। शिव और शक्ति में तादात्म्य या सामरस्य का सम्बन्ध है।^१ शिवागम में ही सर्वप्रथम समरस '॥' का शास्त्रीय प्रयोग किया गया है। शिव और शक्ति के परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध को ही सामरस्य की सज्ञा दी गयी है। यह आनन्द बोध दंगा अथवा मधुर रसास्वादन की मधुमयी भूमिका में शिव और शक्ति के समान रूप से अधिष्ठित रहने का अर्थ छोटन करता है। सारांश यह है कि 'समरसता' तमयी भाव की वह सुखद स्थिति है जिसमें सभी प्रकार के बाह्य विवर्ण तिरोहित हो जाते हैं और दृश्य जगत उसमें प्रकाशित हो उठते हैं। समरसता की स्थिति को प्राप्त करना ही समस्त साधनाओं की चरम उपलक्ष्य है। मलावेष्ठित पाश बद्ध अज्ञानी ज्ञान की शिवत्व-याचना हो मुक्त कर सकती है। शिवत्व-योजना को कार्यान्वित करने के लिए अनुपाय, साम्प्रदायिक धातु और आणविक के चार उपाय ही निर्दिष्ट हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मुख्य लक्ष्य मनुष्य को उसकी क्षत्र सीमाओं से हटाकर उसकी विराटता से उसमें पुनः परिचित कराना है। इसने मध्यकालीन धर्म साधनाओं के समान भारतीय साहित्य शास्त्र को भी अद्भुत प्रभावित किया है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में शिव की जो स्थापना है वही रसवाद में रस की स्थापना है। इस प्रकार मधुर रस साधना के सद्दार्शनिक निरूपण की दृष्टि से शिव दर्शन का विशेषकर उसने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का विशेष महत्त्व है।

योग, ज्ञान और भक्ति का समन्वय

बदपीर शिवमत सद्दार्शनिक दृष्टि से सत्त्वन अद्भुतवाणी है किन्तु वेदान्त के अन्तर्गत से इसमें विभिन्नता है। वेदान्त के अद्वैत ब्रह्म में शिष्टिध्याना है परन्तु कर्मीरी शिवमत के परमेश्वर में सन्निधता है। इसने अनिरिक्त कर्मीरी शिवमत में ज्ञान के साथ साथ भक्ति का

भी गुप्तर गमयय दिया गया है। कश्मीरी धव सम्प्रदाय का मापक वास्तविक रहस्य का उदघाटन प्रत्यक्षानुभूति और तत्त्वज्ञान के लिए योग साधना को आवश्यक मानता है। उनकी निश्चित धारणा है कि योग-साधना के द्वारा ही मनुष्य माया-जय आररणों में मुक्त होकर मोक्ष की स्थिति में पहुँच सकता है। यह मोक्ष स्थिति ज्ञान भक्ति की उन्मेष-स्था है। ज्ञान मूलक अन्तर्भूत सत्य अहेतुकी तथा आनन्द विधापिना होती है। यह स्वाभूति का पूर्णानन्द रस आत्म विद्याम की अविचल शक्ति तथा तत्त्वज्ञान की लोकांतर शान्तिप्रशयिका है। ५० परपुराम चतुर्वेदी के ज्ञान में जिन प्रकार मृष्टि के आग्नि में परमनन्द सम्प्रापित पूरा अवृत्तिम अहं की स्फूर्ति द्वारा अनेक प्रकार की शीतलो में प्रवेश होकर स्वयं आनन्दित हुआ करते हैं उसी प्रकार अहं परमेस्वर का अनुभव करने वाला साधक भी भक्ति के लिए ज्ञान की कल्पना कर उससे सौम्य सं प्रभावित हुआ करता है। ज्ञान की यह भावना अन्त से भी बढकर गुप्तर हानी है और दो अभिन हृत्प मित्र या पति-पत्नी की भाँति जीवात्मा और उस परमात्मा के समरसानन्द में यह ज्ञान अमृत-तुल्य बन जाता है।^१ निगुणियों सत्ता की प्रेम प्रवण अन्तर्भूत भक्ति बहू-बुद्ध कश्मीरी शैवमत की ज्ञान-यागमूलक भक्ति का अनुरूप ही होती है। कश्मीरी शैवमत के ईश्वरानुयाय ज्ञान-यागमूलक भक्ति सिद्धान्त शिवभक्ति सामरस्य ज्ञानमूलक अहेतुकी भक्ति-पद्धति आत्मानुभूति त्रिक-ज्ञान जीवात्मा और परमात्मा के समरसानन्द की दाम्पत्य भावपरक अभियोजना गत्री आग्नि का अमित प्रभाव मध्यकाशीन विविध धर्म साधनाओं पर पड़ा है। निगुण और सगुण दोनों प्रकार के उपासका ने इनमें भाव सामग्री ग्रहण कर मधुर रस की बड़ा मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। अतएव मधुर रस के स्वरूप विवेचन की दृष्टि से कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत और साधना पद्धति का भी अत्यधिक महत्त्व है।

वीर शैवमत का शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद

ग्यारहवीं सदी में कश्मीरी शैवमत के अन्तर्वाद के प्रति ज्ञानेवादी प्रतिश्रिया का परिणामस्वरूप बसव नामक शैव दार्शनिक ने वीर शैवमत का प्रतिपादन किया। ब्रह्मसूत्र पर श्रीकर भाष्य और सिद्धान्त शिलालिखित वीर शैव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद इसका दार्शनिक सिद्धांत है। इसमें स्थूल बिंदुविच्छिन्न विगिष्ट जीव और सूक्ष्म बिंदुविद्विगिष्ट शिव का अद्वैत है। परम तत्त्व शिव को पूज्यता रूप या पूज्य स्वानुयाय रूप माना गया है। इस सम्प्रदाय को शिवायत सम्प्रदाय भी कहते हैं क्योंकि इस सम्प्रदाय के साधक शिव लिंग की पूजा करते हैं तथा उस गरीर पर भी धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त इसका अनुयायी ईश्वर को अनन्त चतुर्थ स्वरूप मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीव का ईश्वर से तात्पर्य होकर उसकी आनन्दानुभूति में तमय हो जाना ही उसका परम ध्येय है। जीवात्मा और परमात्मा का यह तात्पर्य भाव ही मधुर रस साधना का केन्द्रबिंदु है।

^१ भक्त्यर्थं कपित दैतमदैतापि सुदरम् ।

ज्ञान समरसानन्द दैतमप्यश्रुतोपपन्नम् ॥

मित्रयोरिव दम्पयोरैवात्म परमात्मनो ॥

शक्ति दर्शन

शक्ति की उपासना करने वाले को शक्ति कहते हैं तथा उनके ध्येयमान को शक्तिमत की सजा दी गयी है। पूर्व बुद्ध-युग से लेकर अद्यावधि शक्ति-माधना की मुदीष परंपरा रही है। इस मुनीष अद्यावधि म शक्ति-तत्त्व और शक्ति साधना का तात्त्विक मामामा करने वाले श्रीकुल सम्प्रदाय से संबंधित अगणित ग्रन्थों में स अगस्त्य-कृत शक्ति सूत्र और 'शक्ति-महिम्न स्तोत्र, सुमेधाकृत त्रिपुरा रहस्य गोहपात्र रचित श्री विद्याग्ल मंत्र', शंकराचार्य-कृत 'सौन्दर्य-लहरी' और प्रपंचसार एवं अभिनवगुप्त रचित 'तत्रालोक' और 'तत्रसार' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कालीकुल सम्प्रदाय के अंतर्गत 'कालानां', 'कालोत्तर' महाकाल संहिता आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

शक्ति-तत्त्व

शक्तिमत के अंतर्गत स्त्री रूप में परमदेवता को माना गया है और उसी को शक्ति या पराशक्ति कहा गया है। उस पराशक्ति के लिए आनन्द भरवी महाभरवी, त्रिपुरमुन्दरा शक्ति आदि नाम प्रयुक्त किए गए हैं। वही उपनिषद् और पुराणा में ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका प्रकृति को शक्ति माना गया है। 'श्वेताश्वनरोपनिषद्' के अनुसार सत्त्व रज और तम—यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति है। इसीका मूल ऋग्वेद में मिलता है।^१ ऋग्वेद के रात्रिमूक्त दवीमूक्त तथा श्रीमूक्त में एवं अथर्ववेद के 'देव्ययवगाय' में भगवती की शक्ति और आराधना का विवर्णित रूप विद्यमान है। शक्ति प्राकृतिक मीदय-बाध शक्ति की भावानुभूति का ही प्रतीक है। यही प्रकृतिपरक उपासना शक्ति की उपासना में परिणत हो गई है।

परमपुरुष के ब्रह्म और शक्ति दो रूप माने गए हैं। परमपुरुष स्रष्टा न विषय निर्माण की इच्छा से ही अपने को दो रूपा में प्रकट किया। ऋग्वेदिक मन्त्रों के अनुसार सारा जगत शक्ति निर्मित है। उपनिषदों में भी सरस्वती गायत्री, सावित्री के रूप में विद्वत् रचना करने वाली शक्ति की महिमा के वर्णन मिलते हैं। तान्त्रिक बौद्ध-साधना से संबंधित 'उग्र सारा पञ्चांग सारा नल्पलता सारा प्रदीप और सारा तत्त्व ग्रन्थों में देवी-कथा वर्णित है। साराग यह है कि प्राकृतेतिहासिक काल में आती हुई शक्ति-उपासना की गौरवशाली परंपरा भारतीय मनीषा को अनक प्रकार से प्रभावित करती रहा है और इससे परिणाम स्वरूप परमपुरुष के ब्रह्म रूप के साथ-ही-साथ शक्ति रूप को भी पर्याप्त प्रधानता मिली है। सब तो यह है कि ब्रह्म और शक्ति को भिन्न मानत हुए भी दोनों को सपृक्त मिट्ट किया गया है। ब्रह्म और उसकी शक्ति की यही सपृक्तता दाम्पत्य भाव-सूत्र के माध्यम से जब अभिव्यक्त की जाना है तब वहीं मधुर रस का सिद्धि हाती है।

चराचर विषय के सभी पदार्थों का आदि और अन्त वही महाशक्ति है। समार के मारे पदार्थ उभावे रूप हैं। अतः वही महाशक्ति परमेश्वर है जो सब भूतों में मातृ एवं शक्ति

^१ भगते यते निवि बध्य धृति वा यन्नेषपीध्वत्वा यत्र ।

येनात्तरिषुवतिव्य स्वे स आनुरथो नृचचा ॥

रूपेण सम्मिलित है।^१ शक्ति के बिना मारे पन्था निष्क्रिय है। अन चराचर म प्रतिभाग उनी महाशक्ति के विविध रूप चरितार्थ हो रहे हैं। भौतिक विज्ञान म प्रमाण, विज्ञान तार तथा चुम्बक आदि शक्ति के विविध रूप हैं। शक्ति अदृश्य है। जगत् विभिन्न रूप अपना प्रभाव तथा चमत्कार मात्र प्रदर्शित करत हैं। शक्ति न तो गूँथ से उत्पन्न की जा सकता है और न गूँथ म उसका रूप ही हो सकता है। अविनाशी द्रव्य अविनाशी शक्ति का रूपान्तर है। अतएव समस्त चराचर के स्यूत और सूत्र पन्था शक्ति के ही परिवर्तित रूप हैं और इन शक्तियों की भी बड़ी इवाइ शूभ्रतम महाशक्ति है।

साधना के क्षण म इसी महाशक्ति की कल्पना भवाना शक्ती दुर्गा आदि रूपा म की गयी है। वह परमेश्वर का ही शक्ति है जो भोग म भवाना योग म कुण्डलिनी काय म शक्ती और समर म दुर्गा है। भारतीय दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि के मूल म एक ही शक्ति तत्त्व है और उसके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं।^२ सृष्टि स्थिति और सहार म शिव शक्ति के बिना समय नही। हान, क्षय आधार व विना शक्ति का प्रयोग सम्भव नहीं। इसीलिए 'परिपालय देवि विश्व सर्वोपकार करणाय सदा चिन्ता बहवर् विन्वाधिष्ठान जगदम्बिका की प्राथना की जाती है।

शक्ति के रूप

सामान्यत शक्ति के दो रूप हैं—रीति और कल्याणी। रीति रूप म उसका सम्बन्ध रद्र से तथा कल्याणी रूप म शिव से माना गया है। इस प्रकार शक्ति के साथ संपृक्त होने के कारण ही रद्र या शिव अर्द्ध-नारीश्वर कहलाय। रद्र महादेव हैं उनम कई देवा का समावेश है। इसी तरह विश्वमाता दुर्गा महादेवी हैं और उनम भी कई देवियों का सम्मिलन है। तात्पर्य यह है कि वेदों से आनेवाली शक्ति के स्वरूप म अर्धदिक् जातियों की मातृदेविया का मेल होता गया और उन्हें विभिन्न देवियों के रूप से स्थान देकर दुर्गा का एक अंग बना लिया गया। शक्ति के विभिन्न रूप निर्धारण म तन्त्राचार का विनियम महत्त्व है। इसका प्रमाण यह है कि तन्त्र के सभी आचार पावती और शिव सवाद से आरम्भ होते हैं। तन्त्राचार के दक्षिण और वाम भेदों की 'यूनाधिकता के आधार पर अथर्व शक्ति के तीन रूप निर्दिष्ट किये गये हैं—सात्त्विक राजसिक और तामसिक। सात्त्विक रूप बहुत कुछ शक्ति परम्परानुक्रम है। राजसिक और तामसिक रूपा के अंतर्गत बलि सुरा मांस भक्षण तथा अन्य अवैयक्तिक आचारों को समाविष्ट किया गया है। शक्ति के इही तीन रूपा के अनुसार शक्ति-उपासना का पद्धतियाँ प्रचलित हैं—गिष्ट पद्धति भयकर पद्धति और भावात्मक पद्धति। गिष्ट पद्धति शक्ति उपासना की अहिंसात्मक पद्धति है। भयकर पद्धति म पशुजा तथा मनुष्या की शक्ति मद्य मांस

१ या देवी सवभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।

—दुर्गा सप्तशती ७१ ७२ ७३।

२ या देवी सवभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।

—वही १/१२ ३३ ३४।

३ अथ धेनो मधुराधो नक्षत्रविद्योपाप्नोति भुवनेश्वरी तुयातीता।

—भुवनेश्वरु पत्रिपद।

सेवन आदि वामाचार माय हैं। भावात्मक पद्धति में उपासक अपने उपास्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने उपासना करता है। इनमें प्रथम पद्धति वालों को स्मात्त दूसरी पद्धति वालों को शब्द तथा तीसरी पद्धति वालों को शक्ति कहा गया है। इस प्रकार शक्ति उपासना की भावात्मक पद्धति के अन्तर्गत स्वभावतः मधुर रस का सम्बन्ध हो जाता है।

शक्ति तत्त्व और शिव तत्त्व

शिव और शक्ति शब्दों तथा चन्द्र चन्द्रिका के समान संप्रसृत हैं। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव हैं।^१ शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्या अग्नि के बिना धूम और धूम के बिना अग्नि अथवा वक्ष के बिना छाया और छाया के बिना वृक्ष का सत्ता बोध सम्भव है ?^२ शिव शब्द में इकार शक्ति की संपन्नता का ही धोना है।^३ शक्ति शिव की सृष्टि करने की इच्छा है। वह समस्त पदार्थों की मृजनात्मिका शक्ति है। वह शिव की क्रिया शक्ति है।^४ शक्तिरहित होकर शिव कुछ भी नहीं कर सकते।^५ शिव-तत्त्वा में शिव और शक्ति के सम्मिलित स्वरूप को जनक कहा गया है। जनक के दो दाने के समान शिव और शक्ति हैं तथा उसका छिलका माया है। वृणानिब शब्दवाली में शिव घनात्मक आवरण है और शक्ति श्रृणात्मक। इन आवरणों से उत्पन्न वस्तु-क्षेत्र ही माया का स्वरूप है जो आवरणों को घेरता है।

शिव-मतानुसार पराशक्ति के हृदय में विश्व-सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होने पर उसके शिव और शक्ति दो रूप हो जाते हैं। शिव प्रकाश रूप हैं और शक्ति विमगरूपा। विमग का अर्थ पूर्ण अदृशिम अह की स्फूर्ति है। स्त्री की चित्त चतय स्वात्म्य कर्तृत्व स्फुरता आदि की सत्ता दी गई है। प्रकाश और विमग को युगपत् कहा गया है। प्रकाश या शिव को सवित् और विमग को युक्ति माना गया है। इसी शिव शक्ति के आन्तर निमेष को सत्ताशिव तथा बाह्य उभय को ईश्वर कहते हैं। परा, सवित् का शिव

१ शिवस्यामातरे शक्ति शक्त्येवम्यतरे शिव।

आन्तर नैव जानीयात् चन्द्र चन्द्रिकयोश्चि॥

—मिदमिडा तत्प्रसद।

२ न शिवेन विना शक्तिन शक्तिरदित शिव।

अथो य न प्रवृत्तन अग्निमो यथाप्रिय।

न वृक्षरहिता छाया न च्छाया रहितो द्रुम ॥

—वही।

३ शिवो वि शक्तिः याति कुण्डलिना निवर्जित।

—श्रीभागवत का वचन।

४ कुलस्य सामरस्यनि सृष्टि हेतु प्रकाशान्।

सा चापरपरा शक्ति राशेशरवापर कुलम् ॥

प्रपचोऽस्य समरस्य अगम्य प्रवृत्तान् ॥

—मिदमिडा तत्प्रसद।

५ शिवो वि शक्ति रदित अपु शक्तो न शिव।

शिव रवशक्तित्विनो समासोद्भवाभो भवत्।

—वही।

सत्त्वात्मक रूप मर्गतमक होता है। शिव-तत्त्व में अहं विराम होता है मग्न-शिव तत्त्व में अहंमिदम् विराम और ईश्वर तत्त्व में इहमिदम् विराम होता है। इनमें प्रत्येक में प्रथम पद की प्रधानता रहती है। इहम अनंतर माया-तत्त्व का कार्यारम्भ होता है जो अहं और इहम् को पृथक् पृथक् कर देती है। अहमग्न हो जाता है पुरुष और इहमग्न प्रकृति। परन्तु शिव को पुरुष रूप में आने के लिए माया पौनःप्राप्या—बला विद्या राग काश और नियति—की सृष्टि करती है जिसका पारिभाषिक नाम बन्धन या आवरण है। इनका विजम्भण हो जाना पर फिर सात्य-ग्नान की भाँति आगे विराम होता है। आविर्भाव के विपरीत क्रम से तिरामाव होता है। आविर्भाव सृष्टि विनाश की व्याख्या करता है तो निराभाव साधना की।^१

शास्त्रमत की उपयुक्त ब्रह्माण्ड कल्पना वज्रानिवृत्ति पर आधारित है। साधना-लीन योगियों ने जिन सत्या का अपनी आन्तर समाधि-स्था में साक्षात्कार किया था उन्हीं की भौतिक विज्ञानादि नये आविष्कृत तथ्या के रूप में पुष्टि करत हैं। प्रसिद्ध वज्रानिवृत्ति आइन्सटीन ने गणितीय विधिमा से यह सिद्ध कर लिया है कि ऊँचा और कुछ नहीं द्रव्य है और द्रव्य और कुछ तथा ऊँचा है। यही तरह मिन्कोवस्की ने प्रमाणित कर लिया है कि काल के भी भिन्न नहीं है और दोनों का संयोग ही एक पूर्ण वस्तुस्थिति के लिए आवश्यक है। यही दोनों निष्पन्न मानव-मस्तिष्क की बहुत बड़ी उपलब्धियाँ हैं। इनका महत्त्व इसलिए भी और अधिक है कि ये निष्पन्न योगियों द्वारा उदघाटित सत्या को प्रमाणित करत हैं।

शास्त्र मानुषानुसार विश्व प्रपञ्च का पयवसान एक बिन्दु में होता है। इस बिन्दु का हृदय आयाम रहित गणितीय बिन्दु कह सकते हैं। इस बिन्दु को एक गणितीय रेखा लपेट हुए है जो इसके प्रत्येक पृष्ठभाग की स्पर्श भी करती है। अर्थात् ये दोनों मिलकर एक बिन्दुमय हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड सर्वोच्च की इस प्रक्रिया पर विचार करते हुए प्रसिद्ध सनोलगास्त्री अनस्ट जे० विपिक ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सारा गन्तव्य समुदाय अपने जीवन या मृत सूक्ष्मग्रहों के साथ अपने को एक सूक्ष्माकाश या बिन्दु में लय कर देगा।^२

शक्ति अपने स्वस्तिक (कुण्डलिनी) और सत्त्वात्मक दो स्वरूपों में प्रकट होती है। प्रत्येक संचार का एक स्थितिक पृष्ठाधार होता है। शरीर में यह स्थिति-केन्द्र मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति है। यह शक्ति ही सम्पूर्ण शरीर और इसमें प्रवाहित सभी प्राण शक्तियों का आधार है। यह शक्ति-केन्द्र चित् का स्थूल रूप है।

एल्बर्ट आइंस्टीन के अनुसार अणु सौरमण्डल से मिलता जुलता एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है। अणुकेन्द्र में धनात्मक आवेश वाले प्रोटीन का निवास है। इससे चतुर्दिक ऋणात्मक

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ ७६४।

२ The whole Universe—all galaxies with their suns shining or extinct their planets dead or still, carrying life on their surface—will precipitate itself into a narrow space almost a point

—The Occallating Universe
Ernest J Opik (Page 123)

वावेग के समग्र एकत्र विभिन्न कथाओं में मतिगोत्र है। दोनों आवेश मिलकर अणु की सतुलित रखते हैं जिससे यह साधारण रूप में भग्न न हो जाए। विण्ड विण्ड ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्ड के अनुसार अणु में घटने वाली यही घटना समग्र विश्व में घटित हो रहा है। विश्व में सारे ग्रह भूय के चारों ओर घूमते हैं और इस तरह हम बड़ा बिंदु तक पहुँच जाते हैं जो कि निरपेक्ष बिंदु है। इस स्थिर बिंदु के चारों ओर सारे मण्डल घूमते हैं और यही बिंदु सब नियंता है।

शाक्त के दो सम्प्रदाय

शाक्तमत के दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—कौल सम्प्रदाय और समयाचार सम्प्रदाय। कौल कुल शक्ति से बना है। कुल शक्ति या कुण्डलिनी है तथा अकुल शिव हैं।^१ अतः कुल से अकुल का सम्मिलन ही कौलमार्ग है। कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल-साधना का परम लक्ष्य है तथा कुल और अकुल का समरस ही कौल ज्ञान है। अतएव कौल ज्ञान सिद्धिपरक विद्या है। वहाँ कुल और अकुल का अन्वेष है। अकुल-वीरतन्त्र में हमें कभी अवधूत मार्ग, कभी सिद्ध मार्ग और कभी सहज मार्ग कहा गया है। अतः जो योगिक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी का उत्थापन कर सहस्रार स्थित शिव के साथ मिलन कराता है वही कौल है। कौल-चार को कुल-चार या वामाचार भी कहते हैं। यह कौल-चार मद्य, मांस, मत्स्य भुग्न और मयून—इन पञ्चमकारों के अवशब्दन में सम्पन्न होता है। सद्धान्तिक दृष्टि से पञ्चमकार गूढ़ सनेतात्मक अर्थ के वाचक हैं। पञ्चमकार अतर्पण से ही सम्बद्ध है। कालान्तर में साम्प्रदायिक विषय तथा बाह्याचारों की प्रधानता के कारण पञ्चमकार के सांकेतिक अर्थ लुप्त हो गए तथा बाह्याचारवादी साधक भौतिक अर्थों में ही पञ्चमकारों को ग्रहण कर अनेकानेक विवृत्तियों से ग्रस्त हो गए।

शाक्तमत के समयाचार सम्प्रदाय का सम्बन्ध अतर्पण से है। समय का दार्शनिक अर्थ है—शिवशक्ति का समरस्य। साधक हृदयावाग में चक्र की भावना कर पूजा का विधान करता है अथवा शक्ति के साथ अभिष्टान, अनुष्ठान अवस्थान, नाम तथा रूप भेद में पञ्च प्रकार के साम्य धारण करने वाला शिव का सम्मिलन कराता है। समयाचार का सम्बन्ध हृदयौगिक क्रियाओं से है। समयाचारों साधन भूलाधार स्थित सुप्त कुण्डलिनी को सम नियमान् साधनाओं द्वारा जाग्रत करता है तथा स्वाधिष्ठानान् पट चक्रों से उसे प्रवाहित करते हुए सहस्रार स्थित सदाशिव के साथ समोद्योग करा देता है। समयाचारों साधक का यही मुख्याचार है। कुछ समयाचारियों ने कौल-मार्ग की निन्दा की है किन्तु कुछ साधकों ने शिवार से जो परम कौल है वही यथायत समझी भी है।

सागतिर दृष्टि से क्षात्रात्मक अद्वैत प्रधान है। उसकी प्रत्येक साधना में अद्वैतवादा

१ कुल शक्तिरित मोनतमकुल शिव उच्यते।

कुल शक्तिरयमयम औनमित्यवधीयते ॥

—साधारण भाष्य, पृ० ५३।

प्रतिष्ठित है। गाना मतानुसार तत्त्व छत्तीस हैं जो गिव-नत्त्व विद्या-तत्त्व और आम तत्त्व नाम से तीन वर्गों में विभाजित हैं। गिव-नत्त्व के माघ घञि-नत्त्व भी सम्मिलित हैं। इसी तरह विद्या-तत्त्व में सगुणिक ईश्वर और शुद्धविद्या—तीन तत्त्व मान गये हैं। आम तत्त्व में एकतीस तत्त्व माने गये हैं—माया कला विद्या राग, काल नियति पुष्प प्रवृत्ति बुद्धि अहंकार मन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच वर्णोद्भवाँ पञ्च विषय तथा पञ्च महाभूत।

कील सहज साधना का मधुर भाव

सातवाँ शताब्दी के बीच जब शाक्य और बौद्ध सम्प्रदायों का साहित्य में सहज धूप गगन गगनोपम ससम उनमुनि इस विष्णु सुपुष्पा आदि पारिभाषिक शब्दों का बहुत प्रयोग मिलते हैं। इनमें सहज शब्द का बड़ा ही व्यापक प्रभाव स्फूर्तिपूर्ण है। सातवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक के सभी साधना मार्गों में सहज शब्द कई भूमिकाओं में प्रतिष्ठित हुआ है।

सहज के दो रूप मिलते हैं—निष्कामत्व तथा भावात्मक। निष्कामत्व रूप में सहज शब्द धर्म साधना में बटने हुए कृच्छ्राचार तथा बाह्यादम्बरो के प्रति होनेवाली प्रति क्रिया का ही द्योतक है। तीर्थवन नियमाचार परनिदा बाह्याचार मिथ्यात्व आत्म पीडनपरक क्लिष्ट एवं जटिल क्रियाओं आदि का परिहार करके निष्कामता निर्वैभव तथा समताबुद्धि रखते हुए उपास्य का स्मरण भजन करना तथा अंतर में ही उस परम तत्त्व का साक्षात्कार करना सहज का भावात्मक रूप है। उपास्य से उपासक का तात्कालिक भाव ही सहजभाव है। सहज भावापन साधक पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अभेदबुद्धि रखता है।

कीलमत का अद्वैत दर्शन

कीलमतानुसार अद्वैत ज्ञानी ही कीलज्ञान का वास्तविक अधिकारी है। अकुलबीर तन्त्र में प्रतिपादित साधना ही वास्तविक सहज-साधना है। यहाँ कुल (गक्ति) और अकुल (गिव) में कोई भेद नहीं माना गया है। 'कील ज्ञान नियम में सहज ज्ञान पर काफी जोर दिया गया है। सहज ज्ञान या सहज साधना की श्रृंखला बाह्याचारों का नियम कुल-क्षेत्र और पीठों के वनन वस्त्रोवरण के प्रयोग पञ्चपवित्र तथा अन्य पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग आदि प्रवृत्तियाँ बौद्ध सिद्ध-साहित्य तथा कील ज्ञान नियम में समान रूप से पायी जाती हैं।'

कील साधना के प्रमुख ग्रन्थ कीलोपनिषद् में अनात्मा में आत्मबुद्धि आत्मा में अनात्मबुद्धि जीवों में परस्पर भेद ज्ञान उपास्य और उपासक में भेदबुद्धि तथा चतुर्थ (पर ब्रह्म) से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि को जीव के पाँच बचन माने गये हैं। ब्रह्मशक्ति के विलास होने के कारण ये पञ्चबचन भी ज्ञान रूप ही हैं। ये ही जन्म मरण के कारण हैं। देह में ही मोक्ष है तथा सभी गाम्भीर्य के ही रूप हैं—इस आत्म ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है। आत्म ज्ञान से ही अद्वैतज्ञान होता है जिससे उपासक उपास्य के साथ एकात्म

१ द्रष्टव्य—कीलज्ञाननिष्ठ की भूमिका डॉ पी सी नागची तथा डॉ मुननश्वर 'माधव निखिल' रामचरित में मधुरोपासना—पृ २६ द्रष्टव्य।

बोध प्राप्त कर सदा न लिए परमानन्द में निमग्न हो जाता है। यही सहज-साधना का रहस्य है।

शक्ति-साधना के आचार-दशन का रहस्य

देवीरहस्य' रद्रयामल तत्र का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, जो शक्ति साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।^१ साइकिक प्रोग्रेस पर यह अच्छा प्रकाश डालता है। जीवनोपयोगी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सलग्न मानव की चेतना जड़ता-ग्रस्त हो जाती है। आगमों के अनुसार जड़ता का अर्थ स्वप्रकाश का अभाव है। साधना का मूल उद्देश्य स्वप्रकाश का पुनर्जागरण करना अर्थात् आन्तरिक प्रकाश का स्वस्फुरण करना है। आन्तरिक प्रकाश की यह स्वस्फुरता काम, बोध मद, लोभादि वस्तुओं से दूरकर अवचेतन के गम्भीर गतियों में गिर जाती है। जहाँ फ्रायड का मनोविज्ञान अवचेतन के रेखन पर ही बल देता है जिसे वह उपासीकरण का नाम देता है वहाँ शक्तिवाद आन्तरिक सामंजस्य से उत्पन्न, स्फुरता या आत्मिक आनन्द को जाग्रत करने पर बल देता है। मनुष्य का यह आत्मिक आनन्द उसकी आत्मा की अग्रांति आदि दैनिक जीवन के तनाव एवं उनकी जटिलताओं के कारण कठिन हो जाती है। किन्तु मनुष्य की गौण आनन्दवृत्ति उस उकसाती रहती है। फल मनुष्य बाह्यकरणों के द्वारा बाह्य द्रव्यों की संप्रग्रह करने लगता है। किन्तु बाह्य करणों से प्राप्त आनन्द और शान्ति सहेतुक बिना क्षणिक होती है। अतः गौण आनन्द और शान्ति के लिए आन्तरिक अनुसंधान आवश्यक है। शक्तिवादी गुरु शिष्य को एक कृत्रिम किन्तु आवश्यक आचार (Ritual) की शिक्षा देता है। यह आचार प्रतीकात्मक होता है। इनके द्वारा शिष्य को प्रभावित करने का ही प्रयत्न किया जाता है। इन प्रारम्भिक कृत्रिम आचारों द्वारा शिष्य को सम्मोहित करने अर्थात् उसमें तात्त्विकता उत्पन्न करने की धृष्टि दी जाती है। शिष्य को साधना के लिए तैयार करने के लिए यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

इच्छा शक्ति, ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति एवं लौह्य

पद प्राप्ति के लिए दुष्ट इच्छा शक्ति की परमावश्यकता है। इसीलिए इच्छा शक्ति को देवी कहा गया है। इच्छा-शक्ति के उत्पन्न होने ही चतुर्थ स्थित सूक्ष्म ब्रह्माण्ड का एक अंग अपने को अवमानित करने लगता है। यही आभास सृष्टि है। यही शक्ति रूप है। सृष्टि कारणरूपी शक्ति यानि शक्ति शिव (पुरुष) के आनन्द का सार है। अतएव सृष्टि शिव की आनन्दमय लीला है। शक्तिवादी ज्ञान और क्रिया को अभिन्न मानता है क्योंकि क्रिया भी ज्ञान की तरह मन से होती है। अतः क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति को भी देवी की सत्ता दी गई है। यह भी शक्तिवैय प्रमाण का ही परिणाम है। क्रिया शक्ति का भद्र या अभा होता हमारी ज्ञान शक्ति पर अवलम्बित है। हमारी ज्ञान शक्ति समाज के नैतिक-अनैतिक धर्मों से हम प्रकार बंधी रहती है कि उसके प्रतिकूल जाने का माहम उसमें नहीं होता। उस समाज द्वारा निर्धारित (Code of Conduct) आचार-संहिता का अनुगमन

करना पड़ता है। मनुष्य धर्मशास्त्र नामस्मिन्नात्म समाजशास्त्र राष्ट्रीय विधान आदि उसी जाति संहिता के विविध रूप हैं। किन्तु मनीषिण के विद्वानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य बाहर से इस नियमों को मानना तो है परन्तु मन के भाव व इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न भी करता रहता है। यह देवीरहस्य में स्पष्टित या स्पष्ट कहा गया है। समाज एकपक्षीयन के आत्म के पावन का आग्रह करता है पर मन मर्यादा भोग को अपनाता चाहता है।

लोक से व्यक्ति और समाज में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। परन्तु व्यक्ति असामान्य कारणों में प्रवृत्त होता है। समाज इसके लिए दृढ़ राय विधान करता है। वारा मनुष्य आदि इस संहिता के विधान होते हैं जिनके द्वारा समाज व्यक्ति के अनन्य कारणों को रोकना चाहता है। किन्तु इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। दृष्ट-संहिता में उन विधानों द्वारा व्यक्ति का मन और अधिक विचोरी एवं कुत्सित बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच का यह द्वन्द्व जमाने उभर बनना जाता है। व्यक्ति-साधना में व्यक्ति और समाज के इस द्वन्द्व को दूर करने के लिए व्यक्ति की कुत्सित वृत्तियों को वशीभूत करने के लिए लोच्य के उदात्तीकरण की मनोविवर्तन प्रक्रिया अपनाई गई है।

लोच्य का उदात्तीकरण

मन को वशीभूत करने दो उपाय हैं—पान गति के द्वारा प्रवृत्ति को बार-बार रोक कर उसका समूह उच्छान तथा पान गति को जाग्रत रखते हुए प्रवृत्ति के भोग द्वारा उसका वशीकरण। प्रथम स्थिति में मनुष्य का चरित्र ऐसा प्रभाव सागर के समान बनना जिसमें लहरों का क्लृप्ता ही बन हो जाए और द्वितीय स्थिति में उसका व्यक्तित्व ऐसे सागर जमा होगा जिसमें ऊपर लहरों का नतन उत्थान पतन होते रहने पर भी आन्तरिक गति और समरसता बनी रहगी। उन्ने वांछी लहरें आन्तरिक गति या समरसता में बाधक नहीं होंगी। अतः पहला रास्ता इत्यादि के पूर्ण विसर्जन का है यह स्यात् माग है अन निवर्तितमूक है। किन्तु दूसरा माग इत्यादि के सम वय का है यह सात्त्विक माग है अतः प्रवृत्तिमूक है।

काम मनुष्य की प्रवृत्ततम वृत्ति है। मनोविवर्तन इसी कामवृत्ति को जीवन के चिर सत्य के रूप में स्थावर करता है। क्षुधा गमन के बाद काम ही प्रवृत्ततम वृत्ति है। यही कारण है कि धर्मशास्त्री होने के बाद प्रायः मनुष्य विनसी बन जाता है। देवीरहस्य में इसी कारण उसके गमन के लिए सादृश्य प्रयोगों का विधान किया गया है।^१

पर स्त्री के प्रति आकर्षण सहज है किन्तु इस आकर्षण में बहते हुए मन को नियंत्रित करने का उपाय यह है कि उस पतनावस्था के क्षणों में समझाया जाए। दृष्टि से राग और

१ रात्रा परस्त्रिय माला श्यामा वा मन्नातुरात् ।

आनीय पूजये म त्री ययोजन विधिना शिवे ।

नग्नो मुक्ताचो धीरो मधुपानपरायण

शक्तिवचसमाश्रित्यो अनेमूल यथाविधि ॥

द्वेप उपन होता है। दृष्टि बटाने पर राग और द्वेप बदल जात हैं। दवीरहस्य पर-स्त्री को देवी बनलाकर उसकी पूजा करने का आदेश देता है।^१ पूजा से यहाँ तात्पर्य मानमी पूजा स है। देवी की भावना करते ही द्रष्टा की दृष्टि ही बट जाएगी और इस प्रकार वह तत्काल अपने मन पर काबू पा लेगा। किमी सुन्दरी को दूर ॥ दखन पर जो भावना होती है वह समीप आने पर अपनी भगिनी आत्मा के रूप में पाकर तुरन्त बल जाती है और मनुष्य आत्म-भ्रान्ति से गन्ने लग जाता है। पर स्त्री को स्वी मान लन पर एमी ही विमल भावना का उद्भव होगा।

किन्तु इतना होन पर भी प्राङ्गिक आकर्षण का बधन अमोघ होता है। अतः स्तोत्र की व्यवस्था की गयी है। माधक पर स्त्री के सम्मुख आमीन होने पर उसे सवध्यापक गविन के रूप में समझकर उस गविन के महत्त्व का स्मरण करता है। इससे अग अगी के रूप में परिणत हो जाता है। सुन्दरी त्रिपुरा के रूप में प्रतीत होती है। भावना के लक्ष्य का या ता बलकर या विस्तार देकर हो अपने वन में बिया जा मवना है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रवृत्ति के भोग द्वारा ही प्रवृत्ति को वन में करना चाहता है। किन्तु इसमें समस्या का स्थायी समाधान नहा हा सकता। इससे अधिक-से अधिक साधारणता ही आ सकती है मिद्धि नहा प्राप्त हो सकती।

दवीरहस्य में भाग द्वारा भाग पर विजय प्राप्त करने का विधान है। इसी को वाम माग कहते हैं। वाम माग के पंचमकार-ज्ञान में मुक्त मास मत्स्य मयून और मन्त्रि के प्रतीकाय भी हैं। अपने विगुड रूप में यह एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग या किन्तु घाद में भ्रष्ट होकर दुराचार का पर्याय बन गया। तन्त्रानुसार पंचमकार ज्ञान अमिधाराज्ञान है। यह विला सिना को धार्मिकता का रूप देने के लिए नहा अपितु मनोनिग्रह का हेतु है।^२ श्मगान ही इसकी साधना का उपयुक्त स्थान माना गया है। श्मगान एक एमी जगह है जहा भय भ्रान्ति और वाम-वृत्तिया पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इसी को ध्यान में रखकर वमा विधान रिया गया। यह क्रिया या तो घनघोर कामी ही कर सकता है या मिद्ध पुरुष ही।^३

श्मगान को ही साधना भूमि क्या माना गया? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि श्मगान में ली य में काम नहा चल सकता। श्मगान का अर्थ ही है चित्त वृत्तिया का पूण दाह। मन के लोभ पर विजय के लिए मन्त्रि पान है न कि अपनी स्तायुआ का उत्तजना स महन करने के लिए।^४ आचार विधान को पूरा कर लेने के उपरान्त गुह की देख रेख में

१ दवीरहस्य पटल २३।

२ भयं प्रम कौलमार्ग मन्त्रि मदेरवरि।

अमिधारा मन समी मनानिग्रह हेतु

गिरनिष्ठस्य मुसम सखलस्पर्ण मिद्धि।

—परमानन्द

३ श्मगानेयु चरेय पान, निशीथे वा मदेरवरि।

विना पान न मिद्धि रयाद, साधकानां कर्माधुवम्।

म वेष्टय स शाकन च स रावी य श्मगानम् ॥

—दवीरहस्य।

४ पान तावत् भजेत् स्त्रि, यावत् सविद् मनोमयी।

यावत् न चलते दृष्टि यावत् न चलते मन।

पानि तत्र विकार स्यात् पान ताद्व मद्भाषणम् ॥

—दवीरहस्य।

करना पड़ता है। रमूनि य य धमगास्त्र तामरिक्तास्त्र समाजगास्त्र राष्ट्रीय सन्धिपान
आदि उमी आचार संहिता के विविध रूप हैं। किन्तु मनोविनियोग व मिदानी ने यह स्पष्ट
कर दिया है कि मनुष्य बाहर से इन नियमों को मानता तो है परन्तु मन व भीतर व
इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न भी करता रहता है। इस देवीरहस्य में गोत्रिना मा लीय
कहा गया है। समाज एकपत्नीयता व आत्म के पात्रन का आग्रह करता है पर मन स्वच्छ
भोग का अपनाना चाहता है।

लौक्य से व्यक्ति और समाज में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। पञ्च व्यक्ति असामान्य
कार्यों में प्रवृत्त होता है। समाज इनके लिए दंड का नियम करता है। बारा मनुष्य
आदि इस संहिता के विधान हान हैं जिनके द्वारा समाज व्यक्ति व अनन्य कार्यों को रोकना
चाहता है। किन्तु इस समस्या का निराकरण नहीं होता। दण्डसंहिता व उन विधानों
द्वारा व्यक्ति का मन और अधिक विनोदी एवं कुस्मित बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और
समाज के बीच का यह द्वन्द्व जमा उभ बनता जाता है। व्यक्ति-साधना में व्यक्ति और
समाज के इस द्वन्द्व को दूर करने के लिए व्यक्ति की कुस्मित वस्तुओं को वगीभूत करने व
लिए लौक्य के उदात्तीकरण की मनोविवानिक प्रक्रिया अपनाई गई है।

लौक्य का उदात्तीकरण

मन को वगीभूत करने दो उपाय हैं—पान व्यक्ति व द्वारा प्रवृत्ति को बार-बार रोक
कर उसका समूल उच्छेदन तथा पान व्यक्ति को जाग्रत रखत हुए प्रवृत्ति के भोग द्वारा उसका
वगीकरण। प्रथम स्थिति में मनष्य का प्रवृत्ति ऐसे प्रान्त सागर के समान बनेगा जिसमें
गहरो का किन्ता ही बर हो जाए और द्वितीय स्थिति में उसका व्यक्तिस्व ऐसे सागर जसा
होगा जिसमें ऊपर गहरा का नतन उत्थान पतन होते रहने पर भी आंतरिक गान्ति और
समरसता बनी रहनी। उठने वाली गहरों आंतरिक गान्ति या समरसता में बाधक नहीं
हानी। इसमें पट्टा रास्ता द्विद्रयाग्रह व पूण विसर्जन का है यह सचास माग है अत
नियत्तिमूत्रक है। किन्तु दूसरा माग द्विद्रयाग्रह के सम वय का है यह सार्वत्रिक माग है अत
प्रवृत्तिमूत्रक है।

काम मनष्य की प्रवृत्ततम वृत्ति है। मनोविनियोग इसी कामवृत्ति की जीवन व विर
सत्य व रूप में स्वीकार करता है। अथा गमन व वाद काम ही प्रवृत्ततम वृत्ति है। यही
कारण है कि वभ्रवगात्री होने के बाद प्राय मनुष्य विगसी बन जाता है। देवीरहस्य में
इसी कारण इसके गमन के लिए साहसी प्रयोग का विधान किया गया है।^१

पर स्त्री के प्रति आकर्षण सहज है किन्तु इस आकर्षण में बहते हुए मन को नियन्त्रित
करने का उपाय यह है कि उस पतनावस्था के क्षणों में समझाया जाए। दृष्टि से राग और

१ राज्ञी परस्त्रिय बाला रयामा का मन्नातुरात्र ।

भातीय पूजये म न्नी यथोक्त विधिना शिवे ।

नग्नो मुक्तरचो भीरो यधुपानपरायण

शक्तिवत्समारिण्यो अपेयल यथाविधि ॥

मधुर रस का वागनिब विवेचन

द्वय उपन हाना है। दृष्टि वर्णन पर राग और द्वेष वर्णन जात हैं। 'बीरहस्य' पर-स्त्री का देवी बनकर उसकी पूजा करने का आदेश दया है।^१ पूजा में यही तात्पर्य माननीय पूजा यह है। स्त्री की भावना करते हुए द्रष्टा की दृष्टि ही वर्णन जाएगी और इस प्रकार वह तत्काल अपने मन पर काबू पा लेगा। किसी सुन्दरी को दूर से दृष्टन पर जो भावना हानी है वह समीप आन पर अपनी भगिना आदि के रूप में पाकर तुरन्त वर्णन जाती है और मनुष्य आत्म-व्यक्ति में वर्णन रूप जाता है। पर-स्त्री का स्त्री मानन पर एसी ही विमल भावना का उद्भव होता।

किन्तु हाना हान पर भी प्राकृतिक आकर्षण का वर्णन अभाष्य होता है। अतः 'स्तोत्र' की व्यवस्था का गयी है। माधव पर-स्त्री के सम्मुख आर्मीन हान पर उस सबव्यापक गति के रूप में समझकर उस स्थिति गति के महत्व का स्मरण करना है। समस्त अंग अंगी के रूप में परिणत हो जाता है। सुन्दरी त्रिपुरा के रूप में प्रतीत होती है। भावना के रूप का या तो वर्णन या विस्तार देकर ही अपने वर्णन किया जा सकता है। आधुनिक मनाविधान भी प्रकृति के भोग द्वारा ही प्रवृत्ति का वर्णन करना चाहता है। किन्तु इसमें समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। इससे अधिक-से अधिक साधारणता ही हो सकती है विधि नहीं प्राप्त हो सकती।

दबीरहस्य में भाग द्वारा भाग पर विषय प्राप्त करने का विधान है। रसा का काम माग वर्णन है। काम भाग के पंचमवार-भाग में सुग, भाग मध्य भयन और मन्त्रि के प्रतीकाय भी हैं। अपने विपुल रूप में यह एक मनाविधानिक प्रमाण या किन्तु वर्णन में भ्रष्ट होकर दुराचार का पर्याय बन गया। छत्रानुसार पंचमवार-भाग अधिभागवत है। यह विग मिला की धामिकता का रूप देने के लिए नहीं अपितु मनोनिग्रह का हेतु है।^२ रममाण ही इसकी साधना का उपयुक्त स्थान माना गया है। 'रमाण एक रमा जग' है, जहाँ भर, गति और काम-वर्तिका पर सहज ही विषय प्राप्त की जा सकता है। इसी का ध्यान में रखकर रमा विधान रिया गया। यह किया या तो धन्योदर कामी हो कर सकता है या सिद्ध पुण्य है।^३

'रमाण का ही साधना भूमि क्या माना गया? 'रमा वर्णन रमा यह है कि रमाण में रीति में काम नहीं हो सकता। 'रमाण का अर्थ है 'विन वरिणा का पूजा दाई। मन के स्तोत्र पर विषय के लिए मन्त्रि-भाग है, न कि अना स्थायिका का वर्णन करने के लिए।^४ आचार विधान का पूरा कर मन के 'रमाण गुरु का रूप रूप में

१ बीरहस्य वर्णन २३।

२ मधुर परम औपमार्ग मन्दक मङ्गलवि।

मन्त्रि-भाग अतः समो मनाविधान हेतु

विनिवारण सुमम सङ्गमस्तु मिद्वि।

—राम-जगद्वर

३ रममाणेन वरेण धाम, निरीये का मन्त्रवि।

विना धाम न मिद्वि रमाण, साधक-नां कल्याणम्।

म वैधाय स रमाण च म रीति म रममाणम्॥

—बीरहस्य।

४ धाम रमाण मन्त्रे-वि, रमाण मन्त्रि मनाविधान।

रमाण न चनेते दृष्टि रमाण न चनेते मन।

रणि रण विहार रमाण धाम रमाण-वर्णनम्॥

—बीरहस्य।

पचमकार का रोचन मित्रिण है। आहार विधान को पूरा कर लेने पर साधारण की रिरिगा वृत्ति लौल्य शांत हो जाता है। फिर भी रागोन्मत्त की पूरी सम्भावना रहती है। 'राग तो मूर्च्छित सप के समान है जो गुप्ति हो जाने पर भी जग साता है। अतः इन्द्रिया की स्वाभाविक भूय शान्त करने के साथ साथ वमन तृप्ति के लक्षण म आमस्य मन को ऊर्ध्वमुख करने के लिए शान्त-वृत्ति को मन्त्र म लज्जगीन किया जाता है। श्वेता मन्त्रात्मक होता है। अर्थात् साधक की चेतना मन्त्र के माध्यम से प्रथम रूप की कल्पना करती है और ज्ञान से नामाचारण करते हुए तथा मन की वृत्ति को श्वेता के रूप म आगे पचमकार म उपपन्न तृप्ति म आमस्य मन को धीरे धीरे तन्मय किया जाता है। यह माग अनभिचार्य जग के लिए नहीं है। इसम पतन की सम्भावना पग पर पर रहती है। पचमकारोत्पत्ति म मन को गिरा देने तथा वग म लाने के लिए ही सुरापान आदि का विधान है।

शक्ति, सतोष और समरसता

शक्ति परस्त्री ही हो सकती है। शक्ति-सतोष और सन्तुलित पान का वाय बाह्य नतिवृत्ता की दृष्टि में अभिचारपूर्ण प्रतीत होता है। किन्तु असम क्रिया म लज्जित ज्ञान शक्ति ही महत्त्वपूर्ण है। यदि ज्ञान शक्ति को क्रिया से तटस्थ किया जा सके तो क्रमशः तटस्थ मनोवृत्ति के बाह्य की भावना करने लगती है और निरन्तर अभ्यास में पूर्ण तट स्थता प्राप्त की जा सकती है। ऐसी स्थिति में बाह्य द्रव्य के उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा साधक किसी भी उद्दीपनकारी स्थिति में तटस्थ और गुड रह सकता है। इसी को सिद्धावस्था कहते हैं। संयास माग निवृत्ति मूलक है। इसम पतन का पद-पद पर भय है और एक बार पतन हो जाने पर प्राण का कोई उपाय भी नहीं रह जाता क्योंकि इसके द्वारा इच्छा का दमन होता है उत्पन्न नहीं। थोड़े-से उद्दीपन को पाकर दमन कामाग्नि के प्रचलित होने की पूरी सम्भावना सदैव बनी रहती है। इसके विपरीत शक्ति साधना की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक विधि को अपनाकर चलती है। मनोविज्ञान के अनुसार भी इन्द्रिया को दण्ड देकर नहीं उन्हें सन्तुष्ट कर वमन वग म करना अधिक सरल विधि है।

समरसता का जय वक्तियों का सुख सामञ्जस्य है। आगमा में इसकी पुष्टि में कई आक्षेपक तर्क दिये गये हैं। यथा—

- (क) लोहा पानी में डूब जाता है परन्तु उसी लोहे से जहाज बनता है जिससे महासमुद्रों को पार किया जा सकता है।
- (ख) विष मारक होता है किन्तु उसकी उचित मात्रा रोगनाशक होती है।
- (ग) पदार्थ मात्र निवर्तक है अतः पन्थ म दोष नहीं दोष मन म है जो उपयोग करता है।
- (घ) मन की गुडि से दृष्टिकोण का परिवर्तन होते ही पदार्थ के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया भिन्न हो जाती है।
- (ङ) जिस वायु में मृष्टि की इच्छा निहित है वह अपवित्र वयमपि नहीं हो सकता।

शिव-शक्ति-सामरस्य

श्रवणानुसार शिव-नस्त्व म शक्ति भाव गौण तथा शिव भाव मुख्य है किन्तु शाक्तमत म शक्ति भाव को ही प्रधान माना गया है। यहा शक्ति-नस्त्व म शिव भाव गौण हो जाता है। किन्तु वहाँ तत्त्वानीन दत्ता म शिव भाव और शक्ति भाव साम्यावस्था का प्राप्त हो जात हैं। इस शिव और शाक्त दोनों मानत हैं। यही शिव शक्ति का सामरस्य है, जिस शिव परम शिव तथा शाक्त पराशक्ति कहत हैं। शिव शक्ति क सामरस्य द्वारा परमानन्द प्राप्त करता ही योग-साधक का परम लक्ष्य है। मूलाधार के अग्निचक्र-स्थित कुण्डलिनी स्त्री शक्ति को जाग्रत कर कर्मण पञ्चको का भेदन करत हुए सहस्रार-संसारह — कर्माग्न स्थित शिव के क साथ मधुर संयोग ही परमानन्द की स्थिति है।^१ महानपति शिव और महाशक्ति कटिनी के इस मधुर संयोग किवा सामरस्यावस्था का वर्णन शाक्तमत में स्त्री पुरुष की गति श्रीहा क माध्यम से किया गया है। जिस प्रकार कोई स्त्री राज-पथ पर चलती हु किसी गुप्त स्थान में अपने पति या प्रेमी से मिलती है और प्रणालिगन के उपरान्त अभृत (बीज) का प्रसवण कराती है उसी प्रकार कुण्डिनी शक्ति सुषुम्ना-पथ पर चक्कर गुप्त स्थाना म (पञ्च चक्र) में निवास करती हु महानपति (शिव) का अग्निगन करती है और अभृत का प्रसवण कराती है। दवी-पुरुष के अनुसार इसका रूप शृंगाटक के समान होता है। जिस प्रकार स्त्री के मिलन पर पुरुष के भीतर अग्नि जागत होती है उसी प्रकार कुण्डिनी शक्ति के मिलन पर अग्नि म चन्द्रमा द्रवित होता है।^२

वस्तुतः प्रकाशरूप शिव और विमगरूपा शक्ति की सामरस्य शा तत्त्वानीन की अवस्था है। तत्त्वानीन पञ्च या अनुत्तर अवस्था (परमशिव) के बोध के लिए अकार का प्रयोग होता है। यह प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था म शिव क शक्ति का सामरस्य होता है इसम शिव को अकार या प्रकाश तथा शक्ति का हकार या विमग कहत हैं। शिव अग्निरूप है शक्ति सोमरूपा है इन दोनों का बिन्दु रूप म परिणत होता (रज + वाय) हो अहम है। साम्यमग्न हान पर यह बिन्दु गुब्ब क रक्त बिन्दु रूप म व्यक्त होता है। जस अग्नि क रूप स घन द्रवित होता है वसे ही प्रकाशमय शिव क मयक स विमगरूपा पराशक्ति द्रवित होती है और उसस परमानन्द अभृतपारा का आव होता है यनी धारा चित्त्वण या ब्रह्मानन्द का स्वरूप है।^३

शाक्त-शागन क अन्तर्गत शक्ति का अद्वतता शक्तिभाव का प्रमानता, तत्त्वानीन दत्ता म शिव शक्ति का सामरस्य तथा पञ्चमकारोपानता क मिढान्ता द्वारा मधुर रस-साधना एवं स्वरूप पर पचाष्ट प्रकाश पञ्चता है। मधुर रस का आधारभूत तत्व शक्तिवाद^४ है। शाक्त शक्तिवाद का पूर्ण प्रतिष्ठापन करना शाक्त-शागन का चरम लक्ष्य है। संसार क समा साधना मार्गों पर शक्तिवाद का अनिनाय प्रभाव परिलिखित होता है वनाति यना साधक और साधक की गता पूजता एवं मधुगता का एवमात्र उपागन है।

१ अत ऊर्ध्व स्थिररूप महेश्वर सराहम्

महेश्वर अर्थात् शरीर का निष्पत्ति मन्त्र।

वेमरौ नाम तरेव महेशा यत्र निष्पत्तिः॥ — शिव मन्त्रि ८, १८१ ११०।

२ 'तत्तिता महेश्वरनाम के मन्त्रो अनुव' में 'कु डनिनी की शागना' उद्धृत्य।

३ शक्ति-मय, क्वाय मोषोनाथ कविराव का निरूप दृष्टव्य।

(घ) बौद्ध दर्शन

बौद्ध धर्म का आविर्भाव-नाल का सम्बन्ध में विरचित रूप में नहीं कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध के निर्माण का काल भूमि-सूत्र तथा डॉ० गायभगर^१ ने प्रमाण ४७३ ई० पूर्व ४८३ ई० पूर्व माना है। हमने स्पष्ट है कि ४१० वर्ष ई० पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार होने लगा था जो मगध-अंगो के राज्य-का में अर्थात् २५० ई० पूर्व पूर्ण विस्तृत होकर देश-प्रान्त में फैल चुका था और उसने अठारह उपविभाग हो गए थे।^२

बौद्ध मत का अनात्मवाद

बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण परम्परागत ब्राह्मण धर्म अथवा प्राचीनतम धार्मिक धर्म की प्रति प्रिया का रूप में हुआ था। प्राचीन धार्मिक धर्म आत्मवादी था क्योंकि वह चेतन आत्मा कारण की सत्ता में विश्वास करता था। फलन नवोद्भि बौद्ध धर्म ने चेतन आत्मा कारण की सत्ता का सर्वथा परिहार करके धार्मिक आत्मवाद के बल्ले अनात्मवाद का प्रतिपादन किया। उपनिषद् के लिए आश्वत आत्मा आनन्दमय आत्मा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व था किन्तु बुद्ध के लिए आश्वत तत्त्व कुछ नहीं था। उनके लिए सब कुछ धर्मात्मा परिवर्तनशील 'सूक्ष्म' एवं दुर्लभ था।^४ उनके विचार से आत्मा के नित्यध्रुवत्व 'आनन्दता' नियता आत्मा का अनुभव करना या धर्म का अनुमन करना है।^५

अनात्मवाद बौद्ध दर्शन का मुख्य सिद्धांत है। यह श्रौत-दर्शन का आत्मवाद का विरोधी है। भगवान् बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में 'आश्वत' या 'उच्छ्र' नाम से किसी को नहीं स्वीकार किया है। श्रौत दर्शन या ब्राह्मण परम्परा के 'आश्वतवाद' के अनुसार आत्मा नित्य सूक्ष्म आश्वत तथा एकरूप है। उच्छ्रवाद का सम्बन्ध आत्मा का अस्तित्व वात् से है जिसका अनुसार आत्मा के अस्तित्व का सर्वथा निषेध किया गया है। अत आत्मा का सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन मध्यम प्रतिपाद का समर्थक है। उसका आत्मसिद्धान्त जमीतिक नराम्यवाद है। इसके अनुसार पंच स्कंध अर्थात् रूप बदला सत्ता संस्कार और विज्ञान आत्मा नहीं है। संज्ञा में अनात्मवादी आत्मवादी के समान आत्मा की सततगामिता को तो मानते हैं पर उसके नित्य धर्मात्मा एक रूप को नहीं मानते। उनके विचार से आत्मा अनेक रूप है वह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है तथा वह नित्य नहीं है। बौद्धमत के अंतर्गत अनात्मवाद की कई प्रकार से व्याख्या की गई है जिससे परिणामस्वरूप बौद्ध-दर्शनिका ने कई तरह का मतवाद का स्थापना की है। इस प्रसंग में धर्मवादी नगसेन का सघातवादी ब्राह्मीपुत्रीय बौद्धों का पुद्गलवादी सर्वास्तित्वानी बौद्धों का सतानवाद विज्ञानवादी बौद्धों का आनन्द विज्ञानवादी तथा सूक्ष्मवादियों का सूक्ष्मवादी विज्ञान रूप से द्रष्टव्य हैं।

१ डॉ० गायभगर लिखित दो भागों में श्री भूमिज्ञान द्रष्टव्य।

२ पुरातनत्व निरूपणवादी पृ० १२१।

३ दो क-संप्रदान पद-द्विबलपत्र ऑफ़ रजवा-इन मदिल इण्डिय आचार्य चिनिमोहन सेन विश्व भारती कला रत्नी यू सी रिज, पहला भाग।

४ इण्डियन फिलॉसोफी डॉ० राधाकृष्णन् पृ० २८६६।

५ 'अथ विचारो' केवल परिपूर्यो वालन मो।—महिमनिकाय, ११२।

बौद्ध-धर्म की शाखाएँ

भगवान् बुद्ध ने अपने तप एवं प्रतिभानान व द्वारा 'आमसय चतुप्पय' १ क्षणिकवाण अनात्मवाण, पुनर्जन्मवाद, सत्ताचारवाद मध्यम मार्ग अनन्तर तत्त्व चिन्तापोषण गील समाधि प्रज्ञा आदि सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। उनका आचार विषयक नियम बड़ कठोर था। अतः बुद्ध के जीवन काल में ही उनके विरुद्ध प्रतिनियोग आरम्भ हो गई थी, जो उनका महापरिनिर्वाण व बाद और अधिक तीव्र हो उठा। यद्यपि आत्मवादी वैदिक धर्म व विरोध में ही पूण वरामय और सत्यास मार्ग का पकड़कर अनात्मवाणी बौद्ध धर्म उठ खड़ा हुआ था तथापि आचरण की दृष्टि से वह परम्परागत वैदिक धर्म से एकदम दूर नहीं किया जा सका। एतत् सग्रह भाव प्रधान भागवत धर्म का व्यापक प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ने लगा जिससे गहन ध्यान उन्मत्त सत्यास भाव का गतिस्थ तथा लोक सग्रह भाव की सन्निवृत्ता आने लगी। जो भिक्षु पूण वरामयमय निरुत्ति पथ को ध्येयस्वर मानने वाल थे उनका स्वविरवाणी या हीनयान के नाम से अलग सम्प्रदाय बन गया तथा जो बौद्ध भिक्षु लोक सग्रह भाव का प्रमुखता धन के पक्षपाती थे उनका महामाधिक या महायान व नाम से एक अलग दल का संघटन हुआ। कालान्तर में युगानुसूचना के प्रबल आग्रह बाह्य एवं आन्तरिक प्रेरक तत्त्वों के प्रभाव व कारण बौद्धमत व अनेक भेदोपभेद हो गए। अतः उनके साधन मार्गों को परिचालित करने वाले भिन्न भिन्न दार्शनिक मतवादी भी स्थापना होने लगे।

हीनयान

हीनयान बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक शाखा या मार्ग है। बौद्ध धर्म का यह सत्यास प्रधान या पूण वरामय प्रधान मार्ग है जिसका साधक चत्वारि आय सत्यानि साधना के अष्टांगिक मार्ग नतिरता एवं सत्ताचार का अवलम्बन कर व्यक्तिगत निर्वाण व आकांक्षी मान गए हैं। दार्शनिक दृष्टि से इन्हें धरवादी कहा जाता है। हीनयान मत के अनुसार सद्धर्म का रस ही मोक्ष है। इस लोकोत्तर मार्ग से पुनर्जन्म का अन्त हो जाता है। व्यक्ति व लिए जीव मुक्ति आवश्यक है। संशय में हीनयान पूण निरीवरवाणी निवृत्ति प्रधान ज्ञान प्रधान बुद्धिवादी एवं बुद्धिवादी बौद्ध भिन्नता का सम्प्रदाय था। चौथी सती पूर्वमा में लकर दूसरी सती पूर्वमा तक हीनयान मत की प्रमुखता रही। स्वविरवाणी भिक्षुओं की बगाली संगीति के बाद उसका प्रमाण ह्रास होने लगा। १५० ई. स. लकर मुसलमानों तर उत्तर भारत के सभी सम्राट गय या वज्रव मनानुयायी थे। इस कारण से उत्तर भारत में हीनयान मत का पूण विकास नहीं हो सका। सातवा सती तक आने आत दक्षिण भारत में उत्तर भारत में बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रबल हान होना लगा था जिसने हीनयान के वक्ष-गुचे प्रभाव का सत्ता व लिए क्षीण कर दिया।

महायान

महायान का गार्ह्यिक अथ 'येष्ट या प्राप्त मार्ग' है। हीनयान शाखा से अपनी व्यष्टता को उद्घोषित करने के लिए ही सम्भवतः प्रगतिशील तथा परिवर्तनवादी भिन्नता न

थाने जो सग्रह भाव प्रधान साधना मार्ग को महायान कहना प्रारम्भ किया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि महायान बौद्ध धर्म के सिद्धांतों में परिवर्तन चाहने वाले कई होनहारानेतर सम्प्रदायों का सम्मेलन था जिसका विधिवत् दार्शनिक प्रतिपादन दार्शनिकाय नागाजून^१ ने किया। नागाजून का जन्म बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार सौ वर्षों बाद अर्थात् पहली शताब्दी में हुआ था। मत्तव शांति भिन्नु आदि विद्वानों के मतानुसार महायान का उद्भव और विकास या घट प्रदंग में हुआ था। बौद्ध मतावलम्बी आधुनिकों की प्रेरणा से नागाजून ने अपने नवीन मत का प्रचार किया होगा तथा शीघ्रवत् को केन्द्रस्थान बनाया होगा क्योंकि अद्यावधि वहाँ महायान के पाँच उपसम्प्रदायों और उनके देवी-देवताओं की सङ्घटित प्रतिमाएँ पाई जाती हैं।

अगम दूसरी सदी की रचनाएँ महावस्तु चतुस्तवस्तोत्र, 'मन्त्रय व्याकरण अवदानात्मक', चौथी सदी की रचना कल्पना मचीतिवा जातक-माला 'विश्ववदान नवी सदी के पूर्व की रचना ललित विस्तर, ग्यारहवीं सदी की रचना अवगान कल्पलता आदि यों से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि चौथी सदी तक महायान में बुद्ध की अलौकिकता बोधिसत्त्व की कल्पना भक्ति-तत्त्व बुद्ध की पूजा बुद्ध की लीलाएँ स्तूप-पूजा सिद्धियाँ चमत्कार दण्ड भूमियाँ पौराणिक आख्यान वण व्यवस्था की अभाव्यता आदि प्रकृतियाँ स्वीकृत हो गई थी।

महायान के दार्शनिक सिद्धांत

युवान-वाग के अभिषमपिटक के अनुवाद ग्रन्थ में महायान के विपुल साहित्य का उल्लेख मिलता है। महायान के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन की दृष्टि से 'सूत्रालंकार' बज्रसूची सद्धमपुण्डरीक (प्रथम सदी) दण्ड भूमोत्तर (२६७ ई.) अष्ट-साहित्यिका प्रज्ञापारमिता (३६६-४१६ ई.) सुवर्णप्रभास (४१४-४३३ ई.) लकावतारमन्त्र (४४३ ई. पूर्व) गङ्ग-यूह (चतुर्थ सदी पूर्व) तथागत गुह्य या तथागत गुणगान (७वीं सदी) ललित विस्तर बुद्धचरित आदि विविध रूप से उल्लेखनीय हैं। सद्धम पुण्डरीक में बुद्ध देवाधिपति अनादि जनित और महाभिषग के रूप में वर्णित हुए हैं।^२ व भिन्नुआ और भिन्नुजिया बोधिसत्त्वा देवी-देवताओं के विंगल समूह से आवृत्त सवशक्ति मान सिद्ध और एन्द्रजालिक हैं जिन्हें अपने भक्त श्रानाओं की इन्द्रियों के साथ प्रीति-क्रांतुक करना अनिषिद्ध है। सुसावती-यूह में महायानियों की स्वर्ण कल्पना उसके समस्त विलास आदि का प्रगल्भ वर्णन मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार निर्वृति प्रधान बौद्धमत के अन्तर्गत प्रवृत्ति मूलक विचारधारा धीरे-धीरे प्रविष्ट होती जा रही थी तथा काल क्रम से उसमें उपास्य उपासक उपासना और तत्त्वज्ञान सुखानन्द की मधुर भावभूमि का निर्माण होने लग गया था जो कालान्तर में तार्त्रिक प्रभावार्पण हो जान पर अधिकाधिक पुष्ट और मधुर भावों से अनुरजित होता गया।

१ गुप्ता पुरातत्विक पृ. २१८।

२ सद्धमपुण्डरीक, ११२, ११, ४, २७-४।

बोधिसत्त्व

बोधिसत्त्व की भावना महायानी शास्त्रों की देन है। सबसे पहले बौद्ध धर्म में इसका समावेश महायानी भिक्षुओं ने ही किया। गडम्बूह जस ग्रंथों में बोधिसत्त्व के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। जीवा के प्रति प्रेम और करुणा प्रदर्शित करना उन्हें दुःख से निवृत्त करने का प्रयत्न करना, स्वयं भाग के निर्देन के लिए उपदेश देना महामनी और करुणा से सम्पन्न होना भद्राचार उचारता परापकार आदि सम्पुण्य से मुक्त होकर समार के सभी प्राणियों को कर्तव्य भुक्त कर निर्वाणत्वस्था को प्राप्त करना ही बोधिसत्त्व का परम लक्ष्य माना गया है।^१ बोधिसत्त्व के लिए प्रज्ञा की प्राप्ति तथा करुणा का प्रकाश अनिर्वाच्य गुण समझे जाते हैं। महायानियों के त्रिकाय सिद्धान्त के अनुसार धर्मकाय बुद्धि का परमाद्य भूत वास्तविक गरीर अनिवर्तनीय परमत्त्व है। यह महायानियों की परमत्त्व विषयक भावार्थक कल्पना है। यह धर्मकाय की सत्यता या समता या एकात्मता है। यह करुणावन्त है। बोधिसत्त्व इसी धर्मकाय की साधना कर अपने में बुद्धितत्त्व का प्रत्यभिज्ञान करता है। प्रज्ञा या बोधि धर्मकाय की ही अभिव्यक्ति है। बोधि या ज्ञान के सारतत्त्व—परम ज्ञान की प्राप्ति करने वाले साधक को बोधिसत्त्व की संज्ञा दी गयी है। 'कुटुष्टि निर्वर्तिन' (अद्वय वज्रसमूह) में बोधिसत्त्व के आचार विचार, दिनचर्या, उपासना-पद्धति आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।^२ वस्तुतः बुद्ध के व्यक्तित्व तथा बोधिसत्त्व और करुणातत्त्व की स्मरण ही महायान हीनमान से अलग हो गया।

बोधिचित्त

महायान-दर्शन में बोधिचित्त की सभी प्राणियों में अन्तर्भूत में विद्यमान माना गया है। तात्पर्य यह है कि सभी बोधिसत्त्व हैं किन्तु प्रज्ञा के अभाव के कारण सभी अप्रबुद्धावस्था में पड़े रहते हैं। अर्थात् सभी प्रसप्तबुद्ध हैं। ऐसी अवस्था में हृदयस्थ बोधिचित्त अप्रबुद्ध रूप में निष्क्रिय बना रहता है अतः बोधिचित्त की प्राप्ति करने के लिए अप्रबुद्ध चित्त का प्रबोधन आवश्यक है। अप्रबुद्ध चित्त की प्रबोधन क्रिया को ही बोधिचित्तोत्पाद कहा गया है। इस प्रकार बोधिचित्त महायानी साधना पद्धति का आधार-स्तम्भ है। बोधिचित्त तात्त्विक दृष्टि से प्रज्ञा और करुणा है। करुणा चित्त का सारतत्त्व है। बोधिचित्त ही परमत्त्व है। करुणा ही चित्त की प्रज्ञा या बोधि की प्राप्ति कराती है। व्ययवानी तथा सिद्धों ने भी चित्त का साधना का नेत्र बिन्दु माना है। चित्त की सुस्थिरता के लिए सहज-सम्बोधि का जाग्रत होना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। जब चित्त नरात्म्य ज्ञान के प्रति जाग्रत होकर करुणा या उपाय से समुक्त होता है तब यह नमस्-वन में विहार करने वाला गन्धर्व के समान हो जाता है। प्रज्ञापाय-साधना में प्रवृत्त होने के पहले यह स्पष्ट रूप है और प्रवृत्त हो जान पर व्ययरूप हो जाता है। प्रज्ञापाय के युगानन्द सम्पन्न करने पर इस सहज चित्त कहा जाता

१ गडम्बूह ११ भाग, १२२, ११ भाग।

२ दिल्ली ऑफ इण्डियन लिटरेचर डिपार्टमेंट, भाग २, पृ. ३०६।

३ 'अद्वयवज्रसमूह'—॥० पृ. हरमनाद शास्त्री पृ. ३८, १० ११ ६५६५।

है। सांसारिकता से मुक्त चित्त को बरुणा से सम्पन्न कर गाथना भाग में अग्रसर करने की पद्धति को बोधिचित्त ममुत्पात्त कहा गया है। चित्तवर्तियों का मूलोच्छृंखलने पर प्रज्ञा या ज्ञान की नीलम रजनी का उत्पन्न ही प्रज्ञा ज्ञानाभिपन्न-ज्ञान का समय है। इस स्थिति में बोधिचित्त नववर्ण के रूप में विहार करता है। सिद्धा ने इनके लिए चित्त विमोचन चित्त मारण या चित्त हनन का भी प्रयोग किया है। अवधोष के मूलालंकार में सभी को अमनस्कार साधना कहा गया है।^१ रूप या शरीर चेतना चेतना या अनुभूति ज्ञान या द्विद्रव्यग्राह्य चेतना सस्कार या मन के भाव धारणा प्रवृत्ति तथा इच्छा चित्त को बोधिचित्त में रूपांतरित करना ही बोधिमतत्व का प्रमुख लक्ष्य होता है और यह तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक ज्ञान या पराचतना द्वारा वह सम्पन्न न हो जाए।

महायान चर्या अथवा पारमिताएं

महायान साधना पद्धति में बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिए दान नील गाति वीर ध्यान और प्रज्ञा—इन पाँच पारमिताओं अर्थात् छह प्रकार की पूजाओं का अभ्यास परमावश्यक माना गया है। इनमें प्रज्ञा अर्थात् परमज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सभी पदार्थों की निस्सारता अथवा शून्यता का ज्ञान ही प्रज्ञा या परमज्ञान है। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' में जगत् के सभी पदार्थों यहाँ तक कि बुद्ध बोधिसत्त्व प्रज्ञा—सबको निस्सार और शून्य कहा गया है।^२ प्रज्ञापारमिता की साधना से बोधिचित्तोत्पात्त होता है और उसके ऊर्ध्वमुख जाग्रत होने पर अनन्त चरणा का उदय होता है। यह समस्त प्रणाली महायान साधना में चर्या कहलाती है। चर्या और त्रिया का उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपाय का अर्थ है। पारमिता का लक्ष्य उपासकों के हृदय में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और बौद्ध धर्म की ओर श्रद्धा उत्पन्न करना है।

त्रिकाय सिद्धांत एवं त्रिकाम की कल्पना

महायानी दाशनिकों ने त्रिकाय सिद्धांत की अवतारणा करके भगवान बुद्ध की तीन कायाओं की उदभावना की और उसके मूल में तीन धातुओं को स्वीकार किया। फलतः बुद्ध की निर्माण काया सम्भोग-काया और धर्मकाया त्रिमूर्ति रूपधातु, कामधातु और धर्मधातु से निर्मित बतलायी गयी। इन्हीं के आधार पर धर्मकाम सम्भोग काम और निर्वाण-काम की भी परिवर्तना की गयी। सिद्धों ने इन्हीं के आधार पर प्रज्ञोपाय सिद्धांत के प्रतिष्ठापन के लिए बुद्ध की चतुर्थ काया की भी उदभावना की और उसे वज्र काया स्वभाव काया सहज काया तथा महामुल काया के नाम से अभिहित किया।

निर्माण-काया में बुद्ध मानव शरीर धारण कर प्रकृत जनों चित्त काय-कलाप सम्पादित करते हैं। इसका सम्बन्ध जाग्रत दशा से भी बतलाया गया है तथा इसे कामवज्र और सत्यानवयोग भी कहा जाता है। सम्भोग-काया बोधिसत्त्व के रूप में होती है और इसमें

१ महायान मूलालंकार अवधोष दृष्टव्य।

सिद्ध साहित्य धर्मकीर भारती दृष्टव्य।

२ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—स राजेन्द्रसाल मित्र बोधश परिवर्त, पृ. ३०१ ३२२ दृष्टव्य।

आनन्द अथवा कल्याण का प्राधान्य रहता है। इसका सम्बन्ध मनोदय से बतलाकर इसे वाग्वज्र या भक्तियोग भी कहते हैं। धर्म काया तीनों लोकों में अपने का अभिव्यक्ति करती हुई भी सभी आवासा बड़ेगा और सत्कारों से मुक्त अनादि अनन्त अजर अमर और चिरन्तन होती है। यह महायानिया की परम तत्त्वाविषयक भावात्मक कल्पना है जिससे अनायास ही भक्ति का द्वार खुल जाता है। धर्मकाया को निर्विकल्पक चित्त की भूमि बतलाकर इस चित्तवज्र या 'धर्म-योग' भी कहा गया है। सहज काया सर्वोत्कृष्ट है। यह समस्त द्वैतताओं के गान्धि मलावरणों से निरावृत्त शुद्ध और सहज रूप है। इस निरञ्जन और ज्ञान-वज्र भी कहा गया है। करांडा में कोई विरला ही सहज-नाय में लीन हो पाता है।^१

दश भूमियाँ

हीनयान शाखा के अंतर्गत केवल चार भूमियाँ से अष्ट पद की प्राप्ति बतलायी गयी है किन्तु महायान शाखा में निर्वाण प्राप्ति के लिए दश भूमियाँ का विधान किया गया है। दशभूमोदयर या 'दशभूमक' ग्रन्थ में बुद्धत्व की प्राप्ति विषयक दश भूमियाँ का विस्तृत विवेचन किया गया है। लकावतार में परावर्ति दशा व प्रसंग में दश भूमियों की व्याख्या की गयी है। इसके अनुसार चित्त की प्रथम सात भूमियाँ हैं। आठवीं भूमि जागतिक प्राप्ति से परे है। आठवाँ भूमि में पहुँचकर बोधिसत्त्व दो प्रकार की परावर्ति द्वारा मनोमाया-काम को प्राप्त करता है। पुनः कहा गया है कि परावर्त चित्त कमलवर्ण के अनन्ताकाश में सतत स्थित रहना है जो मायिक जगत् से सर्वथा परे है। ऐसी स्थिति में सारे विचार अनामोघा चारी हो जाते हैं। चित्त जागतिक प्रतिबिम्बों व बाधबूद हीरे की तरह निरामय बना रहता है। यह अद्वैत की दशा है जहाँ अहम् अपना अस्तित्व त्यागकर निःस्वभाव हो जाता है। नवम और दशम भूमियाँ विहार की हैं जिनमें अंतिम भूमि अचिन्त्यम् च नानमोक्षम् कही गयी है।^२

'बाधिचित्तोत्पा' के त्रैमिक विकास को ध्यान में रखकर इसकी दस उन्नतिशील दशाओं या भूमियों का विवेचन किया गया है जिन्हें श्रमण प्रमुदितता विमला, प्रभाकरा अचिन्मती, सुकुजया अभिमुखी दूरगमा, अचला साधुमती और धर्ममया कहा गया है।^३ विटरनिस्त ने महायान के विज्ञानशास्त्र की खर्चा करते हुए कहा है कि बाधि की प्राप्ति योगी योग का अभ्यास करते हुए ही कर सकता है। इस अभ्यासावस्था में ही वह दश भूमियों को पार करता है।^४

१ सेकोदेश टीका गायकवाड़ आरिष्टेयल सीरीज ५० ५५ ५६।

२ लकावतार श्लो १०-२० पृ २६६।

चित्त द्वि भूमय सप्तनिराभासा व अष्टमी।

३ भूमयो विहासच रोषभूमिममात्मिका ॥ —लकावतार ५० १ ६, २१५ २७०।

(The 'citta consists of the first of Bhumis the 8th is devoid of illusion and the two bhumis (9th & 10th) are places of enjoyment (vihara) The last is a positive state)

४ भाउलारक्त भोज महायान बुद्धिम डी० टी० मुजुकि ५० २१६ २२४ २४५ २४६ २२० २-१ २६० २६१ २६४ ३ ७ १०१ ३२६।

५ पद्विरी भोज शिविकन लिटरेचर विटरनिस्त भाग २ ५० २६४ पादटिप्पणी।

पानिक बीर साधना और माहित्य भा० भा० ३० ५० ७०।

बोधिसत्त्व भगवन् दश भूमियां को पार करता हुआ प्रज्ञा की प्राप्ति करता है। जागतिक पदार्थों का स्वभाव जानकर एवात्मता की उपलब्धि हो इसका उद्देश्य है। श्री प्रबोधचर्या भाष्यी ने सूत्राङ्कवार के ४५, ४६ और ४७वें श्लोकों में प्रथम भगवन् बुद्धानाम अवलेपने, बुद्धसौख्य विहार तथा 'आकाशसमस्त व्यक्तित्व का उत्पन्न करत हुए उन्हें परमानन्द की ओर अपसर करने वाले दश भूमियां का अन्तिम तीन स्तरों के रूप में ग्रहण किया है। आठवीं भूमि अवलम्ब है जिसे 'निरामोग' भी कहते हैं। 'आकाश' में ६वीं और १०वीं भूमियां 'विहार' मानी गयी हैं। नवीं भूमि माधुमती वह स्तर है जहाँ पहुँच कर बोधिसत्त्व सभी प्राणियों के ऊपर महाकरुणा का प्रसार कर बुद्ध प्रेम या मन्त्री (बुद्ध सौख्य विहार) को प्राप्त करता है। दशवीं भूमि धम्ममेधा में पहुँच कर बोधिसत्त्व मोक्ष को प्राप्त करता है। इसीको आकाश समस्त प्रवर्तित कहा गया है। 'दशभूमिक सूत्र' में अन्तिम तीन भूमियां का बड़ा ही स्पष्ट विवेचन किया गया है। किंतु सूत्रालंकार में उनकी विषयताओं को मिश्रित रूप में ही उपस्थित किया गया है।^१

बौद्ध-दशान के चार प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत

बौद्ध दशान के सौत्रातिक ब्रह्माणिक नूनवादी और विज्ञानवादी—चार मत प्रचलित हैं। हीनयान जहाँ बुद्ध निरीश्वरवादी है वहाँ महायान बुद्ध को अलीश्वर एवं अवतारी पुरुष के रूप में कल्पित कर प्रकारांतर से ईश्वरवाद को स्वीकार करता है। जागतिक सत्ता को लेकर उठाये गए प्रश्नों तथा तदजनित मतभेदों का कारण ही उपयुक्त चार मत प्रचलित हुए। जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थात् असत्य नहीं मानने वाले ब्रह्माणिक अनुमेय मानने वाले सौत्रातिक मिथ्या मानकर चित्त या विज्ञान को एकमात्र सत्य समझने वाले विज्ञानवादी तथा बाह्यार्थ और चित्त दोनों को मिथ्या मानकर सबको निस्तार अर्थात् नून्य को ही सत्य मानने वाले नूनवादी या माध्यमिक मत के अंतर्गत आते हैं।^२

- 1 I do not mean that such well defined stages of spiritual progress as are found in the Dasabhumikis Sutra are implied in the above three verses of the Sutralamkara. But the three stages in some form or other were known to Asanga (cf. Sutralamkara xx—xxv 37-38)

43
ber
tan

no fall from any of the last three bhūmis whereas that was possible from any of the first seven bhūmis

—Studies in the Tantras Part I By P C Bagchi p 91

२ मानमेयोऽयं—नारायणरचित म. सी० कुन्दनराजा तथा एम. एस. सूत्रनारायण रायश्री पृ. ३०

— एते चत्वारोऽपि बुद्धशिष्याः । एवं च तेषां सिद्धांत मध्ये शब्दः —

मुरयो माध्यमिको विवक्ष्यमानः यः पश्य मेने जगत्—

योगाचार मते तु सर्वं मयस्तासी विवर्तोऽस्ति ।

माध्यमिक मत या शून्यवाद

दार्शनिक दृष्टि से शून्यवाद क प्रतिपादन आचार्य नागाजुन हैं, जिहान दूसरी सदा के अन्तिम चरण में 'माध्यमिक शास्त्र' या माध्यमिक कारिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना कर माध्यमिक मत या शून्यवाद की स्थापना की। सहज शब्द के समान ही यह 'शून्य' शब्द भारतीय साधना साहित्य के अतगत विभिन्न युगों में अनेक भूमिकाओं को धारण करता हुआ अपना बड़ा ही मनोरंजक इतिहास प्रस्तुत करता है। ऐसे ती बहुत पहले से ही 'शून्य' अनेक बौद्धों परम्पराओं में परमतत्त्व को एक सत्ता के रूप में गृहीत हो चुका था^१ किन्तु दूसरी तथा तीसरी शताब्दी के मध्य में शून्य की कल्पना बौद्ध प्रभाव के कारण अत्यन्त व्यापक हो गयी।^२

आचार्य नागाजुन ने शून्यवाद पारमिताएँ तथा दशभूमिकाओं को महामान दशन का आधार स्तम्भ माना है। आस्तिक दशन ग्रन्थों में 'शून्य' का अर्थ सत्ता का अभाव माना गया है किन्तु आचार्य नागाजुन ने इसे प्रातिपक्ष कहकर दूसरे प्रकार से इसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार सत्ता को शून्य भी नहीं माना जा सकता, अशून्य भी नहीं माना जा सकता तथा शून्य और अशून्य दोनों भी नहीं कहा जा सकता। इसी तथ्य की स्थापना के लिए उन्होंने शून्य शब्द का प्रयोग किया है।

नागाजुन ने माध्यमिक कारिकाओं में उत्पत्ति, गति, दुःख बंधन, मोक्षोपयोगिता आदि सत्ताओं के एकपक्ष परीक्षण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि सभी पदार्थों में विरोधी धर्मों की अवस्थिति के कारण वे सभी शून्य हैं। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रख्यात अष्ट निषेधों का विधान किया था, जिसमें उन्होंने प्रत्येक वस्तु को अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अनादयत, अनेकार्थी, अनानार्थी, अनागमी और अनिगमी बताया था।^३ नागाजुन के मतानुसार अष्ट निषेधों से परिचित व्यक्ति अतिवादी से बचकर सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण करता हुआ अपने अभीष्ट को सिद्ध करता है। सक्षम में उनकी धारणा है कि वस्तुएँ आकाश-कुसुम की भाँति सत्ता शून्य नहीं होती पर वे नितान्त तात्त्विक भी नहीं होतीं क्योंकि वे कारणों पर निर्भर होती हैं और अनित्य होती हैं। सत्ता में कोई वस्तु नहीं जो कारणों पर आधारित न हो और कोई धर्म नहीं जो हेतुओं पर आधारित न हो। अतः कोई वस्तु या धर्म स्वतन्त्र या निरपेक्ष नहीं इसलिए उनका अपना कोई स्वभाव नहीं।^४ इसके अतिरिक्त नागाजुन ने काय कारण का अन्तर्विराग लिखते हुए उत्पत्ति, गति, स्वभाव और धर्म का निषेध किया तथा सम्पूर्ण जागृति सत्ता को अनन्त शून्यता का निरन्तर प्रवहमान अविच्छिन्न स्रोत माना। काय और कारण यदि एक हैं तो उन्हें दो सत्ताएँ देना समीचीन नहीं और यदि दोनों

अयोधितं धर्माकरत्वसाधनमितो बुद्धयेति सौमार्थिक

प्रत्यय धर्मभगवत् सत्त्व वैभाषिणो भाषते ॥३१॥

१ विष्णु के सहस्रनामों में उनका एक नाम 'शून्य' भी है।

सर्वविशेषरहितत्वात् शून्यत्व शून्यः । —शंकराचार्य ।

२ हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० ७६-७७ ।

३ बही पृ० ७७० ।

४ बही ।

म भिन्नता है तो कारण के बिना भी गाय हो सकता है। ऐसी स्थिति में अमृत वस्तु से अमृत वस्तु उत्पन्न होती है—एसा मानना तबसगन नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार आवाय नागाजन ने बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पात्त को ही पल्लविन करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने 'नूयवाद' को प्रतीत्य समुत्पात्तवा' कहा भी है।^१ प्रतीत्य समुत्पात्त' का 'गान्धिक' अर्थ होता है 'हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा कर भावा की उत्पत्ति' अर्थात् इसके रहने पर यह होता है।^२ प्रतीत्य समुत्पात्त' काय कारण को वि छान प्रवाह के रूप में स्वीकार करता है।^३

नागाजन ने 'नूयवाद' का उपागम प्रगति और मध्यमा प्रतिपद का भा सना दा है। प्रत्येक प्रगति या व्यवहार संवधा स्वतंत्र या अथ निरपेक्ष नहीं होता। उसकी स्थिति के लिए सापेक्षता का होना आवश्यक है। कम कम करने का' के अभाव में नहीं हो सकता। अत सबकी सत्ता सापेक्ष है।^४ कल्पितविस्तार में बीजाकुर-न्याय द्वारा इसी सापेक्षता का प्रतिपादन किया गया है। बीज रहने पर ही अकुर होता है। किन्तु बीज ही अकुर नहीं है और बीज से भिन्न कुछ और वस्तु भी अकुर नहीं है। अत बीज गान्धन और नित्य नहीं है क्योंकि अकुर रूप में उसका परिवर्तन हो जाता है। यह नष्ट भी नहीं होता क्योंकि आखिर अकुर बीज का ही तो रूपान्तर है।^५ भाव और अभाव के मध्य में या गान्धन और उच्छ' के बीच के माग को मध्यमाप्रतिपद कहा गया है। तात्पर्य यह है कि कारण से उत्पन्न होने से हम किसी वस्तु को न तो ऐकान्तिक असत् ही कह सकते हैं और न सापेक्षता के कारण ऐकान्तिक सत् ही। उमक वास्तविक स्वभाव का निश्चय मध्यम बिंदु पर ही हो सकता है और यह अपने आप में स्वयं सूचक रूप है।^७

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ के प्रति न अत्यधिक राग होना चाहिए और न

१ य प्रतीत्यसमुत्पात्तं श्रुयतां तां प्रवचयामहे ।

स प्रवर्तितरुपादाय प्रतिपत्तौ मध्यमा ।

—मूल माध्यमिककारिका नागाजुन २४ १-

(महायान—भक्त शास्त्रिभिक्षु पृ० १६) ।

२ मूल माध्यमिककारिकावृत्ति चन्द्रकीर्ति पृ १ ३६ प ।

३ अस्मिन् सति शब्दं होति इमस्मिन् उपात्ता इदम् उपात्तमिति ।

—महिम्ननिर्णय भाग १ पृ २६२ २६३ १४ - ।

४ वाद-द्वयान, राहुल सांख्यायन पृ ३३ ।

५ प्रतीत्यकारक कम कम त प्रतीत्यकारक ।

कम प्रवर्तते नायत्पश्याम सिद्धिकारण ॥१०॥

६ विद्यादुपादानं स्युस्सगामिति कमण ।

अतु रच कमकृ भ्यां शेषान् भावार् विभावयेत् ॥१३॥

—मूल माध्यमिककारिकावृत्ति चन्द्रकीर्ति पृ० १८६ १६ ।

७ बीजस्य सतो यदाकुरो न च यो बीजो स नैव अकुरो ।

न च अयं ततो न चैनं तन्मनुष्येदं अशाश्वतं भवता ॥

—मूल माध्यमिककारिकावृत्ति चन्द्रकीर्ति पृ० १६, १७ ।

८ अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अता ।

तस्मादुभे अत विवर्जयित्वा मध्ये हि स्थानं प्रवरोति पवित्रत ॥

—बौद्धी, पंचम प्रकरण पृ १३४ ।

विराग ही। कामभोग जोर निरयक आत्मपीडन—इन दोनों अतिया से वचना ही सच्चा भाग है। दोनों अतियों के मध्य में ही सत्य विद्यमान रहता है। वीणा के तारों को इतना नहीं ऐंठना चाहिए कि वह टूट ही जाए और न इतना ढीला ही करना चाहिए कि उनसे स्वर ही न निकले। अतः दार्शनिक दृष्टि से ससार न तो सत है और न असत ही। इसके विषय में न तो गान्धर्ववाद को माना जा सकता है और न उच्छ्रान्तवाद को ही।^१

बौद्ध द्वायन में दो प्रकार के सत्य माने गये हैं—सद्वृत्ति सत्य और परमाय सत्य। सत्त्वृत्ति सत्य अविद्यात्मक सासारिक सत्य है और परमाय सत्य प्रज्ञा द्वारा प्राप्त सत्य है। शून्यत्वात् परमाय सत्य को जानने का ऋणात्मक या निषेधात्मक दृष्टिकोण है। वस्तुओं के अनिर्णय और अनिश्चयनीय स्वभाव का नाम ही 'शून्यता' है। वस्तुएँ न सत हैं, न असत हैं न दोनों हैं और न दोनों से रहित हैं। अर्थात् वस्तुओं का स्वभाव या शून्यता इन चार कोटियों से सबका परे और स्वतन्त्र है।^२ शून्यता का ज्ञान ही प्रपञ्च का निरोध होता है। यही सत्य निर्वाणसाधिनी है। यह स्वयं निर्वाण-स्वरूप है। अतः आध्यात्मिक साधना के लिए शून्यता ज्ञान परमावश्यक है।^३

शून्य-भावना का विकास

जसा ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्य नागार्जुन के अनन्तर शून्य भावना का अत्यधिक विकास हुआ तथा विविध साधना मार्गों में अनेक प्रकार से उसकी अभिव्यक्ति की जान लगी। बौद्ध सिद्धा ने अपनी प्रज्ञाप्राप्य-साधना में इसी शून्य को समाविष्ट कर उसे नरात्मक बालिका प्रज्ञा अथवा महामुद्रा के रूप में स्वीकार किया तथा महासुल चक्र में शून्यता की अवस्थिति मानकर उसे अद्वय तत्त्व के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने शून्य को भाव तथा अभाव दोनों से परे बतलाते हुए उसे मध्यम तत्त्व कहा। सिद्धा का तत्त्व द्वायन यद्यपि विज्ञानवाद से अधिक प्रभावित था तथापि भव और निर्वाण का प्रसंग का वर्णन करते समय उन्होंने सबको शून्य-स्वभावगत माना। कान्तर में 'शून्य' शब्द परवर्ती सम्प्रदायों में परमतत्त्व का वाचक बनकर अनेक प्रकार से व्याख्ययित बन गया। सिद्धों ने शून्य को तत्त्व रूप मानकर उसे अगोचर अगम सबशून्य, उत्पादविहीन, अन्तहित, अद्वय अणहीन, आकारहीन, शून्यतारूपेण सब-याप्त बतलाया है। समार शून्यरूप उस परम-तत्त्व का केवल तरंग प्रवाह है जो उन्हीं में लय हो जाता है। शून्य ज्ञान के तीन रूप माने गये हैं—परिनिष्पन्न ज्ञान समजान और भावाभाव। भावाभाव में समानता जागृति पञ्चमों का नरात्म्य या शून्यता (धम नरात्म्य ज्ञान) तथा आत्मा के समान किसी गान्धर्व मत्ता के अभाव

१ ९ दिग्गोर्ष इण्डियन क्लिफोर्टी श्रुतद्रोणार्जुन गुप्त, भाग १, पृ. १४३।

२ मूल माध्यमिकवार्तिकदृष्टि, १ ७, पृ. ८३।

३ चर्मवत्तशब्दों में शून्य चर्मवत्तशब्दों में विवक्षित।

ने प्रपञ्च प्रपञ्च शून्यतायां निरूप्यते॥

—बौद्ध, १८५।

—बौद्ध दर्शन १ अन्तर्भाव उपाध्याय पृ. ३१८

—बौद्ध धर्मदर्शन आचार्य नरेन्द्र तथा माधवाचार्य द्वारा संपादित 'सर्वदर्शन मण्डप' पृ. ८५।

है। यही प्रज्ञा और उपाय 'नूयता' और 'वरणा' का महामित्र है। इसी का महामित्र की स्थिति बनताया गया है।^१ 'नूयता' को 'वरणा' की पत्नी भी कहा गया है। यदि पत्नी भाव से इनके मिलन को सहज प्रेम कहा गया है जो अनिवार्य है।^२ इसी एकांत सम्मिलन को बौद्ध-तन्त्रों में युगाद् अद्भुत गमरग स्थिति आग्नि नाम स्थि गण है। शिव और नाग तन्त्रों का 'मयन' या 'वासवता' भी यही है।^३ तत्त्वदर्शनान्तरीय मन्त्रयन्त्र न वक्ष्यमान की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त प्रमाण डाला है तथा योगाचार और माध्यमिका के सिद्धान्तों पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया है। इनके अनुसार 'नूयता' ही वक्ष्य है और 'पानमात्रता' ही सत्त्व है। 'नूयता' और 'ज्ञानमात्रता' (वरणा) के तात्पर्य से वक्ष्यमत्त्व की सिद्धि स्वतः हो जाती है। दोनों का सम्बन्ध प्रतीक और प्रमाण गुह्य और मिठास अग्नि और उष्णता के समान है। यह जगत 'नूयता' और 'वरणा' का एकात्म है।^४

'गव' और 'गावत-तन्त्र' में परास्पर सत्त्व की जड़ और चतन अथवा श्रृणात्मक और घनात्मक दो प्रकार की 'वक्तियाँ' माना गया हैं। उनमें इनके सम्मिलन के प्रसंग में पुष्प-सत्त्व और नारी सत्त्व अथवा वीज और धानि का प्रयोग प्रतीक रूप में किया गया है। यही बात में हिन्दू-तन्त्र या बौद्ध तन्त्र दोनों में अपने विवृत रूप में व्यवहृत होने लगी। पञ्च 'नूयता' और 'वरणा' अथवा प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन को बौद्ध तन्त्रों ने देवी-देवताओं के गौरीरूप मिलन के अर्थ में प्रस्तुत कर निवृत्ति प्रधान बौद्ध साधना के अंतर्गत मधुर रस की धारा बहा दी जो बात में अनधिकारी व्यक्तियों के हाथों जाकर अपने गुह्य उदात्त एवं आध्यात्मिक क्षण से नीचे उतरकर बहुत कुछ विवृत हो गया।

विज्ञानवाद या योगाचार मत

महायानियों का दूसरा दार्शनिक सम्प्रदाय विज्ञानवादियों का है। 'नूयवाद' तक सम्मत होने हुए भी निपछात्मक है किन्तु विज्ञानवाद मनोमय जगत के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला है। परमाद्य या भूततथता इसका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसके अनुसार यह विश्व केवल विज्ञाना चेतनाओं और प्रत्ययों की श्रृंखला है। चित्त आत्म विज्ञान है जिसके पवाह

१ उभयोर्मिलनं यच्च सन्निहोरयोरेव ।

अन्दाशस्योगत प्रज्ञोपाय उद्भवः ॥

विज्ञानमग्निरिवारोह जगत् सर्वत्र स्थिताम् ।

भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपाय स्वभावतः ॥ — देवचन्द्र ।

२ अन्वयवत्तमस्यैव का 'प्रमपचक' द्रष्टव्य ।

३ कामकलाविलास २२ पृ २, ५, ७ आदि द्रष्टव्य ।

४ इह सारमसांशौयम-क्षेपाभेदश्च च लघुषण् ।

अग्निदि अविनाशि च शश्वता वज्रमु-यने ॥

वज्रोऽयं शश्वता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता ।

तात्पर्यमनयो सिद्ध वज्रसत्त्व स्वभावतः ॥

शश्वता कृपयोर्भेद प्रतीपातकयोरेव ।

शश्वता कृपयोर्भेद प्रतीपातकयोरेव ॥

म एक क्षणित विज्ञान दूसरे विज्ञान को बाध कारण नम स उत्पन्न करता रहता है और इसका अन्तिम पयवसान विनष्टिमात्रता म होता है। सक्षेप म इसी को 'परमाय या भूत तयता' कहा गया है। इसी का निर्वाण भी कहने हैं।

विज्ञानवाद् को प्रतिष्ठित करने वाले प्रमुख आचार्यों म मन्वेय वसुवधु और असग विनेय उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि तीसरी गतानी क लगभग मन्वेय ने अभिसमया कारवागिवा जम प्रथ लिखकर विज्ञानवाद् की उदभावना की जिस पाँचवी गतानी म असग ने विधिवत प्रतिपादित किया। साधना पद्धति म योग ने समावेग के कारण इस यागा चार मत भी कहा गया है।

चित्त की सतता या भूततयता

चित्त द्वारा स्मृतिया और अज्ञानजय कल्पनाओं के सग्रह का नाम ही 'ससार' है। ये स्मृतियाँ और अज्ञानजय कल्पनाएँ नाग को प्राप्त होती हैं किन्तु चित्त क अस्तित्व का तिरोभाव नहीं होता। उदाहरणत वायु के गत हो जाने पर लहरों का उठना तो बन्द हो जाता है पर लहरों के विलोपन हो जाने के कारण जल विलुप्त नहीं हो जाता। वह जो नष्ट नहीं होता वही परमाय या भूततयता या निर्वाण है।

चित्त ही आलय-विज्ञान है

विज्ञानवाद् विज्ञान या चित्त का छोड़कर सबका असत मानता है। अत इसका मत स सम्पूर्ण जगत के प्रवक्तृ—चित्त के निरोध स ही जगत या भव निरोध हो सकता है। चित्त ही सब कुछ है केवल वही प्रवक्तृ एव विभाचन करने वाला है।^१ विज्ञानवादी मन क बाहर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते। उनका मतानुसार सभी वस्तुएँ प्रतिपल परि वर्तित होती रहती हैं। अत पूणरूप स उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति म ज्ञान और जय वस्तुएँ एक ही काल की नहीं हो सकती हैं। अत विज्ञान या चित्त ही एकमात्र साधकालि एव सत् है। अतीत सस्वारा के आलय होने के कारण चित्त का आलय विज्ञान की भा सना सा गयी है। तात्पर्य यह है कि उनम सभी ज्ञान बीज रूप म सन्निहित हैं जो परिस्थिति के अनुकूल होने पर विकसित होने हैं। यह चित्त परिवर्तनशील चित्त क्षतिया का प्रवाह है।^२ भिन्न भिन्न विज्ञानों के कारण चित्त का मन विनष्टि नूनना निर्वाण घमधातु आदि नाम स्थि गए हैं।^३ विज्ञानवाद के अनुसार आलय विज्ञान—चित्त

१ चित्त प्रवक्तृ विष्ट निष्ठमेव विमुच्यते।

चित्त दि आदये नायाचित्तमव निरुच्यते ॥

—लकावतारसूत्र, भाषा—१४५।

—बौद्ध शास्त्र प० बलदेव उपाध्याय, पृ० २८२।

२ तांत्रिक बौद्ध भाषना और साहित्य डा० नागप्रनाथ उपाध्याय पृ० ६७।

त्रिशिकाकारिना वसुवधु का ४, पृ० २१-२२।

बौद्ध-धर्माज प बलदेव उपाध्याय पृ० २६०।

३ लकावतारसूत्र ६४०।

ही प्राप्त और प्राप्त है। अवस्था के अनुसार पन जाने दिया का विज्ञान, मनोविज्ञान विज्ञान, मनोविज्ञान और आत्म विज्ञान इनका आठ भाग है। ललावतारमूत्र में आत्म विज्ञान को उच्च विषय का पवन तथा सप्तविध विज्ञान को नृत्यगील तरंगों के रूप में वर्णित किया गया है।^१

बौद्धमत के परवर्ती सम्प्रदायों में धूम्रवादी की अपेक्षा विज्ञानवादी या योगाचार मत का अधिक प्रभाव मिलता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि माध्यमिक मत की तुलना में योगाचार मत अधिक अर्थपूर्ण है। इसीलिए योगाचार-मत ने माध्यमिक-मत का पर्यालोचन कर चित्त-तत्त्व को सत्य माना और दान तथा साधना दोनों क्षत्रों में उसकी शतांशों के लिए प्रतिष्ठित कर दिया।^२ बज्रयानी सिद्धों के साधना मार्गों में नागाजुन की धूम्रवादी निर्वाण भावना की अपेक्षा असंग की तथ्यता का निर्वाण भावना की अधिक लोक प्रियता परिलक्षित होती है। इस प्रकार बज्रयानी सिद्धों ने चित्त तत्त्व को सत्यता की स्वीकार कर अपने साधना साहित्य में रहस्यपूर्ण साधनात्मक एवं भावनात्मक माधुर्यवादी अवतारणा की है।

तथ्यता का अनुभव

विज्ञानवादी के अनुसार ससार की चित्त की छाया मात्र माना गया है। कम दृष्टि से देखने पर जो ससार माया अर्थात् मिथ्या प्रतीत होता है वही प्रणव पु अर्थात् आत्म-दृष्टि से देखने पर सत्य माना जाता है। प्रसिद्ध महायानी दान-ग्रन्थ 'ललावतार-मूत्र' में साधक को ससार में रहते हुए ही अपने चित्त में सासारिक वस्तुओं की निःस्वभावता या तथ्यता का अनुभव करने का उपदेश दिया गया है। साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त्यात्मकता के सन्निवेश का वही मुख्य आधार है जिसका मधुर मंगल व्यवसान राग-भाग में होता है। वही राग-भाग मधुर रस का एकांत निभय गजपथ है जहाँ राग बंधन नहीं मोक्ष का अमोघ साधन बन जाता है।

तांत्रिक बौद्ध दर्शन

तन्त्र वेदा के समान ही अति प्राचीन है। यह सिद्धि के सरल भाग के निरन्तर अवेपण का ही परिणाम है। जहाँ वही भी पटल पद्धति बबब सहस्रनाम और स्तोत्र का सन्निवेश है वहाँ तन्त्र है। बाद में इसमें पुरस्करण बगीकरण स्तम्भन विन्पण उच्चाटन मारण मोहन तथा ध्वजमकाराणि का समावेश किया गया है।^३

बौद्ध धर्म साधना में तन्त्र का सन्निवेश बब और त्रिन परिस्थितियों में हुआ तथा इसके प्रथम पुरस्कर्ता कौन थे—इसके सवध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। त्रिपिटका में यह पात होता है कि तन्त्र मन्त्र व बौद्ध बुद्ध की मूल शिक्षा में पाए जाते हैं। वही

१ ललावतारमूत्र दास और भावाय पृ ५१ श्लो १०० १ ३।

२ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य डॉ नोरो द्रनाथ उपाध्याय पृ ७६।

३ राममक्ति में मधुरोपासना डॉ भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' पृ ४० दृष्टव।

तथागत की अनेक अलौकिक सिद्धियाँ के भी चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलते हैं।^१ विनयपिटक^२ और सुल्लभमाज्जतत्र^३ से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध से ही तन्त्र मन्त्र का समावेश हुआ। महायान धर्म में बुद्ध भक्ति, बुद्ध कृपा, विविध देवताओं और देवियों, स्वर्गादि की कल्पनाओं का कारण मन्त्रों एवं धारणियों का विकास में पर्याप्त सहायता मिली। फलतः आगे चलकर महायान धर्म ही मन्त्रतन्त्र और पारमितातन्त्र—इन दो रूपों में विभक्त हो गया।^४ जिनसे मन्त्रयान वज्रयान कालचक्रयान और सहजयान का प्रादुर्भाव हुआ।

धारणी और मन्त्र

प्रायतः अनया इति धारणी अर्थात् जो चित्त को सम अवस्था में धारण कर सके वही धारणी है। बहुबहु म बोधिसत्त्व भूमि में चार प्रकार की धारणियाँ मानी—धर्मधारणी अधधारणी मन्त्रधारणी और क्षातिधारणी।^५ साधक में स्मृति प्रज्ञा और शक्ति का संचार धर्म के आन्तरिक और गुह्य अर्थ का ज्ञान, सिद्धियाँ की प्राप्ति एवं उन्नतता तथा करुणोत्पत्ति द्वारा शान्ति की उपलब्धि जन्म। इन चार प्रकार की धारणियों के फल बनलाये गये हैं। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए मन्त्रों और धारणियों के रूप में एक अनतिदूरगामी मार्ग का अनुसंधान कर लिया गया। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए अब अनेक जीवन के सतत प्रयासों की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। साधक अब मन्त्रों द्वारा करुणोत्पत्ति का अभिलाषी बनकर बिना 'अनेक कुशल कर्मों का सम्पन्न किये तथा बोधिसत्त्व की जन्मनिविष्ट भूमियाँ की पार किये ही प्रज्ञा की प्राप्ति धर्मधारणी के उच्चारण से करने लगा। तात्पर्य यह कि मन्त्रों और धारणियों के आगमन में साधक सामान्य व्यावहारिक जीवन में प्रयत्न करुणा-सम्पादन से विरत हो गया।'^६

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'सूत्रबाण' विज्ञानवाद और योगाचार का गहन सिद्धान्त से ऊँच कर जब बौद्ध मनानुयायी सुखोपरार्थी की सहज साधना की लोभ में अग्रसर हुए हमें तब निश्चय ही तन्त्र साधना ने उन्हें आकृष्ट किया होगा। तन्त्र के प्रभाव के कारण ही देवों और देवियों की विशेष वर्यसत्त्व और महानारा की युगलद्वय प्रतिमा की उन्मादनाएँ की गयी।

बौद्ध धर्म में तन्त्रबाण के प्रवेश का श्रेय योगाचार सम्प्रदाय का प्रतिपादक असम की दिया जाता है। कुछ लोग 'सूत्रबाण' के प्रतिष्ठापक नागार्जुन को गुह्य साधना की प्रकृति का सूत्रधार मानते हैं। असम के सूत्रालंकार में परावृत्ति धर्म से योनपरक योगिक साधना तथा बौद्ध धर्म की मिथुन भावपरक साधना के अम्यास का स्पष्ट संकेत मिलते हैं। सूत्रालंकार

१ सुबुध मन्त्रयोगादि त्रिपिटक विविध कृत्याः।

प्रहारोप्य निमुक्तिं दृष्ट्वा धर्मोपि जायते ॥

—तत्त्वमयः, श्लो ३६-६८।

२ एकाधरव्यवसरोऽप्युक्तं कथायां पर ५।

तीर्थोद्दिष्टादिद्वारा च मन्त्राणां निश्चित्यते ॥

—अवधुतमयः म दौ० विनयनोप महाभाष्य पृ १५ २१।

३ आत्मवैयोर रिनिज्जम क एस दौ शशिभूषणम गुप्त पृ २१।

४ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य दौ नागेन्द्रनाथ जगन्नाथ, पृ ६७-६८।

के कई गो म बोद्ध विभुत्व की उपलब्धि परत क्रियाओं के प्रमग में परागति शब्द के प्रयोग हुए हैं और उन क्रियाओं के परोक्ष्य परागति मनमा पि परागति साधोद्ग्रह परागति विनल्प परावति प्रतिष्ठा परागति और मयन परागति—य छह भेद निर्धारित किये गये हैं तथा बतलाया गया है कि मनोगति के भेद से कई प्रकार के विभुत्व की उपलब्धि होनी है।^१

परागति शब्द के अर्थ तथा विशेषकर मयनमयपरागती के तात्पर्य को शरविज्ञाना ने भिन्न भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। श्री० एम० लेवी ने मयनमयपरागती शब्द का अर्थ वाग्मिबोद्धता (परिवर्तन) करते हुए उसे मयन क्रिया की परागति (Paravritti of sexual act) कहा है तथा प्रसारांतर म स्पर्शत बुद्धा और बोधिवृत्ता के सम्ममय युग्मों के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा है जिनका तांत्रिक साधना के धर्म म पर्याप्त महत्त्व है। इन देखते हुए यह मिट्ट होना है कि महायान धर्म म अलगम चौथी पाँचवी शताब्दी अर्थात् असंग के समय म ही तांत्रिक भाषा का सन्निवर्ण हो चुका था।^२ श्री डी० टी मुजुक्ति ने स्टीम इन द श्वावतारमून मे परावति की स्पिरिबुअल रिक्लमन अर्थात् एक विनिष्ट प्रकार के आध्यात्मिक अध म ग्रहण किया है। उनसे मतानुसार परावति प्राप्त करने का अर्थ है द्वन्द्व एव अहं स पूण ससार के इस तट सं निर्वाण के दूसरे तट पर पहुँचना। यह अवस्था आध्यात्मिक अनुशासन या योग से ही प्राप्त होनी है। इस अवस्था का प्राप्त कर साक्षात् अहंकारपूण प्रवृत्तियाँ एव इच्छाया स विरत होकर अत स्थित हो जाता है तथा उसका पूण आध्यात्मिक जागरण हो जाता है।^३ इस प्रकार 'परावति' जीवन के प्रति एक विनिष्ट प्रकार

१ मनोवृत्ति शब्द विभुत्व भेद दशवति—

परमिय परावृत्तौ विभ व ल भवे परम् ।

सर्वाधवृत्ता सर्वेषा एव दाशतोन्ते ॥४१॥

मनसोऽपि प वृत्तौ विभ व लभ्यते परम् ।

विभु व सुतर शीत निम्बिक पे मुनिमन ॥४२॥

साधोद्ग्रह पर वृत्ता विभु च ग ये परम् ।

स्वेनमुद्धौ यशसाम भागमशनाय चि ॥४३॥

विभु वर्य परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम् ।

अ साधने मन्त्राणां सर्वेषां शान्तिमयाम् ॥४४॥

प्रतिष्ठाया परावृत्तौ विभ व लभ्यते परम् ।

अप्रतिष्ठन निर्वैष्य बुद्धानामवल ४५ ॥४५॥

मधुनस्य परावृत्ता विभ व लभ्यते परम् ।

बुद्धमार्ग विचारस्य दाशमालसंशयै ॥४६॥

—सूत्रालंकार भमगृह ।

२ Prof E Levi while translating the work as revolution suggested that Paravritti of Sexual act alludes without doubt to the mystic couples of Buddhas and Bodhisattvas which has so much importance in Tantrism (Translation of the Sutralamkara p 81 note) If this interpretation is accepted then we have to admit that Tantrik ideas were already prevalent in Mahayana Buddhism in the time of Asanga (4th 5th centuries A D)

—Studies in the Tantras Vol I p 87 by Dr P C Bagachi

३ स्टीम इन द श्वावतारमून की टी मुजुक्ति प २६१ प ।

ऊपर दंग भूमियों की चर्चा के प्रसंग में कहा जा चुका है कि मान भूमियाँ वित्त निर्माण से सम्बन्धित आठवीं भूमि (अरन्) निरामास तथा नदी और दामी भूमियाँ (सापुमनी और धममेधा) विहाय की भूमियाँ हैं। परावर्ति की प्राप्ति होने पर ही बोधिसत्त्व आठवां भूमि में पन्थापण करता है। हमसे स्पष्ट है कि परावर्ति अन्तिम तीन भूमियों में सम्बन्धित है। अतः इन तीन भूमियाँ की दंगा में बोधिसत्त्व सभी प्रकार के सामाजिक प्रपञ्च एवं इन्द्रिय व्यापारों में परे होकर आनन्दमय स्थिति में पहुँच जाता है और मधुनजय आनन्द के समान ही सुख का अनुभव या उपभोग करना है। इस निर्वाण-ज्ञान भी वह मरते हैं। अतः डॉ० बागची के मतानुसार मधुनस्य परावृत्ती का अर्थ मधुन से विरति न होकर मधुनजय आनन्द का उपभोग समझना ही मधीचीन प्रतीत होता है।^१ सूत्राकार ४३७ और ३८० पृष्ठ में भी इस प्रकार के रहस्यमय मिश्रण एवं तन्मय ज्ञान-मय स्थिति का वर्णन किया गया है। योग दान में भाँ योग और समाधि के प्रसंग में इस प्रकार के रहस्यमय मिश्रण और तद्वर्जित परमाणु की चर्चा की गई है। उपनिषद् में भी आत्मा परमात्मा के महामिलन जय आनन्द की चर्चा करने के लिए प्रिय और प्रयत्नी के सहवाम सुख से सम्बन्धित उपमाओं का विधान किया गया है।

उपपुनक विचार विदुषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि असंग के समय में मधनपरक गति प्रधान साधना पद्धति अवश्य प्रचलित थी जिसका पर्याप्त सबेद असंग में अपन सूत्राकार तथा विरोधकार गुरुसमाजतय या तपागतगुरुक नामक ग्रन्थ में पटक्क पचमकार सिद्धियाँ पचप्यानी बुद्धों और उनकी गिनियों के वर्णन द्वारा दिये हैं। डॉ० विनयनोप भट्टाचार्य बौद्ध धर्म में गतिनस्त्व को प्रतिष्ठित करने का अर्थ असंग को ही देने हैं। किन्तु बागची मुजुन प्रभति विद्वान् भट्टाचार्य के मतों को स्वीकार नहीं करते। गुरुसमाज तय के रचयिता वस्तुतः असंग ही थे—ऐसा मानने के लिए भी वे कोई प्रामाणिक आधार नहीं पाते। इसी प्रकार बौद्ध साधना में गतिन-तत्त्व के प्रतिष्ठापक के रूप में नागाजन के सम्यक में भी काफी मतभेद है। मर यम पटक्क सिद्धियाँ मर मुद्रा गतिन-तत्त्व पचमकार बुद्धिगति योग अधिकारभेदभाव गुरु गिष्यवाद आदि तात्रिक साधना के प्रमुख तत्त्व हैं। बौद्ध साधना में इन तात्रिक तत्त्वों का समाविष्ट करन बाग जो भाँ इनका स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि छठी सती के पूर्व महायान धर्म में ये तत्त्व अविकसितावस्था में अवश्य विद्यमान थे। जहाँ तक शक्ति तत्त्व का प्रश्न है प्रत्येक देवता के साथ एक एक गतिन की कल्पना और प्रत्येक साधक के साथ साधना के लिए एक एक मुद्रा या योगिनी की प्रतिपादना जसी विरोधताएँ छठी गतिन के बाद ही प्रविष्ट हुई होगी।^२ अतः असंग काल में बौद्ध साधना में गतिन प्रधान साधना पद्धति स्वीकृत हुई थी कि नहीं यह निर्विवाद

^१ विस्तार के लिए देखिये सूत्र ॥ बागची भाग १ पृष्ठ ६३२।

So it has been defined as a state of blissfulness. Therefore I think paravritti of Maithuna (verse 46) does not mean turning aside or abnegation of the sexual act but enjoyment of bliss similar to that arising from that act. This analogy has been used in Indian philosophical texts beginning with the Upanishads.

^२ तात्रिक बौद्ध साधना और साहि ३ डॉ० नाये द्वाय उपनिषद्, १० ६६।

रूप से नहीं कहा जा सकता। डा० प्रबोधचन्द्र धागची और सुजुकि के मन्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि परावृत्ति चित्तवृत्तियाँ का वह भोव या त्रान्तिष्ठा है जहाँ जागतिक पदार्थों के प्रति साधक की दृष्टि और व्यवहार सबधा परिवर्तित हो जाता है और वह सबको अमायाय दृष्टि से देखने लगता है। इस प्रकार इस सामांय दृष्टि और व्यवहार से उलटकर पुनः चित्त ने नसगिक बिन्दु की ओर चित्त का आवृत्त हो परावृत्ति है। इसीको निर्वाण कहा गया है। यही चित्त की निर्विकल्पावस्था है। महायान में निर्वाण का भावात्मक अर्थ स्वीकृत हो चुका था। धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों में ही निर्वाण की सुगमय माना गया था। अतः ऐसी अवस्था में चित्त की परावृत्ति अवस्था को सुखात्मक अवस्था मानना उसका लिए मध्यम जनिम सुख की उपमा देना, धम्मपदा भूमि से उसकी तुलना करना तथा उसीके समकक्ष उस मानना सबधा उचित है। जिन उपनिषदों से योग-साधना का ग्रहण किया गया जिन आरम्भिक परम्परा से निर्विकल्प समाधि को ग्रहण किया गया, उसी परम्परा से परमात्मव्यवहार और परमावस्था का वर्णन करने की शक्ति की भी ग्रहण करना सबधा स्वाभाविक है।^१ मध्य-युग के निगुनियों सत्ता न भी इस प्रकार के औपम्य विधान के पर्याप्त प्रयोग किए हैं। सत्ता की उन्नी चाल भी एक प्रकार से परावृत्ति दशा का ही स्वरूप है जिस उन्होंने निरञ्जन सम्प्रदाय से ग्रहण किया था।

मन्त्रयान का उदय

तत्र प्रभावापन्न महायान की सौम्य विकासावस्था का नाम मन्त्रयान है तथा उसका उग्र रूप की सजा वज्रयान है। अष्टयव्यसग्रह में सप्रहीत तत्त्वरत्नावली में महायान के दो विभाग किए गये हैं—मन्त्रयान और पारमितायान। महायान के समय में मन्त्र-तन्त्र की भावना नष्ट नहीं हुई थी, प्रभुत वह बड़े जोरों से अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए अप्रसर हो रही थी। योगाचार में योग और आचार पर विषय महत्त्व देना इसी फल का आगमन की सूचना थी।^२ प्रथम अथवा द्वितीय विक्रमी गति का प्रथम मन्त्रश्रीमूलकल्प में मन्त्रधारणी आदि का यथेष्ट वर्णन मिलता है। नागाजुन द्वारा प्रतिपादित सूत्रवाद के सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्त सामांय-जनों के लिए सहज बोधगम्य नहीं सिद्ध हो सका। अतएव धारणियों को अति सज्जित बनाकर साधक और निरक्षर गण-समूह के रूप में मन्त्रा की सृष्टि हुई और मन्त्र द्वारा मोक्ष प्राप्ति कराने वाले साधना मार्ग की मन्त्रयान की सत्ता दी गई। कालान्तर में इनके अन्तर्गत भुक्त मण्डल आदि का भी समावेश किया गया। मन्त्रयान-साधना पद्धति की दृष्टि से आयमजुश्रीमूलकल्प विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह वज्रयान-साधना का प्रारम्भिक प्रयत्न है। इस प्रयत्न में शक्तिवाद ने साध-साध भुक्त, मण्डल मणिणी डाकिनी आदि आसुरी दवा-देवतायाँ एवं उनसे सम्बन्धित विविध मन्त्रों के विस्तृत वर्णन किए गये हैं।

आग चलकर मन्त्रयान में अधिकारभेदावस्था की प्रघातना हो जाने के कारण साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी उन्नाधिकार प्राप्त व्यक्ति की ही समझा जाना लगा। अष्टयव्यसग्रह में मन्त्रयान की तीक्ष्ण अधिकार-साध्य ब्रह्मचर गुप्त रूप से इसका

१ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य में नागेन्द्रनाथ उपाध्याय पृ. ६०-६१।

२ नाट्य दशान मोर्माणा पृ. १८१ उपाध्याय, पृ. ४७७।

अनुष्ठान का निर्देश किया गया है तथा सवसाधारण के सामने मन्त्रमूलक साधना के रहस्योन्घाटन को वर्जित माना गया है।

मन्त्रयान का ही विकसित रूप आगे जाकर सन्त्रयान कहा जाने लगा जिसने मन्त्र-तन्त्र जादू-टोना मोहिनी मन्त्र इन्द्रजाल आदि तत्त्वा द्वारा बौद्धमत के आचार ज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इसीमें वाग्यान्तर में वज्रयान बालचक्रयान और सहजयान सम्प्रदाय विकसित हुए।

वज्रयान का वज्र मार्ग

बौद्ध धर्म के अतिरिक्त यानों की चर्चा की गई है उनके गान्धर्व सिद्धान्तों एवं साधना पद्धतियों पर विचार करने में स्पष्ट हो जाता है कि वे एक-दूसरे के ही परम्परागत तथा परिवर्तित रूप हैं। अतः मन्त्रयान वज्रयान और सहजयान वस्तुतः एक ही साधना प्रणाली के परिवर्तित एवं विकसित रूप कहे जा सकते हैं। मन्त्रयान में मन्त्रों और धारणियों के अतिरिक्त वज्र को शून्य तत्त्व का प्रतीक या पर्याय मानकर उससे उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों को साधन के रूप में ग्रहण कर अनुत्तर सम्भव सम्बोधि की प्राप्ति की जाती है। सहजयान में सहज का अर्थ प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उत्पन्न अन्त्य तत्त्व है। साधक प्रज्ञोपाय के अद्वय अनुत्तर को सिद्ध कर सामरस्य का अनुभव करता है तथा महामुक्ति की प्राप्ति कर सहज सिद्ध बन जाता है।

वज्रयान में कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जिनमें एक सूत्र में बंधने के लिए उसमें अनेक आम्नायों की सृष्टि हुई है। अपनी प्रवृत्ति और गुरु के निर्देशानुसार साधक साधना करने में स्वतन्त्र है। साधक के मानसिक विकास को ध्यान में रखकर क्रमशः किया धर्म योग और अनुत्तर की साधना का विधान किया गया है।

वज्रयान का वज्र गान्धर्व अनेकार्थी है। वज्रयान साधना का साधनात्मक और धार्मिक प्रतीक वज्र में माना गया है। इसका अधिक अर्थ मणि अश्म और अस्त्र है। वज्र हीरा है जो अतिमूल्य काष्ठिक के कारण अप्रवेष्ट्य अछिद्य अदाह्य एवं अविनाश्य पदार्थों का प्रतीक माना जाता है। वज्र इन्द्र के अस्त्र को भी कहते हैं। इसे ही धारण करने के कारण बौद्ध वज्रपाणि की अवतारणा हुई है। वज्र को विरुद्ध शक्तियों से बचानेवाले बौद्ध सन्नासियों और भिक्षुओं का अस्त्र भी माना गया है।

सिद्ध साधना में शून्य का पूरक तत्त्व वज्र को माना गया है। दृढता अभेद्यता अविनष्टता आदि वज्र के लक्षण कहे गये हैं जो शून्यता में पाए जाते हैं। इसीलिए उसे वज्र की संज्ञा दी गई है। पूर्व मध्य-युग के पाल्बानी राजाओं के पूर्व भारत के शासनकाल में नागार्जुन के शून्य की वज्र की संज्ञा दी गई। उस ऋषि (निर्वाण) को अविनाशी मान कर उसे प्राप्त करने वाले मार्ग का वज्रयान कहा जाने लगा। वज्र तत्त्व वज्रयान में परम तत्त्व का ही वाचक बन गया तथा यह धारणा बढ्मूल हो गई कि यह वज्र पुरुष रूप में बोधिवृत्ति में जाग्रत होकर नरात्म ज्ञान में एकमेव हो जाने के लिए उन्मुख होता है। बौद्ध तन्त्रवाद में वज्र की कल्पना इतनी व्यापक बन गई कि शून्य के अर्थ में वज्र रूढ बन गया। दैवता समाधि काय वाक चित्त मुद्राएं शक्तियाँ ज्ञान उपाय योग सभी के लिए वज्र

गन्त प्रयुक्त होने लगा। इन्द्र के वज्र की भाँति कही कहा वज्र का धम बुद्ध और सध के रूप में त्रिस्त भी कहा गया है। अनम वज्र को पुसेन्द्रिय तथा पद्म को स्त्रीन्द्रिय के अर्थ में भी ग्रहण किया गया है। आप चलकर तांत्रिक-साधना के प्रभाव के कारण वज्र के साथ पंच प्रकारके साधनाओं के संबद्ध हो जाने पर विगुदतावाणी गोरक्षपदियों ने उसका बहिष्कार कर गुद याग को अपना लिया। सूफी सन्त कवि जायसी ने भी पदमावन में आठ वज्रा की चर्चा की है।

वज्रसत्त्व शून्यता के मूल रूप माने गए हैं। वज्र के शून्यता के प्रतीकाय के रूप में व्यापक रूप से स्वीकृत हुआ जान के पश्चात् पञ्चव्यानी बुद्धा के अतिरिक्त छठे वज्रसत्त्व की उद्भावना की गयी जो प्रजापारमिता के प्रति माने गये हैं तथा जो वज्रास्त्र धारण कर युग नन्द रूप में शक्ति के साथ लीन रहने हैं। वज्रसत्त्व, वज्रधर वज्रपाणि तथागत ज्ञानी शून्य के विविध नाम हैं। वज्र धारण करने वाला अर्थात् कमल-कुल्लि साधना में निष्णात बौद्ध सिद्ध वज्रधर कहलाता है। बुद्ध का एक वज्रयानी रूप वज्रधर का भी था जिसमें वे अपनी गति के साथ युगनन्द साधना में लीन रहते हैं।^१

अद्वयवज्रसंग्रह^२ में साधम्य के कारण शून्यता को वज्र कहा गया है। यह शून्यता नरात्मा के रूप है जिसके गाढालिगन में मानव चित्त (बाधितचित्त या विज्ञान) सदैव आबद्ध रहता है। दोना का यह मधुर मिश्रण सदैव सुख तथा आनन्द का प्रत्यय है। इस शून्यता के साथ महामुख की भावना भी सम्मिलित है।^३ इस प्रकार शून्यता बोधितचित्त या विज्ञान तथा महामुख के संगम के ज्ञान को ही वज्रज्ञान कहते हैं और जिस साधना मार्ग से इस वज्रज्ञान की उपलब्धि की जाती है उसे ही वज्रज्ञान की सत्ता दी गई है। वज्रज्ञान से बौद्ध धर्म के उच्च रूप का परिचय मिलता है जिसमें देवता मात्र-तत्र पंचमकार गुह्यसाधना अभिचारानि तांत्रिक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। वज्रज्ञान साधना पद्धति में अद्वैत-द्वैत भूत विद्या गति सत्त्व पंच-भकार तथा राग साधना के साथ संप्लित बौद्ध विचारों का सम्मिश्रण कर उच्च एक प्रगतिशील (Dynamic) मत के रूप में प्रस्तुत किया गया।^४

अद्वयवज्र ने वज्रज्ञान को मात्रतय कहा है तथा उसकी साधना-पद्धति को गुह्य एवं गम्भीर बतलाते हुए उसे तीक्ष्णद्वय-अधिकार-साधम्य कहा है। महाज्ञान की विचारधारा की चर्चा के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार महाज्ञान सम्प्रदाय में बुद्ध के मानव व्यक्तित्व के बड़े-उत्तरे स्वीकृति स्वरूप का प्रतिपादन किया गया और उन्हें सामान्य लोक से ऊपर उठाकर निम्नलोक का अधिष्ठाता मान लिया गया। क्यावस्थु से नात होता है कि अनुल्लादिमा ने बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता की स्वीकृति के साथ साथ एकाभिप्रायण मधुन का संवन करना भी विषय मान लिया।^५ ये दोना मिश्रित बौद्ध धर्म का दृष्टि से बड़े ही प्रान्तिकारी सिद्ध हुए। एकाभिप्रायण मधुन की स्वीकृति का मिश्रित का अनुसरण करने ही

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ११८। विश्वभारती पत्रिका, मधु ४ अंक १ में प्रकाशित भक्त शास्त्रि मिश्र का सप्त दृष्ट्य।

२ 'अद्वयवज्रसंग्रह' का महामुखाप्रकाश दृष्ट्य, पृ ५।

३ A History of Indian Literature Part II pages 387-388

४ क्यावस्थु, २३/१।

तत्र प्रभावात्त यज्जयान एव सहजया वा आविर्भाव हुआ ।

महायान के योधाचार और विधानवात् के गहन सिद्धान्तों का हृत्पगम करने की क्षमता साधारण जन समुदाय में नहीं थी । अतएव साधारण जनता ऐसे सहज-बोधगम्य तथा जीवन के भावात्मक सवेगों से पूर्ण धर्म सम्प्रदाय की आवश्यकता का अनुभव कर रही थी जिसके द्वारा घोट प्रयास से ही महामुग और महज्जान की उपलब्धि सम्भव हो सके । वज्रयान और सहजयान के रूप में इसी आवश्यकता की पूर्ति का विराट् आयाजन हुआ । इसी मनोरम धर्म का नाम वज्रयान है—जिसमें 'गूय निरात्मा है—वह देवी रूप है जिसमें प्रगाण् आलिंगन में मानव चित्त (बोधिचित्त या विज्ञान) सदा बढ़ रहता है तथा यह मुगल मिलन सब काल के लिए सुख तथा आनन्द उत्पन्न करता है ।'

वज्रयान का आविर्भाव

पहले ही कहा जा चुका है कि वज्रयान महायान का ही परिवर्तित रूप है जो मन्त्रयान से सम्प्रतिष्ठित होता हुआ तान्त्रिक साधना-पद्धतियों से अधिकधिक प्रभावित होकर अतन्त्र वज्रयान के रूप में प्रकट हुआ । तान्त्रिक-साधना के विकास क्रम के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि छठी शती के बाद सम्पूर्ण देश के साधना मार्गों में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का समावेश होने लग गया था । महापण्डित राहुल साह्र्यायन ने भी मन्त्रयान का समय चौथी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी (ईसवी) तक स्वीकार किया है । इससे अनिरुक्त डा० विंटरनिस्स^१ तारानाथ^२ एच० कण^३ म० म हर्प्रसाद गार्स्त्री^४ डा० वि० तो भट्टाचार्य^५ डॉ० शशि भूषण दास गुप्त^६ आदि विद्वानों के विचारों के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महायान के अन्तिम चरण में (लगभग ४५वीं शताब्दी) मन्त्रतत्त्व के प्रचार प्रसार होने के बाद लगभग ३० वर्षों तक शक्तितत्त्व और पंचमकारा की साधना गुरु शिष्य परम्परा की गुप्त एवं सीमित दीक्षित मण्डली में चलती रही । इस प्रकार की साधना पद्धति को ही तारानाथ ने अनुत्तर योग-तन्त्रयान कहा है जिससे वज्रयान और पुनः उससे कालचक्रमान और सहजयान विकसित हुआ । जिन धार्मिक एवं दार्शनिक परिस्थितियों में वज्रयान का विकास हुआ उनके विहंगावलीवन से यह पता होता है कि महायान के अवसान-काल में बुद्ध अमिताभ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर मजुनी आदि देवताओं एवं हारीति चन्द्रिका सरस्वती आदि देवियों की प्रतिष्ठा देवी देवताओं की आराधना के लिए स्तोत्रों, मन्त्रों और धारणियों की सृष्टि बोधिसत्त्व के लिए करुणा प्रसार और प्रज्ञा की उपलब्धि की अनिवार्यता धर्मवाद के व्यावहारिक साक्षात्कार की प्रज्ञा की उपलब्धि से अभिन्नता सम्पूर्ण सत्सार की

१ बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० बलदेव उपाध्याय पृ० ४२८ ।

२ ए० हिरी ऑफ इण्डियन लिब्रेरीर विंटरनिस्स भाग २, पृ० १४ दृष्टव्य ।

३ मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, अनु० श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त—दृष्टव्य ।

४ मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिधर्म एवं कथ, पृ० १२३ १२८ १२ दृष्टव्य ।

५ जनल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल १९६८ स० भा० २, २, पृ० १७४ १८४ दृष्टव्य ।

६ एन इण्डियन टु बुद्धिस्ट टेसोटेरियम डॉ० वि० तो म —दृष्टव्य ।

७ ऑ० मकयोर रिलिजस कल्टर्स डॉ० रा० भू० दा० गुप्त, पृ० २४ तथा ऐन इण्डोइयन टु तान्त्रिक बुद्धिधर्म—दृष्टव्य ।

उत्पत्ति और प्रणाम व णि चित्त तत्त्व की स्वीकृति, प्रत्यात्मगति की उपलब्धि मात्र-तन्त्र और धारणियों की प्रमुखता तथा प्राणी-मात्र के दुःख निवारण व णि नवीन बाधिमत्त्वा की उन्मादनाएँ हीन लगी थी।

उपयुक्त विचार विद्वत्ता यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक अवधि रूप में बज्रयान साधना मार्ग चलता रहा। इस अवधि में अनेक आचार्य हुए जिन्होंने अनेक प्रकार की पद्धतियाँ का सूत्रपात कर देग विष्णु में बौद्ध धर्म को प्रचारित किया। प्रसिद्ध चोगसा सिद्ध पुरुषा एवं उनके शिष्यों ने अपने उपन्यास एवं रहस्यमय गाथा द्वारा जनसाधारण में इसका पयात्न प्रचार प्रसार किया। 'इनका स्पष्ट है कि चिन्तन, साधना मात्र देवता तन्त्र योग आचार और भाषा—इन सभी शिखाया में बौद्ध धर्म इतना सव्याहृत कभी नहीं रहा जिनका इस काल में।'^१

कुछ विष्णुवादी व मतानुसार आदि सिद्ध मरहपाद ही बज्रयानी साधना व प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इनका समय ७वीं से ८वीं शताब्दी के मध्य माना गया है।

हिन्दू-तन्त्रा व दक्षिणाचार और वामाचार व समान बौद्ध-तन्त्रा में क्रियातन्त्र और चयातन्त्र का दक्षिणाचार में और योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र को वामाचार व अन्तर्गत माना गया है।^२ बड़ी ब्रह्मचर्य नियमित आहार पात्र प्रधान दक्षिणाचार में कुण्डलिनी प्राप्त करने का ही साधन वामाचार में प्रवेश या सकना है। वामाचार में बायाँ या दक्षिण या नारी आचार साधन व लिए अनिवार्य तत्त्व या उपकरण का रूप में ग्रहण की जाती है। ७वीं से ८वीं शताब्दी के मध्य वामाचार की पंच मन्त्र समन्वित साधना की ओर सक्क करते हैं। किन्तु बौद्ध सिद्धा की लोक भाषा की ओर सहज मिद्वान्त की प्रतिपादक रचनाएँ भाव-साधना या शिष्य-साधना का भार प्रवृत्त शिष्य दती हैं जिनका उद्भव मरहपाद के काल से मानना चाहिए।^३

काजागवा समुद्र में बज्रयान (मन्त्रयान) के छह प्रमुख भेद किये हैं—क्रिया तन्त्रयान चर्यातन्त्रयान योगतन्त्रयान। क्रिया तन्त्रयान के तीन भेद—महायोगतन्त्रयान अनुत्तर योगतन्त्रयान और अनियोगतन्त्रयान निर्धारित किये गए हैं।^४ डॉ० दास गुप्त ने भी बज्रयान (मन्त्रयान) व चार भेदों को जनलान हुए क्रियातन्त्रयान और चर्यातन्त्रयान का निम्न तन्त्र तथा योगतन्त्रयान और अनुत्तर तन्त्रयान को उत्तम तन्त्र कहा है। निम्न तन्त्र में विविध बाह्य-पूजा विधाना देवी-देवताओं की पूजा आदि की प्रमुखता है तथा उत्तम तन्त्र योग प्रधान है। परम मत्त की प्रकृति और ध्यान की प्रधानता उत्तम पायी जाती है।^५ बज्रयान से सम्बंधित चार प्रकार व तांत्रिक बौद्ध-ग्रन्थ मिलते हैं जो सामान्यतः क्रियातन्त्र चयातन्त्र योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र पर आधारित हैं। क्रियातन्त्र विषयक ग्रन्था में मन्दिर, देव मूर्तियाँ वानिर्माण तथा धार्मिक विधि विधान चयातन्त्र विषयक ग्रन्था में व्यावहारिक आचार

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ ६६६।

२ डेन हर्नोडकान ड बुद्धिस्ट एथोलॉजिकल मॉनोग्राफ, पृ ६२।

३ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य ज्ञान ज्ञान, पृ ११२।

४ श्रीराममन्त्रालय की भूमिका, मन्त्रालय, काजीगवा मन्त्र, पृ ३२।

५ डॉ० नरमोर रिनिजम कन्वेंशन डॉ० शशिभूषण सप्तगुप्त, पृ २४।

दान योगतत्र विषयतः प्रया में योग साधना एव अनुत्तर योगतत्र विषयतः प्रया म भावात्मक साधना अर्थात् माधुपमय रहस्यवाक् की विवचना की गई है। वक्ष्यमान का त्रिगुण साहित्य नाण्डार है त्रिनम वक्ष्यमाना विपनाआ के वणन की दष्टि म आनि कम प्रतीत अष्टमी वन विधात साधन माला (११वा गनी) साधन-समुच्चय पचत्रम चड महारोपणतत्र श्री चतुसमात्र तत्र गुह्यगमात्र तत्र या तथागत गुह्यन नानमिडि (इन्धुनि) गुह्यमिडि (पद्मवक्ष्य) प्रज्ञोपाय विनिचय सिद्धि अत्यवश्यग्रह अन्तसिद्धि (लक्ष्मीकरा) विप उल्गनीय माने गय हैं। साधनमाला म ध्यानी बुद्ध उनक कुत्र देवी तारा व विभिन्न रूप—वक्ष्यनाग तारा वरन्तारा महावीरमायतारा विश्वमाता मारीची प्रजापारगिता वक्ष्यमरस्वनी वक्ष्यवीणासरस्वनी आनि बणिन हैं। चडमहारोपणतत्र म महावक्ष्यी विपुनवक्ष्यी राजवक्ष्यी आनि योगिनिया तथा योनपरक साधना की विवेचना की गया है। शेषकममारतत्र म महामुक्तावाक् मत्र ध्यान तथा जलौकिक युगनद्धा की विस्तृत मोमासा मिलनी है।

बौद्ध धर्म में गति-तत्त्व की प्रतिष्ठा की दष्टि से गुह्यसमाजतत्र महत्त्वपूर्ण है। जणिमाणि सामान्य सिद्धिया के साथ साथ बुद्धत्व प्राप्ति की उत्तम सिद्धि की भी विवचना की गयी है। पङ्क योग में निष्णात होने पर ही उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है।^१ गुह्यसमाजतत्र काया की साधन वाक् बडोर आचाराणि को संवधा अस्वीकार कर सबकामोपभोग द्वारा इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्ति की उदघोषणा करता है।^२ इसमें प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक एक शक्ति की अवतारणा कर प्रत्येक साधक के साथ एक एक शक्ति या प्रज्ञा या विद्या का रहना परमावश्यक माना गया है। गुण सम्प ना योग निपुणा मनोहारिणी सुन्दरी को प्रज्ञा या गति व ग्नि साधक द्वारा चुना जाता है। तथागता की साक्षी बनाकर गुह्य साधक (गिप्य) और गति का अभिषेक करता है जिस प्रज्ञामिषेक कहा गया है। प्रज्ञा (गति) भद्रपयोग की सहायिका है। साधक को विद्याव्रत जपनाता पढता है अर्थात् उस कभी नहीं छोड़ने की प्रतिज्ञा करनी होती है। विद्याव्रत का तोड़ने वाग कदापि उत्तम सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।^३ साधना के ग्नि मद्य मास मस्त्य मुग्ग और मधुन के सवन की विहित माना गया है।

१ गुह्यसमाजतत्र पृ० १६२ १६३ द्रष्ट व।

२ सबकामोपभोगैश्च सममान्यथेच्छतः ।
अनेन खलु योगत लघु बुद्धवमानुषात् ॥
दुष्करनियमैस्तीक्ष्णैः सेवमानो न सिद्धयति ।
सर्व कामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु मिद्धयति ॥

—वही पृ २७ ११४।

३ तामैव चैवता विधा गृह्य शि यस्य वज्रिण ।
पाण्डा पाणि प्रनातय साक्षीहृत्त्व तथागतम् ॥
इह न दत्त्वा शिरे शिष्यमुच्यते गुरुवज्रिणः ।
या योपायेन बुद्धत्व तस्माद्विधाभिर्मा बराम् ॥
भद्रया सर्वधमास्तु ह्यधभावन लक्षिता ।
तस्मादियोग सत्तार न कार्यो भवता सत्ता ॥
१६ तत्सर्वबुद्धाना विद्याव्रतमुत्तमम् ।
भतिकमति यो मूढ मिद्धिरतस्व न चोत्तमा ॥

—वही, पृ १६१ तथा १३ द्रष्ट व।

गृह्यसमाजतन्त्र' में असत्य भाषण, जीवहिंसा, परद्रव्य हरण परनारी सेवन को विधाय मानकर सामाजिक नियमों एवं मर्यादाओं की निरर्थकता बतलायी गयी है। इस प्रथम में उत्तम साधना प्राप्ति की पूर्व पीठिका के रूप में हठयोग की साधना की भी आवश्यकता बतलायी गयी है। उपाय सेवा आदि पारिभाषिक गान्धारी की व्याख्याएँ भी की गयी हैं।^१ इसका अतिरिक्त मारण मोहन उच्चाटन, वशीकरण स्तम्भन, विद्रवण आकषण गान्धारी आदि पटवर्मा आधिकारितात्पाद पंचध्यानी बुद्धों और उनकी पंचमायाओं आदि दवी दवताओं के प्रचुर वर्णन मिलते हैं। वज्रघर और वज्रसत्त्व भूय के मानवीकृत रूप बनकर परमोच्च बौद्ध देवता के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं।

वज्रयानी साधना का लक्ष्य

वज्रयान का साधना पद्धति तन्त्र प्रभावोपान है। तन्त्र साधना का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हठयोग साधना से है जिसका मूल लक्ष्य 'हकार' और ठकार अर्थात् चन्द्र और सूर्य का सम्मिलन है। इस ही इडा और पिंगला नाडी अथवा प्राण और अपान वायु का समीकरण भी कहते हैं। विषमता सृष्टि का कारण है तथा समता प्रत्यक्ष की विधापिका है। प्रत्यावस्था अद्वैत की दशा है। जगत में दो विराधी शक्तियाँ एक दूसरे को घटित करने के लिए सतत सघर्षशील रहती हैं। बहिर्गति के प्रभुता लाभ करने पर सृष्टि और अन्तर्गति की प्रधानता होना पर प्रलय होना है। स्थिति उभय शक्तियों की समानता का द्योतक है। पुरुष प्रकृति गिव गति आदि गान्धारी इसी आदि द्वन्द्व के निदर्शक हैं। अतएव पुरुष प्रकृति गिव गति प्राण अपान भूयता करणा प्रज्ञा और उपाय—इन द्विविध शक्तियों में समता लाना सहजावस्था का प्राप्त करना एवं महासुखराज को प्राप्त करना ही वज्रयानी साधना का प्रमुख लक्ष्य है। इस ही निवाण कहा गया है। इसी निर्वान अथवा सदा एकरस कारण रहित महासुखराज^२ की उपलब्धि वज्रयाना मिद्धा के लिए परमपरा की प्राप्ति है। घोर अधवार को जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि दूर कर अपन सुनिर्मल प्रकाश से उदभासित होती है उसी प्रकार सहजावस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है।^३

प्रज्ञोपाय का अद्वयत्व

तान्त्रिक बौद्ध साधना में प्रज्ञा रूपी शक्ति-तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। प्रज्ञा रूपी शक्ति का प्रतीक त्रिशूल है। यन्त्रा में त्रिशूल ही मूल तत्त्व है। इसी त्रिशूल को

१ गृह्यसमाजतन्त्र, पृ. १२०-१५५।

२ जवनि सुखराज एक कारखरहित सन्तोषितो अगताम्।

यस्य च निगमन समये वचनरिद्रो बभूव सखः ॥

—सरहपाद का वचन, मेरोदेश टीका पृ. ६१।

आरंभ अन्त मध्य एहि, नउ भव नउ निम्बाए।

एहु सो परम महासुख नउ पर नउ भन्नाए ॥ —मेरोदेश टीका पृ. ६१।

३ पार पारो चन्मणि जिमि उबोस करे।

परम महासुख एहुकर, दुरिष अरोष हरे ॥

—सरहपाद।

भग भी कहा गया है। इसीलिए हव्यज्जत्र म प्रज्ञा को भग वज्रघर घातु महामण्डल महासुख आवात वज्रालय वजासन जानि नाम यि गय है। इस मिहागन बनाकर उस पर समासीन होने वात्त न। भगवान् कहते हैं।^१

अनगवज्ज न प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि म प्रज्ञा उपाय निर्वाण भवोत्पत्ति दीप्ता मुग्धा वज्राचाय पूजा आनि विषया का विवचन करते हुए भाव का सकल्प अर्थात् समार को रत माता है। अभाव या अगत को नपना उनकी दृष्टि म उचित नहा कही जा सकती। तब यह है कि जो दीप जग हा नहीं उमका भग निवाण क्या हो सकता है? अर्थात् जलते दीप का ही निर्वाण होता है। पाता और पद की सत्ताकारता के बाट ही पूजना की दगा आती है। इस दगा म ससार और निर्वाण दोनों समाप्त हो जाते हैं। यही परम ज्ञान या प्रज्ञा है। कृपा या करुणा ही राग है क्योंकि वह सबका अनुरजन करने वाली है। कृपा या करुणा बिनारे लगाने वाली नौका व समान है। इसीलिए इस उपाय भी कहा गया है। यह मिलन अद्वयाकार है। यह ब्राह्म ब्राह्म सत्यवत् स्वय-स्मरण विनिमुक्त धुद प्रकृत्या निमल प्रयात्मवेद्य अचत्त निव निश्चय धमघातु जादि है। यही महासुख है समनभ है। यह प्रज्ञोपाय भुक्ति और मुक्ति दोनों का सत्थान है।^२

अद्वयवज्जसग्रह म प्रज्ञा और उपाय व अद्वयत्व की उदघोषणा बार बार की गई है। प्रज्ञा विरहित उपाय बधन है और उपायविरहित प्रज्ञा भी बधन है। प्रज्ञामहित उपाय और उपायसहित प्रज्ञा मोक्ष है। दीपक और आलोक के समान ही दोनों का तात्पर्य सम्बन्ध है। प्रमपचक म द्युयता को क्या और करुणा को वर की उपमा देकर सदगुरु द्वारा सहज प्रम प्राप्त करने का बड़ा ही रोचक बणन मिलता है।^३ द्युयता और करुणा के पयाय व रूप म प्रज्ञा और उपाय के पर्याप्त प्रयोग बौद्ध साधना और साहित्य म किये गये हैं। अन्वघोष लिखित महायान श्रद्धोपात्तमून मे प्रज्ञा और उपाय की बोधि की उपाधियाँ बन गयी हैं। परवर्ती बौद्ध साधना और साहित्य मे भी प्रज्ञा और उपाय ने विविध भूमिकाएँ धारण की हैं। हव्यज्जत्र म प्रज्ञा को सहयोगिनी महामुग्धा जननी भगिनी रज्ज्वी नत्तकी दुहिता ओम्बी भगवती नारी वज्रकन्या युवती योनि तथा पद्म के रूप म कल्पित किया गया है। इसी तरह उपाय की योगी वज्र या नर कहा गया है। ज्ञान सिद्धि म स्त्रीनिय को पद्म और पुसेनिय को वज्र कहा गया है।^४ अद्वयवज्जसग्रह (प्रमपचक) म प्रज्ञा और उपाय की बधू और वर तथा शक्ति और शिव क रूप म कल्पित कर दोनों के सयोग पर बहुत बन्धिया गया है। एव-दूसरे ने अभाव मे दोनों निष्क्रिय एव अगन्त मृतक बन जाते

१ बौद्धधम दर्शन। भा नरे द्रव्य भूमिका—म० प गोपीनाथ कविराज पृ ३४।

२ द्रव्ययान वकम में सप्तान्ति प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, प्रथम परिच्छेद, पृ १६ श्लोक ३६ ७६ १३ १५ १७ १८ २१ २२ २७।

३ अन्वघोषसग्रह (प्रमपचक) प हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सप्तान्ति पृ ५० श्लोक १२।

४ शुक् वैरोचनरयात वज्रोन्व तथापरम्।

स्त्रीन्द्रिय च यथापदम वज्र पुसेन्द्रिय तथा ॥११॥

—ज्ञानसिद्धि।

हैं।^१ बोधिचित्त प्रज्ञा और उपाय (गूयना और वग्णा) के अन्य रूप हैं।^२ प्रज्ञा और उपाय एक ही परम तत्त्व के दो रूप हैं। वज्रयान के परमाराध्य देवता हेरिक्त को उपाय और उनकी शक्ति वाराही को प्रज्ञा कहा गया है जिनके योग में अवधूनी मण्डल निर्मित होता है। जल और दूध की तरह प्रज्ञा और उपाय के अद्वयत्व को प्रज्ञोपाय कहते हैं।^३ जिस प्रकार दो लकड़ियों के रगड़ने से शुद्ध अग्नि पदा होती है उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय के संयोग से विगुह और ज्योतिर्मय ज्ञान प्रकट होता है।^४ प्रज्ञा रूपी शक्ति और उपाय रूपी शिव के समायोग से अद्भुत सुख की उत्पत्ति होती है।^५ शवमत का शक्ति शिव मधुन पिंड (अथ नारीदेवर) ही प्रकारांतर में बौद्ध साधना के प्रज्ञोपाय के रूप में वर्णित हुआ है। शक्ति को रक्त या रज तथा शिव को बिंदु या बीज भी कहते हैं। किंतु हिंदू तन्त्रमंत्र और शक्ति को लेकर जिस प्रकार से नर और नारी-तत्त्व की उदभावना की गयी है उसी प्रकार से बौद्ध तन्त्र में नहीं। हिन्दू ज्ञान से सर्वथा विपरीत दृष्टिकोण का परिचय देते हुए बौद्धतन्त्र में प्रज्ञा या शक्ति या नारी को निष्क्रिय और अभावात्मक एवं उपाय या शिव या नर को सक्रिय और भावात्मक माना गया है। अद्वयवज्र ने शिव शक्ति को बौद्ध परम्परा के अनुसार ही मानकर उनके समायोग को परमाद्वय तथा सत्सुख कहा है। बौद्धयोग में प्रज्ञा को रत्ना और उपाय को रमना की सत्ता दी गयी है। हिंदू योग ज्ञान में ईर्ष ही इडा और पिंगला कहते हैं। मुमुक्षा ही अवधूती है जिसे निर्वाण मार्ग और महायुक्ताग्र्य भी कहा गया है।^६ हिंदू योग ज्ञान की इडा चन्द्रा और शक्ति तथा पिंगला सूर्य और शिव के प्रतीक हैं। बौद्ध योग ज्ञान में ईर्ष क्रमण आलि वाम चंद्र तथा कालि दाहिण सूर्य भी कहा गया है। प्रज्ञा को ए और उपाय को व मानकर एवं को युद्ध का रूप माना गया है।^७

वज्रयानी एवं तत्त्व का रहस्य

वज्रयानी दार्शनिक ग्रन्थों में प्रज्ञा और उपाय की एकाकार मति के निदान के लिए एक नामक बीज का विवेचन किया गया है। एवं तीन वर्णों (ए+व+ं) का है

- १ प्रतिभासो वर कान प्रतीःयोःवाग्मात्रक ।
न स्वात यन्ति शून्यैव स्वात शून्यता कायिनीमना ॥१॥
शून्यतातिवरा वात्या मूर्खा निष्पया तु वा ।
एवम यन्ति कर्माणि स्वार्थ वद स्वाय का पनायक ॥२॥ —अद्वयवज्रसम, पृ० ५८
- २ हेवज्रतत्र प १ इत्यन्तिस्वित्त श्रवणं दामगुण्य दारा, पृ १०२ में उद्धृत ।
- ३ प्रज्ञोपायविदिरित्यभिष्टि, स्तो० १८ १७ ।
- ४ टैन ईर्षरान दु तात्रिक बुद्धि-य दासगुण, पृ० १ ८ ।
- ५ लक्ष्मणस्य निमुक्त वागुन्नाहार वर्जितम् ।
शिवशक्ति सम योगात् ज्ञायने तादृशुन सुखम् ॥ —अद्वयवज्रसम पृ० २० ।
- ६ शिवशक्तिमयायोगात् सत्सुख परमाद्वयम् । —वही, पृ २० ।
- ७ लज्जा प्रसारक वन रमनोपाय सखिदा ।
अवधूती मयदेश तु प्राद्य दाहक वर्तिता ॥ —हेवज्रतत्र में सरोरुहपात्र का वचन ।
- ८ एवकार नमस्कृता । —अद्वयवज्रसम, पृ० २८ ।

और द्वायम प्रयेन यत् एतत् सत्यं ता प्रतीय है। एकार मातृगति चन्द्र तथा प्रजा का वाचक है। वाराग गित्वात्न मूय तथा उपाय का प्रतीक है। बिन्दु () दोना के सयोग का सूचक है। एवं ब्राह्मण-नात्रा वं गित्वात्न के सम्मिलन का चोपन है। एकार गति त्रिकोण का सूचक है जो अघोमुग त्रिकोण ∇ है। वाराग गित् त्रिकोण का प्रतीक है जो अघो मुग गति त्रिकोण के मध्य म ऊर्ध्वमुग स विद्यमान है। बिन्दु दोना त्रिकोणों के के म स्थित है एवं बीज की यात्रिक आरुति इस प्रकार है—



बीज तन्त्र के इस एक यन्त्र के आध्यात्मिक रहस्य का उत्खनन हिन्दू शास्त्रों में भी किया गया है। वहा एकार शृंगार (त्रिकोण) के रूप में गति यन्त्र (भग योनि) का प्रतीक है और वह बलि का गृह कहा गया है

त्रिकोणमेकादशम बलिगृह च योनिकम् ।

शृंगार च एकार-नामभिः परिकीर्तितम् ॥

एकार शृंगार के तीनों कोण इच्छा गति ज्ञान गति और क्रिया गति को सूचित करते हैं। बीजों के वकार के समान इसीके मध्य में चिचिणी क्रम की स्थिति वर्तमान गयी है

त्रिकोण भगवत्पुत्र विद्यतस्थ गन्तमण्डलम् ।

इच्छा ज्ञान क्रिया कोण तन्मध्ये चिचिणीक्रमम् ॥^१

वज्रयान-साधना में एवं बीज की बुद्धरत्न की सुराति रखन वाला करणक कहा गया है। जगदी प्राप्ति ही महासुख की उपार्थ है क्योंकि यह सब सौख्य जाग्य है।^२ इस बीज तन्त्र में एकार माता रूप है तथा चन्द्र और प्रजा का स्रोत है। वकार पिता है तथा मूय और उपाय का प्रतीक है। बिन्दु दोना के सम्मिलन का प्रतीक है वह अनादि ज्ञान का प्रतीक है।^३

१ The Mystic Significance of Evam G N Jha Research Institute Journal Vol II Part I 1944 by M M P Gopinath Kaviraj

२ एकाराकृति यदित्यस्य मध्य वकारभूतिम् ।

भालय सर्वमौदयानां बुद्धरत्न करणकम् ॥

३ एकाररत्न मये माना वकारस्तु रत्नाधिप ।

विन्दुरजनादित ज्ञान स ज्ञान उपाधि च ॥

—बिन्दु बाणदपा के २१वें दोहे की टीका में उद्धृत देवजगन्नाथ के वचन दोशिका पृ० १५६ ।

इस प्रकार एव युगल रूप का वाचन है। परमात्र न एक है और न दो ही है वरन वह दो होने हुए भी एकाकार है। इसी तत्त्व का ब्रह्मण्य साधना में युगलभूति' तांत्रिक साधना में 'यामल' और बौद्ध साधना में युगलद्वय के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार दो वयस एक ही जुग में बाँध जाने पर एकता के मूल में वध जाने हैं उसी तरह यहाँ परम तत्त्व, जो त्रिविक्रान्ति अथवा प्रकृति पुष्प के परम्पर मिलन का प्रतीक है होते हुए भी अद्वय अद्वय है। इसी परमतत्त्व का प्रतिनिधि एव बीज है।

इसकी प्राप्ति के लिए साधक को सर्वप्रथम धराण्य का दमन कर बीर पद का प्राप्त करना चाहिए। इसके बाद वह सुरतिवीर' एवं बीज की श्रृंखला अर्थात्, महाराग-सुख का उसी प्रकार अनुभव करता है जिस प्रकार कुसुमित कमल के ऊपर बठार भ्रमर भ्रमरद का समावेश करता है।^१ एवकार का ज्ञाना समग्र विषयों का ज्ञान हो जाता है। भूयाना और कण्ठा की अभ्येष्टपिपी यह महामुद्रा धमकाय रूप है। यही बुद्ध का मध्य यथाय रूप धारण कर लेता है।^२ इन्हीं कारणों से वज्रयान साधना में एव बीज का अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार यन् रहस्यपूर्ण वज्रयानी मधुर भाव साधना का मुख्यधार है।

वज्रयानी गुरुतत्त्व की मिथुनाकारता

वज्रयान-ज्ञान के अंतर्गत परमतत्त्व या तत्त्वस्वरूप के ज्ञान के लिए सन्तुष्ट ही सेवा एव कृपा का परमावश्यक माना गया है। गुरु ही वज्राचार्य हैं जो वज्र भाग का निर्माण करने वाले हैं। सूर्य तथा शुद्ध की प्रभा रूपी शिरणा के रूप से त्रिपुण्य का बिन्दु रूपी सूर्य बाल्य भगि प्रकटित हो जाता है।^३ दीपक और उसका आलोक के समान प्रभा और उपाय के तादात्म्य सम्बन्ध का ज्ञान साधन को सन्तुष्ट की कृपा और अनुपपन्न के बिना नहीं हो सकता। साधना की गुरुता दीक्षा की कठोरता त्रिया साधन की प्रधानता तथा स्वानुभूति और अनुभव ज्ञान की परिपक्वता के कारण तांत्रिक साधना प्रधान मार्गों में गुरु का साक्षात् बुद्ध और त्रिविक्रान्ति का रूप माना गया है। इसीलिए योग और तन्त्र साधना के क्षेत्र में सन्तुष्ट की सभी आवश्यकता वर्णित हुई है। जहाँ जहाँ साधना की गुरुता है वहाँ सभी गुरु तत्त्व की अनिवार्यता गारंटी है। त्रिया प्रधान और भाव प्रधान साधना को सम्प्राप्ति करने के लिए गुणाद्य गुरु और अनुभूति प्रभा की सभी आवश्यकता है। साधन और मुक्त का अभिप्रेत करने का कृपा गुरु ही है। अभिप्रेत के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। वज्रयान के द्वारा वज्राचार्य के साथ साधक के बिना गए अभिप्रेत की वज्राभिप्रेत की गंगा दी गई है। अभिप्रेत को जाने पर ही साधक बुद्धि का गन्धर्व वनक मन्त्र में अपनी मुक्त के साथ

१. महाराग बीर सरस गुणनिधि अरवि २५।

गुरुद्वय रूपे गुरुवीर त्रिविक्रान्ति मन्त्र ॥

—नेहाजीरा, नेहा ॥

२. महाराग के बुद्धिभक्त के बुद्धिभक्त मन्त्र मन्त्र ॥

धर्म करण्यो मोक्षो लिख पदपद वेग ॥

—बही दीक्षा २१।

३. महारागमन्त्र (मिथुन चक्र) में पद महाराग मन्त्र ॥ ७१० श्लोक ३, ४६, २४ २६

प्रवेश कर आने को बुद्ध और मुनि को प्रज्ञा का अवतार मानकर गायना में प्रवृत्त होना है ।^१

अन्यत्र तो प्रथम पत्र में सद्गुरु को दूती भी कहा है जो प्रज्ञा रूपी वधू और उपाय रूपी घर के बीच मध्यस्थता कर दोनों का सम्मिलन कराने वाले हैं । वज्रयान में गुरु को प्रज्ञा और उपाय अथवा पूषता और वरणा का यगनरूप अर्थात् मिथुनाकार माना गया है । बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा और उपाय का समयोग अत्यावश्यक है ।^२ पूषता और वरणा की युग्ममूर्ति अथवा प्रज्ञा और उपाय की समरमता का सम्मिश्रित रूप होने के कारण ही गुरु को मिथुनाकार कहा गया है । प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही निर्वाण है । गुरु ही इसका प्रदान है । वह आनन्द या रति के प्रभाव में गिण्य के हृदय में महासुख का विस्तार करने वाला है ।^३ सच्चा गुरु हृदयाघात को दूर कर प्रज्ञा और आनन्द का उल्लास करता है । सत्तो ने भी जान ली दुःखिन और साधक रूपी घर के विवाह में गुरु की मध्यस्थता माना है ।^४

तथाभाव एवं समता ज्ञान

ज्ञानसिद्धि में वज्रयान की उपासना वज्रयान मत की महत्ता गुरु महत्त्व गुरु पूजा प्रनोपाय का समयोग महामुक्ता माधना आदि दार्शनिक एवं साधनात्मक विषयों की सीमासा की गई है । जिन जिन कर्मों से सत्कार के प्राणी गलकोटि बल्को तन घोर नरक में पड़ते हैं उन उन कर्मों के ही सम्पादन द्वारा योगी बन्धन विमुक्त होते हैं ।^५ वज्रयान में अभिप्रेत होने वाला साधक अपने में तथा सभी प्राणियों में भी तथाभाव को पाता है और यही एक स्थभावत्व की सम्बोधि समताज्ञान है ।^६

।

पारमिता-साधन और ब्राह्मसुख

वज्रयान साधना के क्षेत्र में पारमिता साधन को विशेष महत्त्व दिया गया है । इस दृष्टि से अद्वयनक्षसंग्रह उल्लेखनीय है । पारमिता साधन में प्रज्ञापारमिता पञ्चपारमिताओं

१. गौडपदशत द्वा साधिका बुद्धिजम्—दामगु त, पृ. १७५ १७ ।

२. अन्वयवत्त (प्रेमवचक)—द्रष्टव्य ।

३. सद्गुरु शिष्ये रति स्वभावेन महासुखं तनाति ।

—वही ।

४. स तनं निया विवाहं दुर्गा नी ज्ञान की ।

सत्गुरु निया कराव ने की अवमन की ॥

—यल्लू साधव की वानी पृ. १५ ।

५. कमदा येन वै सत्त्वा कलकोटिशतावपि ।

पाप ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते ॥१५॥

—ज्ञानसिद्धि—द्रष्टव्य वज्रयान वक्त्र में सम्पादित की विनयनोष भगवाय पृ. ३२ ३३

श्लो. १२ १८ ।

६. सर्वं तथागत ज्ञानमात्मन प्राणिनामपि ।

एकस्वभाव सम्बोधी समतश्च नमुच्यते ॥५॥

—वही पृ. ३४ ३६ श्लो. ३८, ३९ ४२ ४७ ४८ ५० ।

के स्वभाव के रूप में स्थापित है। प्रज्ञापारमिता से ही पञ्चपारमिताएँ पूर्णता के पद की प्राप्ति करती हैं। प्रज्ञा और उपाय का अद्वय, प्रतीप और प्रकाश के समान दोनों के तात्कालिक-सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना ही साधक का लक्ष्य होता है। पञ्चपारमिताओं के साथ प्रज्ञापारमिता सदा सेवनीय है। 'असे सुख स्वस्थता और सम्पन्नता की उपलब्धि होती है।' तत्त्व रत्नावली में योगाचार और माध्यमिका के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए 'शून्यता और करुणा की संपूर्णता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शक्ति ही शून्यता है और शिव ही ज्ञानमायता या करुणा है। तब के अतगत शिव शक्ति के सम्मेलन से अद्वय रूप परमसुख की उत्पत्ति मानी गई है। किन्तु यहाँ न केवल शिव है और न केवल शक्ति। इसी विनिर्गुण भाव-रूप को ब्राह्मसुख की सत्ता दो गई है। आनन्द ब्रह्म रूप है। उसी को मोक्ष कहा गया है। अतः समस्त दुःख-जगत को ब्रह्म रूप मानना चाहिए।'^१

बोधिचित्त

बोधिचित्त बौद्ध-साधना पद्धति का आधार है। महायानी, वज्रयानी तथा सिद्ध साधना-पद्धति ने भी चित्त को साधना का केन्द्र बिन्दु माना है। मनुष्य के उत्थान और पतन के तीन बिन्दु इस शरीर में ही विद्यमान हैं जिन्हें उपासना के क्षेत्र में मन, वचन और कर्म तथा बौद्ध साधना के क्षेत्र में वाया वाक और चित्त कहा गया है। इन तीनों के वज्र-स्वभाव की प्राप्ति ही वज्रयान साधना का परम लक्ष्य है। इसीसे शून्यता की प्राप्ति हो सकती है। चित्त ही परम तत्त्व है जिससे योग और भोग भुक्ति और भुक्ति, निर्वाण और संसार ज्ञान की सिद्धि हो सकती है। चित्त की स्थिरता के लिए सहज-सम्बोधि का जागृत होना परमावश्यक है। जब चित्त नरात्म्य ज्ञान के प्रति जाग्रत होकर करुणा या उपाय में समुक्त होता है तब यह कमल वन में विहार करने वाले गजेन्द्र के समान हो जाता है। प्रज्ञापारमिता-साधना में प्रवृत्त होने के पहले यह स्थान रूप है और प्रवृत्त हो जाने पर वज्र रूप हो जाता है। प्रज्ञापारमिता के युगमद सम्पन्न करने पर हम सहजचित्त कहते हैं। साधारिकता से मुक्त चित्त को करुणा से सम्पन्न कर साधना मार्ग में आगे बढ़ाने की पद्धति को बोधिचित्त समुत्पत्ति कहा गया है। चित्तवर्तिया का समूह उच्छेद होना पर प्रज्ञा या शून्य की गीतल रजनी का उदय ही 'प्रज्ञापारमितापद-ज्ञान' का समय है। इस स्थिति में बोधिचित्त नवचन्द्र के रूप में विहार करता है। सिद्धों ने इसके लिए चित्त-विशोधन चित्त-भारण या चित्त-हृन्त शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसीको अमनस्क-साधना^२ भी कहा गया है।

दार्शनिक दृष्टि में मनुष्य का चित्त चेतना का प्रतिफल परिवर्तनशील प्रवाह है। हर एक क्षण आगे आने वाले क्षण का उत्पत्तिक है। इस प्रकार यह चेतना का प्रवाह अविच्छिन्न

१ अद्वयसमग्र ॥ ५ हरप्रमाण शास्त्री पृ० २२।

२ शक्तिभगवत् सञ्जीवार् शक्त्यावेतावमानिकम्।

यत्तुम्बु ब्रह्म तत्त्वस्य तत्तुम्बु ब्रह्ममुच्यते॥

दुःखानामागमो नास्ति सुखं तत्र निरंतरम्।

आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेति भण्यते॥

अनन्त और अनादि है। बुगल बर्मा के सम्पादन से यह ऊर्ध्वमुख होकर अंतिम भूमि घम मया म पहुच कर पूणज्ञान की उपरति ध करता है तथा अमुगल बर्मा द्वारा स्मृति वासनानि से अमुद होकर द्वाग्ग निगना के प्रपच म पडकर अधोगति की प्राप्त होता है। पूणज्ञान अर्थात् बोधि की प्राप्त करने वाग्ग चित्त गूयता और वरणा का अभिन रूप है।^१ साधक के व्यक्तिगत बोधचित्त की ही वक्ष्यस्त्व कहा गया है। बोधचित्त नित्य प्रमास्वर गुद जिनालय सबधममय निव्य एव निखिलास्पन् कारण है।^२ बोधचित्त की विवत्तावस्था की अनुत्तरावस्था भी कहने हैं। अनुत्तर का शास्त्रिक अर्थ है भवध्रुव, अर्थात् जिसके वाग्ग कुछ न हो। बौद्ध मिद्धो ने इस गूयता और वरणा प्रज्ञा और उपाय के एकात्म भान के अर्थ म ग्रहण किया है। इस बुद्ध ज्ञान या तत्त्वज्ञान भी कहा गया है। अनुत्तर उच्च स्तर की साधना है जिसे सहज स्वभाव या ब्रह्मात्मक स्वभाव की पूणरूपेण आत्मसात् कर लेने वाल साधक ही सम्पादित कर सकते हैं।

बोधचित्ताभिपेक

बोधचित्ताभिपेक के अंतर्गत निव्य द्वारा ब्रह्माचार्य को सन्तुष्ट करने, नवयोवना सुनयना आभूषणा से सुगोमित मुद्रा की पूजा करने गुरु से दीक्षित होने तदुपरान्त बुद्धकुल मे सम्मिलित होने का विधान है। गुरुवरण के वाग्ग निव्य प्रज्ञा की ग्रहण कर सप्ताभिपेक की क्रिया म प्रवृत्त होता है। उदकाभिपेक मुकुटाभिपेक पट्टाभिपेक वक्ष्यपट्टाभिपेक वक्ष्य प्रताभिपेक और अनुशाभिपेक के सम्पन्न हो जाने के बाद शिष्य तथा मुन्य दोनों मल म प्रवेग करते हैं।^३ इसके लिए साधक का निर्विकार निराकांक्षी तथा कल्पनामुक्त होना परमावश्यक है। उसे आकांग सद्ग अपनी भावना करनी चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति सम्भव है।

प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि के पाचवें परिच्छेद मे तत्त्वचया समपाचार सभी क्षिप्यो की प्रज्ञापारमिता के भिन्न रूप मानने मुक्ति के अभिलाषी साधको के लिए प्रज्ञापारमिता का सेवन करने सामाजिक सम्बन्धो एवं मर्यादाओ की अवमानना करने आदि अततिक्र बर्मा के उपदेग दिय गये हैं। किन्तु इसके साथ साथ इस तरह की साधना म चित्त रतन की क्षुब्ध नहीं होने देने के आदेग भी दिये गये हैं। चित्तानकूल योग साधना करने से ही साधक को परमपद्म की सिद्धि होती है।^४

१ श. यत्। कल्याभिन्न बोधिचित्तमिति स्मृतम् । —ज्ञानसिद्धि ॥ वज्रवान वक्ता ॥ ७८ ।

२ नि य प्रमास्वर गुद बोधचित्त जिनालयम् ।
सबधममय निव्य निखिलास्पन्कारणम् ॥ ३६ ॥

—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि (ट्ट वज्रवान वक्ता) पृ० १ श्लो २६ ।

३ बौद्ध धम्मशान म० म प मो कविराज आचार्य जरेन्द्र की भूमिका

पृ ३८ ३७ दृष्टव्य ।

४ तथा तथा प्रवर्तेन यथा न क्षुब्धने मन ।
तदुभ्ये चित्तरत्ने तु मिद्धिर्नैव कलाचन ॥४॥
तस्मात् सिद्धि परामिद्गन् साधको विगताग्रह ।
चित्तानकूल योगन साधयेत् परम पद्मम् ॥४१॥

—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि ।

अधिकारभेदवाद

बौद्ध सिद्धाचार्यों ने मुग्धा मयुनपरक प्रज्ञोपाय युगनद्ध की साधना का गुह्यसाधना कहा है। इसमें भीतर स्वास निरोध कर तथा बाहर मुग्धा वं साथ समागम द्वारा चित्त का विमोघन करने का विधान है। विभिन्न काल में विभिन्न मुद्राओं से युगनद्ध स्थापित करके बिन्दु को ऊर्ध्वमुखी कर विभिन्न चक्रों में धारण किया जाता है। 'जानसिद्धि' में गुह्य साधना पर और देते हुए कहा गया है कि वज्रसाधना से सम्बन्धित इस पुस्तक को किसी अनधिकारी व्यक्ति को नहीं दिखलाना चाहिए। वज्रज्ञान के प्रतिक्षेप से साधक नरक का भागी होता है।^१ साधना के अनेक भाग हैं जिनका अनुसरण साधक अपनी अपनी क्षमता के अनुसार करते हैं। अतः जिस साधना में सिद्धि की चर्चा हो, अनेक अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हो, जिनके सुप्रयोग तथा कुप्रयोग से मानव जाति का हित-अहित उत्थान पतन सुख दुःख गति-अगति का निणय होता हो, उनमें भली भाँति परीक्षित व्यक्ति को ही सीमित होने का अवसर देना चाहिए। इसीलिए वज्रपान के ग्रन्थों में गुह्य की योग्यता, निष्पत्ति की प्राप्ति की सीमा की कठोरता, साधन विधि की योग्यता का विधान मिलता है।^२ गुह्य साधना का आधार अधिकारभेदवाद है। अधिकारभेदवाद की स्वीकृति और साधना को एकाग्रता में करने के कारण ही इसे गुह्य साधना की सभा दी गयी है।

पञ्चबुद्ध और उनकी भाषाएँ

महायान सम्प्रदाय में चरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोम्य ये पाँच ध्यानी बुद्ध माने गये हैं। तान्त्रिक साधना में पञ्चध्यानी बुद्ध की मोहरति ईर्ष्यारति, रागरति वञ्जरति और द्वपरति—ये पञ्च भाषाएँ या शक्तियाँ कल्पित हुई हैं। इन्हीं पञ्च रतियों से मोह ईर्ष्या, राग वञ्ज और द्वेष—इन पाँच कुला की उत्पत्ति हुई। इन पञ्च शक्तियों को वज्रपातेश्वरी, लोचना मामकी, पाण्डरा और आयत्तारा भी कहा गया है। वज्रपाती देव शृङ्खला की उदभासना इन्हीं ध्यानी बुद्धों और भाषाओं के आधार पर हुई है। श्रीमम्पुट में भगवान् बुद्ध की चार चक्रों में अपनी चार कायाओं में प्रमत्त लोचना मामकी पाण्डरा और तारा से सम्भोग करते हुए बतलाया गया है। चरोचन बुद्ध सिंह विधत् सिंहासनाख्य दशवर्ण महागुण्य में भगवती जननी वं आश्रय आवद्ध में बतलाए गए हैं। वज्रसत्त्व अक्षोम्य, नीलवर्ण भगवती जननी लोचना वं साथ एकात्म भाव से रत हैं। रत्नसम्भव पीतवर्ण स्वर्णपाति अक्ष विधत् सिंहासनाख्य समस्वरूप भगवती जननी के निविड आश्रय में निमग्न हैं। अमिताभ अस्तोम्य गुण की तरह रत्नवर्ण मयूर सिंहासनाख्य हाथ में सज्जित ध्यान का अथ विवर्जित कमल लिये, ध्यान मुग्धा में आसीन भगवती दशनाम्बरा पाण्डुर धामिनी के आश्रित में आवर्जित हैं। अदभ्य से जो सब आध्यात्मिक शक्तियाँ मानव को ज्ञान के पथ पर मोक्ष की निर्मातृ शक्ति की ओर ले चली हैं उन्हीं का समन्वित रूप

१ दशान पुरनरस्य पि न दातव्य प्रज्ञानता ।

वज्रज्ञान प्रतिज्ञेयान् नरकं याति मोहिता ॥३॥

—जानसिद्धि—द्व वज्रपान वक्ते स० वि तो म०, पृ १०, ११०० ३ ।

२ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य ना० मा० उपाध्याय पृ० १३० १३१ ।

अमोघ सिद्धि है। ये आकाश की गम्भीर नीलिमा के साथ मिश्र एक अदृश्य मूर्प के पीतवर्ण से उद्भूत उज्ज्वल द्यामन्ता के धन के समान हैं। पद्म और नग्न सवलित ऊर्ध्वांग में मानव मानवी और निम्नांग में विहग रूप जीव विपुल सिंहासन पर के आसीन हैं। हाथ में विश्व-वज्र है। वे सर्वांग साधिका सर्व सिद्धि प्रापिका भगवती तारा के निविड आग्नि में देखित हैं। प्रज्ञा की प्रकाशपिण्डी जगमाना के विभिन्न रूपों में जननी तारा सर्वाधिक उल्लसनीय हैं। वे प्रेम और भक्ति के सर्वोच्च आसन पर अधिष्ठित हैं।

मुद्रा साधना

बुद्ध भगवान् ने मुद्रा मडल और तान्त्रिक साधना का कही उपदेश नहीं दिया है। तन्त्राचार के प्रभाव के कारण परवर्ती बौद्ध ने अपने साधना मार्ग में इन तान्त्रिक आचारों को समाविष्ट कर लिया। बौद्ध तन्त्रों में मुद्रा की मोददायिका नारी के रूप में कल्पित कर साधना का अनिदाय अंग माना गया। हेव्यतन्त्र में वज्र या प्रज्ञा के आह्वान के लिए योगियों की अंगुलि भंगिमाओं को मुद्रा कहा गया है। करम्पोटो भवे मुद्रा अगुल्या मोटन तथा द्वारा स्पष्ट संकेत दिया गया है कि मुद्रा कोई नारी रूप नहीं है। मण्डल चक्र तथा मुद्रा मधुन की साधना पद्धति में स्त्रियों का उपभोग एक अत्यावश्यक आनुष्ठानिक क्रिया के रूप में स्वीकृत हुआ। सिद्धी ने भगवती नरात्मा या प्रज्ञा पारमिता को महामुद्रा कहा है और उस प्रत्येक नारी में मानकर मोक्ष या निर्वाण का साधन बतलाया है। इसकी साधना बड़ी कठिन बतलाई गई है। महामुद्रा साधना को सम्पन्न कर लेने के उपरान्त ही कोई साधक सिद्धासाय बन सकता था। साधक को अपने योग्य किसी योगिनी को महामुद्रा के रूप में वरण कर अपने गुरु के पास जाना पड़ता था। वहाँ महामुद्रा रूपा नारी को अभिसिक्त कर साधक उसके साथ मङ्गल चक्र में प्रवृत्त होता था। बौद्ध तान्त्रिकों के मतानुसार नारी महामुद्रा के गरीर में पञ्च तथागतों की अवस्थिति मानी जाती थी। अतएव महामुद्रा की साधना में निष्णात साधक को तथागत चक्री भी कहते थे। इस प्रकार के साधकों के लिए साधनापरक बाह्य क्रिया कलाप की कोई जरूरत नहीं समझी जाती थी।

पञ्चमुद्राएँ

पञ्चयानी बुद्धों के पाँच कुल माने गए हैं। इही पञ्चकुला से डोम्बी नदी रजकी ब्राह्मणी और चाण्डाली—ये पञ्चमुद्राएँ सम्मिश्रित हैं जिन्हें क्रमशः वज्र पञ्च कम तथागत एवं रत्नकुल-सभूता कहा गया है। ये मुद्राएँ मोक्षदायिनी हैं। इन्हें मुद्रा इसलिए कहा गया है कि ये वज्र की रहस्य प्राप्ति हैं। पञ्चस्व-ध-स्वरूपा होने के कारण इनके पांच कुल हैं। इन्हें बुद्ध इसलिए कहा गया है कि ये काया उत्पन्न करने वाली हैं।^१ महामुद्रा को कई वर्गों में

१ प्रज्ञोपायविनिरचयसिद्धि भगवत् ॥२२॥

२ सु । पञ्च कुलानीति कथ्यते मोक्ष हेतूना ।

वज्रमुद्रयते-नेनेति मुद्रा तेनाभिधीयते ॥

वज्र पद्म तथा वज्र तथागत रत्नमेव च ।

कुलानि पञ्चविधाद्वरणाभ्यानि मन्त्रादृष ॥

बाटा गया है। सिद्धों ने तो महामुद्रा का लेकर नायिका भेज की भी उद्भावना की है। किन्तु उसका आधार हठयोग तथा मुद्रा-भणन सम्बन्धी गुह्य सवेत ही है। अथ मुद्राओं में स डोम्बी में अद्वैत भाव की प्रधानता मानी गयी है। अद्वैत ज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण इसे नरात्म प्रज्ञा भी कहते हैं। डोम्बी को प्राण तथा अपान वायु के निरोध से सबद्ध वायु-तत्त्व में भी सम्बन्धित कहा गया है। डोम्बी परिशुद्धावली नायिका है और कापालिक ही इसका नामक है।

वज्रयाग में पवन निरोध के बाद अवधूती माग में चण्डाग्नि प्रज्वलित करने की क्रिया है। जब साधना में इसका ब्रह्माग्नि कहते हैं। यह चण्डाग्नि समस्त क्लेश और वासनाओं को जलाकर भस्म करने वाली है। नायक को यागिया तथा सातो ने भी इसके वर्णन किये हैं। चण्डाग्नि का प्रज्वलित करने के लिए नौ इन्द्रिय द्वारा की पवन-वध द्वारा बन्धन कर केवल हृदय द्वारा (ब्रह्मरूप अथवा वराचन) को खोला जाता है।

चण्डाग्नि की ग्रहण करने के कारण अवधूतिका (सुपुम्ना) को चाण्डाली कहते हैं। चाण्डाला सारे वेश का पार कर ललाट स्थित कमल चक्र तक जाकर आनन्द उत्पन्न करती है और फिर नानि चक्र में लौट आता है। इसी चाण्डाली को उनकी ऊर्ध्वगति में डोम्बी और उष्णीष कमल में पहुँच जान पर सहज-मुन्दरी कहते हैं। सिद्धों ने गहिणी के रूप में भी प्रजा महामुद्रा का वर्णन किया है। सिद्ध बाण्ड्या कहते हैं कि 'जमे लवण जल में घुल मिल जाता है उसी तरह अपनी गहिणी को अपने चित्त में धारण करना चाहिए।' मिट्ठा ने इसे बधू रूप में परिवर्तित कर परिणम कर-मात्रा बधू के प्रसाधन बधू की विन्दु आदि विषया का पर्याप्त वर्णन किया है। सिद्धों ने इसका अतिरिक्त इस प्रसंग में शुण्डिनी मातंगी, शवरी काम-चाण्डाली, पद्मिनी अवधूतिका, कमरिनी आदि विभिन्न नायिकाओं की उद्भावना कर

वज्र डोम्बि भवेत् मुद्रा पद्म नदी तथैव च ।

कर्मै रजकी समासनात् माक्षणी च तथामता ॥

रत्न चण्डाली ह्यतः (१) पञ्चमुद्रा विनिश्चिता ।

कुलानां पञ्चभूतानां पञ्चरक्त-व रत्नरूपिणा ।

कुक्षये गम्यन्तेऽनेनेति कुलमिषमभिधीयते ॥

—देवजगत्तत्त्वपरत पञ्चम अध्याय ।

(The mudras are of five classes and they will be now described for the cause of emancipation (Moksha) They are called Mudra because they are the secret of the Vajra Vajra Padma Karma Tathagata and Ratna these are the five classes (of mudra) Vajra is nu mi (Dombi)-Mudra, Padma is the dancing girl (nati), mudra Karma is the mistress of dying (rajki) mudra, Tathagata is the pure woman (Brahmi) and Ratna is the chen na li (i.e. Chandali) mudra The five classes of mudra are thus determined They are of five classes as they form the very nature of the five skandhas (?) They are called classes (kula) because the bodies (kaya) are produced from them)

—Chinese Translation of Hevajratantra Tokio Ed

XXVII B, p 686

अपनी भावात्मक साधना के त्रिस्मयकारी बणन किये हैं। धुण्डनी वह नायिका है जो ललना और रसाता दो पद्मों में संवित्सि त्रित के वस्त्र चूष से शुकुन नाडी की नगी द्वारा मन्त्रित राखी है। उक्त मन्त्रित्य के कई द्वार हैं जिनमें से दाम (वराचन) द्वार से बाधितचित्त रसा ग्राह्य सदगुरु द्वारा त्रित गए चिह्न त्रितगवर प्रवेश पाते हैं और गण्डनी काली या परिणदावनी के हाथ। अमिय रस या सहज रस रसो वाचना का पान कर सत्तुष्ट हो जाते हैं। हठयोगपरम अथ लेखर सिद्धा और सन्ना ने प्रायः धुण्डनी या धुण्डना या काली का रूप वर्णित है। कबीरन सहज शक्ति को काली ब्रह्मरूप को भटनी जान को महुआ तथा मन्त्र मन्त्री को ग्राहक का रूप देकर अमर-वाणी के पान का वडा ही भावपूर्ण वर्णन किया है।^१ मातंगी नामक नायिका गंगा और यमुना के बीच से नाव खरर के जाती है और अपनी नाव पर बठाकर सभी यात्रियों को एक एक कर पार उतारती है। सिद्धा ने मुग्धा मध्या तथा प्रीति के रूप में भी अपनी नायिकाओं का चित्रण किया है। गवरण द्वारा वर्णित गवरी मुग्धा नायिका है जो ससार से दूर उत्तुंग गिरि गिर पर रहती है तथा मोर-पत्ता से अपने को सजाकर अरोध प्रवृत्ति की अलहड बालिका की तरह खप्पाए करती है।^२ कुक्करीपा द्वारा वर्णित वधू रूप में मध्या नायिका की प्रगल्भता तथा प्रीति प्रवृत्ति का परिचय मिलता है जो रति प्रिया प्रौढ नायिका के समान नायक को पूण रूप से सत्तुष्टि एवं आनन्द प्रदान करने में समर्थ है।^३ यह महामुद्रा की प्रीति प्रवृत्ति का संकेत है। कुण्ठापा इसीकी डोम्बी वधू तथा कामचाण्डाली कहते हैं। उन्होंने इसके साथ पावन परिणय समारोह का वर्णन किया है। पद्मिनी वह नायिका है जो मृणाल बनकर कमल रस को प्रवाहित करने वाली है। अधरात्रि में कमल खिलता है अतीस योगिनियाँ उसके दलों पर नृत्य करती हैं। यह पद्मिनी उहा की नायिका है। इस ही अवधूतिका तथा कमलिनी भी कहते हैं। बौद्धों की भाव साधना के अतगत बोधिविस्त और शून्यता की प्रणय केलि में विभिन्न रूपों का व्यक्त करने के लिए नायक तथा नायिका के रूप में तयागत और भगवती नरात्मा को माना गया अर्थात् तयागत की नायिका को नरात्म कहा जाता है। इसी विस्व-व्याप्त प्रणय केलि को साधक बोधिविस्त को नायक और नरात्म जान को नायिका मानकर अपने चित्त में आयोजित करता है।^४ सिद्धा के आध्यात्मिक परिणय से सम्बंधित भाव-भूतों को पकड़कर सत्तो ने भी आध्यात्मिक परिणय नव वधू, नव वधू के प्रसाधन, साज सिंगार बिनाई आदि के बड़ ही भावपूर्ण चित्रण किया है। बौद्ध तन्त्र ग्रंथों में मुद्राओं की आयु जाति रूप आदि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। सकोह्म-टीका में मण्डल चक्र साधना में दीक्षित करते समय मुग्धा की आयु बीस वर्ष निर्धारित की गई है। प्रज्ञोपाय विनिश्चयमिडि के अनुसार मुद्रा के आलिंगन से साधक में वज्यावेग जाग्रत होता है। परंतु यह चुम्बन आलिंगन समागमादि स्थिर अनासक्त और अधिकारी मन से ही करणीय है। शुकुन आसक्त और विषयी मन से मुग्धा सवन करने पर ये सारी क्रियाएँ भव-माया का कारण हो जाती हैं। मण्डल चक्र साधनाओं में

१ सप्त करीर परिशिष्ट—बों रामकुमार वमा ।

२ चयापन सारणा ।

३ चयापन कुक्करीपा ।

४ दिग्गी सान्त्रिय-कोश, पृ. ३८८ ।

उपयुक्त मुद्राओं के चुनाव का उत्तरदायित्व गुरु का ही माना गया है ।

ज्ञानसिद्धि में मुद्राओं के महत्त्व को बतलाते हुए कहा गया है कि 'क'या चाहे चाण्डाल या ब्राह्मण या जुगुप्सित कुल की हो सिद्धि के लिए उसका उपयोग करना चाहिए । स्त्री चाहे परम सुंदरी हो या कुरूपा, उसका तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिए । सभी कुलों में उत्पन्न स्त्रियाँ पूजनीया एवं वज्रधारिणी हैं परंतु उनके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे चित्त क्षुब्ध या दूषित न हो । यही सुगोभन कर्म है । नाना भुजाओं वाले देवता की भावना करने से त्रतोपवास से सिद्धि नहीं मिलती ।'^१ इष्टदेव के आवाहन एवं अद्रव्यावस्था की प्राप्ति के लिए योगिनी, मुद्रा, कुमारी या प्रजा का सहयोग एवं सेवन परमावश्यक है । मुद्रा साधना को प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त करने के लिए योगी और योगिनी के लिए क्रमशः 'वज्र' और 'पद्म' जैसे प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं । प्रजा या 'सूयता' की सर्वोप दशा का दशा का लाभ महामुद्रा है । प्राचीनतम बौद्ध तंत्रों में इस महामुद्रा को ही शाश्वत नारी भगवती जननी प्रज्ञापारमिता के रूप में चित्रित किया गया है । वह माया के बंधन से मुक्त शरद ऋतु के मध्याह्न की किरण के समान उज्ज्वल तथा सम्पूर्ण सफलताओं की विधामिका है । वह महामुद्रा ससार और निर्वाण दोनों को एवात्म के बंधन-सूत्र में बाँधे हुए है । वह करुणा धन-तनधारी किसी रूप विनाय से सबधा उन्मुक्त महामुल का ही रूप है ।

शिव और शक्ति के मिलन से ही विश्व की सृष्टि हुई है—हिंदू तंत्रों का यही मत है । किंतु बौद्ध तंत्रों में सृष्टि को माना ही नहीं गया है । वहाँ ऊर्ध्व में परम 'सूयता' की उपलब्धि का लाभ करना सर्वोच्च सिद्धि मानी गई है । सूयता के प्रति सचेतन होना ही श्रेष्ठ ज्ञान है प्रज्ञा है । प्रज्ञा सर्वव्यापी वही नारी रूप है जिससे सब-कुछ उत्पन्न हुए हैं और जिसमें सब पयवसित हो जाते हैं । यह निष्क्रिय प्रज्ञा जब सक्रिय पुरुष रूप विद्वत् प्रेम और करुणा (उपाय) के साथ परम ज्ञान की उपलब्धि के लिए युक्त होती है तभी पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति होती है । अनुभूति विहीन मुक्ति और करुणा विहीन मन से ही नेतिवाद का जन्म होता

- १ सर्वांगकुसितायां का न कुपान्वमाननाम् ।
 शिवम सबकुलोत्पन्नां पूजयेद् वज्रधारिणीम् ॥८०॥
 त्रतोपवासनिषिद्धैश्चैव तां भावयेत् ।
 नानाभुजसमायुक्ते मिद्वयने यदि साधयेत् ॥८१॥

—ज्ञानसिद्धि—द्व. वज्रधान वचसं, स० वि० तो० अ०,
 पृ० ३६ ४०, २लो० ८०, ८३ ८६ ।

प्रज्ञापारमिता सेवया सबधा मुक्तिर्कांक्षिभिः ।
 परमार्थे स्थिता शुद्धा सशुद्धा तनुधारिणी ॥२२॥
 ललनारूपमारुधाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ।
 अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता ब्राह्मणसंभवा ॥२३॥
 ब्राह्मणाणि कुलोत्पन्ना मुद्रा वै वात्स्याजीविका ।
 दुःशीला पर रत्नो च विकृता विकृता तथा ॥२४॥
 अनदित्री स्वसार च स्वपुत्री भागिनीधिका ।
 कामयन् तद्वयोगेन लघुसिद्धिं दि साधक ॥२५॥

—प्रज्ञोपाय विनिरवधमिद्धि ।

है। इसीसे सवीणता और आप्यात्मिक मृत्यु आता है। दूसरी ओर युक्ति विहीन अनभूति ज्ञान विहीन अथ प्रम विचार विहीन करुणा से विभुत्ति और विभुत्व आती है। पूण बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए मन और हृदय प्रम और ज्ञान का समन्वय आवश्यक है। मस्तिष्क और हृदय ज्ञान और प्रम का यही समन्वय सत्त्व गति रूपिणी मुद्रा और गिव रूपी साधक के मिथुनाकार रूप में सम्पादित होकर अभिनव मधुर रस की अभियोजना करने वाला है। वज्रयान दशन में नारी (गति) और पुरुष (शिव) को एक प्रकार की सांकेतिक भाषा में रूपक की तरह व्यवहार कर साधना का एक नया संकेत दिया गया है। वस्तुतः इन साधकों ने पुरुष और नारी विषयक रूपों के सहारे सूक्ष्म ज्ञानलोक की उपलब्धियों का वर्णन किया है। उनकी ये उपलब्धियाँ विद्वत्तातीत निराकार ज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। इन साधकों ने नारी बोधिसत्त्वों की कथा द्वारा प्रजापारमिता या चण्डो का रूपान्तरण किया है। अतः ये सारे वर्णन परोक्षतः सूक्ष्मलोक की उपलब्धियाँ हैं। इन सूक्ष्म उपलब्धियों को उन्होंने स्थूल जगत की कल्पना ग्राह्य व्यावहारिक उपमाओं द्वारा मूर्त रूप दिया है। नारी रूप या पुरुष रूप इन साधकों के लिए गणित के समान ही सूक्ष्म है। वज्रयानी साधकों के युगनद्ध की कल्पना का यहाँ वास्तविक अर्थ है। युगनद्ध द्वारा साधक को ध्यान के सुदूरतम प्रवेश निवासी ज्ञानलोक का तात्पर्य अत्यन्त गम्भीर स्तर का महा प्रवेश मिलता है।

चार मुद्रा, चार क्षण और चार आनन्द

वज्रयानी सिद्धा ने चार मुद्राओं चार क्षणों और चार आनन्दों की बार बार चर्चा की है। उनके अनुसार चार क्षण हैं—विचित्र विपाक विभद और विलक्षण। इन्हीं चार क्षणों के क्रम में चार आनन्द हैं—प्रथमानन्द परमानन्द विरमानन्द तथा सहजानन्द। प्रथमानन्द की अनुभूति आलिंगन चुम्बनादि के समान है। परमानन्द ज्ञान-मुख की दशा है। विरमानन्द समागम मुख के समान है और सहजानन्द महामुख की अनुभूति है तथा समस्त राग विरागों से परे है। मुद्रा के चार भेद हैं—कममुद्रा धममुद्रा महामुद्रा और समयमुद्रा। उपयुक्त चतुर्विध आनन्द क्रम में इन मुद्राओं से ही प्राप्त होते हैं। कममुद्रा योगिक क्रिया प्रधान धम मुद्रा निर्विकल्प करुणा स्वभावा परमानन्द सुदरी उपास्य स्वरूपा महामुद्रा ऊर्ध्वोमुख बोधिचित्त द्वारा प्राप्त अनुत्तरज्ञान-दशा एवं समयमुद्रा सबसे अष्ट महाभाव दशा बही गयी है। इस प्रकार तांत्रिक बौद्ध सिद्ध साहित्य में साधकों और मुद्राओं के माधुसूयण रागात्मक सम्बन्ध के सदैव में मधुर रस की मनोरम छाँकी प्रस्तुत की गई है।

चतुर्काय सिद्धांत

वज्रयानी साधकों ने महायानियों के त्रिकाय सिद्धांत को विकसित कर आनन्दकाय या मुखकाय या महामुखकाय नामक चौथे काय की उदभावना की तथा इसी काय को वज्र सत्त्व का वास्तविक काय अर्थात् वज्रकाय माना। इसी चतुस्र काय से तथागत या भगवान् गति या भगवती या तारा से सपरिध्वक्त होकर सदैव विहार करते रहते हैं। जिसका चित्त शुद्ध है उसके लिए भद्रयामदय या करणीय-अकरणीय नाम की कोई बात नहीं है। वह ससार

न सभी पदार्थों का उपभाग उन्मुक्त भाव से कर सकता है।^१ किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सीमा का अतिक्रमण किया जाए। प्रत्येक स्थिति में चित्त को सदैव अविवर्तित रहना चाहिए।

महासुख

निर्वाण या महासुख की प्राप्ति के लिए प्रज्ञोपाय का सामरस्य आवश्यक है। जब तक द्वन्द्व का मिलन नहीं होता तब तक अद्वय नूयावस्था तथा परमानन्द की उपलब्धि असम्भव है। दो को एक किए बिना मृष्टि सहार से परे निरञ्जन पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव घुरे बमों के त्याग तथा हठात इन्द्रिय निरोध से ही निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं हो सकती है। युगलावस्था की प्राप्ति के बिना विषय त्याग तथा बराग्य निष्फल है। इसके लिए साधना का एक ही सहज-भाग—राग भाग है। इस राग रूपी राज भाग पर आरुढ़ होने के लिए कठिन तपश्चर्या आदि कठोर नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है। श्री समाजतन्त्र के अनुसार दुष्कर नियमों के करने में सारोरे केवल दुःख पाकर मूलता है चित्त दुःख के समुद्र में डूब जाता है। जब इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती।^२ अतएव साधक पंच नामों का परित्याग कर तप द्वारा आत्मपीडन न करे। वह योग तन्त्रानुसार सुखपूर्वक बोधि प्राप्ति की साधना करे।^३

व्ययमान के सिद्धांतानुसार दह रूपी वृक्ष के चित्त रूपी अक्षुर को विद्युद विषय रस के द्वारा सिकन करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और उसमें आकाश के समान निरञ्जन फल फलता है। तभी महासुख की प्राप्ति होती है।^४

महाराग

व्ययमानी साधना पद्धति में तरुणी महामुद्रा के प्रति साधक की अन्यासक्ति को महाराग कहा गया है। यह चित्त-सम्बोधि का लक्षण है। महामुद्रा के बिना बोधि का मिलना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार तरुणी महामुद्रा के प्रति साधक का अन्यास स्नेह होना है उसी प्रकार भगवती प्रज्ञा भी महामुद्रा के रूप में साधक से अटूट प्रेम करती है। नायक तथा नायिका के रूप में उपाय तथा प्रणय मन तथा वाक्य बोधिचित्त और नरात्मा अथवा साधक और महामुद्रा इस महाराग रूपी स्थाया भाव के आश्रय हैं। भौतिक राग विराग से परे होकर इस महाराग के स्वरूप की जानना ही योग का हेतु है। नूयता और वरुणा के अद्वय से ही

१ जनक शशिवादि रसज्ञ सोमायनी श्लोक बंगाल १८९८ भा० १ पा० २, १ १७१ १८४।

२ तुष्करैर्निधमंलीलैः, मूर्ति शुष्पनि दुःखिना।

दुःखं चो विष्यते विषय, विषेणान् मिदिरयथा ॥ —श्री समाजतन्त्र।

३ पञ्चकामान् परित्यज्य तपोमित्रं च पीडयेत्।

मुनेन साधयेत् बोधि योगतन्त्रानुसारतः ॥ —वही।

४ तनुमन्विष्टां करको विषयमर्थैः न विष्यते शुद्धैः।

गगनव्यापी फलान् च पनम्य कथं लभते ॥

—‘चयाचयविनिर्गममिद्धि के सुखात् इत प्रथम पाद की टीका में उद्धृत सरस्वती का वचन।

बोधित की स्थिति आती है। कण्ठा ही राग है जो गुन्या म मिलने के लिए तय्यर है। करुणा या कृपा प्राणिया को दुःख में मुक्त कर उसे अनुरजित करने वाली है। राग से ही मनुष्य बंधनग्रस्त होता है और राग से ही बंधन विनिर्मुक्त होता है।^१ तात्पर्य यह कि राग या महाराग या मुरा जैसे वाद्य वा प्रयाग प्राणिया के उद्धार प्रयत्न तथा सधन आनन्द के लिए किया गया है जो प्रज्ञा और उपाय के व्यवस्थित और सुसंगत सम्मिलन से उत्पन्न होता है।^२ इस राग को वज्रराग भी माना गया है। महामुग्धा के प्रति आसक्त हो जाने से यही वज्रराग महाराग हो जाता है और वह साधक को भव बंधन से मुक्त कर देता है। भौतिकता की दृष्टि से ग्रहण किये जाने पर यह भव पाप में जकड़ने वाला है तथा महामुग्धा के प्रति आसक्त होने पर भोग प्रदायक बन जाता है।

पञ्चमकार

वज्रयान साधना के अन्तर्गत गति या मुग्धा या प्रज्ञापारमिता को परमावश्यक तत्त्व मानकर मध्य मास मत्स्य मुद्रा और मयुग—इन पञ्चमकारों का सेवन मारण मोहन उच्चाटन वीकरण स्तम्भन विन्दन आकषण गतिक आदि षट्कर्मों एवं अम आभिचारिक कर्मों के सम्पन्न का आवश्यक बतलाया गया है। तांत्रिक बौद्ध-साधना में मङ्गल चक्र में साधक के दाक्षित करने तथा साधक और उसकी सहयोगिनी मुग्धा के अभिषेक-तत्त्व की अत्यधिक महत्ता के कारण भी पञ्चमकाराणि को पर्याप्त प्रयत्न दिया जाने लगा जिससे साधना के नाम पर अश्लीलता एवं विषय वासना का नग्न नतन होने लगा। वज्रयानी सिद्धा ने प्रवृत्त अर्थों में ही पञ्चमकार को ग्रहण किया। साधना के लिए सभी प्रकार के मानक पदार्थों का सेवन पर स्त्री गमन एवं हय मास हस्तिमास श्वान-मास यहाँ तक कि महामास का भक्षण विहित माना जाने लगा।^३

यहाँ यह ध्यातव्य है कि तत्र एवं आगम ग्रन्थों में प्रतीक के रूप में ही पञ्चमकार का विवेचन किया गया है। इसका सम्बन्ध वस्तुतः अन्तर्योग से माना गया है। सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र में स्थित चन्द्ररूप से प्रसवित होने वाला अमृतरस ही मेघ है।^४ जो साधक पान रूपी सङ्ग से पाप और पुण्य की बलि देता है वही मास का सेवन करने वाला है।^५ इडा और विंगला रूपी गंगा-यमुना में प्रवाहित होने वाले श्वास प्रश्वास ही मत्स्य हैं।^६

१ रागण बधने लोको रागखैव विमुच्यते । — हेवज्रतत्र ।

२ एत इति श्रुतिन तु तांत्रिक बुद्धिज, दासपुत्र पृ १३५ १३८ तथा तांत्रिक बौद्ध साधना आर साहित्य, न मा ३०, पृ १४६ द्रष्टव्य ।

३ गुह्यसमाजतत्र म वि तो म पृ २६ ।

४ योम पकज निरय द सुधाधान रतो नर ।

मधुपायी सम प्रोक्त इतरे मधुपायिन ॥ — कुलाख्यतत्र ।

५ पुण्यापुण्य पशु इत्याद्यानखडगन योगनिर् ।

परे लय नयेत् चित्त मांसाशी स निगमने ॥ — कुलाख्यतत्र ।

६ गगायमुनयोमध्ये मत्स्या द्वौ चरत संग ।

तौ मत्स्यौ मद्येत् यत्न स भवेत् मत्स्यसाधक ॥ — आगमसार ।

रसास प्रशवास का नियमन कर प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रवाहित करना ही मत्स्य-सवन^१ है। असत सग का त्याग कर सत्सग का सेवन करना ही 'मुग्धा' है।^२ सुषुम्ना और प्राण का सगम ही मैथुन है।^३ इनमें स्पष्ट हो जाता है कि यह पचमकार वस्तुतः अतयोंग की साधना है और इन शब्दों का प्रयोग प्रतीवात्मक है। किन्तु वाद में जसा प्राय हुआ करता है पचमकार को अनधिकारी यकियाया न म्यूल रूप में ग्रहण कर दिया और यह अपन आदश में व्युत्त होकर नष्ट भ्रष्ट हो गया तथा उच्छलता एवं विहृतिया का साधन बन गया।

युगनन्द का रहस्य बोलकवकोलयोग

प्रयोगाय के अद्वयत्व का आधार पर साधनामाला में अद्वत रस की उदभावन की गई है। साधनामाला^४ का अनुसार जिस प्रकार सिद्ध रस के सयोग से ताम्र अपने कलुष का परित्याग कर गुड स्वण बन जाता है उसी प्रकार मानव शरीर अद्वत रस के सयोग में सभी प्रकार के विकारा को छोड़कर विगुड हो जाता है।^५

बौद्ध धर्म में तात्त्विक भावना के प्रभाव के कारण शिव और शक्ति का सम्मिलन का समानान्तर 'युगनन्द' की उदभावन की गई। कालांतर में यह प्रवृत्ति बौद्ध सद्गजियों की सद्गन-साधना के मुख्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। वज्रपान-साधना में प्रज्ञा और हृदय को आल्मिनबद्ध समुक्ल या सपरिपक्व रूप की ही युगनन्द कहा गया है। वस्तुतः युगनन्द^६ इत का अद्वत में तिरोधान है जिस अद्वत की भी सज्ञा दी गई है।

'युगनन्द' वह स्थिति विशेष है जहाँ 'सन्त्येग' और 'व्यव्ययन' को अभिन्ना^७ द्वारा समार और निर्वाण की विभिन्न भावनाओं का संवसा निरसन हो जाता है परम निर्वृत्ति के कारण एकात्मा की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस का युगनन्द कहते हैं। यह प्राह्व और प्राह्व सान्त और अनन्त प्रज्ञा और उपाय पूर्यता और कथना पुरुष और नारी का पूणत सम्मिलन किंवा सामरस्य है। अतएव पुद्गल नरात्म्य और धर्म नरात्म्य प्रज्ञा और उपाय, पूर्यता और कथना, मवति और परमाथ को पूणत एक कर देने का नाम ही युगनन्द है। नाय बाब और वित्त की सधना के आश्रय में प्रवेग करना इस पर होता तथा पुन कल्प युक्त ससार की ओर अभिमुख न होना ही युगनन्द की अवस्था प्राप्त करना है।^८ 'अद्वयवज्र सग्रह' में पूर्यता को नारा और कथना को पुरुष मानकर दाता के अद्वय को युगनन्द^९ कहा गया है। यही धर्मकाया है। इसी सिद्धान्त का अनुगमन कर वज्रपानो देवतागण अपनी शक्तिप्राप्ति के साथ रति कीटा में सलग्न चित्रित हुए हैं। अथवान् वज्रपर अपनी शक्ति भगवती

१ सत्यमेव भवेत् मुक्तिरसत्यमेव न भवेत् ।

भरतसग मु ष यमु त'गुडा परिकीर्तिता ॥ —विजयनर ।

२ इहा दिगतयो प्राणान् सुषुम्नायां प्रवनेये ।

सुषुम्नाशक्तिरदिष्टा बीका वनतु पर शिव
समोऽस्तु सगमो ऽने सुरत नाम कीर्तितः ॥ —मेखन ।

३ साधनमाला स० वि० प्र० ४०, पृ० ८२ ।

४ तात्त्विक बौद्ध साधना और साहित्य, न० ना० ३०, पृ० १४३ ।

प्रज्ञा (नरात्मा, वज्रवाराही वज्रघातेश्वरी) व साथ द्वन्द्व वज्रवराचनी व साथ पञ्चप्यानी बुद्ध अपनी-अपनी भार्याओं के साथ अन्य स्थिति में पाए जाते हैं। वज्रघर देगा प्राप्त साधक अपनी सहयोगिनी मुद्रा के साथ मयूर साधना द्वारा युगनन्द सम्पन्न करता है। इसी को प्रज्ञोपाय-साधना भी कहते हैं।

बोधिचित्त को जाग्रत कर प्रज्ञा और उपाय के युगनन्द की साधना को सिद्धा न 'बोल' नक्कोलयोग की भी सज्ञा दी है। यह गुह्य तांत्रिक साधना थी जो कपूर के किसी प्रयोग से सम्बन्धित थी।^१ कपूर के रूप में सहज का मिद्धि का सन्तानात्मक उत्प्रेय निगोवा व दोहाकोण की टीका में लिया गया है। नक्कोल का सन्तानात्मक नमल या प्रज्ञा है। बाल', कुलिंग वज्र या उपाय को कहते हैं। नक्कोल' में बोल का प्रतीपण कर उसका कुच्छ योग करने से कपूररूपी सहज उत्पन्न होता है। दोहाकोण की टीका में कममुष्ठा में मयूर-बाल में इसका प्रयोग बतलाया गया है।^२ युगनन्द बुद्धत्व की वह अवस्था है जिसमें सभी द्रव्य सम्पन्न रूपों का अद्वय रूप में पयवसान हो जाता है। इस अभिव्यक्ति करने के लिए वज्रसत्त्व वज्रो पम अद्वय अनुत्पन्न आदि गान् प्रयक्त किये गए हैं। गवमन और गान्मनत व नामकला और कामेश्वर और कामेश्वरी व सामरस्य के सिद्धांत भी यही अन्यत्व की ओर इंगित करते हैं।^३

युगनन्द का प्रतीक स्त्रीत्व और पसत्त्व व पारस्परिक समन्वय या विलक्षण एक्य भाव का प्रतिपादक है। यह मनुष्य के वास्तविक जीवन में उठने वाली समस्याओं का मानसिक समाधान देने वाला है।^४ युगनन्द सासारिक पदार्थों की अनेकता में एकता का निर्देष्टक है। सभी पदार्थ अद्वय हैं। सिर्फ बाह्य रूप द्रव्यमूलक प्रतीक होते हैं। यही अद्वयत्व युगनन्द का रहस्य है।^५

'गुह्यसिद्धि' में महामुद्रा को ही भगवती नरात्मा का प्रतीक माना गया है। नरात्मा शून्यता को कहते हैं। बुद्ध भगवान् के रूप में भगवती नरात्मा के साथ रहते हैं। बोधिचित्त जाग्रत होकर उपाय के रूप में नरात्मा में एकमेक होकर शून्यता को प्राप्त होता है।

अनगवज्र की प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि में कहा गया है कि महामुद्रा की उपलब्धि के लिए समस्त नारिया का उपभोग करना साधक का कर्तव्य है। लौकिक अर्थों में यह निश्चिततम साधना नहीं जा सकती है किन्तु इससे गूढाय के प्रकाशित होने पर इस साधना का प्रत्यक्ष पथ निर्देष्टक हो जाता है। हर एक व्यक्ति की प्रकृति में ही भगवती जननी या प्रज्ञापारमिता का जो अंग है अथात विश्वातीत पान की जो सम्भावना है उसका उपभोग करना विश्व प्रेम के वश में उसे आसक्त करना ही महामुद्रा की उपलब्धि के आकांक्षी साधक का प्रमुख कर्तव्य है। हमारी इन्द्रियाँ भी तो नारिया के समान ही हैं। जब तक इनका भोग नहीं किया

१ स्टडीज इन तांत्रिक साधना १ पी सी नागची द्रष्टव्य।

२ दोहाकोण की टीका द्रष्टव्य।

३ देन इंगोडकरान ड तांत्रिक बुद्धिज्ञान डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, पृ १२५ १२६।

४ युगनन्द नि तांत्रिक मोड ऑफ साधक ह्वर्ट की र्वेयर, प्रीफेस, पृ० ३, स्टडीज इन, पृ० ६।

५ बही, पृ १५७ गुह्यसमाजनाम, पृ० २६१।

जाए तब तक इनमें छुटकारा नहीं मिल सकता। शक्ति मायना में भोग द्वारा भोग-त्याग करने का आदर्श एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। सगुणोपासना में माया के मोह-पाश से मुक्त होने के लिए भक्ति का अवलम्बन भी इसी सत्य को उदघाटित करता है।

गुह्यसमाजतंत्र में अनन्तवज्र ने कहा है कि 'जो साधक माँ, बहन, पुत्री और भगिनी के साथ 'यभिचार' में लिप्त रहते हैं वही तत्त्वयोग में साधक होने हैं। तात्पर्य यह है कि साधक को परिवार युक्त सभी नारियों के साथ काम-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। लौकिक दृष्टि से देखने पर तो यह भवधा हेय है किन्तु परिवार और नारी के गूढाद्य को जान लेने पर इसकी साधकता स्पष्ट हो जाती है। लौकिक उपमाओं द्वारा साधकों ने अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों को अपात्रा से बचाकर रखने का ही उपक्रम किया है। गोपनीयता की रक्षा के लिए ही साधकों ने सदा भाषा की विशिष्ट शैली को ग्रहण किया है। साधकों की सूक्ष्म दृष्टि में परिवार का अर्थ है व्यक्ति की सत्ता और अंतर्बिम्ब तथा प्रकृति और नारी का अर्थ है प्रकृति में भगवती जननी के समस्त विभिन्न अंग (तेज, तप क्षिति और मस्त) एवं उनके प्राण जो हमारे चित्त के विभिन्न केन्द्रों में अवस्थित हैं। वही साधना की माया में नारी रूप में चित्रित की गई है। प्रत्येक केन्द्र में जब सक्रिय पुरुष रूप उपाय के साथ निष्क्रिय नारी रूप प्रणा समुत्पन्न होगी तभी परिवार की सभी नारियों के साथ यौन मिश्रण साधित होगा और महामुद्रा या सर्वोच्च ज्ञान की श्रुतता का लाभ साधक कर सकेगा। संक्षेप में युगनद्ध और उमकी निगूढ़ एवं अतिगोपनीय माधुर्यभावपरक साधना का यही रहस्य है।

समरस की स्थिति

विश्व की विविधता में एकता की अनुभूति तथा समस्त विषमताओं या नानात्व के अंतर्गत एक अविच्छिन्न अवलंबन और विलास की धारा में परम तत्त्व के दर्शन का नाम ही समरसावस्था है। इस दशा में हीन मध्यम, उत्कृष्ट तथा अन्य सभी पदार्थों में समानता का अनुभव करना एवं सतत वसी ही भावना करना सामरस्य है।^१ समरस सहजावस्था है। इसमें न प्रज्ञा का भाव रहता है और न उपाय का इन का किसी प्रकार अनुभव ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में उत्तम मध्यम कनिष्ठ और अन्य सभी समान हैं। सम का अर्थ है एकात्मता तथा रस का अर्थ है चक्र। इस समार चक्र के पदार्थों की एकात्मता की उपलब्धि ही समरलोपलब्धि है। दार्शनिक दृष्टि से समरस का अर्थ अद्वय और युगनद्ध है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण सत्ता एकरममय एवं एकरागमय हो जाता है। इस अवस्था में पञ्चतन पर पर-अपर सुख दुःख राग विराग आदि का अनुभव नहीं रह जाता।^२ योग साधना द्वारा इस सहजावस्था की प्राप्ति कर साधक सम्पूर्ण जगत् की आनन्दानुभवा जसा पाता है। सारी द्विधा समाप्त हो जाती है तथा सत्य आनन्द रस की ही वृष्टि होने लग जाती है। यही

१ श्वेतसुक्तोऽष्टा य एव अयानि यानि तानि च ।

सर्वे तानि समावीनि द्रष्टव्यं तत्त्वमात्मनः ॥

—देवज्ञतंत्र, पृ. २२ तथा भास्करयोर रिलिखत कस्टम,

दासगुप्त, पृ. १४ पर उद्धृत।

२ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य न० जा० उ०, पृ. १४८।

महामुक्त की सहजावस्था है। इसी को बौद्ध तन्त्रा म प्रज्ञा और उपाय अथवा नूयता और भरण के सम्मिलन से सिद्ध होना बताया गया है। वहाँ यौन-यौगिक साधना द्वारा उपलब्ध अद्वयत्व निर्देश के लिए समरस शब्द का प्रयोग किया गया है। हिन्दू तन्त्र इसीको गिज गक्ति का समरस होना जयवा भाव को रसत्व से सिद्ध होना मानता है।

महामुक्त

महामुक्त समरसता और सहजानन्द का वह रूप है जो न तो श्रुतिगोचर है और न दृष्टिगोचर न पवन उसे ज्ञानजाल से सक्त है न अग्नि उसे जल सक्त है न पानी उसे भिगो सक्त है न वह बड़ सक्त है न वह घट सक्त है न वह अचल है और न गतिशील है। उपनिषद् के ब्रह्म से इस महामुक्त की भेतिपरकता सबथा विलक्षण है। जिस भवन-वर्धन में पड़कर यक्ति जरा मरण का निकार बन जाता है उसी में लगकर वह महामुक्त को प्राप्त कर लेता है। महामुक्त अनिवचनीय अनुपम तत्त्व है जिसमें पूरे गुरु की सहायता से ही साधक प्रवृत्त हो सकता है।

महामुक्त की उपलब्धि ही समस्त वज्रयानी साधना-पद्धति का प्रमुख लक्ष्य है। इसमें योगाभ्यास और मियुन योग एक दूसरे से मिले हुए हैं। महामुक्त ही सभी प्रकार की गृह्य साधनाओं का सार है और सहजावस्था या सहज स्थिति की प्राप्ति ही परम साध्य है। वही भगवान् वज्र-सत्त्व है। यह सहज स्थिति दहस्य होकर भी देहज नहीं है। यह स्वसवेष्टा एवं स्वसम्बन्ध है। उस अवस्था में ज्ञाता जय और पान—सबका एक में निरोभावन हो जाता है।^१

सहज विलास और निर्वाण

वज्रकाय या सहजकाय में पहुँचकर शक्ति नूयता में स्थापित हो जाती है तथा साधक का गुद-बुद्ध चित्त भगवान् वज्रसत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार नूयता और वज्रमत्त्व के सम्मिलन से महामुक्त की प्राप्ति होती है। चित्त महामुक्त रूपी वाणी का पान कर मग्न हो स्वयं वज्रमत्त्व बन जाता है। इसीको साधकों ने सहज विलास की स्थिति कहा है जिसमें प्रवेग करते हुए बोधिवित्त का उदय होता है और अपना धनार का पूरा निरोधान हो जान पर सहजानन्द की प्राप्ति होती है।

बौद्ध तन्त्रा में महामुक्त और निर्वाण एक ही जय में यवहृत किये गए हैं। अद्वय युगलद्ध समरस सहजमुक्त सहजानन्द सहज विलास निर्वाण महामुक्त और सुखराज शब्द प्रायः एक दूसरे में पर्यायवाची माने गए हैं। महामुक्त भावात्मक है तथा निर्वाण अभावात्मक। किन्तु बौद्ध ग्रन्था में निर्वाण शब्द बड़ा ही विवादास्पद है। कुछ ग्रन्थों में निर्वाण को भावात्मक^२ सुखात्मक और परममुक्त तथा कुछ ग्रन्थों में अभावात्मक कहा गया है। किन्तु

१ द्रष्टव्य—ऐन दए ऐवकशन डु तात्रिक बुद्धिम दामगुप्त तथा देवजसहिता।

तस्मात् वज्रमत्त्व सहज स्वरूपमुच्यते।

स्वरूपमेव निर्वाण विशुद्धाकार चेतसः।

२ द्रष्टव्य—‘मिलिंद पन्थो’, ‘धम्मपद’, ‘ज्ञानसिद्धि’ आदि।

निम्बान परम सुखम्। ॥ अहिम निजाय, १, ५०८।

बौद्ध तांत्रिक ग्रंथों में महामुख के अर्थ में ही निर्वाण को ग्रहण कर उस 'सदासुखमय' माना गया है। 'निर्वाण' सत् वस्तु अनन्त अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'निर्वाण' का सतत सुखमय स्थिति आनन्द और मुक्ति का बंधन बुझ जाना जन्म-जरा-मरण का पूर्ण निरास समस्त वासनाओं और संस्कारों के निरोध में प्राप्त होने वाली 'गान्धि' अल्पपरमानन्द, सब-बीज आप्तकामना का पराकाष्ठा, बुद्धों का परम सस्थान—सुखावती दुःख निरास आदि अनन्त अर्थों में व्यवहृत किया गया है।^१ इन्द्रमुनि ने 'गान्धिमिद्धि' में महामुख को अनिवचनीय कहा है।^२ मिद्धि मरहण का अनुसार यह सुखराज अद्वय कारण रहित तथा सम्पूर्ण जगत में प्रकाशित है। सब बुद्ध को जो इसके अभियोजन में बचन-रहित होना पड़ा था। बौद्ध तांत्रिक-साधना की महासुखावस्था के समान ही मत्तो की उन्मुनी अवस्था है।^३

वज्रयोग-दर्शन

वज्रयात-साधना तांत्रिक प्रभावापन होने के कारण किया प्रधान है। वज्रयात याग-साधना को वज्रयोग कहा गया है। वज्रयानी योग मिद्धि की प्रक्रिया कठिन है। योग सिद्धि के पूर्व भूयता अनिमित्त अप्रणिहित, अनमिसस्वार—इन चार विक्षोभा की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। इन्हीं के अनुरूप विदुष्याग, धमयाग मन्त्रयाग और सस्थानयोग—ये चार वज्रयोग कहाए हैं। उनसे काम का चित्त और ज्ञान के वज्र भाव का जाविर्भाव होता है। इन चारों में चित्त जगत् करुणा मयी मुक्ति और उपेक्षा भावा का अनुभव करता है। ये चार प्रकार के योग चतुर्विध अवस्थाओं का मन्त्र का नाग करन है। उनसे चतुर्विध ज्ञान की उपपत्ति होता है। इसके अन्तर्गत गुरु की अनिवार्यता गुह्यता गिप्य धम गरीर का महत्ता चक्र-विधान नाडी-रूपता प्राण साधना आदि विषयों पर बहुत जोर दिया गया है। तांत्रिक बौद्ध-साधना में गुरु को बुद्ध के समान ही माना गया है। उनकी दृष्टि में गुरु-पत्नी ही बुद्ध पत्नी है। आचार्य अवधूतीपा ने बुद्धि निर्वाणक्रम में गिप्य या साधक के गान और अज्ञान—का भग्न बताया है। गान अर्थात् अविवर्तित मानस वाले साधक के लिए क्रिया और धम के नियमों का पालन आवश्यक है। इन्हीं आचार्य विषयक नियमों को 'चर्या' कहा गया है। अज्ञान साधक का मानस विवर्तित होता है। अतः उनका लिए आचारगत नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं होती। वे उनमें ऊपर उठ जाते हैं। अतः वे योग और अनुत्तर की साधना करते हैं तथा महान् स्वभाव को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

१. निवाप के पदोपदेशों का—*The harbour of refuge the cool cave the island amidst the floods the place of bliss emancipation liberation safety tranquillity the home of ease the calm the end of suffering the medicine of all sufferings the unshaken the ambrosia the immaterial the imperishable the abiding the further shore the unending the bliss of effort the supreme joy the ineffable the holy city*

—A Dictionary of Pali Language Rhys Davids

२. गान्धिमिद्धि—इन्द्रयाग वस्तु में ४०० वि० ४०० म०, ५० २७, २५० २।

३. अप्रणि मुद्राराज एक कारणरहित में गिद्धि अवस्था में।

यस्य च निगमनामे ब्रह्मदारिद्र्ये बभूव महत् ॥

—सरहपा का वचन, मेकोर रा टीका, म० वम० ६० अंश-ली, ५० ६१।

काया की महत्ता और वज्रयानी चक्र विधान

वज्रयानी सिद्धो के साधना केन्द्रों में जाग्रत, वामरूप ओडियान तथा श्रीहृद् प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। बौद्ध हठयोग-साधना में ये तन्त्रपीठ कामा-नगर के भीतर कल्पित किये गए हैं। तान्त्रिक बौद्ध-योग में काया को सर्वत्र आश्रय-स्थल माना गया है। परम तत्त्व को जानने और प्राप्त करने के लिए यह काया-तन्त्र ही सबसे बड़ा साधन है। जो ग्रन्थाण्ड में है वही पिण्ड में है। इसी धारणा के अनुसार तान्त्रिक बौद्ध योगियों ने काया के भीतर विभिन्न दश वाते कमला चक्रों एवं नाडियों की स्थिति मानी है। मानव श्रेष्ठ का महदण्ड बाह्य ससार में स्थित मेरु पर्वत है। शरीर में ही मणिपुर अनाहत विण्ड और सहस्रार—य चार चक्र हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः निर्माण काय, सम्भोग-काय धम-काय और सहज काय से है। मेरुदण्ड के निचले भाग में स्थित निर्माण-काय हृदयस्थित धम काय कण्ठ स्थित सम्भोग-काय तथा शीर्षस्थ सहज-काय हैं। सहस्रार की उष्णीष कमल या महामुख कमल भी कहते हैं। महामुख कमन्त्र में चार सम्भोगचक्र में सोल्ह धमचक्र में आठ और निर्माण कमन्त्र में चौंसठ दल कल्पित किये गए हैं। सेवोद्घा टीका में क्रमशः चार सोल्ह बत्तीस और चौंसठ दलों की उदभावना की गई है। हर एक चक्र में एक मुद्रा एक अधिष्ठात्री देवी और एक बीजाक्षर (वर्ण) की अवस्थिति मानी गयी है। निर्माण चक्र की मुद्रा कममुद्रा अधिष्ठात्री देवी लोचना और वर्ण ए हैं। धमचक्र की मुद्रा धममुद्रा अधिष्ठात्री देवी मामकी तथा वर्ण व हैं। सम्भोगचक्र की मुद्रा महामुद्रा अधिष्ठात्री देवी पांडरा तथा वर्ण म हैं। सहस्रारचक्र की मुद्रा समयमुद्रा अधिष्ठात्री देवी तारा तथा वर्ण या हैं। ये देवियां क्रमशः कुरुणा मन्त्री मुनिता तथा उपेक्षा की प्रतीक हैं।

वज्रयानी नाडी विज्ञान

हिन्दू तान्त्रिकों के समान ही बौद्ध तान्त्रिकों ने इस शरीर में बहत्तर हजार नाडियों की कल्पना की है। इनमें बत्तीस मुख्य तथा तीन प्रमुख नाडियाँ हैं जिन्हें ललना (इडा) रसना (पिंगला) और अवधूतिका (सुषुम्ना) कहते हैं। बायी ओर स्थित होने के कारण ललना को वाम तथा दायी ओर स्थित होने के कारण रसना को दाहिना भी कहते हैं। डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने विविध साधना मार्गों में इन दोनों नाडियों के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया है।^१

जहाँ तक बौद्ध तन्त्र का प्रश्न है इनमें विशेषकर आठि-कालि प्रज्ञा-उपाय रक्त

१. वाम—ललना इडा, चन्द्र राशिन्, सोम भयान, धमन भानि नाम प्रज्ञा गंगा शुक्र, बत्ती रयूल रजस भयम अरिधर अपर, पृथिवी अभेन्, अचित्त अविद्या तमस भयाम, प्रकृति राशिन् सम्भोगकाय और ग्राम्क।

दक्षिण—रसना पिंगला सुख रवि अग्नि प्राण चमन कालि, बिन्दु उपाय, यमुना, रक्त पलित सूक्ष्म, रेतस धम, रिधर पर, धौ, भेद, चित्त विद्या, रजस भाव पुरुष शिव निमायकाय और ग्राम्क।

गुण और ग्राहक-ग्राह्य शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ललना गदन के पास से निकल कर बायीं ओर से नाभि दंग में जाती है। रसना नाभि दंग से प्रारम्भ होकर गदन के पास दाहिनी ओर से जाती है। इनके मध्य हृत्फल से अवधूती निष्पत्ती है जिसे बोधिचित्त भगवती नरात्मा और सहज सुन्दरी कहा गया है। यह अवधूतिवा स्वयं सहजानन्द स्वरूपा है तथा सहजानन्द प्रदात्री है।^१ वज्रयानी सिद्धांत अवधूतिका अथवा भगवती नरात्मा व सहज विलास का बड़ा ही माधुर्य भावपूर्ण वर्णन किया है। इस प्रसंग में अनेकानेक शृंगारपरक रूपकों के प्रयोग द्वारा उन्होंने योगिक माधुर्यवाद का बड़ा ही सुन्दर निदर्शन किया है। तान्त्रिक बोधयोग का मुख्य उद्देश्य बोधिचित्तोत्पाद है। इससे ही प्रणा और उपाय का पूरा योग होता है जिससे महासुखावस्था की उपलब्धि होती है। भाव-अभाव के जगत जाल में पड़े अज्ञान चित्त से इस महासुखावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः चित्त को अचंचल बनाने के लिए उसकी अधोगति को अवरुद्ध करना पड़ता है। इसके लिए प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि—ये षडंग योग साधन आवश्यक माने गए हैं।^२ इसके अतिरिक्त हठयोग की मुद्राओं, बंधों आसनों और प्राणायाम की भी आवश्यकता बतलाई गई है। गृहसमाजतंत्र में हठयोग को प्रारम्भिक साधना के लिए सहायक कहा गया है।

प्राण-साधना

प्राण और अपान के नियंत्रण के लिए पूरक कुम्भक और रेचक क्रियाएँ की जाती हैं जिनमें वमन, ना, आहु—इन तीन वर्णों के मन्त्र के जप का विधान है। इससे चित्त एकाग्र होकर ऊर्ध्वमुख होता है और उष्णीष कमल में प्रवेश कर महामुख रस का आस्वादन करता है। बौद्ध तन्त्रों के बोधिचित्तोत्पाद तथा हिन्दू-तन्त्रों की कुण्डलिनी उत्पादन क्रिया में बहुत समानता है। जिस प्रकार निर्माणचक्र में चाटाली जाग्रत होकर आगे बढ़ती हुई उष्णीष कमल में प्रवेश कर बोधिचित्त को महामुख रस का पान कराती है उसी प्रकार मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी जाग्रत होकर वमन पटचक्रों को पार करती हुई सहस्रार चक्र में प्रवेश करती है। जीवात्मा ब्रह्मरूप स्थित चन्द्र-नृत्य के प्रसवित होने वाले अमृत का पान कर मस्त हो जाती है। विद्यासावस्था में अनुमात्र चाटाली को डाँवी योगिनी सहजसुन्दरी, नरात्मा आदि कई नाम दिए गए हैं। यह सहजसुन्दरी बोधिचित्त को मध्य पथ से उष्णीष कमल में पहुँचाने वाली है तथा यही सिद्धाचार्यों के सहज विलास की सूत्रधारिणी है। इसी प्रसंग का स्वर सिद्धाचार्यों की वाणी में मधुर रस की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति की गई है। इस भाव गूँथ को पकड़ कर नाथपंथी योगिया एवं निगनिर्वा सन्ता ने भी साधनात्मक तथा भावार्त्मा माधुर्यवाद की अग्रिम प्रतिष्ठा की है।

1 An Introduction to Tantric Buddhism—Dasgupta Page 170-174

२ इष्ट-य—(क) गृहसमाजतंत्र।

(ग) रसना-दिव्यशरद्वं तान्त्रिक बुद्धिदम्।

(ग) पृष्ठिनी क्रौंठ इतिदयन विलोमीनी ५०२—मन्त्र-भाष्यसंज्ञा गुप्त।

(घ) क. यवदसप्रह।

कालचक्रयान

कालचक्रयान का अर्थ होता है 'समय या नाग का चक्र'। इसमें काल को समय मृत्यु या नाग के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कालचक्रयान को कुछ विज्ञान 'बौद्धमत या एव स्वतंत्र सम्प्रदाय, कुछ वज्रयान का पूर्ववर्ती घम-सम्प्रदाय तथा कुछ दगवी सगी में प्रचलित वर्णय घम की बौद्ध गारता मानते हैं।^१ पि० तो नामक सिद्ध इसके प्रमुख आचार्य कह जाते हैं। सदाहा टाना कालचक्रयान आदि ग्रंथों से विदित होता है कि कालचक्रयान वस्तुतः योग प्रधान साधना मार्ग था जिसमें घम पातु और आवाग ने लक्षणों वाले अच्युत क्षण को काल कहते हैं। वही काल वज्रयान है वही बिन्दु रूप है। इसके सांकेतिक अर्थ को स्पष्ट करत हुए वा को गति कारण ७ को रूप ४ को धर्मावित और क्र को प्रम-वर्धन का वाचक कहा गया है।^२ काल की स्थिति भी देह में है। वह प्राणवायु की गति के रूप में है। उसी को वर्णभूत करना चाहिए।

मन्त्रयान के तीसरे नाम से भी कालचक्रयान का वर्णन मिलता है। इसमें आदि बुद्ध तथा गति के मित्र स ससारोत्पत्ति मानी गई है।^३ आदि बुद्ध ध्यानावस्थित होकर आदिनी के समान भयकर गतियों की सृष्टि करते हैं। उनकी पञ्चाविक्र सीला के कारण मन्त्रयान कालचक्रयान के रूप में बदल गया। कालचक्रयान के अन्तर्गत समस्त विश्व इस देह में ही स्थित है।^४ काल भी दिन रात पक्ष भास वष आदि रूपों में प्राण-वायु की क्रियाओं के रूप में ही इस देह में विद्यमान रहता है। अतः प्राणायाम की साधना ही योग कालक्षय है। कालचक्रयान के साथ ही आदि बुद्ध की मुख्य देवता मानते हैं। वज्रयान की तरह यहाँ भी बुद्ध के चतुर्वर्ग की कल्पना की गई है। सहजकाम की प्राप्ति के लिए यौन-योगिक साधना की आवश्यकता मानी गई है। आदि बुद्ध नृपता-करुणा की भूति हैं। काली उनकी गति (प्रणा) है। कालचक्रयान में काल उपाय और करुणा के तथा चक्र प्रज्ञा और नृपता के पर्याय हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आदि बुद्ध या कालचक्र युगल किंवा गति गति के युगल रूप के अद्वयत्व के प्रतीक हैं।^५

वज्रयान में जिसे महामुलावस्था कहा गया है उसीको कालचक्रयान में तुरीयावस्था की मज्ञा दी गई है। यह साधना की वह सिद्धावस्था है जब चित्त में करुणा का आविर्भाव होता है। विगद्ययोग से ही यह अवस्था प्राप्त होती है तथा साधक सहजानन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार कालचक्रयान में भी आदि बुद्ध और गति (वाणी) के समागम गति गति के अद्वयत्व, युगल तत्त्व उपाय और प्रज्ञा तथा करुणा और नृपता के सम्मिलन, सहजकाम की प्राप्ति के लिए यौन-योगिक साधना बुद्ध के चतुर्वर्ग की कल्पना आदि के कारण साधनात्मक एवं भावात्मक माध्यमवाद की अभिनव अवतारणा हुई है।

१ जनरल ऑन दि इतिहासिक सोमार्थी ऑफ बेंगल, न १४, फरवरी १८८१—नोट ऑन दि ओरिजिन ऑफ दि कालचक्र एण्ड ऑन दि बुद्ध सिस्टम, मि एलक्सडे० कोरोस पृ १७ १६ दृश्य।

२ ककारात्कारये शब्दे लकारात्मको अत्रयै।

३ ककारात्चनचित्तस्य ककारात्मकवर्धनै ॥ —संगोद्देश टीका करेल्ली, पृ० ८।

४ टैन इण्डियन डू सांकेतिक बुद्धिधर्म नामगुप्त पृ० ७२ ७३।

५ श्रीकालचक्रमूलतत्त्व दृष्टम्।

६ नौदुर्जन प एलचक्र उपाय पृ ४१६ ४६।

जैन-दर्शन

जन धर्म त्याग और वराग्य प्रधान है। इसीलिए जैन-साधना साहित्य में ज्ञान त्याग वराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि निवृत्ति प्रधान तत्त्वों का ही विशेष प्रतिपादन किया गया है। जन-साधका की दृष्टि में आध्यात्मिक जगत में ज्ञान, दशन और मोक्ष की सगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त पानी अनन्त दशनो और खेदज्ञ थे। यही है उनका मशहवी जीवन का दगन। जो दूसरों के मेद का नही जानता वह अपने खेद को भी नही जानता। जो दूसरा की आत्मा मे विदवास नही करता वह अपने-आपमे भी विश्वास नही करता।

भगवान् महावीर ने आत्मा से आत्मा की तोला। उनका जीवन दगन धर्म का दशन है। धर्म उनकी बागी का प्रवाह नही है। वह उनकी साधना से फूटा है।^१ भगवान् महावीर का मतानुसार जीव सबव्याप्त हैं। वे चल और अचल, नित्य और अनित्य समयविध हैं। आत्मा के कमी अनात्मा नही होने के कारण वह नित्य है। विन्दु पर्याप्त के विवत्त के चलते रहने के कारण वह अनित्य भी है। जरा मरण दुःखप्रद हैं। दुःख का कारण विषमता है जो राग और द्वेष त्रय है। जब तब मनुष्य की सहज आनन्द वृत्ति और आत्मिक चतय भाव जाग्रत नही होना तभी तब वह बाह्य उपकरणों से आमां प्रमोद प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। जिस दशन आत्मिक चतय का अवगुठन हुट जाता है, सहज मुख का ज्योत दहुरा कर फूट निकलता है और तब मनुष्य उस सहज आनन्द रस में निमज्जित हो सुमरसावस्था की प्राप्त हु। जाता है। एसा प्राणी मोरस हा ही नहीं सकता।

भगवान् महावीर के सम्मग दगन का अन्तगत मिट्टी पानी अग्नि वामु धनस्पति और चर-अचर सभी सजाव हैं। निरपेक्ष भाव से इन सबकी उचित रसा सेवा और सम्मान करना परम धर्म है। इसके लिए साधक को रति और अरति दोनों से विरक्त होकर मध्यस्थ बनना चाहिए।

जैन ब्रह्म-भावना

जना का ब्रह्म आध्यात्मिकता का साक्षात् प्रतीक है। आचार्य योगीश्वर ने 'परमात्म प्रमाण' में अनेक स्थलों पर ब्रह्म आत्मा की ब्रह्म का सजा दी है।^२ उनके अनुसार आत्मा जब कम-मल का प्रणालन कर लेती है तब स्वयं ब्रह्म बन जाता है। जनों की यह ब्रह्म भावना किमो से प्रभावित नही है। वह अपनी पूव-परम्परा से ही अनुप्राणित है।

चोतराग भगवान् में अनुराग सम्भव है

कुछ विद्वान् जनों की ब्रह्म भावना के अन्तगत प्रेम भाव नही पाते। उनका कहना है कि चोतरागिणों का सम्प्रणय होने के कारण उनमें अनुराग भक्ति का होना सम्भव नही था। विन्दु इस प्रकार की धारणा सबया भ्रान्तिपूर्ण है। जन-रस साहित्य में निगुण-अगुण दोनों प्रकार के भक्ति भावों का गाम्भज्य मिलता है। सिद्ध और अह्न को प्रमाण निगुण और

^१ जैन परम्परा का इतिहास मुनिनाथमल पृ० २८।

^२ परमात्म प्रकाश बागी दु—१ २६ दोहा दृश्यम्।

सगुण कहा जा सकता है। इही को आचार्य योगीश्वर ने निम्नल और सवल की सजा दी है।^१ विष्णु की पंचवीं सतात्मी में होने वाले आचार्य पूज्यपात्र ने अहंकारात्मे बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धिपुत्रोऽनुरागो भक्तिः कहा है।^२ इससे स्पष्ट है कि वीतराग भगवान् में अनुराग सम्भव है। आचार्य योगीश्वर के अनुसार 'पर' में किया गया राग पाप का कारण है। वीतराग परमात्मा पर नहीं अपितु 'स्व' आत्मा ही है। अतः जिनेन्द्र में किया गया राग स्व का राग कहा गया।^३ इसीलिए जिनेन्द्र के राग को मोक्षसाधक माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड आचार्य समन्तभक्त ने स्वयम्भूतोन्न और गिरामकोटि ने भगवती-आराधना में इस तथ्य की पुष्टि की है। उपयुक्त विचार बिंदुओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार जनों की ब्रह्म भावना उनकी अपनी प्रवृत्ति-परम्परा से अनुप्राणित है उसी तरह भगवान् के प्रति प्रेम भावना भी उन्हें विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। जिन गायन की अधिष्ठात्री देवियों से परिसचित जिनेन्द्र की उदभावना के मूल में यही परम्परागत प्रेम भावना क्रियाशील है। इही भाव सूत्रों के माध्यम से एकांत यागिनी और वराह्य प्रधान जन-साधना के अन्तर्गत मधुर भाव का सन्निवेश हुआ है।

सूफी-दर्शन सूफी मत

इस्लाम के प्रेम प्रवण रहस्यवादी पकीर सूफी नाम से प्रसिद्ध हैं। सूफियों के दर्शन को तसव्वुफ कहत हैं। सूफी साधक विरक्त ससार-त्यागी और परमात्मा के प्रेम की पीर में बेसुध रहने वाले थे। उनके चिंतन का एकमात्र विषय परमात्म प्रेम था। परम प्रियतम परमात्मा से एकमेव होने के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे तथा उसी की उपलब्धि को व साधना का नीपफल मानते थे।

सूफी शब्द की 'युत्पत्ति' के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। सामान्यतः 'सूफ' शब्द से इसका उद्भव माना जाता है, जिसका अर्थ ऊन होता है। सफा (पवित्रता) अल्ल मुफका (मदाना में मसजिद का सामन का एक चबूतरा) सफे अवज सोफिया (ज्ञान) सफ (पवित्र) सोफिस्ता आदि शब्दों से भी 'सूफी' शब्द के सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। निक्लसन ब्राउन मारगोलियस आदि विद्वानों एवं अनेक मुसलिम आत्मीयों ने 'सूफ' शब्द से ही सूफी की 'युत्पत्ति' की स्वीकार किया है। इस प्रकार 'यापक' रूप से इस्लाम के प्रेम प्रभावप्राप्त रहस्यवादी साधकों के लिए ही सूफी शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है।

सूफी मत और उसके अध्यात्म दर्शन के आदिश्रोत की जानकारी के लिए इस्लाम में परे मुहम्मद साहब से और भी आगे जाकर गायी जाति की उस भाव भूमि पर विचार करना आवश्यक है जिसमें मादन भाव की प्रधानता पायी जाती है। सामी धर्म प्रयोग में मादन भाव की प्रतिष्ठित करने वाले अनेक प्रसंग मिलते हैं। सूफिया व इस्लाम के विधाना

१ परमात्म प्रकारा योगीश्वर—१२५ पृ. ३२।

२ आचार्य पूज्यपात्र सर्वाधमिद्वि, बाराही ६२५ पृ. ३३६।

३ योगीश्वर (द्वितीय शताब्दी ई.) परमात्म प्रकारा बम्बर १६१७ ई., १६वीं बोहा पृ. ३१
१७४वीं बोहा पृ. ३२७।

कमवांही नबी हो ये, जिन्हें 'नामियों' में नबी मतान कहा जाता था। नबी उल्लास एवं मावावेस वाला भक्त होता था जो विशेष अवसरों पर चित्तवृत्ति में विलक्षण मुग्ध परिचितन करने के लिए सुरापान एवं मादक द्रव्यों का सेवन करता था। भावों के प्रबल उदबग के कारण नबियों की भूछाँ भी आ जाती थी। इस मावावेस की तीव्रतासे ही उनके मुह से जो कुछ निकलता था, वह 'इल्हाम' माना जाता था। इसके अनिश्चित नबियों में कई प्रकार की गुह्य साधनाओं का भी विधान था। गुह्य साधना से सम्बन्धित साधन मढली में उल्लासो द्वेक का पूरा विधान था। सूफा मत में सबस्व—मात्तन भाव का मूल स्रोत वही गुह्य मढली है जिसमें कहीं भुरा सेवन हो रहा है, कहीं राग अलापा जा रहा है कहीं उछल-बूद मची है कहीं कोई तान छिड़ी है, कहीं स्वाँग रचा जा रहा है कहीं हाल आ रहा है कहीं इल्हाम हो रहा है, कहीं करामात दिखाई जा रही है कहीं कोई किसी हाल में बहाल है तो कहीं कोई किसी भोजन में मग्न।^१ इससे स्पष्ट है कि सूफी प्रेम साधना में प्रमुख तत्त्व—मादन भाव का जन्मदाता उक्त नबी ही हैं और उन्हीं की भावना एवं धारणा की रक्षा का सच्चा प्रयत्न सूफीमत का तत्त्व्युक्त है। अन्य मतों की तरह सूफीमत में भी आत्मा-परमात्मा और जगत तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा साधना के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि सूफिया की तत्त्व-मीमांसा उतनी स्वच्छ और प्राज्ञरू नहीं है जितनी वेदांतियों की। इसका कारण यह है कि जिन निष्ठुर एवं निभय परिस्थितियों में वेदान्त-वैधान का विकास हुआ, उनसे भ्रवसा भिन्न एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में सूफी-ज्ञान का प्रतिपादन किया गया। सूफिया का इस्लाम और कुरान द्वारा स्वीकृत तथ्यों की आधार मान कर ही चलना पड़ता था, क्योंकि उनका उपेक्षा का एक ही परिणाम था प्राणदण्ड। इस्लाम विहित माग अत्यन्त अनुराग एवं सखीय था। अतएव सूफा तत्त्व चिंतकों को इस्लाम विहित माग में साध ही अपने साधना माग का निर्धारण करना पड़ा। यही कारण है कि तत्त्व्युक्त में जीव जगत् और ईश्वर की व्याख्या तो की जाती रही, किन्तु उसमें ईश्वर की ही प्रधानता रही। उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के समन्वय में वस्तुतः जिस अन्त का निरूपण किया गया है उसमें ईश्वर नाम की परम सत्ता नहीं है। पर सूफिया के सामने सबसे बड़ी बाधा यही रही है कि उनकी अल्लाह ही अपने अध्यात्म का आरम्भ करना होता है। परन्तु वह बहुत कुछ एकांत और अद्वय भाव तक ही सीमित रह जाता है और उसमें अद्वैतवाद का प्रोढ़ प्रतिपादन स्पष्ट नहीं हो पाता।^२

ईमान का दार्शनिक आधार अल्लाह

कुरान में अनुसार अल्लाह 'रसूल' किताब, फरिश्त एवं बयामन को मत्स्य मानना ही ईमान है तथा ईमान का यथायथ आधार अथवा आस्था में अमात्त का दार्शनिक आश्रय एवमात्र अल्लाह है। देव दृष्टि से अल्लाह के अनिश्चित अथ कोई सत्ता नहीं है। भूतियों का ईमान असौम, व्यापक और उदात्त है। उनकी धारणा है कि मनुष्य परमात्मा अथवा उसकी विभूति में अनिश्चित किसी दूसरी वस्तु पर ईमान ला हो नहीं सकता। उमायि कुन

१ तत्त्वज्ञान और सूफीमत की पहचान पत्र, पृ० १७।

२ यही, पृ० १३०।

आदि की पूजा भी उसी परम प्रियतम की आराधना है। स्वतंत्र चिंतन के फलस्वरूप सूफी तत्त्व चिंतक इस्लामी अल्लाह के बदले हुए ने प्रतिपादन की ओर अवश्य उन्मुख हुए किन्तु देश-काल और प्रतिकूल परिस्थितियों ने दबाव के कारण उनकी आराधना अल्लाह को प्रतीक मानती रही।

प्राचीन अरब अनेक देवी देवताओं को स्वीकार करते हुए भी एकमात्र अल्लाह को ही महादेव मानते थे। मुहम्मद साहब ने अल्लाह बहुत अगो म प्राचीन अल्लाह ही हैं।^१

अल्लाह की सत्ता और शक्ति

कुरान में अल्लाह की साकार सत्ता का विनाश विवेचन मिलता है। अल्लाह की साकार सत्ता ही इस्लाम की घासिका है। कुरान में अल्लाह के सिंहासन, अग प्रत्यग की शोभा-ममृद्धि अलौकिक साकार स्वरूप के विस्मयकारी वर्णन किये गये हैं। कुरान में अल्लाह को ही कर्ता भर्ता हर्ता सब कुछ कहा गया है। उसकी शक्ति अपरम्पार है। उसकी इच्छामात्र से सृष्टि का उदभव विनाश होता है। वही स्वयं-नरक का विधायक है। वह अल्लाह बेमिसाल है। वह आदि है अन्त है व्यक्त है स्वयम्भू है भगवान् है रब है, रहीम है उदार है धीर है ज्ञानी है नित्य है और कर्ता है। सक्षम म वह प्रत्येक भाव का आश्रय है आलबन है। वह भक्तों पर असीम कृपा और अभक्तों पर अमित क्रोध भी करता है। वह आनन्द भोग की सामग्री नहीं बनाया जा सकता। हालाँकि वह अपने भक्तों के लिए समस्त ब्रह्म विलास और सुख-सम्भार का विधान करने वाला है।^२

अल्लाह परम प्रेमास्पद एवं निखिल सौन्दर्य निधि

सूफी कुरान-सम्मत परमात्मा के स्वरूप को मानकर अपने प्रेम पथ पर अग्रसर होते हैं। वे सनातन पथी इस्लाम के समान ही एकमात्र अल्लाह की चरम सत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु सूफियों का अल्लाह एकमात्र सर्वाङ्गीतमान परमेश्वर ही नहीं है अपितु वह परम प्रेमास्पद और निखिल सौन्दर्य निधि भी है। सूफी इसी प्रियतम के वियोगी हैं। वे अल्लाह की आराधना स्वयं-मुख की प्राप्ति के लिए नहीं अपितु अल्लाह के सम्भोग के लिए करते हैं। उनमें भय के साथ-साथ अल्लाह का प्रभावबोध भी है। वे उस परम सौन्दर्य निधि पर मुग्ध हैं। वे उसने लावण्य पर अपने को कुर्बान करने वाले हैं। वे अल्लाह की अशा कुर्सी के बजाय उसके 'जमाल' पर अपने को 'योछावर' करते हैं। वे उसके दीनार के लिए बहिर्न को ठुकरा कर जहन्नुम में भी जाने के लिए तरसते रहते हैं। अल्लाह भी उसको अपनी ओर खींचने के लिए कभी कोई बुन बन कर कभी रसूलों की जगह आप ही उतर कर सत्तार के कण-कण में फूल पत्तियों में अपना जलवा दिखाता है और परम प्रेम की बाँसुरी बजाकर देखने ही देखते हृदय में समा जाता है। वही से वह अपनी अलौकिक आत्म त्रीडा करने लग जाता है।^३

१ तजमानुल कुरआन, तफसीर खुरत पातहा बिल्द खन्वल म १६३१६ पृ ८।

—मीलाना अजुलकलाम भाताद।

२ इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम—म भाग पर लेख दृष्टव्य।

३ तस-सुफ भयदा सूफीमत ओ च-बली पाठे पृ ६६ दृष्टव्य।

सूफी एकेश्वरवाद

मनातनपयी इस्लाम की भाँति सूफी भी एकेश्वरवाद में आस्था रखते हैं। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। मनातनपयी इस्लाम की तरह सूफी भी ज्ञात (सत्ता) सिफ़्त (गुण) और कम में परमात्मा को अद्वितीय और निरपेक्ष मानते हैं। किन्तु इस्लाम और सूफी दृष्टिकोण में मुख्य अन्तर यह है कि इस्लाम जहाँ परमात्मा की दृश्यमान जगत से भिन्न मानते हैं वहाँ सूफी तत्त्व चिन्तक सम्पूर्ण दृश्य जगत में एकमात्र परमात्मा का सत्ता की परिब्याप्त देखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त प्रतीयमान सत्ता परमात्मा में अन्तर्निहित है और निखिल विश्व परमात्मा के साथ एक है। इससे अतिरिक्त इस्लाम का परमात्मा जहाँ भय उत्पन्न करने वाला है वहाँ सूफिया का परमात्मा परमप्रम-स्वरूप तथा प्रीति का प्रकाश है। वह परम सत्य होने के साथ ही साथ परम कल्याण और परम सौन्दर्य स्वरूप है।

सूफामत के अन्तर्गत परमात्मा विषयक दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं। इन्हें शानि सिद्धान्तों के आधार पर सूफी तत्त्व चिन्तकों के दो वर्ग— बुजूदिया और गुहिया नाम से प्रचलित हैं जो क्रमशः 'बहदनुलबुजूद सिद्धान्त' व 'प्रवक्त मुहिउद्दीन इब्नुल अरबा तथा बहनुलुल्लह सिद्धान्त' के प्रवक्त 'गस करीमे जीली' के तत्त्व चिन्तन से प्रभावित हैं। मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी के सिद्धान्तानुसार परमात्मा ही एक मात्र सत्ता है। हमबुस्त अर्थात् सब-कुछ वही है यही इस सिद्धान्त का केंद्रीय विचार है। इसके अनुसार सम्पूर्ण दृश्यमान जगत उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। जाव सृष्टि कर्त्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है। मनुष्य परमात्मा का चेतन अंग है, जिसे सिर कहते हैं। किन्तु मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अतएव वह उस परम चेतन परमात्मा के अज्ञान की ही व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म सत्य है परमात्मा की तरह एकमात्र सत्य नहीं।

इसके अतिरिक्त अरबी ने विवेक और तर्क के आधार पर इमाम गजाली की उस मान्यता का भी खण्डन किया है जिसमें कहा गया है कि ईश्वर का ज्ञान बिना जगत पर विचार किए ही हो जाता है। अरबा के मतानुसार जगत् की उत्पत्ति करन से ईश्वर का ज्ञान-बोध नहीं हो सकता। ईश्वर परम सत्ता नहीं एक उपास्य देवता है। ऐसी स्थिति में उपासना के लिए उपासक का होना अनिवार्य है। जगत् की सत्ता की न मानने पर परम शिव की स्थापना संभव है किन्तु किसी उपास्य की कल्पना कम सम्भव हो सकता है।

शेख करीमे जीली ने इमाम गजाली का समर्थन करते हुए अरबी के आरोंफे का निराकरण उसी प्रकार से किया है जिस प्रकार से रामानुजाचार्य ने 'गवराचाय क आ १५' का निराकरण किया था। जीवी परमात्मा और जीव दोनों की सत्ता की स्वीकार करते हैं। जीव का सत्ता 'गुमबद्' है जिसे अपने अस्तित्व की सिद्धि के लिए परमाय गत्ता की अपेक्षा है। यह जगत् प्रत्यक्ष परमात्मा के गुणा का समाहार है। परमात्मा अपने गुणा के माध्यम से अपनी सत्ता की प्रतीति करता है।

परमात्मा के चार गुण और चार रूप

जीली ने अल्लाह के गुणों के चार विभाग किये हैं—जात जमान जलाल और कमाल। इन्हीं चार गुणों में जमान अल्लाह के चार रूप—सत्ता माधुर्य ऐश्वर्य और अद्भुत धरिताय होते हैं। अल्लाह की एवता नित्यता और सत्यता का सम्बन्ध उसकी सत्ता से है। उदारता क्षमा आदि गुणों से माधुर्य का बोध होता है। नित्य शासन आदि गुणों से उसके ऐश्वर्य का ज्ञान होता है और बाह्य और आभ्यन्तर प्रथम और अन्तिम आदि विरोधी गुणों से उसकी अद्भुत शक्ति का बोध होता है। इनमें मस्तिष्क या बुद्धि का विषय जात और कमाल है तथा हृदय के लिए अल्लाह का जमान और जलाल है क्योंकि इनमें ही राग द्वेष का विधान है। अल्लाह और जीव या इंसान के सम्बन्ध का परिचय जमाल और जलाल में मिल जाता है।

अल्लाह के गुण (सिफत) जब जाहिर होते हैं तब उनका नामकरण होता है। वे नाम दण के समान हैं जो परम सत्ता के सभी रहस्या का उद्घाटन करने वाले हैं। जीली के मतानुसार उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओं में अतर्निहित है और वह सृष्टि के प्रत्येक अणु परमाणु में अपनी पूर्णता को अभिव्यक्त करता है। वह खण्डों में विभक्त नहीं है। सृष्टि के सम्पूर्ण पन्थ उसकी पूर्णता के कारण है उसके दिये हुए नाम से ही नाम बाल हैं। सृष्टि बर्फ के समान है और तेज-स्वरूप परमात्मा जल के समान है। 'तो बर्फ का मूल है। उस जमी हुई वस्तु का नामकरण बर्फ हुआ है पर जल ही उसका असली नाम है।' इन्हीं मक़ेतों के आधार पर सूफीमत के अनजल हक्क का प्रतिपादन हुआ है।

अल्लाह और इंसान अथवा जीव

ऊपर कहा जा चुका है कि जमाल और जलाल में अर्थात् माधुर्य बोध और ऐश्वर्य बोध में अल्लाह और इंसान अथवा जीव के सम्बन्ध का परिचय मिल जाता है। अल्लाह और इंसान के पारस्परिक सम्बन्ध के सिलसिले में सूफियों ने सबब अद्वैत का ही समर्थन किया है। जीव अल्लाह से भिन्न नहीं है। बर्फ और पानी की तरह तत्त्वतः दोनों एक हैं। भारतीय अद्वैत के समान सूफियों के अद्वैत के भी कई रूप हैं। हल्वाज के मतानुसार जीव पूर्णतः ब्रह्म नहीं बन सकता। अल्लाह और इंसान का अद्वैत पानी और गाराब के समान ही है। इसीलिए वहाँ ग़ाज़ल (देवत्व) और नासूत (मनुष्यत्व) की अवतारणा की गई है। हल्वाज के मतानुसार वह जिसमें इश्क करता है वह स्वन बहो है। वस्तुतः एक ही गरीर में दो प्राण हैं जो एक दूसरे से प्रणयाब्ध हैं। फज्र यही है कि प्रमी के स्वरूप बोध से प्रियतम का दर्शन लाभ होता है और प्रियतम के साक्षात्कार से दोनों की सत्ता का स्पष्टीकरण हो जाता है। रूमी के मतानुसार प्रमी और प्रियतम के युगल गरीर में मिथुनाकार एक ही आत्मा बसती है यद्यपि बाह्य रूप से दोनों भिन्न लगते हैं।^१ जीली के मतानुसार प्रमी और प्रियतम एक ही की आत्मा हैं जो ज़म से दो गरीरों में अवस्थित हैं। फारिज़ ने प्रमी का सदैव प्रिय और प्रिय को सदैव प्रमी कहा है। तात्पर्य यह है कि सत्ता ही सत्ता से प्रणय-व्यापार रत है।

१ हिन्दी साहित्य बोध पृ. ८६ ।

२ स्टडीय इन इस्लामिज मिस्टीसि में पृ. ८ ।

मनुष्य की उत्पत्ति अल्लाह के जमाल और जगल के मयोग से हुई है। मनुष्य के पिंड में जो कुछ है, वही ब्रह्माण्ड में विकीर्ण है। मनुष्य सृष्टि का शृंगार है। वह अल्लाह का प्रतिरूप है। उसमें अल्लाह की रह है। उसके सहारे ही अल्लाह अपने को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार अल्लाह इंसान में अपने का ही चरित्राव्यक्त करता है। अतः इंसान तत्त्वतः हक है। हक से ही उसका आविर्भाव और हक में ही उसका तिरोभाव होता है। परम सत्ता के साथ जीव के मिलन को ब्रह्मा और पानी कही मागर और सरिता और बही आग और लोहा की तरह कहा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि सूफी महाभिलषित के लिए लालायित रहते हैं। वे सदैव प्रियतम के रोम रोम में समा जान के लिए प्रेम की पार में तड़पते रहते हैं। वे सत्त्व परम प्रियतम का प्रमी बन कर रहना चाहते हैं और उसी के प्रेम में लीन होकर रहने की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार सूफी तत्त्व चिंतक सब परमात्मा और जीव के अद्वैत का ही किसी न किसी रूप में प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते हैं।

अल्लाह और जगत

सूफी परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य निधि और अनन्त विभूति-सम्पन्न मानते हैं। यही निविष्ट रसानन्द-सौन्दर्य-स्वरूप परमात्मा सृष्टि के रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। अतः अतः यह जगत परमात्मा के अनन्त सौन्दर्य की अभिव्यक्त करता है।

हकीकत के अनुसार अल्लाह ने आत्म ज्ञापन की कामना से प्रेरित होकर सृष्टि का विधान किया। भारतीय मनीषिया ने भी माना है कि रमण की कामना से परम पुरुष द्विधा और फिर बहुधा हो जाता है। कुरान ने कुन के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है। अरबी की दृष्टि में सत्ता शायत प्रपञ्च है। वह स्वतन्त्र नहीं, पर नित्य है। जामी के मतानुसार अल्लाह परम सौन्दर्य निधि है और वह प्रेम की इच्छा रखता है। इसकी दृष्टि में विषय सत्य का प्रत्यय रूप है और सत्य विषय का परमान्तरात्मा मूल तत्त्व है। विद्वत् अपने विनाश के पूर्व सत्य से अभिनय का और सत्य विनाश के अनन्तर विषय से अभिनय है।^१

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा परम सत्ता है और सृष्टि असत् है। जिस प्रकार जल-प्रकार से प्रवाण का बोध होता है वगैरे प्रकार असत् जगत से परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है। सूफिया के अनुसार इदरमान जगत परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। 'सूय का प्रवाण जल में पड़ता है और जल में पड़ने वाला उससे प्रतिबिम्ब से हम सूय का दृश्य सबन है। प्रतिबिम्ब को अपने अस्तित्व के लिए सूय की अपेक्षा है। प्रतिबिम्ब द्वारा बार बार विगड सक्ता है उससे सूय का कुछ आता जाता नहीं। यहाँ पर सूय परम सत्ता जमा है जल असत् के रूप में जमा और प्रतिबिम्ब सृष्टि के जमा। सत्ता ही वास्तविक है असत् उसका नकारात्मक रूप है।^२

जिस प्रकार आँस की पुतला में पूरी प्रतिच्छवि उतर आती है उसी प्रकार सृष्टि में परमात्मा की प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित होती है। मनुष्य में परमात्मा का सत्ता और सृष्टि

१ तमन्नुज शब्द का मूलोपमत्त भी च दूरली शब्द, पृ० १४२।

२ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ८६०।

का असत् दोनों ही मौजूद हैं। मनुष्य के अंतर का ईश्वरीय अंग विद्युत् सत्ता के स्फुल्लिंग के समान है जो सतत अपने उद्गम स्थल पर लौट कर उसके साथ एकमेव होने की चप्टा करता रहता है। सूफी साधक प्रेम साधना द्वारा अपने अहम का पूरा विलोपन कर अपने परम प्रियतम के महामिलन के लिए निरंतर प्रेम की पीर में तपने रहते हैं।

सारांश यह है कि सूफी दान भाव प्रधान अद्वैत का प्रतिपादक है। इसलाम की कट्टरता और असहिष्णुता के कारण सूफी अद्वैतवाद का दानिक पक्ष उतना सुस्पष्ट नहीं हो सका है कि उसे केवलाद्वैतवाद विनिष्ठाद्वैतवाद तथा द्वैताद्वैतवाद में से किसी एक के अन्तर्गत निश्चयात्मक रूप से रखा जा सके। किंतु जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैतता के कारण दोनों के मधुर मिलन का रति द्वार अवश्य खल गया है। इस्क मजाजी ही एक-दूसरे की सोपान है तथा काम मिलावे राम तो इस भादन भावपरक सिद्धान्त की विधिवत स्थापना हो गयी है।

निष्पक्ष दानिक बाद के रूप में सूफी अद्वैतवाद भले ही परिपुष्ट न हो सका हो किंतु इतना तो स्पष्ट है कि सूफियों का भाव प्रधान अद्वैतवाद ही उनके भादन भाव की उपासना का उद्गम स्थल है जहां से मधुर रस की स्रोतस्विनी बल-बल निनाद करती हुई प्रवाहित हुई है तथा जन मानस को ईश्वराराधन के सजीवन रस से आप्यायित करती हुई जीवात्मा रूपी आशिक और परमात्मा रूपी मागूक के महामिलन के आनन्दाम्बुधि में पयवसित हो गयी है।

प्रेम-दशन

सामान्य रूप से मधुर रस का साम्य तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा का एकात्म भाव है। उपास्य और उपासक का एकात्म भाव ही मधुर रस साधना का चिरसाध्य है। इन दोनों की तात्कालिक स्थिति ही प्रेम दशा कहलाती है। दान गारु में भी इही दोनों के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार प्रेम और दान दोनों का लक्ष्य उपास्य और उपासक में एकत्व-स्थापन करना है। इस एकत्व रूप प्रेम-दान की प्राप्ति करने वाले भक्ति भावापन साधक ही सच्चे प्रेम रसिक कहे जाते हैं।^१ परमात्मा और प्रेम सूरज और उसकी धूप के समान अभिन हैं।^२ इसी प्रकार प्रेम दान की प्राप्ति होकर गति और गतिमान भी एक हो जाते हैं।^३

जीवात्मा और परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक संबंध के निर्धारण तथा सम्बन्ध स्पष्टीकरण के लिए एवं अपने-अपने साधन मार्गों को पुष्ट आधार देने के लिए ही

१ जीव ईश मिलि दोय नामरूप गुण परिहरे।

रसिक काने सोय रों जल धोन शकरा ॥ —मगवतरसिक की वाणी पृ. २७।

२ प्रेम हरी को रूप है र्यों हरि प्रेम सरूप।

एक होर दब में लमै रों सरज भर धूप ॥

—इनुमान प्र बोद्धार लिखित 'गोपीप्रेम', पृ. १२ से उद्धृत।

३ अल तरंग भूषण कनक, धन मोंटी पन्तत।

खेल खिलाड़ी रों सना ओत मोत लसत ॥ —मुषमरोभिनी पृ. १४।

समय-समय पर विभिन्न धर्माचार्यों ने अनेकानेक द्रुत अद्रुत-परक दार्शनिक मतवादों की स्थापना की है। इस प्रकार परमात्मा और जीवात्मा उपास्य और उपासक शक्तिमान और उनकी शक्तियों के तात्त्विक स्वरूप और उनके एकात्म भाव के प्रतिपादन के लिए जहाँ तत्त्ववेत्ताओं ने विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों की अवतारणा की है वहाँ शक्तिमान और उनकी शक्तियों के रागात्मक संबन्ध की सिद्धि के लिए सहृदय साधकों एवं भावुक भक्तों ने प्रेम दर्शन के सिद्धांत को स्वीकार किया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो सगुण निगुण साधनात्मक एवं आवात्मक सभी प्रकार के साधकों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना है और प्रभ-दर्शन के सिद्धांत को ही प्रमुख साधन तत्त्व के रूप में ग्रहण किया है। इसका कारण यह है कि प्रेम प्राणीमात्र की सर्वांगिक एवं व्यापक वृत्ति है। लौकिक और अलौकिक सारी चीज़ें प्रेम की प्रेरणा से ही निरन्तर सम्पादित हो रही हैं।^१ प्रेम वृत्ति मनुष्य की सभी चित्तवृत्तियों के मूल में है और अत्यन्त व्यापक एवं गहरी होने के कारण प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से यह मनुष्य की सभी चित्तवृत्तियों का स्वरूप निर्धारण, नियन्त्रण और संचालन करने वाली है। सामान्य रूप से किसी पदार्थ को प्राप्त करने में मानव मन की तीन वृत्तियाँ सक्रिय दिखलाई पड़ती हैं। वह सबसे पहली ईप्सित पदार्थ के सम्बन्ध में जानना चाहता है। इसी को ज्ञान (Knowing) कहा गया है। उसकी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। इसी को क्रिया (कर्म) या सक्त्प-वृत्ति (Willing) की सहायता दी गयी है। अतः उसके साथ स्थायी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा तत्त्वज्ञान आनन्द प्राप्त करने के लिए उससे मन लगाने या अनुरक्त होने की आवश्यकता है। इसीको चाह या इच्छा (Feeling) कहते हैं। सारांश यह है कि ज्ञान कर्म और इच्छा—इन तीनों के मूल में प्रेम ही प्रक-तत्त्व के रूप में काम कर रहा है। किन्तु इन तीनों में से इच्छावृत्ति के साथ प्रेम का सर्वांगिक प्रगाढ़ सम्बन्ध है। ईप्सित पदार्थ से मन लगाना और तात्त्विक आनन्द के लिए उसे चाहना स्वयं आनन्द प्राप्त करना और दूसरे को आनन्दित करना इससे भी आगे बढ़कर स्व सुखी भाव की अपेक्षा तत्सुखी भाव को प्रथम देना ही प्रेम की मूलभूत भावना है।

इस प्रकार प्रेम मनुष्य की तीनों वृत्तियों (ज्ञान कर्म और इच्छा) का सुखद सन्तान होता है। प्रेम मूलतः इच्छा है जो ज्ञान का निर्देशन या नियन्त्रण पाकर विनिष्कृत या सत्य रूप ग्रहण करता है। बिना ज्ञान के इच्छा अधी है और बिना इच्छा के ज्ञान पशु और क्रिया के बिना दानो निष्क्रिय है। इच्छा गति देती है ज्ञान उसका उचित निष्ठा निर्णय करता है और क्रिया दोनों के समन्वयात्मक स्वरूप प्रेम को अभिव्यक्त करती है अथवा दोनों क्रिया के माध्यम से अभिव्यक्ति का माग लोखते हैं।^२

प्रेम-वृत्ति की इसी विलक्षणता व्यापकता एवं सहजता के कारण भगवद् प्रेम विषामु भावुक भक्तों एवं साधकों ने दार्शनिक मतवालों की दुरुद्धता जटिलता एवं गुप्ताता से हट

१ प्रेम भवावृत्त नचन सच, जैद लर् धायी धाम ।

सो जानन हित नामसम मेवक चित्त विश्राम ॥ —सुधर्म रोचिनी तार्किकी-नाम, पृ० ८ ।

२ मधुरिनी दि दी-चित्ता में प्रेम और सौ दय । दो रमेरवरलान छहेनवाल, पृ० १०२ ।

कर प्राप्ति प्रेम-पथ का अनुगमन किया है जहाँ अमर प्रम रसायन का आस्वादन करके भक्ति भावापन्न साधक प्रम को मूनास्वादनवत्^१ केवल अनिवचनीय मानता है। किसी योग्य पान में हो यह प्रकाशित होता है। यह गुण रहित, कामना रहित प्रतिक्षण बधमान अविच्छिन्न सूक्ष्मतर एव अनुभव रूप है। इसे प्राप्त करने वाला प्रम को ही देवता है प्रेम को ही सुनता है प्रम का हा वणन करता है और प्रम का ही चिन्तन करता है।^२

नारद ने भक्ति को परम प्रम रूपा और अमृत-स्वरूपा^३ कह कर तथा साहित्य में भक्ति को ईश्वर में परानुरक्ति अर्थात् सर्वोत्तम एव गभीर अनुराग की सज्ञा देकर स्पष्ट रूप से यह उन्धोपित कर दिया है कि प्रमी उपासक और प्रमास्य^४ उपास्य का निरय अचकल सयोग ही प्रेम साधना का परम ध्येय है। इस प्रकार प्रम भक्ति का सवस्व है तथा अय साधना मार्गों का भी वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रमुख प्ररक तत्त्व है। तभी तो सगुण और निगुण से परे काया नगर बसाने वाले तथा हृदय मन्दिर में अपने प्रियतम के मधुर मिलन का रस पान करने वाले अन्तःसाधना के अभिलाषी आरमाराम योगी भी प्रम पियाला^५ की महिमा का वणन करते नहीं बचाते। सारांश यह है कि मधुर रस-साधना का मूलाधार प्रम है तथा इसके दार्शनिक स्वरूप को प्रकाशित करने वाला प्रमुख व्यावहारिक सिद्धान्त प्रम दर्शन का सिद्धान्त है। अतएव मधुर रस के दार्शनिक विवेचन के प्रसंग में उसके प्रमुख साधन तत्त्व प्रेम दर्शन के विभिन्न तत्त्वों पर विचार करना परम आवश्यक है।

प्रेम तत्त्व 'प्रेमापुमर्थोमहान्'

भारतवर्ष के प्राचीनतम साहित्य बर्दिक वाङ्मय में कई प्रम प्रसंगों की अवतारणा हुई है, किन्तु विस्मय की बात है कि वहाँ ऐसे किसी भी प्रसंग में प्रम शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता। दाम्पत्य प्रम के लिए चक्रवाक और चक्रवाकी के युग्म का उदाहरण देना^६ प्रणयी श्यावाश्रय आश्रय द्वारा अपनी प्रणयिनी के लिए कठोर तपश्चर्या करना^७ यमी का अपने भाई यम के लिए काम-पीडित होना^८ पुरुषों द्वारा उवनी पर अनुरक्त होना आदि^९ प्रमपूज प्रसंगों में भी प्रम शब्द के प्रयोग का अभाव है। वैसे प्रिय प्रिया प्रय या प्रष्ट जैसे शब्दों के प्रयोग मिलते हैं किन्तु उनसे प्रम शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। बर्दिक साहित्य में काम शब्द के बहुल प्रयोग मिलते हैं। एक ओर काम शब्द से जहाँ सृष्टि सकल्प रूपी परम तत्त्व का बोध होता है वहाँ दूसरी ओर उससे कामोजनोचित अभिलाषा की भी प्रतीति होती है।^{१०} इससे जात होता है कि उस समय प्रम के अर्थ में

१ अनिवचनीय प्रेम स्वरूपम् । मूनास्वादनवत् । प्रकाशने वशापिपात्रे । गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणबधमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरानुभवरूपम् । तत्पाप्य तत्वेवावलोकयन्ति तत्रैव शृणोति तत्रैव भाषयति तत्रैव चिन्तयति । —नारदभक्तिस्तोत्र ५१ से ५६ सूत्र ।

२ वही सूत्र २ और ३ ।

३ अथर्ववल्गु, कां १४ सू २ म० ६४ ।

४ शीतस्तोत्र १९११६ ।

५ श्रग्नेद १०१ ।

६ वही, १ ६५ और ५४१ ६६ ।

७ वही, म ५ सू ६१, म ७ ।

धृतय मतानुयायी वष्णु साधको ने भक्ति के रागानुगा रूप को सर्वाधिक प्रश्रय प्रदान कर प्रेम को पंचम पुष्पाय माना तथा श्रामदभागवतपुराण में वर्णित मापी भाव को सर्वश्रेष्ठ बनलाया। दृग्वदन के पन् गोस्वामियों ने जिनम रूपगोस्वामी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है भक्ति रस के अतगत अर्थ सभी रसों का समावेश करने मधुर रस का गौरीय विवेचन किया तथा इसके आधारभूत तत्त्व प्रेम की व्याख्या करते हुए बनलाया कि जिस भाव द्वारा हमारी अन्तरात्मा स्निग्ध कोमल एवं निमल हो तथा जो ममत्वातिगमांकित हो उमी के प्रगाढ रूप को सुधीजन प्रेम की सज्ञा देते हैं।^१ कृष्णदास कविराज के अनुसार साधन भक्ति के अभ्यास द्वारा रति मयवा अनुराग का भाव उदय होता है जो प्रगाढ हो जाने पर प्रेम नाम से पुकारा जाता है।^२ स्वामी अभेदानन्द के अनुसार प्रेम बहु आकषण गति है जो सभी प्राणियां म पाई जाती है। भौतिक स्तर पर इसी गति को गुरुत्वाकर्षण कहते हैं तथा आत्म-तत्त्व के स्तर पर इसी को प्रेम की सज्ञा दी जाता है। मानवाय प्रेम के अतगत व्यक्तिक सुखोपभोग की कामना प्रधान होती है। किंतु ईश्वरीय प्रेम सदा निष्काम एवं विश्वात्म रूप होता है। इस प्रकार प्रेम मूलत आध्यात्मिक है।^३

मध्यकालीन प्रेम-साधका ने प्रेम को अपने प्रमास्पद के प्रति अत्यन्त दृढ़ व्यक्तिगत अनुराग के रूप में प्रदर्शित किया है तथा अपने उपास्य के प्रति अर्पित मनोबुद्धि और अर्पिताभिज्ञाचार द्वारा उसे साधजनीन बनाकर विश्व प्रेम में रूपावित कर दिया है।

प्रेम आत्मा का भक्षण है। प्रेम के रसास्वादन के लिए ही आत्मा ने एक बार पुन देह पिंजर में बन्दी होना स्वीकार किया है। प्रेम के अभाव में बाह्य सौंदर्य निरपेक्ष है। प्रेम सजीवन मूरि है। जिसके हृदय में प्रेम का संचार नहीं वह मास बध्दित अस्थिरता का डर मात्र है।^४ स्वामी विवेकानन्द ने प्रेम के समष्टिगत रूप का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि जब मैं स्वयं को विश्व-यापी समझता हूँ तब मुझमें स्वाधता नहीं रह जाती परन्तु जब मैं भ्रमवश यह सोचने लगता हूँ कि मैं स्वयं मर्यादित हूँ तब मेरा प्रेम सकीर्ण तथा विषेय भावापन हो जाता है। विश्व की सभी वस्तुएं ईश्वर-जन्य हैं और इसीलिए वे प्रेम पात्र हैं। यही ध्यान में रक्खना चाहिए कि समष्टि के प्रेम में ही अंग का प्रेम अंतर्भूत है।^५ हैबलाक एलिस के "I" में जब तक निपय सुख की इच्छा का तिरोधान नहीं हो जाता तब तक प्रेम का कमनीय और मनोहर बुभुभ नहीं विकसित होता।^६ स्वामी रामनीध के विचार में सच्चा प्रेम सूर्य के समान आत्म प्रकाश को फलाता है। प्रेम का अर्थ है सौम्य का साक्षात्कार

१ सम्मन्वयसुखिनरत्नाना ममत्वातिगमांकित ।

भाव स एव साक्षात्मा उपै प्रेमा निगच्छने ॥१॥

—हरिमन्त्रिरसाधनमिधु रूपगोस्वामी (अच्युत प्रथमाला, काशी) पृ ११५।

२ साधन भक्ति रहने ह्य रतिर उच्यते ।

रति गाई हल तारे प्रेम नामे क्य ॥

—चैतन्यचरितामृत कृष्णदास कविराज ।

३ दाम्मै न प्रेक्षण एव दिवादन लव स्वामी अभेदानन्द, पृ ७-२५।

४ अणि निरव-उपर तामिचरत्त (अन्नमर) पृ ३४।

५ अधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौम्य डॉ रामेश्वरलाल खेतवाल पृ ५६।

६ Psychology of Sex Havoclock Ellis Vol V Page 133

यह सत्य है कि जिसने कभी प्रेम नहीं किया उसे ईश्वरानुभूति कभी नहीं हो सकती।
 तात्पर्य यह है कि प्रेम हमारे चतुर्दिक व्याप्त प्रत्येक वस्तु और व्यापार
 निष्पन्न है। यह एक भावना मात्र नहीं है। यह सत्य है। यह आनन्द-रूप है। प्र
 सृष्टियाँ का मूल म है। यह ब्रह्म से निःसृत विमुक्त चेतना का उज्ज्वल प्रकाश है। प्र
 म अपनी चेतना के ऊर्ध्वमुखी विकास करने तथा उसे निःसृत सृष्टि के ऊपर प्रसारि
 से ही हम ब्रह्म विहार कर सकते हैं तथा असीम परमानन्द का सानिध्य प्राप्त कर स
 केवल प्रेम रहित व्यक्ति ही अपने प्रमात्सद के प्रमोदहारा का उनकी उपयोगिता के
 मूल्यावन करते हैं किन्तु उपयोगिता क्षणिक एवं अपूर्ण होती है। यह हमारे सम्पूर्ण
 कभी नहीं ग्रहण कर सकती है।¹ उपयुक्त ईश्वरीय सम्पत्क अथवा असीम परमा
 सानिध्य को प्राप्त करने के लिए प्रेम ही चरम लक्ष्य है तथा मानवीय अस्तित्व का
 उद्देश्य है।² इस सत्ता की सारी वस्तुएँ नदवर हैं। केवल प्रेम अविनाशी है जो सृ
 ष्टा बताने वाला है तथा जीवन और मृत्यु की दरार को पाटने वाला है। प्रेम के अभाव
 वभव भार है तथा जान ऐसा क्षुद्र प्रकाश है जो जड़ता को बढ़ाता है। वस्तुतः प्रेम वह म
 उष्मा है जो हृदय को अनिवार्य तत्त्व प्रदान करता है। आदान म नहीं प्रदान म ही
 का वास्तविक आस्वाद सन्निहित है। प्रेम के अतिरिक्त अन्य सभी निस्तार हैं।³
 प्राच्य एवं पश्चात्य विचारकों की प्रेमविषयक उपयुक्त मायताओं का अनुसा
 सामान्य रूप से प्रेम का आत्मपरक और वस्तुपरक दो पक्ष प्रकट होते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि
 से विचार करने पर ये दोनों पक्ष प्रेम की एक ही मूल भावना के दो रूप हैं।

1 True love like the sun expands the self Love means perception of
 beauty A man who has never loved can never realise God that is a
 fact

—Heart of Rama Swami Ramtirth Pages 130 131 and 133

2 For love is the ultimate meaning of everything around us It is not a
 mere sentiment it is truth it is the joy that is at the root of all crea
 tion It is the white light of pure consciousness that emanates from
 Brahma It is through the heightening of our consciousness into love
 and extending it all over the world that we can attain Brahma Vihara
 communion with this infinite joy He who has no love in him values the
 gifts of his lover only according to their usefulness But utility is tempo
 rary and partial It can never occupy our whole being

3 To achieve the contact or communion Love is the final aim and pur
 pose of human existence —Sadhana Tagore (1947) P 107

4 All things must die but love alone eludes mortality overleaps the
 tombs and bridges the chasm of death with generation Our wealth is
 a weariness and our wisdom is a little light that chills but love warms
 the heart with unspeakable solace even more than when it is given
 than when it is received All other things are futile let us cherish it
 —The Mansions of Philosophy Will Durant (1929) P 170-171

प्रेम और काम तत्सुखी और स्वसुखी भाव

प्रेम और काम में परमाय और स्वाय का अन्तर है । प्रेम में जहाँ तत्सुखी भाव की प्रधानता होती है वहीं काम में स्वसुखी भाव की प्रधानता है । प्रेम में अपने सुख की अपेक्षा अपने प्रमात्पन के सुख की प्रवृत्ति ही तीव्र रहती है किन्तु काम में मनुष्य केवल स्व-सुख की ही आकांक्षा करता है । काम और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज ने बतलाया है कि आत्मद्रिय सुख की इच्छा काम है तो शरीर-सुख की इच्छा प्रेम । काम अधतम है तो प्रेम निमल भास्कर ।^१ आचार्यहजारी प्रसाद त्रिवेदी ने जब विषयक अनुराग को काम तथा भगवद विषयक अनुराग को प्रेम की संज्ञा दी है क्योंकि जहाँ विषयक अनुराग से प्राप्त सुख सुख नहीं सुखामान है ।^२

प्रेम और काम के उपयुक्त अन्तर के रहते हुए भी मधुर रसोपासना के अंतर्गत काम का ऐकांतिक अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रियो के माध्यम से ही प्रेम अभिव्यक्त होता है । श्री बल्लभरसिक के अनुसार कामरूप के बिना प्रेम नहीं हो सकता तथा जहाँ कामरूप ही है वहाँ प्रेम नहीं है ।^३ तात्पर्य यह है कि प्रेम के लिए कामना आवश्यक है और प्रेम के उदय होने पर कामना का विसर्जन ही ध्येस्वरूप है । शक्ति और शक्तिमान के नित्य विहार में कामरूप चपटाए और प्रियाए तत्सुख सुखित्व की भावना से ओत प्रीत रहती है । इसीलिए शक्तिमान के नित्य विहारपरक प्रेम में नित्यता शुद्धता सरसता और असहता है । यह आदि-अनहीन नितनूतन तथा सदा एकरस है ।

सारांश यह है कि यौन सम्बन्ध से उदभूत वासनायुक्त प्रेम में जहाँ तत्सुख सुखित्व का संवधा अभाव रहता है वहीं शक्ति और शक्तिमान के नित्य विहारपरक प्रेम में तत्सुखी भाव ही संवस्व माना जाता है । इसमें प्रिया प्रियतम और सभी सहचर और परिवर एक

^१ आत्मद्रिय प्रीति इच्छा तार काम नाम ।

शरीर-द्वय प्रीति इच्छा तार प्रेम नाम ॥

× × ×

अनर्थ काम प्रेमे बहोत अन्तर ।

काम अधतम प्रेम निर्मल भास्कर ॥

—श्री चैतन्य-गिरितामृत कृष्णदास कविराज आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद ।

^२ मधवकालीन वसन्ताधना आदि प्र दिवसी १० ११३ ।

आदि अन्त जाको मयो सो मध प्रेम न रूप ।

आवत आत न जानिय जैमे झौं (अ) कथूष ॥

—भुक्तान्तर वसन्तीलीला प्रीति चोबनी ।

× × ×

दिनही कड़े दिन ऊपर मा तो प्रेम न होव ।

अपट प्रेम पितर बसे प्रेम बहावै सोव ॥

—कवीरदास ।

^३ काम रूप दिन प्रेम न होव ।

काम रूप अह प्रेम न होव ॥

—श्रीवल्लभरसिक की वाणी ।

हमारे के प्रीयय ही प्रेम-स्वाभाव में प्रवृत्त होते हैं। जहाँ तुम मेरे हो की अधिकार प्रवृत्ति काम करती है वहाँ प्रेम केवल स्व-सुख की क्षुद्र वासना से परिचालित होता है। इस स्थिति में प्रेम आत्म चतुर्थ प्रमाण के रूप में प्रस्तुति नहीं होता। स्थूल भोग-वृत्ति मासाचार और इन्द्रियपरायणता के कारण वह काम या मोह कहा जाता है और इससे प्राप्त आनन्द निवृष्ट माना जाता है। किन्तु इसके विपरीत जहाँ मैं तुम्हारा हूँ की समर्पण प्रवृत्ति से प्रेम-व्यापार सम्पादित होता है, वहाँ उसका चिन्तु रूप प्रकट होता है। इसमें एकमात्र प्रिय का सुख प्रिय की परितृप्ति और प्रिय का आनन्द ही प्रमी का लक्ष्य होता है। इसके लिए सबस्व विसर्जन करने में भी उसे परम सन्तोष का अनुभव होता है। इस विशिष्ट प्रेम दशा में प्रमी का अपना कुछ नहीं रह जाता। तन, मन, धन सब प्रमास्य के सुख और आनन्द के लिए वह समर्पित कर देता है।^१ भारतीय साधना साहित्य में राधा भाव और गोपी भाव का प्रेम इसका आदर्श माना गया है। इसीलिए भक्तजन इस प्रकार के निम्न प्रेम तथा इससे प्राप्त उदात्त आनन्द को छोड़ कर और किसी दूसरे प्रकार के प्रेम और आनन्द का चल्पना तक नहीं करते, क्योंकि इसी काटि का प्रेम जीव-मुक्ति प्रदायक माना गया है।^२

प्रेम और आनन्द

आनन्द प्रेम का आवश्यक घटक है। प्रेम और आनन्द चंद्र और चंद्रिका के समान एक दूसरे से अभिन्न हैं। प्रेम का मिलन रस तो आनन्द का आधार है ही, इसका विरह रस में भी प्रिय की मधुर स्मृति के रूप में आनन्द का उद्रेक होता रहता है। तभी तो विरहों जन विरह-वेदना में तपना भी सुखकर मानते हैं तथा अपने प्रमास्य के लिए अपना सबस्व गँवा कर भी विलास आनन्द, तृप्ति और सन्तोष का अनुभव करते हैं। प्रेम का यह आनन्द रस नवजीवन प्रदान करने वाला है। साधका ने प्रेम की इस आनन्दानुभूति का वर्णन अनेक प्रकार से किया है। प्रेम के आनन्द ने जब आनन्द रस की कृष्टि होती है तब अंतरात्मा सराबोर हो जाती है और समस्त मन राजि अर्थात् आह्ला-जगन भी हरा भरा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रेम के आनन्द रस में अन्तर्जगत और बाह्य-जगन की मधुर रस से आप्लावित करने की अप्रतिम शक्ति है। सभी प्रकार के तापी का घमन करने पूर्ण पुरुष से परिचित कराने में यह पूजनया समय है।^३

^१ तब प्रेम कर मम भूँ तोरा। जानस दिया एक मन योग ॥

सो मन मदा रहत तोहि पाहीं। जानु मोनिरसु शनर्दि माहीं ॥

—गुनमोहन रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड और जातक-चौतीसो के दोहे दृश्य।

^२ श्रीमद्भागवत १, ३३, ३५, ३६, ३७-३८।

^३ कबीर बाण प्रेम का, हम परि करवा आइ।

कपति मोनी आया, बरो भई बनराइ ॥३५॥

पूरे सूर परका घका, सब दुख मेल्का हूरि।

निर्मल कीन्ही आया, ताथै सदा हजूरि ॥३६॥

—कबीरदास भावली, गुरुदेव की भग, पृ. ४।

आनन्द की उदात्त अनुभूति का आधार प्रेमतत्त्व

दार्शनिक दृष्टि से प्रेम और आनन्द का मूल स्रोत आत्म-दान है। एक ही परम तत्त्व का समष्टि रूप परमात्मा है तथा व्यष्टि रूप आत्मा है। सत् चित और आनन्द तीनों की समष्टि ही ब्रह्म है। अतएव आत्मा में भी ब्रह्म के ये तीनों रूप विद्यमान हैं। इसी आधार पर आत्म-साक्षात्कार को ब्रह्म साक्षात्कार और आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द माना गया है। ब्रह्म के मत चित और आनन्द ये तीनों रूप मिल कर ही उमने पूरा और गारवन स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। ब्रह्म के सत् चित और आनन्द ये तीनों ही रूप अनुभव गम्य हैं किन्तु इनमें उसका आनन्द स्वरूप ही सहज बोध गम्य है।^१ निगुण निराकार ब्रह्म के सगुण और साकार रूप की अवतारणा का यही रहस्य है। आत्मा भी इसी आनन्द स्वरूप के साक्षात्कार के लिए निगुण रूप को त्याग कर सगुण रूप धारण करता है।^२ अपने निगुण स्वरूप में आत्मा जीव देह की उपाधि अनान ईश्वर की उपाधि माया प्रकृति के गुड (विगुड सत्व) और अगुड (सत्व रज और तम) गुणों के कारण भाव-ज्ञान और द्वन्द्वान्ति के पर पूरनिरुपाधि प्रकाशवान और पूरा सत्ता है जो तटस्थ मीन एकरस अधिरस्य अरूप और अनाम हाकर अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का समेट कर यक्षित में विद्यमान रहती है। किन्तु आत्मा का सगुण स्वरूप देह और चित के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। प्रमानुभूति से ही आत्मा प्रकाशित होती है तथा आनन्द-बला की ज्योति प्रस्फुटित होती है। निर्विकार प्रमानुभूति विराट्-यापक और अतिगम्य प्रमाणात्मा होती है जिससे अतः करण में स्थित आत्मा का सद्य अनभव तथा साक्षात्कार होता है तथा जीव जगत और निजिल प्रकृति के रहस्य का उदघाटन हो जाता है। निमल प्रमानुभूति की इस विशिष्ट भाव-दान में चराचर जगत के सभी पदार्थ एक ही विराट्-सत्ता में सूत्र में गूँथे हुए मणिगण के समान समुक्त प्रतीत होते हैं।^३ विगुड प्रमानुभूति की इस विशिष्ट भाव-दान के पहले सब-कुछ निर्जीव निरानन्द और जड़ भाव में पड़ते हैं किन्तु इस अनभूति की प्राप्ति करते ही सभी प्राणमय आनन्दमय और चेतनमय हो उठते हैं। इसी विगुड प्रमानुभूति से मनुष्य प्रकृति बचनी से विमुक्त होता है और देह तथा चित से ऊपर उठकर अपनी आत्मा के आनन्दमय स्वरूप से एकाकार हो जाता है।^४

सारांश यह है कि आत्मा ही प्रेम भावना का उदगम स्थल है। आत्मा के विचार से प्रेम नित्य आत्मा का गारवन धर्म है। प्रेम की यथाय सत्ता के मर्मोद्घाटन का तथा उसकी उदात्त अनुभूति का एवमात्र आधार आत्म-तत्त्व ही है।^५ चित की भूमि पर उदित होने

१ नारद भक्तिमत्त्र ५८।

२ इस शुचिबद्ध वसुधैवकुटुम्बकौवा वैश्वनिष्ठिदुरोणसत्।

नृप वरसदृशसद्-वोममह का गोवा अगवा भद्रिमा अत वृत्त ॥

—कठोपनिषद् अ० २, वल्ली २ मन्त्र २।

३ मद्य परतर नायतिचिन्ति धनद्वय।

मयि मयमि प्रोक्त सत्ये मयिगणा इव ॥३॥

—श्रीमद्भगवद्गीता अ० ७ श्लो ३।

४ नारद भक्तिमत्त्र सूत्र ४६ ४७ ४ ६ ६८ और ७२।

५ सर्वो हि आत्मानिस्व प्रत्येति न नामस्तीति। यन् हि नात्मस्व प्रतिदि स्वाद्य सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीकम्।

—अद्वैत १ १ १ पर शंकरभाष्य।

तथा इन्द्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त होन के कारण प्रेम का वृत्ति प्रवृत्ति घम व समा प्रतात होना है। इस प्रमाण प्रेम चित्त का गुण ठहरता है क्योंकि वह चित्त से उत्प्रेरित होकर देह के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इसमें तो को- सन्देह ही नहा कि देह से सम्बद्ध होकर ही चित्त वस्तुओं को उपजाता है और चित्त से सम्बद्ध देह ही उन वस्तुओं के अनुरूप आचरण करता है। तापय यह है कि देह सम्बद्ध विना किसी भी वृत्ति का उदय नहीं होगा।^१ यही सिद्धांत प्रेम-वृत्ति के सम्बद्ध म भा सिद्ध होता है किन्तु प्रेम वृत्ति के योग्य और विकास के लिए आत्म-तत्त्व का आधार परमावश्यक है। अतः प्रेम के पूर्ण विकास के लिए आत्मा और देह सभी की पूरी पूर्ण आवश्यकता है। आत्मा रूपी प्रकाश जल पवन आदि के बिना प्रेम बीज का पल्लवन व विकास नितात असम्भव है। आत्म-तत्त्व प्रेम विकास में सहायक होकर पुन आत्मा में ही लौट जाता है। आत्मा प्रेम प्रमाण के लिए चित्त भूमि पर उतरती है। सब-कुछ काय कर प्रेम पुन अपने मूल स्थान आत्मा या परमात्मा में ही लौट आया। प्रेम रूपी अमर-अग्नि आत्मा से उत्पन्न होकर बाष्प के समान जब क्षणभंगुर देह को समाप्त कर स्वयं पुन अविकृत रूप में आत्म-तत्त्व को ही लौट जाती है। अतः प्रेम का प्रमाणित चित्त या देह के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यद्यपि वह अपने आग्नि रूप में आत्मा में ही निवास करता है। अतः सिद्ध है कि प्रेम आत्मा की ही वस्तु है और वह गान्धर्व आत्मा का गान्धर्व घम है।^२ हम प्रकार आत्म-तत्त्व में निहित चित्त भूमि में संलग्न करने वाला तथा देहस्थ को प्रवृत्ति माध्यम से प्रमाणित करने वाला प्रेम ही जीवन का सारभूत पदार्थ है परम पुरुषार्थ है। इसका मधुर पदार्थमान शिष्य ज्ञानिमय, सूक्ष्म एवं आनन्दमय आत्म जगत में ही होता है। समस्त आनन्द प्रदायक इन्द्रिय व्यापारों के मूल में आत्मा की प्रेरणा की क्रियाशालता रहती है। वही प्रेम की मधुर अनुभूति की चेतनता उत्पत्तता एक शिष्या प्रदान करती है। प्रेम की उत्पत्त अनुभूति की विशिष्ट भाव-रंगा में प्रेम आत्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहा रह जाता।^३ एनी अवस्था में चित्त और देह के माध्यम से प्रमाणित होने वाला प्रेम प्रवृत्ति घम से विरहित हो जाता है और प्रवृत्ति घम का कारण न बनकर मुक्ति की आत्म-प्राप्तिका बन जाती है। समस्त अन्तःकरण रूप चित्त जितना ही अधिक निर्विकार होता है गान्धर्व आत्मा का गान्धर्व प्रेम प्रमाण उतना ही प्रोत्साहन होकर आग इन्द्रिया की आग विहीण होता है। आत्म-तत्त्व की शिष्य मनोभूमि पर प्रेम की उत्पत्त अनुभूति ही सत्ता और सत्ता की प्रेम-भाषना का प्रमुख लक्ष्य है। महा मधुर रस का गान्धर्व स्वरूप है तथा मधुरोपासना का रहस्य है।

१. मधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौन्दर्य डॉ. रामेश्वरनाथ खड्गेवाल, पृ. ६६।

२. वही, पृ. १०१।

३. Love is a condition of Soul Plato Phaedrus P 5

X X X
Love is God and God is Love

—Studies in a Dying Culture by Christopher Candwell P 132

'First that love exists only in relation to some object and record that that object must be something of which he is at present in want'

—Plato Symposium, P 77-78

—मधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और भी २५, १०० में उद्धृत।

प्रेम वृत्ति के विविध रूप

प्रेम वृत्ति के सम्पूर्ण प्रमाण व विष्णु द्वैत की वस्तु अनिवार्य है। उपास्य और उपासक स्वामी और सबक प्रमी और प्रमिका और सत्ता सत्ता आदि मानवीय युगल सम्बन्धों के बिना प्रेम वृत्ति चरिताय नहीं हो सकती। वस प्रेम के अनेक रूप माने गये हैं किन्तु प्रस्तुत मधुर रस के सम्बन्ध में प्रेम के प्रमुख रूपों का सङ्क्षिप्त विवरण ही अपेक्ष्य है।

प्रेम एक ऐसा सावजनोन् और सबव्यापक भाव है जो लौकिक क्षण में अनेक भूमिकाओं में प्रकट होता है। इससे अनिरिक्त अलौकिक अथवा अतीत्य प्रमास्य के प्रति चरिताय हाते हुए भी वह कई रूपा में अभिव्यक्त होता है। प्रमुख मानवीय भाव-वर्णनों तथा उनके अनुरूप की जाने वाली उपासना विधियों के अनुसार प्रेम पात दास्य सत्य वात्सल्य और मधुर (दाम्पत्य) भावों में विभेद रूप से प्रकाशित होता है।

दाम्पत्य-प्रेम

पात दास्य सत्य और वात्सल्य भाव के अन्तर्गत प्रमानुभूति की वसी तीव्रता नहीं पायी जाती जसी दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत उसकी तीव्रानुभूति होती है। दाम्पत्य भाव के प्रेम में आत्म समर्पण अर्थात् तत्सुखे सुखित्व की भावना अपने चरम रूप में चरिताय होती है। यही कारण है कि मध्यकालीन धर्म साधना के क्षण में ईश्वरीय प्रेम का सर्वाधिक प्राणमय प्रमाण उसी प्रसंग में हुआ है जहाँ प्रमी भक्तों ने अपने प्रमास्य भगवान को काता भाव से ग्रहण किया है। काता भाव के अन्तर्गत भक्त अपने को प्रिया तथा भगवान को अपना प्रियतम मानकर उपासना करता है तथा उसके सभी सयोग वियोग जय अतृणाओं की अन भूति करता है जि हैं शैत्रिक नायिका अपने नायक के भिन्न और विरह में अनभव करती है। सयोग और वियोग की विविध भाव रूपाओं में मग्न होकर भावुक भक्त अनिवचनीय आनन्द प्राप्त करता है। उस इस बात का पूरा विश्वास रहना है कि सबव्यापक प्रभु प्रेम के बनीभूत होकर ही प्रकट होत हैं। इसीलिए वह सुगति सुमति सपति ऋद्धि सिद्धि विपुल विहङ्गविजि सबको त्याग मान कर कबल अनुत्तिन बद्धमान हेतु रहित हरि पद्मानुराग की कामना करता है।^१ अपने इष्टत्व के प्रति अंतरंगता तथा सज्जय आनन्द-लाम की दृष्टि से काता भाव की उपासना सबल्लभ मानी गई है।

काता भाव के प्रमोमाद में भक्त को अपने प्रमास्य भगवान के प्रति एकात्म भाव की उपास एव गम्भीर अनुभूति होती है। यहाँ तक कि प्रमोमादना के कारण वह सुध-बुध सो बहना है और उसकी चेष्टाएँ शोक बाह्य जसी प्रतीत होती हैं।^२ जीवात्मा और परमात्मा

१ प्रभु व्यापक सबल समाना । प्रेम ते प्रकट होहि मे आना ।

चनी न सुगति सुमति सपति कतु रिचि सिचि विपुल नगई ।

हेतु रहित अनुराग रामपद बद्ध निन निन अभिमाद ॥ —रामचरितमानस ।

२ निभर प्रेम मगन मुनि स्वामी । कनि न जाह सो दमा यव नी ॥

निमि भक्त विनिसि पथ नहि सुभा । को में चनेउं कहों नहि नृभा ॥

करहुँक किरि पावैं पुनि जा । करहुँक नृत्य करहि गुन गारैं ॥

अनिल प्रेम भावि मुनि पा । प्रभु सैं तर ओट लुकाइ ॥ —रामचरितमानस भरएकई ।

के एकात्म भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए भावुक भक्ता एवं सन्तों ने उपासना के क्षण में स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य-सम्बन्ध की उद्भासना की है तथा इससे मधुर भाव-सम्बन्ध का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है।

सामान्य रूप से प्रेम की तीन कोटियाँ मानी गई हैं। दत्ता ऋषि एवं अन्य पूज्य गुरुजनों के प्रति लघुजना द्वारा की जाने वाली प्रीति को 'श्रद्धा' या 'भक्ति' कहते हैं। सम वयस्क मित्रों या प्रेमी प्रेमिका के पारस्परिक प्रीति को 'प्रणय' की संज्ञा दी गयी है। पुत्रादि या अन्य स्नेह भाजन के प्रति गुरुजनों द्वारा की जाने वाली प्रीति का वास्तव्य कहा जाता है। प्रेम की इन तीन कोटियों में समवयस्क प्रेमी प्रेमिका की प्रणय गीला सर्वाधिक व्यापक और प्रभावशाली मानी गयी है क्योंकि प्रेम की इसी कोटि में सम्भ्रम रहित पूर्ण साक्षात्स्य भाव का मधुर अनुभूति होती है तथा धारीरिक और मानसिक सम्बन्ध का सहज और पूर्ण विकास होता है।^१ अतएव दाम्पत्य भावपरक माधुर्य भाव ही मानवीय प्रेम का उत्तम एवं विनित्त रूप है।

ईश्वरीय प्रेम

उपयुक्त सभी प्रेम रूपों का चरम विधास ही ईश्वरीय प्रेम है। ईश्वरीय प्रेम की सर्वाधिक तीव्रानुभूति तथा सम्यक् अभिव्यक्ति सत्य-सेवक भाव मध्य भाव और सामान्य भाव की अथेना काला भाव में ही सम्भव होती है। इसीलिए निगुण और सगुण दोनों प्रकार के भावना मार्गों में काला भावपरक मधुरोपासना को प्रश्रय दिया गया है। किंतु इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि निगुणोपासना सन्तान जहाँ स्वकीया प्रेम^२ को अपना मानकर मधुरोपासना के मर्यादित रूप को उपमित किया है वहाँ सगुणोपासक वर्णावाचार्यों ने अपने भक्त-प्रेम की तीव्रता को प्रश्रित करने के लिए परकीया प्रेम^३ को ही अपना मान कर अपनाया है। पुनराग प्रभावपण भाववर्णा की तीव्रता, स्मोत्पन्न, प्रेम की परिपूर्णता निरन्तरता एवं रमणीयता की दृष्टि से भी स्वकीया प्रेम की अपना परकीया प्रेम अधिक स्पृहणीय माना गया है।

स्वकीया प्रेम की अपना परकीया प्रेम में प्रमानुभूति की अनि तीव्र बनाने का विरह और मान की भी अनिवार्यता रहती है। प्रेम दान के लक्षणा में विरह का प्रेम की गान्धित गति कहा है। वस्तुतः विरह ही प्रेम का भावन है। विरह की आँच में तप कर प्रेम तप्त स्वयंसेवक गुण बन जाता है और प्रेमी के हृदय में स्व-मुनीभाव के बने तन्मुखाभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार विरह और मान-मवलित परकीया भाव मधुर रस के आस्वादन में अति सहायक सिद्ध होता है।

१ ५० परशुराम चतुर्वेदी लिखित 'हिन्दी काव्यचर्या में प्रेम-प्रकार', पृ० २३-२४।

२ ब्रह्मसिद्धि प्राप्ता कर्तुमात्रेण तत्परा।

वाग्विचारपरिचयः स्वकीया कथिता इह ॥

—उद्भवमनीमयि इतिवत्तमा प्रकल्प, पृ० ४६।

३ साक्षात्प्रीतिरामनो लोकगुणानुविधा।

वर्मेष्टाकीइया कर्तुः स्वकीया भवति सा ॥

—वही, पृ० २२।

नित्य विहार-प्रेम

तात्त्विक दृष्टि से शक्ति और शक्तिमान के नित्य विहार प्रेम में सभी वियोग नहीं होता। इसमें मिलन विरह से परे समरसता की स्थिति सदैव विद्यमान रहती है तथा शक्ति शक्तिमान के परम विष्णु मधुर प्रेम रस में निरंतर मग्न रहती है। इसमें सयोग ही सयोग है वियोग सभी होता ही नहीं। अतएव प्रेम को नित नूतन और आस्वाद्य बनाये रखने के लिए सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म भान की उद्भावना की गयी है। इस प्रकार के सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म भान से सयुक्त प्रेम में प्रिया प्रियतम एक पत्र भी एक दूसरे से वियुक्त नही रह सकते किंतु साथ रहकर विरह सदा अवृत्ति का अनुभव करते हुए और अधिक सामान्य की कामना से आनंदित एवं पुत्रवपुण बने रहते हैं।^१

भक्तिशास्त्र के अनुसार माधुर्य प्रेम के पाँच प्रकार हैं रसों में से शान्त रस की सिद्धि प्रेम की अवस्था तक दास्य रस की सिद्धि राग की अवस्था तक सख्य और वात्सल्य रस की सिद्धि अनुराग की अवस्था तक हाँसी है। इनमें मधुर ही एक ऐसा विलक्षण रस है कि यह भाव की अवस्था तक पहुँचने में समर्थ है। भाव के दो भेद हैं रुढ़-दंगा तक कृष्ण महिषी गण (स्वकीयाएँ) तथा अधिरूढ़ दंगा तक केवल गोपियाँ (परकीयाएँ) ही पहुँच पाती हैं। अतएव प्रेम की चरम परिणति—महाभाव दंगा की प्राप्ति का एकमात्र श्रेय परकीया भाव का ही है।

मधुर रस आत्मा का रसमय अनुभव

प्रेम का प्रमुख धर्म आत्मा को तृप्त करना है। यह आरम्भ-तृप्ति श्रद्धा भक्ति वात्सल्य दाम्पत्य आदि किसी भी प्रेम रूप से समभव हो सकती है किन्तु इसके लिए प्रेम की उच्चता परमावश्यक है। प्रेम सम्बन्धों में दीप निखा सा मनुष्य की ऊर्ध्वमुख चेतना या आत्मतत्त्व का जितना ही अधिक समावेश होता है प्रेम उतना ही व्यापक उदात्त और दिव्य बनकर आत्मा को सतृप्त मुक्त और विमल बनाने में समर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि प्रेम मनुष्य को स्व की क्षीम सीमा से बाहर निकाल कर पर की सीमा का अतिगमन करते हुए सब के निस्सीम लोक में पहुँचाने वाला है। इस विगिष्ट अवस्था में प्रेम आत्मा के रसमय अनुभव के रूप में सिद्ध होता है तथा जीवन की पूणता का परिचायक बन जाता है। आत्मा के इसी रसमय अनुभव से अनिवार्य आनन्द और शक्ति उपलब्ध होती है। साधना के क्षेत्र में मधुर रस साधना का सनिष्ठा एवं काँता भाव की मधुरोपायना का वही एकमात्र लक्ष्य है। मधुर रस की दृष्टि में प्रेम सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक नियम है। यही शाश्वत आत्मा का चिरंतन धर्म है। सक्षय में प्रेम ही जीवन की सजीवनी शक्ति है वही मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक कम-कौशल को प्रतिभा है वही विष्य चेतना की स्फूर्ति है तथा सृष्टि और आनन्द की अमर प्रेरणा है। इसीलिए सामान्य रूप से प्रेम को धर्म अर्थ, काम और मोक्ष से परे पंचम पुरुषार्थ की सजा दी गयी है। भावक भक्ता ने उपास्य और उपासक के बीच बान्ना भावपरक मधुर प्रेम-सम्बन्ध की उद्भावना द्वारा प्रेम के पूण रूप को प्रतिष्ठित किया है।

१ मनमाषा के कृष्ण-बाल्य में माधुर्य भक्ति दो रूपनारायण, पृ० १५४।

इस प्रकार प्रेम-ज्ञान का सिद्धान्त 'अपूर्ण' को 'पूर्ण' से मिलाने का तथा उस पूर्णता प्राप्त करने का विलक्षण साधन है। इसका सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि प्रेम भावना की यह उन्नत अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम से भी प्राप्त होती है। अतएव प्रेम-ज्ञान के इस रहस्य को जानने वाले साधक और कवि इन्द्रिया की सहजानुभूति के माध्यम से ही मुक्ति पान की कामना करते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं कि उनकी दृष्टि में निमित्त-सौम्य ग्लानि-स्वरूप ब्रह्म भी अपने-आपको इन्द्रिया में अभिव्यक्त कर रहा है। इस तरह प्रेम-ज्ञान और उसके व्यावहारिक रूप का सारभूत तत्त्व मधुर रस ही है जो बंधना के बीच मधुर मुक्ति का उपनिषद् और सत्य आनन्द रस के आस्वादन का अभिनव साधन है।



चतुर्थ खराड



मधुर रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन

‘रस’ के विभिन्न अर्थ

रस शब्द अनेकार्थी है। प्रायः इसका प्रयोग किसी तरल पदार्थ, मिठाई प्रम आनन्द, प्राप्त भाव इन्द्रिय-भुग्, रति भाव आदि अर्थों में किया जाता है। जल का रस गाव का रस रसगुल का रस—एसा कहने से किसी विशेष पदार्थ की तरलता का ही बोध होता है किन्तु पदरस भोज्य-पदार्थ के वणन द्वारा एक हा साथ बहुत तिकन कपाय अम्ल लवण तथा मधुर रसा का परिमाण होना है। इसमें तरलता के बदल किसी विविध पदार्थ के विविष्ट गुण का ही बोध कराया जाता है। इसी तरह जब हम बाणी के रस की चचा करते हैं तब हमसे बाणी की कामलता एवं मधुरता का ही मजन मिलता है। इसी प्रकार रस छन्दना रस बरमाना, ‘रस झरना रस भोगना’ आदि से प्रीति भाव प्रम प्रवणता प्रमोदनास प्रेमानन्द और आनन्दानिरव की अभिप्रेक्षा की जाती है। रस की गारस मान कर इन्द्रिय-भुग् तथा गो-भुग् के अर्थों में भी इसके पर्याप्त प्रयोग मिलते हैं।^१ कभी कभी छन्द रूप गद्य स्यगादि गुणों के साथ रस छन्द का प्रतिष्ठापन किया जाता है। रस रग, ‘रस-वेदि’ रस-नरग रस रति, आदि द्वारा कभी कभी रतिभाव का द्योतन कराया जाता है। बहिर्गण कभी-कभी रूप रस की उदभावना करके सीन्ध के गामावाक्य पदमाती जमी चमत्कारक तरलता का प्रकाशन करते मनु सकते। सहृदय प्रमोदन रस रूप रस का पान करते नहीं अपाते।^२ भक्तों की यही रस भक्ति रस हरि रस नाम रस राम रस और कथामृत बनकर आप्यायित करने वाला है जिसका एक बार पान कर देने के बाद फिर उसकी गमागी कभी नहीं उतरता।^३ यही रस वही पदरस बनकर प्रमी और प्रमिता के बीच अपूर्व माधुर्य भाव की सृष्टि करने वाला है जिससे लालच में पड़कर नायक नायिका अनन्य प्रकार की मगिमार्गों का अवलम्बन करते हैं।^४

१ गोरम दूध दूध क्रिस्त हो, गोरम चाहत नाहि।

× × ×

‘गोरम दे बाज साज बस के बहारबो।

२ रूप रस पीवत आगत ना बुने जो तब,

मोद मर बाधि है उबकि विरिबो बरै।

—रत्नाकर उदवशावक।

३ ‘हरिरम पीवा जानिय, कबहुँ न भिटे सुखर।

—कवीर।

४ बरस लालच लाग की मुरली धरी तुझ-द।

साँह करै भाँजि हेँसे, देन करै, नहि जाय ॥

—विहारीदास।

आयुर्वेद में रस 'रस' के प्रयोग रसायन पारम्परिक जल आदि के अर्थों में मिलते हैं। वहाँ भक्ष्य चोष्य लेह्य और पेय—इन चार प्रकार के भोजनों के भोग द्वारा लालारस की उत्पत्ति कही गयी है। यह रस जलरूप इवेन दीप्तल, मधुर स्निग्ध और गन्धिहीन है जो गरीर और धातुओं को पुष्ट करने वाला है। प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में रस 'रस' के प्रयोग किये गए हैं। सारांश यह है कि रस आनन्द-स्वरूप है तथा आस्वाद्य है।

विचक्रो ग म ग घ स्वां विष राग शृगार, द्रव, बीज, जल पारद आदि के लिए रस शब्द प्रयुक्त हुआ है।^१ अमरकोश में भी वग म रूप गंध आदि के साथ रस का वणन किया गया है।^२ पुन इसी वग में तिक्तादि पटरसों की भी चर्चा की गयी है।^३ वक्ष्य वग में पारद तथा नानाध वग में शृगारादि के लिए रस शब्द के प्रयोग किये गए हैं।^४

वेद और उपनिषदों में 'रस' शब्द के प्रयोग

रस 'रस' का सबसे प्राचीन प्रयोग वेदा में मिलता है। ऋग्वेद में गो-दुग्ध^५ सोम रस^६ (मधुपेय) और उदक^७ के लिए प्रायः रस 'रस' के प्रयोग मिलते हैं। अथर्ववेद में भी मधुरस (सोमरस) गो-दुग्ध तथा उदक के अर्थ में रस 'रस' का व्यवहार किया गया है।^८ वेदा में जिन अर्थों के पर्याय के रूप में रस 'रस' प्रयुक्त हुआ है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रस में स्वाद की भावना ही प्रमुख है। इसी के आधार पर उपनिषदों में रस की प्राण-स्वरूप मानकर उसे सारभूततत्त्व की संज्ञा दी गयी है।^९ तत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म की रस रूप मान कर उसे ही वास्तविक आनन्द-स्वरूप बतलाया गया है। जरा मरण के चक्र में निरन्तर घिसने वाली जीवात्मा रस रूप सच्चिदानन्द परब्रह्म को प्राप्त कर ही परमानन्द को प्राप्त होती है।

१ रसो गन्ध रमे स्वाति तिक्तात्मा निश्चरागयो ।

२ गारादौ द्वे बीर्ये ऽहं धात्व दु पारत् ॥

३ रूप शब्दो गन्ध रस रसराज्य विषया अमी ।

४ तिक्तो अम्लरस रसा पु सित तद्वत्पुष्प मी विषु ।

५ गृ गारात्मा निवे बीर्ये गुणे रागे द्वे रमे ।

६ 'जम्भे रमस्य वाक्पु । अ व म १ । अ म स ३७५ ।

७ दृष्टं त इदं व भ पोषाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय ॥

८ यो व शिवनमो रमस्तम्य आनन्दे न । उरातीरिभ मातर ॥

९ रमो गोषु प्रविष्टो य —अथर्व १४ २५८ ।

रमेन गुणो न कुतश्चनो न । —बही १ —४४ ।

×

×

निबो नु मां इह तौ अतरिचात् अर्पा रनोकोऽभ्यपन्नदुरसेन ।

ममिद्विषेय पथसाऽभमग्ने क्षन्तोमिर्वै सक्तुना कृतेन । —अथर्व ६ १२४ १

१० सोऽस्व आहिरसोऽग्निना दि रस प्राणो वा भक्षाना रस प्राणो दि वा भक्षाना रसस्त

स्मात्समास्तरमाश्वाङ्गात्प्राण उक्तामति तदेव तच्छुध्यत्येव दि वा भक्षाना रस ॥ ११ ॥

—इहदारयकोषनिबन्ध गुटीव आह्वयम् ॥

जो पुण्यस्वरूप ब्रह्म है वही तृप्ति का हेतु रस के तुल्य आनन्द देने वाला है। यह जीवात्मा उस प्रकार के आनन्द को पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। वसा आनन्द और मुख अथ किसी कर्म से नहीं मिलता क्योंकि यह परमेश्वर आनन्द स्वरूप है। इस कारण उससे भेद करने वाले को वही आनन्दित करता है। यदि यह निराकार भवागमान आनन्द स्वरूप परमेश्वर न हो तो कौन अपना सम्बन्ध जोने की चेष्टा करे? इस प्रकार मधु से मधुरता का बोध होता है और मधुरता से आनन्द का बोध होता है, जिसका प्रतिपादन तत्तिरीयो पनिषद् में किया गया है।^१

इस प्रकार रस के भौतिक और मानसिक दो रूप स्पष्ट हो जाते हैं। भौतिक रूप में रस स्थूल इन्द्रिय-मुख या आस्वाद का बोध कराने वाला है।

छान्दोग्योपनिषद् में रस का आठ प्रकारों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'एन निखिल प्राणिमो वा रस आहार पृथिवी है पृथिवी का रस जल है जल का रस उस पर निर्भर करने वाली ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस उनसे पोषण प्राप्त करने वाली पुष्ट्य देह है, पुष्ट्य का रस वाणी है वाणी का रस श्रद्धा है श्रद्धा का रस साम है और साम का रस उदगीय है।'^२

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत ने अथर्ववेद में रस की ग्रहण कर उसे नाट्य में प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में रस के बिना कोई नाटकाय प्रवर्तित नहीं हो सकता।^३ दूसरे शब्दों में वे रस को नाट्य में सौरभ और मौदय का विधायक मानते हैं।

'नाट्यम ब्राह्मण मे रस' को मधु के पर्याय के रूप में माना गया है। ब्रह्म रसमय है और रसमय मधुमय है। (रसो व मधु—'नाट्यम ब्राह्मण')। यह जड़ जगत चिजगत का प्रतिफलन है। चिजगत जगत में विषयस्त होकर जड़-जगत में स्थूल रूप धारण कर लेता है। विषयस्त प्रतिफलन के कारण चिजजगत और जड़ जगत में रसो की स्थिति का क्रम भी उल्टा हो जाता है। चिजगत में सबसे ऊपर मधुर रस, उसके बाद क्रमशः वातस्थ सख्य दास्य धीर गान की स्थिति है किन्तु जड़ जगत में सबसे ऊपर गान उसने बाद क्रमशः दास्य सख्य वातस्थ और सबसे निम्नस्थ मधुर रस की स्थिति है। वस्तुतः परम वस्तु रस रूप तत्त्व है और यह सारा जगत उससे ओत प्रोत है। फलतः यह

१ 'रसो व स ॥ रसं बोधाय लब्धवानन्दी भवति ॥ को बोधायास्य प्राणपाय ॥ तत्रैव भावादा भानदो न रसाय ॥ ६५ बोधान इयानि ॥ (सुष्टमोऽनुवाकः)

—तत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ॥२॥

'मान दो ब्रह्मेति स्थानानाम् ॥ आनान्द्रयेव सत्त्वमिति भूत नि ज व ने ॥ आन मेव साधानि बोधित ॥ आन द प्रपन्नमिति विदितोति ॥ सैवा साधो बोधो विद्या ॥

—बहो, मृगवल्ली, चण्डोऽनुवाकः ।

'प्रबानिरगृणमानन्द इगुपरये' ॥

—बहो दशमोऽनुवाकः ।

२ 'एषा भूतानां पृथिवी रस पृथिव्या आपो रसोऽयमोषधयो रस ओषधीनां पुष्ट्यो रस पुष्टयस्य वायव्यो रस वायव्यस्य आप म मरस साम्ना उदगीयो रस ॥२॥ स एव रसानां रसमय परम पराध्वोऽयमो मधुरगीव ॥३॥

—छान्दोग्योपनिषद् सुनीवस्थ प्रथम खण्ड ॥१॥

३ 'न हि रसादने बहिष्पत्यर्थं प्रवर्तते । —नाट्यशास्त्र बध्नाध्याय, स बन्धेव उपाध्याय पृ ७१।

सम्पूर्ण सृष्टि मधुमय है। इसका अणु अणु मधु रससिक्ता है। प्रकृति में एक से एक मधुर स्वाद भर है। दाढ़ के अणु अणु में वीन इतनी माधुरी भर देता है ? पुष्पों के पराग में या मधुकोश में जो मधुरिमा है उसका स्रोत कहाँ है ? वेदों में सूय की रश्मियों को मधु की नाडियों कहा गया है। ये अनन्त रहस्यपूर्ण रश्मियाँ ही नाना पदार्थों की सृष्टि कर रही हैं। इनमें ही मधुर स्वाद की उत्पत्ति का एक विचित्र रहस्य विद्यमान है। प्रकृति के भौतिक घरातल पर जिस मधुरता का हम आस्वादन करते हैं वह किसी एक घटना का परिणाम नहीं है। प्राण के घरातल पर जो त्रिया सृष्टि है जो प्राण मात्रा है उसमें भी उन मधु नाडियों का रश्मि जाल फरा हुआ है। वस्तुतः प्राण के आधिदैविक घरातल से ही उतर कर वह मधु रस स्थूल भूतल में आता है। प्राणों में जो मधु है वही लौकिक जगत में रूपायित होता है। स्थूल भूतल का मधु तो उसी की अनुभूति है। प्राणों में जो माधुर्य का अनुभव है वह और भी सूक्ष्म स्तरों से आता है। वह प्राण मात्रा या मन का घरातल है। मधु रस का उत्पन्न वही नहीं है। जो मन बाह्य विषयों से मिटास पाता है वही जब मुड़ कर भीतर की ओर मिटास लाजता है तब उसे अपने ही चैतन्य-केन्द्र में मधु का भरा हुआ पात्र प्राप्त हो जाता है। इसी मधु कोश की प्राप्ति निम्न मनोराग का आस्वाद है। इस अन्ध मधु-काश का पता पा लेने पर हमारी दृष्टि भी मधु पर टूट पड़ने वाली मन्त्रियों की तरह अपने आपको उस पर यात्रावर कर देती है। इसी मधु रस की उपलब्धि जीवन का उपनिषद् है।

भरत के बाद दक्ष तथा शत्रुघ्न दोनों प्रकार के काव्य शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से रस सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अलङ्कारवाक्यादि भाषा में भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रक बल्लोकिनवादी कुतूब औचित्यवादी क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आनन्दवर्धन तथा पंडितराज जगन्नाथ ने रस सिद्धान्त को प्राज्ञल एव प्रोत्साहन देने के स्तुत्य प्रयास किये हैं। नाट्यशास्त्र का प्रणयन करने वाले धनंजय गारदातनय गिरभपात्र रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि न भी रस शास्त्र का नवान् बर्चस्व विभूति से अलङ्कृत करने के प्रयत्ननाम काय किये हैं। रसवादी भोज और भानुनाथ ने भी इस विधा में नवीन स्थापनाओं द्वारा नये नई दृष्टि दी है।

इस प्रकार भरत सूत्र के 'माध्याता लोल्लट शकुन्त' भट्टनायक और अभिनवगुप्त पंडितराज जगन्नाथ ध्वनिविरोधी मन्त्रि भट्ट ने भारतीय दर्शनों की मिट्टी लगा कर इस पीढ़ी को प्रवृद्ध होने और विराट होकर सब पर छा जाने का सामर्थ्य प्रदान किया है और लोक भूमि का सहारा लवर भी अलौकिक बह्मनाम की समानता में उपस्थित होने वाले रस की महनीय और काम्य बना दिया है। इसी प्रकार भगवद्गीता के रस में भीग हुए तरल हृदय गौडीय गान्धामी वर्ग ने प्रेम और माधुर्य के साथ-साथ भक्त के हृदयवेग का पुट देकर रस का सबया एक नवीन पटभूमि प्रदान कर दी है जिससे रसों की संख्या में विशेष वृद्धि होने का अवसर मिला है। अवश्य ही हम काव्य के लिए श्री जीवगोस्वामी रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती का नाम सर्व स्मरणीय रहगा।^१ अक्षितरमाधृतिमधु के अवगाहन करने वाले इन रसवादी आचार्यों के आशीर्वात्त से सम्पूर्ण सगुणमार्गी काव्य साहित्य एकबारगी चमत्कृत हो उठा है साथ ही निगणमार्गी काव्य साहित्य पर भी इस विचारसरणी का

व्यापक प्रभाव पड़ा है जिसके परिणाम-स्वरूप निगुणोपासना के अतगत भी माधुर्यमय रहस्यवाद के मनोरम, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एवं अलौकिक भाव गेह की मृष्टि हुई है।

रस की कल्पना

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार 'द्रुहिण' नाम के किसी आचार्य ने सब प्रथम रस की कल्पना की।^१ स्वयं भरत मुनि ने पञ्च शृंगार रौद्र वीर और बीभत्स इन चार रसों की ही कल्पना की।^२ परन्तु 'अग्निपुराण' के अनुसार जो अक्षर परब्रह्म समान अज और विभु है उसका सहज आनन्द यदा क्या अभिप्रेत हो जाता है। यह अभिप्रेत कल्पना अक्षररूप और रसमय होती है। उसके आग्नि विचार की अहंकार की सत्ता दी गयी है। अहंकार से अभिमान (ममता) की उत्पत्ति हुई, जो विभुवन में व्याप्त है। उस अभिमान में रति उत्पन्न होकर परिपुष्ट हुई। तदनन्तर राग (रति) से शृंगार तीक्ष्णता से रौद्र गम से वीर और मकोच से बीभत्स रस की उत्पत्ति हुई। उसके बाद पुनः शृंगार से हास्य, रीं से कथन वीर में अद्भुत और बीभत्स में भयानक रसों की अवतारणा हुई।^३

ईश्वर रस रूप है। श्रुतिमाने भी 'रसो व स' कहकर उसकी पुष्टि की है। अनपेक्ष रस रूप ईश्वर को रस का आधार मानना तथा उसके द्वारा रस का विनाश निलाना सबका समीचीन प्रतीत होता है। रस वस्तुतः रस रूप ब्रह्म के आनन्द की ही

१. येन क्षात्री रसा प्रोक्ता द्रुहिण महारत्नः।

पुनरप्यभावात् कथयामि रसादि सकारित्वमात्रं ॥११॥ — नाट्यशास्त्र अध्याय ५ पृ. ६६।

२. तेषामुत्पत्तिहेतवरादरादौ रसाः। तद्यथा शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति ॥ — वही पृ. ७७।

३. अक्षर परम भद्र समात्मन अज विभुम्।

वेदा तैषु ब्रह्मैवैव चैतन्म योनिरीश्वरम् ॥१॥

आनन्द महजरत्नस्य वचनेन सङ्गच्छते।

अपेक्ष सा तस्य चैतन्यव्यक्त्यादरमाह्वया ॥२॥

आपस्तम्ब विचारो य सोऽहंकार इति स्पष्टम्।

ततोऽभिमानस्तत्रैव समाप्त्य भुवनत्रयम् ॥३॥

अभिमानादिति सा र परिपोषणैर्गुणैः।

अभिचाया मिमांसाच्छब्दा इति कीदृशे ॥४॥

तत्त्वैव कामिनी हास्य वा कथनेकम्।

श्वरवरथा विविदोपोऽय परिपोषकत्वच्छब्दा ॥५॥

सत्त्वान्निगुणमनामात्राद्यन्ते परमात्मनः।

रागादुपपत्तिः शृंगारो रौद्रः सौन्दर्यात्पञ्चमे ॥६॥

वीरोऽदभ्युपगमः सवाक्यमूर्ध्वमम ब्रह्मणे।

शृंगारात्पञ्चमे इत्यमो रौद्रास्तु करस्यो रसः ॥७॥

वीराश्चाद्भुतनिगमिणि रसाद् बीभत्साद् अमानसः।

शृंगारहास्यकथना रौद्र वीर अमानसः ॥८॥

बीभत्साद्भुतं तस्यैव स्वभावस्तदनुरो रसः।

तस्मिन्निव विज्ञा स्वाभावः बाधो भानि नीरसा ॥९॥

— अग्निपुराण द्वाविंश अध्याय (रस निरूपणम्)

अभिप्रेत है। आनन्द का यथाय उद्भव ही रसत्व को प्राप्त होकर विभिन्न रसों की सृष्टि करता है।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार वीर रौद्र और बीभत्स इन चार मुख्य रसों के बाट पुन आठ रसों की उद्भावना की गई। काव्यप्रसाधार ने भी पहले आठ ही रसों और उनके आठ स्थायी भावों की चर्चा की।^१ बाट में उन्होंने निर्वेद का नवम स्थायी भाव कहकर गान्त रस नामक नवम रस की उद्भावना की।^२ ये स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और संचारी भाव की सहायता से ओकोत्तर आनन्द रूप में परिणत होकर अभिव्यक्त होते हैं और रसत्व का सञ्जा प्राप्त करते हैं।

भरतोक्त आठ रसों के अनिर्विकल अथ रसों की स्वीकृति के सम्बन्ध में विष्णु द्वारा काफी तक वितर्क किये गये हैं। गान्त रस की स्वीकृति के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। गान्त रस के समर्थक विद्वान उसकी प्राचीनता बतलाते हुए प्राचीन गान्त रस प्रधान प्रथा के आधार पर उसे परम्परा स्वीकृत मानते हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र में आई हुई बवचिद्धम बवचितक्रीडा बवचिद्धय बवचिच्छम तथा इसी तरह की अन्य कुछ उक्तियाँ के आधार पर उसे भरत-सम्मत ही माना है।^३ आनन्दवर्धन पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने महाभारतादि गान्त रस प्रधान प्रथा के आधार पर भरतोक्त आठ रसों का विवेचन करते हुए का प्रकाशकारोक्त गान्त रस को भी नवम रस के रूप में स्वीकार किया है।

रसगगधरकार ने लिखा है कि जो लोग नाटकों में शांत रस को नहीं मानते हैं वह भी किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण एवं महाभारतादि ग्रंथों में गान्त रस ही प्रधान है यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध होने के कारण उसका यों न अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कारण भस्मत भट्ट ने भी अष्टौ नाट्य रसास्मृता इस तरह प्रारम्भ कर

१. आरदास्यकृष्णरीद्रवीरमयानरा ।

बीभत्साद्भुतसदौ चत्थ । नाट्ये रसा स्मृता ॥२६॥

X X X

रतिनामश्च शोभश्च शोभोत्साहौ भय तथा ।

नुगुप्ता विरमथरत्नैव स्थायिभावा प्रकीर्तिना ॥३॥

—काव्यप्रसाद, चतुर्थ उल्लास ।

२. निर्वेदस्थापिभावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रसः ।

रतिर्विनिविष्टया तथाऽप्यित भाव प्रोक्त ॥३८॥ —वही ।

३. प्रतीयत एवति । मुनिना बगीकृतं एव बवचिद्धम इत्यादि वृत्ता ।

—संज्ञान पृ० ३६१ ।

X X X

५. संचारिणां प्रमादानां होकात्तानां तपस्विनाम् ।

विभामजनन लोके नाट्यमेतद् अभिव्यति ॥ १११॥ और ११२ द्रष्ट व ।

—नाट्यशास्त्र प्रथमोऽध्याय ।

X X X

धमकामोऽधकामश्च मोक्षकामस्तथैव च ।

स्वीयमदीष्टु सयोगो व काव्यं स तु सस्मृत ॥६१॥

—नाट्यशास्त्र, अ० २४/६१ ।

‘गातोऽपि नवमो रस’ इस तरह लिए कर उपसंहार किया है।^१

इसके विपरीत सात रस के विरोधी भरत द्वारा इसके स्वीकृत नहीं हान व कारण इस विनियोजनक, असावजनोन् अनभिनेय एवं नाटक के लिए अप्रयोजनीय मानते हैं। दूसरी बात यह है कि ‘गान्त रस’ में रास द्वेषाभाव के कारण हृदय सत्वा सम्भव नहीं है।^२ तामरी बात यह है कि ‘गान्त रस’ का अतर्भाव और तथा भीमत्स रस में सम्भाव्य है। इस प्रकार उपयुक्त कारणों से ‘गान्त रस’ को एक स्वातंत्र्य रस के रूप में मानने का कोई प्रयोजन उसके विपक्षियों को नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकार ‘गान्त रस’ को एक स्वतंत्र रस की काटि में रखा जाय कि नहीं इसने सम्बन्धित रसमन्त्रमण्डनपरक पद्याप्त सामग्री उल्लेख है। अधिकांश विद्वान ‘गान्त रस’ के स्वाधीभाव ‘रस’ या ‘निर्वे’ या ‘तृणा’ नय जयदा आत्मविधामञ्जय परमानन्द के महत्त्व की मानते हुए ‘गान्त रस’ की अवस्थिति का आक्षेपक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं। महर्षि कृष्णद्वैपायन वं वयनानुसार सप्तरस में जितने कामप्रमुख हैं जितने दिव्य और महान मुख हैं वे सङ्ख्याभय-मुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।^३ मानव जीवन में त्याग द्वारा ही मन्त्री ‘गान्त’ और परमानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में ‘गान्त रस’ की अस्वीकृति असम्भव है। ‘गान्त रस’ के अनेक आचार्यों ने वास्तव्य का प्रकट चमत्कार वाला होने के कारण दसवें रस के रूप में स्वीकार किया तथा वास्तव्य रूपी स्नेह की इसका स्वाधीभाव माना। पुत्रादि ही इसके आलम्बन हैं। बाण मुलम चष्टाए आनि उदीपन हैं। ‘गान्त’ अग्नय गिर ध्रुवन जग पुलक आनदाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं और अनिष्ट गका हृप, गव आदि सचारी भाव हैं।^४ १० अयोध्यामिह उपाध्याय हरिऔध ने ‘वात्मन् रस

१. ‘मैरपि नाट्य रस’ को रसो नास्तीत्युपपन्नमन नरपि बाधका भावा मन्त्रभारत में प्रवृत्ताना सात रसप्रधानतया अभिन लोकात्रुमक निजस्वाभाव का ये मो वश्य रसो गान्त । अनन्तर ‘अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृतं इत्युक्तम्’ सा नी वि नवमो रस इति मन्त्रमन्त्र अन्त्युपपन्नम् ॥

—रसमहाधर पृ० ३० ।

२. ‘म य तु भरतुनस्तथाभाव वगवति—अनादिकाल—

महाकायान रागवेषाभूषणवशात् ॥’—‘शरुष्वर अत्रुष प्रशस्त

× × ×

न र तथाभूतय सा नरमय मन्त्रा स्वादित र सति ।

—वही ।

३. ‘मन्त्र काममुख लो वन स्थि मन्त्र मुखम् ।

तृणाद्य मुखरयने नाड्य कोशीकनाम ॥

—महर्षि कृष्णद्वैपायन ।

४. ‘रुद्र चम आरितया व मल च रस विद्रु ।

स्वाधी वरमजनात्म पुत्रावात्मन्वन मनम् ॥२५॥

उदीगनानि तन्वत्या विप्रासीर्षे वाम्ब ।

अनिगतागमशशासितु वनदीधयम् ॥२६॥

पुष्यनन्दवाया अनुभाव प्रदीपितम् ।

मकारिपोनिभरशराह गैर्वायो मय ॥२७॥

परममन्त्रविद्वत्प्राप्त लोकात् ॥

—माहिस्वयम्भु नवीक परिशदे ।

गोपन निबन्धन म हमके ऊपर काफी विस्तार के साथ विचार किया है। ना त रस के सम्बन्ध में भी काफी तक वितन किये गए हैं विन्तु एतन्पिमेव प्रचुर वाक्य सम्पदा को देग्त हुए अधिकांश विद्वानों ने वास्तव्य को एक स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार किय जाने का समयन किया है।

रसा की सख्या यही तक आकर समाप्त नहीं हुई है। इनमें अनिरिक्त नय नये रसा की कल्पना होती रही है जिनमें मधुर रस या भक्ति रस या उच्चर रस सख्य रस शीत्य रस मृग्य रस कापण्य रस शीघ्रक रस बाह्य प्रगात तथा माया रस प्रणाम और श्रान्ति रस देशभक्ति रस आदि अनेक रसा की उदभावनार्थ की गयी हैं जिनमें मधुर रस विषय रूप से उत्कृष्टनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में वास्तविकता यह है कि भाव ही उत्कृष्ट पाकर रस का स्वरूप धारण करत हैं। रस आनन्द का वाचक है। आनन्द अक्षर्य एवं सदा एक रस है। अतः उसका भेद नहीं किया जा सकता। फिर भी आनन्दानुभूति के कई साधन हो सकते हैं। आनन्द का मूल चित्त की अद्वयता है। जिस समय वित्त एकाग्र होकर किसी एक विषय में मगुन हो जाना है उस समय आत्मा अपने स्वाभाविक आनन्द की स्थिति में पहुच जाती है। रस की जिस समय हम आनन्द रूप में ग्रहण करत हैं उस समय वह सदा एकरस और अविभाज्य रहता है। परंतु रसोत्पत्ति करने वाले भिन्न भिन्न कारणों पर दृष्टि डालने से उसने अलग अलग विभाग करने की आवश्यकता हो जाती है। रसो की सख्या वद्धि के लिए रसो पत्ति करने वाले ये भिन्न भिन्न कारण भी बहुत हद तक उत्तरदायी हैं।

रसो की सख्या वद्धि के सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि इन सारे रसो का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्तियों और तत्सम भावात्मक गुणों (Emotional Qualities) से है। मनुष्य में सामान्यतः पलायन (Escape) संघर्षण (Combat) ह्रास या दूरीकरण (Repulsion) वारस य रक्षा (Parental) प्रानन (Pairing) औत्मुख्य (Inquisitiveness) अधीनता (Submission) अस्तिव स्थापन (Assertion) सामाजिकता (Sociality) भोजनोपाजन (Food seeking) प्राप्ति (Acquisition) निर्माण (Construction) और हास्य (Laughter) की प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनके अनुरूप क्रमशः भय (Fear) क्रोध (Anger) घणा (Disgust) स्नेहादि कोमल भाव (Tender Emotion) दुःख (Distress) काम (Lust) जिज्ञासा या कौतूहल (curiosity) दय (Feeling of subjection) जात्मदृष्टता (Elation) मिलने-ठो (Feeling of loveliness) क्षया या च्छा (Appetite of craving) अधिकार या स्वत्व स्थापन (Feeling of ownership) निर्माणोत्साह (feeling of creativeness) और प्रसन्नता (Amusement) के भावात्मक गुण पाये जाते हैं।

उपयुक्त सारी प्रवृत्तियाँ और उनमें सम्बंधित सारे भावात्मक गुण परम्परया स्वीकृत शृंगार हास्य करुण रोदन वार मयानक अन्ततः वीभत्स और शांत रसो और उनके सहायी भावा के अन्तर्गत समाविष्ट किय जा सकते हैं। जिन मानव जीवन के विविध विस्तार और उमक स्वभावा की सकुलता को दर्शन हुए मनुष्य के भावा की कोई सीमा रेषा नहीं खीचा जा सकती। अतएव नवरमनर रसा की उदभावनार्थ कपाल कल्पित एवं निरर्थक नहीं मानी जा सता। मनुष्य के नवीनानि भावो एवं उनके पध्दति प्रगुत वाड्य कलात्मक

अभि यन्निया के अनुरूप नये नये रसा का उदभावना सबसा स्वाभाविक समीचीन एवं अपरिहाय है ।

रसों की सख्या-वृद्धि के सम्प्र भ म एक और विचारणीय तथ्य यह है कि का भेद के अनुसार साहित्य भी विविध स्थात्मक होता चला गया है । और उसकी विविधता बचल गय या पल के भेदों की दिसा म ही नहीं दिखाई दती, अपितु विषय चयन और जीवन के बहु मुखी विकास के साहित्यिक अवतरण म भी भिन्नता दिखाई पड़ती है । फलतः साहित्य में प्रयुक्त होने वाले आम्बनों का रूप भी बदलता चला है । निश्चय ही इस परिवर्तन के साथ साथ रसों के भेदा के कुछ बातें घटायी गये हो न ता मर्के बनायी अवश्य जा सकती हैं ।^१

रस निरूपण के अतगत रस की निष्पत्ति रसास्वा रस की एतता अनेकता, रस के भेद अर्थ और उनका सोपानाहरण निरूपण रसों की परस्परप्राप्तता और विरोध, रसा की पारस्परिक श्रद्धा अथवा होनता आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान आवश्यक है किंतु प्रस्तुत प्रकरण का मुख्य प्रनिपाद्य मधुररस का सैद्धांतिक विवरण करना है न कि विभिन्न रसा का मागोपाग निरूपण करना । अतएव मधुर रस के सन्दर्भ म जो आवश्यक एवं अपरिहाय विषय हैं वहीं तक विचारों को सीमित रखन का प्रयास किया गया है ।

मधुर रस की परिभाषा

वर्णव रस-साधना के अतगत वर्णव आचार्यों ने भक्ति को प्रधान रस मानते हुए शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर को मुख्य रस तथा हास्य, अद्भुत और करुण रीद्र भयानक और बीभर्ष को गौण रस माना है ।^२ गौडीय वर्णव आचार्यों ने राधाकृष्ण को

१ रस भिन्ना त रसरूप और विवरण, पृ २८७ — डॉ० आन प्रसाद शिनि ।

२ रसस्य स्वप्रकाशस्वभावश्च न च मिथ्यति ॥

पूर्वाभुवादिधा भेदा मुग्धगौणतया रते ॥६४॥

भयानकभिरसो यव मुग्ध गौणतया दिधा ॥

पल्लवापि रतेरैवामुग्धर बह इति ॥६५॥

सातवा न तथा गौण इति भक्तिरसो ऽप्य ॥

मुग्धरसु पञ्चमः स न प्रीति प्रकाशव वरमन ॥६६॥

मधुररसैवमसौ स्या यथा पूर्वमनुसमा ॥

हास्योद्भूतरसया बीर करुणो रीद्र हस्यपि ॥६७॥

भयानक सरोमास इति गौणरस मन्त्रया ॥

यव भक्तिरसो भेदा द्वयोः सौम्योऽप्यने ॥६८॥

—भक्तिरसाभूतमिदं रूपगोभामो । (६० वि पृ १०२)

शान्त दास्य सख्य वात्सल्य य मधुर रस नाम ।

दृष्ट्यभिन्न रस मध्ये न पञ्च प्रधान ॥

हास्योद्भूत बीर करुण रीद्र बीभर्ष मय ।

पञ्चविध भवते गौण म न रस इव ॥

पञ्च रस म्हावी व्यापि रते अहममने ।

मन्य गौण आगानुक्त पश्ये वारणे ॥

—दृष्ट्यन्तम बहिरावृत्त, पृ १० म० ली० परि ११ पृ २२२

आलम्बन बनाकर ठूठा रस का भक्तिपरक निरूपण करते हुए मधुर रस की मार्मिक अभि-
 यज्ञता की है। श्री रूपगोस्वामी ने भक्तिरसाप्तसिंधु में भक्ति रस किंवा मधुर रस को ही
 प्रकृत रस माना है तथा अय रसा को उसी की विभिन्न विवृतियाँ एवं प्रभेदों के रूप में स्वीकार
 किया है। उक्त ग्रंथ में उन्होंने प्रमाणों के साथ भक्ति प्रातिभक्ति प्रयोभक्ति वत्सल भक्ति
 और मधुर भक्ति रस का विशेष विवेचन किया है। भक्ति भेदानुसार कृष्णरति के पाँच रसों
 दास्यरति सख्यरति वात्सल्यरति और मधुररति ये पाँच भेद हैं।^१ अपने दूसरे ग्रंथ
 उद्बलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने भक्ति रस राज मधुर रस का विस्तार के साथ प्रति-
 पादन किया है।^२ राधाकृष्ण व्रजवल्लभाए वत्सलभाए विभावान्त्रिको स आस्वाद्यमान
 मधुरा रति ही मधुर नामक भक्तिरस है।^३ कृष्ण और वत्सलभाए इनके आलम्बन विभाव
 हैं जिनमें कृष्ण विषयालम्बन तथा उनकी वत्सलभाए आश्रयालम्बन मानी गई हैं। इस भक्ति
 रसराट मधुर रस का स्थायी भाव मधुरा रति है।^४ यह मधुरा रति एकपत्नी नहीं उभय
 आनन्द है मिथ्य सम्भोग है। यह दोनों से दाना का (श्रीकृष्ण और उनकी वत्सलभाए)
 सम्भोग की प्रेरणा देनी रहती हैं इसीलिए इसे प्रियता की भी सत्ता दी गई है।^५ व्रजवल्लभ
 कृष्ण का व्रजवल्लभभावों के साथ जो नित्यलीला विन्यास है वही इस प्रख्यात मधुर रस की
 आत्मा है। क्योंकि श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाभा में ऐश्वर्य की अपभ्रंश माधुर्य की लाला ही
 श्रेष्ठ है।^६ श्रीकृष्ण के गुण चष्टा अंग-मोरम वशी स्वराणि इसका उद्दीपन विभाव हैं।
 स्मित नय गीताणि अनुभाव एव स्तम्भाणि सात्त्विक अनुभाव हैं। निर्वेद हर्षाणि तृप्ति
 सचारी भाव हैं। इस प्रकार युक्त विभावो अनभावो और सत्त्व्यादिना द्वारा जब सहजान
 गुह्य स्नेहानुरागानि ॥ भक्ति माहात्म्यबोधया प्रमपरिप्लवता सात्त्विक रति रूप भाव या
 वसिष्ठ भगवान् के माहात्म्य बोध के साथ नाना भूमिकाओं में विवक्षित हानर जब भवन्मनो

- १ भक्त भेदे रति भेद पञ्च परकाः ।
 शास्त्ररति ॥ रति सख्यरति आर ॥
 वा स खरति मधुररति पञ्चभिः ।
 रतिभेद उद्बलनीलमणि पृ ३०८ ।

—कृष्णम वदितवन्तं तं च म ली परि १६ पृ २१ ।

- २ मुरारिभेद पृ १५ मन्मथोक्ति रसस्वरूप ।
 पृथक् भक्तिरसराट् स विस्तरणो वन मधुर ॥३॥

—उद्बलनीलमणि द्वि स (विषयमागद्रेम) पृ ४ ।

- ३ वक्ष्यम परिभाष्य स्वो ना मधुरा रति ।
 नीला भक्तिरस प्रकृतो मधुरास्वो मनीषिभि ॥३॥ —वही पृ ८ ।
- ४ स्थ धीभावो च गगारे वक्ष्यते मधुरा रति ।

—उ नी पृ ३० ।

- ५ निधो हरि गच्छ स्व सम्भोगस्या विरहम् । ७॥
 मधुर परपथ्याया विषया न्योतिता रति ॥

—भक्तिरसाप्तसिंधु द्वि वि ५८ वी ।

- ६ प्रीति स रस श्रीरूपगोस्वामी, पृ ७ ४७१५ दृश्य ।

- ७ सर्वोदयना निमित्तं स्नेहानुरागं रित्यो ।

वृत्ति प्रेम परिप्लवना भक्तिनाहर बोधः ॥ —रात्रिचरित ॥

वे हृदय में रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचती है। तब इसे भक्तिरस राज मधुर रस का नाम से अभिहित किया जाता है।

चित्त में दबे हुए सात्त्विक रति रूप सत्कार स्मृति रूप आभ्यन्तर निमित्त द्वारा अथवा गास्त्र वर्णित अतमीकुसुमापमयमति आदि कमनीय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहा के दर्शन से वृत्ति या भाव के रूप में परिणत होते हैं। स्मृति या कल्पनाजय वस्तु से अथवा इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बाह्य वस्तु से उपराग या आभोग के अनंतर मन में जो ग्राह्य ग्रहणाकार प्रतीति होती है वही वृत्ति है। मनुष्य की यह वृत्ति स्थिर नहीं रहती। यह अयाय वृत्तियों द्वारा विच्छिन्न होती रहती है। साधन भक्ति द्वारा चित्त के समापन होने पर यह वृत्ति स्थिर हो जाती है। इस स्थिति में यह वृत्तिमात्र न रहकर शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। भक्त को यहीं भक्ति रस अथवा मधुर रस की अनुभूति होती है जो विषयावच्छिन्न चित्त समापन लौकिक रस का साध्य-तत्त्व है।^१ कहा जाता है कि स्वयं चतयदेव ने रूपगोस्वामी को इस प्रख्यात मधुर रस किंवा भक्ति रस का परिचय कराया था जिससे प्रेरित होकर उन्होंने भक्तिरसामृतनिधु और उज्ज्वलनीलमणि जैसे एतदविषयक ग्रंथ रत्नों का प्रणयन किया। इन प्रकार पहली बार बङ्गव रस-भावना से अनन्त भक्तिरसराट मधुर रस की सुन्यवस्थित एवं गास्त्रीय याख्या का आरम्भ हुआ। आगे चलकर कृष्णदास कविराज ने चतय चरितामत नामक ग्रंथ में इसकी विगद विवेचना की। कृष्णदास कविराज के मतानुसार साधन भक्ति द्वारा कृष्ण रति का उद्रेक होता है। यही रति प्रगाढ़ होकर प्रेम बन जाती है। प्रेम का अर्थ है भाव वधन जो रति का अमर बीज है। प्रेम निरन्तर वधमान होता हुआ क्रमशः स्नेह भान प्रणय राग, अनुराग भाव और महाभाव में परिणत होता हुआ चरमोत्कर्ष को प्राप्त होता है।^२ ये सभी कृष्ण भक्ति रस के स्थायी भाव कह गये हैं।

^१ स्वाधत्त हृदि भवतानामानीता भवणादिभिः ।

एवा दृश्यरति रथावी भावो भक्तिरसो भवत् ॥२॥

—भक्तिरसमृत्तसिंधु द० वि १ लक्षरी ।

^२ इत्येव लौकिक रसे मृगाणां विषयावच्छिन्नस्य चित्तानां शरयः स्फुरणानाम्नाशरयः स्यूनत्वं भगवन्कारोक्तं चेतीवृत्ति लक्षणे भक्तिरसो ॥ अनवच्छिन्न चित्तानां दधनस्य भगवत् स्फुरणा शरयः ताभिस्त्वमानन्दस्य । अनो भगवद्भक्ति रस एव लौकिक रसानुपेक्ष परमरसि मेव ।

—भक्ति चंद्रिका यदिवर नारायण सीध ।

^३ साधन भक्ति हैने रतिर उदय ।

रतिगात्र हले तार प्रेम नाम कथ ॥

प्रेमवृद्धि ममे नाम रमेह भान प्रणय ।

राग अनुराग भाव महाभाव ॥

एव सव कृष्ण भक्ति रस स्थायीभाव ।

स्थावी भावे भिन्नि नदि विभाव अनुभव ॥

मान्दिक व्यभिचारी भवेर मितने ।

कृष्णभक्ति रस हय अनुभूत आरवाग्ने ॥

ये ही स्वायीभाव युक्त विभाव, अनुभाव एवं सात्त्विक अभिचारी के संयोग से कृष्ण भक्ति मधुर रसामृत का आस्वादन द्रुत चित्त जनना को कराते हैं। कृष्णानि इसके आलम्बन विभाव वशी स्वरदि उद्दीपन विभाव स्मित, गीत, नृत्यानि अनुभाव स्तम्भानि सात्त्विक अनुभाव और निर्वेद हर्षानि तनोस अभिचारी भाव हैं। य सब मिलकर ही अत्यंत चमत्कारी मधुर रस की सृष्टि करते हैं।^१

अलौकिक शृंगार रस

मधुर रस को अलौकिक शृंगार उज्ज्वल रस भक्ति रस आदि कई नामों से अभिहित किया गया है।

सामान्य रूप से शृंगार रस का प्रयोग ऐसे रूढ़ अर्थों में किया जाता है कि वह भक्ति भावापन मधुर रस का यज्ञक नहीं हो सकता। यही कारण है कि शृंगार व लौकिक और अलौकिक दो भेद किये गये हैं। देव विषयक रति प्रधान शृंगार को अलौकिक शृंगार माना गया है। भक्तिपात्रकारों ने भी भक्ति के अनक रूप बतलाये हैं जिनमें शृंगार परक मधुराभक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

उज्ज्वल रस

उज्ज्वल रस में यद्वहस उज्ज्वल रस के दो अर्थ माने गये हैं—शृंगार और माधुर्य। नाट्यशास्त्र के प्रणय भट्ट मुनि ने शृंगार रस का वण श्याम और वेश उज्ज्वल बतलाया है।^२ इसमें रति स्वायी भाव से शृंगार निष्पन्न होता है तथा उसका वेश उज्ज्वल होता है। शृंगार रस का वण श्याम है और वेश उज्ज्वल है—यह उभावना सम्भवतः शृंगार व देवता विष्णु के श्याम वण और पीताम्ब कान्तिमान और उज्ज्वल वेश के आधार पर ही की गयी है। पद्महवी सोलहवी शताब्दी में रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलीयमणि नामक अन्तिम भक्ति रस शास्त्र का प्रणयन कर उज्ज्वल रस का अत्यन्त उत्कृष्ट पर पहुँचा

प्रेमात्मिक स्वायीभाव मामग्री मिलने ।
दृष्टान्भक्ति रसरूपे पाव परिणामे ।
विभाव अनुभाव सात्त्विक अभिचारी ।
स्वायीभाव रस हय मिलि ॥ चारि ॥

—रत्न व चरितामृत म० ली परि २३ पृ २६ ।

- १ विविध विभाव आलम्बन उद्दीपन ।
वशीस्वरानि उद्दीपन कृष्णानि आलम्बन ॥
अनुभाव स्मित नृत्य गीतानि उद्भास्वर ।
स्तम्भानि सात्त्विक अनुभावेर मिनर ॥
निर्वेद हर्षानि तनोस अभिचारी ।
सर्व मिलि रस हय चमत्कारकारी ॥

—वनी परि २३ पृ २६

- २ तत्र शृंगारो नाम रतिस्वायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः ।

—नाट्यशास्त्र ६ पृ ४६ ।

दिया। उक्त ग्रंथ में 'उज्ज्वल गङ्गा अलौकिक' रागानुगा मधुर भक्ति के लिए व्यवहृत किया गया है जिसमें शृंगार का पूर्ण अन्तर्भाव निपलया गया है। गङ्गा वृष्ण इस उज्ज्वल रस के आलम्बन हैं और भक्त रूप उज्ज्वलभाव उसका आश्रय हैं। उज्ज्वल के साथ नीलमणि गङ्गा का संयोग 'याम वष विष्णु देवता' वाक्ये उज्ज्वल वैशाखिक शृंगार रस का ही परिचायक है। इसमें यह स्पष्ट है कि उज्ज्वल रस का मूलधार स्वच्छता, शुचिता, पवित्रता और दानीयता का धोतन करने वाली रति ही है। भरत मुनि ने अपने उपयुक्त कथन को स्पष्ट करने हुए कहा है कि समारम्भ जो पवित्र स्वच्छ और दानीय हो, वह शृंगार में उपमित जाना है। उज्ज्वल वैशाखिक शृंगारवान कहा जाता है।^१ रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु में भक्ति के पाँच भाव—शांत, दाम्य, मध्य, वात्सल्य और माधुर्य बतलाये हैं। उज्ज्वलीयमणि में उन्होंने भक्ति के पाँचवें भाव माधुर्य का उज्ज्वल रस के रूप में विवाद विवेचन किया है। अष्टछाप के यन्त्रवी भक्त कवि नन्ददास ने भी उज्ज्वल रस का सुभाव की बाँकी छवि का मार्मिक विवेचन किया है।^२

भक्ति रस

भक्ति रस वृष्ण रस साधना का मूलधार है। इसका साहित्य जितना ही विस्तृत है उतना ही इसका विवेचन विविधतापूर्ण एवं गम्भीर है। भगवद्भक्तिचरित्र में परा भक्ति का रस मानते हुए भक्ति को रस रूप में स्थापना की गयी है और उस स्पष्ट करत हुए कहा गया है कि अनासक्त की जननी पर अपर के बोध के विपरीत सामरस्य की उपस्थितिकारिणी परम प्रमत्ता, परमानन्दमिनी मधुरा भक्ति भक्तों के द्वारा परामर्शित कहलाती है।^३ निष्पन्न यह है कि परामर्शित अथवा मधुराभक्ति ही भक्ति रस के नाम से अभिहित की जाती है। वैसे रूपगोस्वामी ने भक्ति रसों के मुख्य और गौण दो वर्ग बतलाये हैं और उनमें गान्त, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य और मधुर—इन पाँचों का मुख्य भक्ति रस कहा है।^४ किन्तु इनमें मधुर रस की प्रधानता होने के कारण यह भक्ति रस का ही वाचक बन गया है और इस प्रकार उज्ज्वल रस मधुर रस और भक्ति रस एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं और इनके आलम्बन और उद्दीपन भी एक ही मान गये हैं। अतः आगे मधुर रस उज्ज्वल रस और भक्ति रस को संवदा अप्रत्यक्ष मानकर ही इसका विवेचन किया जाएगा।

१ नाट्यशास्त्र, ६/४६।

२ उज्ज्वल रस को यह सुभाव बाँकी छवि छाने।

३ कथं चरति पुनि पदनि कथं भक्ति रसहि बहने ॥४०॥

—रामचन्द्रदासो ज्ञानदास।

४ परमानन्दमणि जनयति रतिर्वा नियमतः

परमिन्नेवारीयन् समरसता पश्यति इत्यम्।

परमार्थेव भवति परमानन्दमधुरा

परामर्शित प्रीतिरस इति रसशास्त्रेन चले।

—मध्वभक्तचरित्र (मधुराभक्ति-रस)।

५ 'हरियनिरमाधुरमिधु', दक्षिण विभाग, १ तहरी, ६५-६८।

मधुर रस का काव्यशास्त्रीय विकास क्रम

मधुर रस की स्थापना का जय काव्यशास्त्र की अपेक्षा भक्तिशास्त्र को अधिक है। धर्म प्राण भारतवर्ष में मधुर भावापन भक्ति रस की स्वीकृति सबका स्वाभाविक ही है। भक्तिविषयक प्रचुर साहित्य सम्पत्ता को देखकर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किस तरह यह भाव भक्ति साधना युग युग से भारतीय लोक मानस को उत्प्रेरित एवं अनप्राणित करती आई है। भक्ति के सद्भावनिक एवं 'यावन्नारिक' दोनों पक्षों का सम्यक निरूपण भारतीय वाङ्मय की प्रमुख विशेषता है। जहाँ श्रीमद्भागवत श्रीमद्भगवद्गीता भगवद्भक्तिचरित्रका शाण्डिल्य भक्तिपूत्र नारदभक्तिपूत्र हरिभक्तिरसामृतसिन्धु उक्तवन्तीभक्ति' भगवद्भक्तिरसायन अल्कार-बौस्तुभ रसकलिका भक्तिसादभ प्रीतिवन्त आधिधार्मिक एवं शास्त्रीय य यो म भक्ति तत्त्वका सूत्रम एव विस्तृत सद्भावनिक विवेचन किया गया है वहाँ भक्ति रसायन के तत्त्वज्ञ प्रतिलिख आत्माराम भक्ता एव सन्ता की आत्मालासपूर्ण अमर वाणिया द्वारा उसके 'यावन्नाहारीक' पक्ष को भी प्रस्तुत किया गया है। मधुर रस के 'यावन्नाहारीक' पक्ष के अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम उसके काव्यशास्त्राय सद्भावनिक पक्ष पर विचार करना परमावश्यक है। अतएव आगे मधुर या भक्ति रस के काव्यशास्त्रीय सद्भावनिक पक्षधार का निर्देश करते हुए उसका सावयव निरूपण किया जाएगा।

काव्यशास्त्र प्रणेतारों में सबसे पहले दडी ने प्रयोगकार के उदाहरण द्वारा मधुर रस की सांकेतिक उदभावना की है। प्रयोगकार के उदाहरण में उन्होंने कृष्ण के प्रति बिदुर के और महेश्वर के प्रति रतिलक्ष्म नामक राजा के प्रीतिपूर्ण उदगारों को उद्धृत किया है। इतना ही नहीं उन्होंने भक्तिमात्र समाराध्य सुप्रीतेश्वर ततो हरि की उदघोषणा द्वारा भक्ति की नींव डाल दी है।^१ दडी ने भक्ति तथा प्रीति को एक दूसरे का पर्याय स्वीकार किया है। यही कारण है कि उन्होंने रंगार रस का स्यायी भाव रति मानकर उसे प्रीति से विभिन्न स्थितिलाने की चेष्टा की है।^२ भामह ने भी दडी के समान प्रयत्न को प्रीति या रति के सम्बन्धन माना है और प्रयत्न प्रियतराभ्यान्म के रूप में बतला कर उसके मधुर स्वरूप को सामने रखने का प्रयास किया है। उन्मत्त न उसे रसवत अन्तःकार से भिन्न भाव काव्य के रूप में एक अल्कारमात्र स्वीकार कर प्रायः भावमात्र को प्रयत्न माना है। भक्ति या प्रीति को प्रेयान नाम से एक नये रस के रूप में उपस्थापित करने का सर्वप्रथम प्रयत्न रूद्रट को है। रूद्रट ने स्नेहा प्रकृति प्रेयान कहकर प्रयान रस का स्यायी भाव स्नेह माना और अनवरण की आश्रया से सबक स्नेहपत्र का मित्र होना बतला कर उसके अन्तर्गत अयाप्य सुहृद्-व्यवहार का समाविष्ट कर दिया।^३ आगे चलकर काव्यशास्त्रिया ने रूद्रट की प्रयान रसविषयक मायता के आधार पर प्रयत्न वास्तव्य प्रीति श्रद्धा स्नेह आदि अनेक नयनय रसा की उन्मावनाएँ कीं। इन नये नये रसा की स्थापना को लेकर पर्याप्त खडन

१ काव्यशास्त्र २/७७३।

२ प्राक्प्रीतिरिति सेव रति रंगारता गता। — बही, २१।

३ भद्र टाटन ररपयवा स्नेहपत्रमवति सबव। — काव्यशास्त्र ४ १६/१६।

भी भक्ति रस में नकरसा का अन्तर्भाव दिखाना उसने रमराजत्व को प्रमाणित किया है। उनके मनानुसार भक्ति भी अथ रसों के समान ही युक्त विभाव अनुभाव सचारी आन्ति के संयोग से चित्र रूप रसत्व को प्राप्त करती है। अथ देवनांति से सम्बन्धित होने के कारण रति को भाव की सजा दी जाती है किन्तु परमात्म विषयक हा जाने पर यह रति अलौकिक आनन्ददायिनी बन जाती है तथा विलम्ब भक्ति रस की सृष्टि होती है।^१ भक्ति रस के सम्बन्ध में पुरुषार्थ चतुष्टय की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती क्योंकि एकमात्र पुरुषार्थ दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है अर्थात् दुःख से असस्पष्ट सुख है और इसे भगवद्भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति से नान की कोढ़ उत्पन्न नहीं की जा सकती क्योंकि द्रव्यवित्त भक्ति के लिए भक्ति ही साध्य है और अद्रव्यवित्त व्यक्ति के लिए ज्ञान।^२ भक्ति या वित्त प्रसाद लोभ के साधन के रूप में नान भक्ति रस का सचारी मात्र रह जाता है।^३ भक्ति स्वयं अपना साधन और साध्य दोनों है। इसीलिए भक्ति को साधनभक्ति और फल भक्ति दोनों कहते हैं। अतः करण का भगवदाकारता का नाम ही भक्ति है और वहाँ रस का स्थायीभाव है। ईद्वर इसके आनन्दजन विभाव हैं तुलसी चन्दनादि उद्दीपन विभाव हैं तथा हृषीकेश नेत्रविकारादि इसके अनुभाव हैं।^४ अमल में सब कुछ प्रभुमय प्रममय है। परमानन्द रूप प्रभु का प्रतिबिम्ब ही भक्त के अन्तःकरण पर पड़ता है।^५

‘हरिभक्तिरसामृतसिन्धु’ में मधुर रस का विवेचन

श्री रूपगोस्वामी ने हरिभक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ की विभिन्न लहरिया में सामान्य भक्ति, साधनाभक्ति भक्ति भावाभिता भक्ति प्रसन्निरूपिता भक्ति वधी भक्ति रागानुगाभक्ति भाव भक्ति प्रमाभक्ति गान्तभक्ति प्रीतिभक्ति प्रयोभक्ति वत्सल भक्ति मधुर भक्ति और इनके भेद प्रभेदों का सूक्ष्म विवेचन किया है एवं गान्त भक्ति रस प्रीति भक्ति रस प्रयोभक्ति रस वत्सल भक्ति रस तथा मधुर भक्ति रस और इनके आलम्बन उद्दीपन स्थायीभाव तथा अनुभावात्मिका के सूक्ष्म निरूपण द्वारा वर्णन रस साधना पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

श्री रूपगोस्वामी ने कृष्ण रति को भक्ति रस का स्थायी भाव माना है। श्रीकृष्ण विषयक रति के मुख्या और गौणा दो प्रधान भेद हैं। मुख्या रति के गूढ सत्त्व के आधार पर स्वाया और परार्था नामक दो भेद बतलाये गये हैं। पुनः गुढा प्रीति सख्य वात्सल्य और प्रियता या मधुरा नामक त्रसक पाँच भेदों का वर्णन किया गया है। व्यक्ति वगैरह के अनसार इन रतियों का स्पष्टिक पर मूय का निरुणा के प्रतिबिम्ब के समान अन्तःकरण प्रभाव दृष्टिगत होता है। गुढा के सामान्या स्वच्छा और गमप्रधाना तीनों भेद बतलाये गये

१ भगवद्भक्तिरसायन १/१३।

२ वही पृ. ५।

३ वही पृ. २।

४ वही पृ. ४७०।

५ वही पृ. १८।

६ ह म र० मि द्वितीय विभाग विभाव लहरी (विस्तार के लिए दृष्टव्य)।

हैं। पुनः प्रीति सत्य और वात्सल्य के नेवला और सवुत्ता नामक दो भेद कहे गए हैं। गीरी रति व क्रमग हास्य विस्मय उत्साह, शोक, शोध भय और जुगुप्सा नामक सात भेद हैं। उपपुनः विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री रूपगोस्वामी ने 'रति' के अंतर्गत ही सभी स्थायी भावा को परिगणित कर लिया है। इनके साथ ही इन स्थायी भावा के नेवला वग आदि के भी वर्णन किये गए हैं।^१ प्राक्तनवर्तमानकालिक मद्मनित वामना विमलित द्रुतचित्त म ही यह विवर्णन भक्ति आस्वाद्य बनती है तथा प्रेमाभक्तिपुनः विभावार्थ का के समाग से आस्वाद्य बनकर मधुर रसामृत का वर्णन करती है।

नितिरम रम भूति कृष्ण तथा उनके भवन ही इसके आलम्बन विभाव हैं। कृष्ण भक्तों को प्रमग गान्त दासमुतादि सत्वा गुह और प्रेमी-वग से परिगणित कर उनके आधार पर ही भक्ति के कई भेद उपस्थित किये गए हैं। कृष्ण के रूप गुण वेष्टाएँ प्रसाधनादि और इनके अनेकानेक भा प्रेमे हमने उददीपन विभाव हैं। अनुभावो के उदभास्वर और सात्त्विक —य दो भेद किये गए हैं। उदभास्वर के गीता (गीतादि) और क्षणता (नृत्यादि) दो भेद हैं। सात्त्विकों की सख्या आठ मानकर प्रमग हिनय गिध और रग नामक तीन प्रकार वर्णित गए हैं। इसी प्रकार कुछ नवीन अभिचारी भावों को परम्परागत तृतीस अभिचारियों में ही अंतर्भाव दिखलाते हुए उन्हें स्वतंत्र और परतंत्र नामक दो बांटियाँ म रखा गया है। रतिगुण, रत्यनुस्मरण और रतिगति स्वतंत्र के म तीन भेद माने गए हैं। 'परतंत्र के दो भेद हैं—वर और अवर। पुनः वर व सामात और व्यवहित इन दो भावों की बचा की गयी है। मुष्परति के पोषक को सामान् तथा गोणी रति के पोषक का व्यवहित की माता भी गई है।^२

शांतभक्ति रस

श्री रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतमिधु' के पश्चिम विभाग की पाँच लहरियाँ म प्रमग गान्तभक्ति रस प्रीतिभक्ति रस प्रेयोभक्ति रस वत्सलभक्ति रस और मधुरा भक्ति रम का विस्तृत विवेचन किया है। गान्तभक्ति रस का स्थायी भाव शान्तरति है। प्रम और सात इसके दो प्रकार हैं। चतुर्भुज भगवान और शांत लोग ही इसके आलम्बन हैं। गीता उपनिषद आदि घम प्रया व श्रवण सतजन का सरसग तीर्थ स्थला का सवन तुलसी-मध शांता श्रवणा आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। निरङ्गता, निरङ्गता, निर्वैर भाव निरहकारता, निममता गुण दुःख सम भाव, घ्यानादि इसके शीत असाधारण अनुभाव हैं। ज मा भगमोहन, स्तव आदि गीत साधारण अनुभाव कह जाते हैं। निर्वेद धृति, हय, मति स्मृति विषाद उत्पुङ्गता आवग और विनोदि इसके संचारी भाव हैं। नाटय म यद्यपि शांत की प्रम स्थायी की निर्विकारता के कारण स्थान नहीं लिया जाता किन्तु रतिपुनः होने के कारण शान्तरति पर आधारित इस रस का तिरस्कार नहीं किया जा सकता यही घान्त तथा शांतभक्ति रस में भेद है।^३

^१ बहो बौन्दो लहरी दृष्टम् ।

^२ हरिमविरसामृतमिधु चतुर्थ लहरी ।

^३ रम मिश्रत स्वरूप आदि विवरण— डॉ. आनन्दप्रसाद दीक्षित (पृ० २७४) ।

प्रोतिभक्ति रस

अनुप्रास की दामता और लात्य के भेद से प्रोतिभक्ति रस के दो भेद हैं—सध्रम प्रीति और गौरव प्रीति। इससे आलम्बन द्विभुज कृष्ण तथा रास हैं। प्रभु के निष्ठावशवर्ती विश्वस्त प्रभनाज्ञानविनाशविधायक जन ही दास कहलाते हैं। दास के भी चार वर्ग हैं—अधिवृत्त आश्रित पारिपद और अनुग। गरुड्य जानिचर और सेवानिष्ठ नाम से आश्रित के तीन भेद किये गए हैं। इसी प्रकार पुरस्थ और व्रजस्थ दो प्रकार के अनुग भी बतलाए गए हैं। धर्म्य धीर और बोर पारिपद के तीन वर्ग हैं। अनुग्रह प्राप्ति पदरज प्राप्ति भक्तों का सत्संग असाधारण उद्दीपन तथा मुरली नाम शृंगनाद स्मितपूवक देखना आदि इसके साधारण उद्दीपन विभाव हैं। उदमास्वर मुहूर्त का समादर विराग ईर्ष्याहीन मन्त्री आदि इसके गीत साधारण अनभाव हैं। हृष गव धृति निर्वेद विपण्णता दय चिन्ता स्मृति गका मति, ओत्मुख्य चपलता वितक आवग ह्री जडता मोह उन्माद अव हिंसा बोध स्वप्न कर्म याधि मृति इसके व्यभिचारी भाव हैं। स्वय सध्रम प्रीति ही इसका स्थायी भाव है जो क्रमशः विकसित होती हुई प्रमा स्नेह और राग बन जाती है। हास तथा गका से रहित बद्धमूल प्रीति को प्रमा की संज्ञा दी गयी है। प्रमा के कारण चित्त के साद्र द्रव्य की स्थिति को स्नेह कहा गया है और दुःख की स्थिति में भी मुक्त उत्पन्न करने वाली विनिष्ठ भाव-दशा को राग कहते हैं। राग के अयोग और योग नाम से दो भेद हैं। पुन अयोग के भी उत्कठिन और वियोग नामक दो प्रकार निर्धारित किये गये हैं। वियोग सध्रम प्रीति में ताप कृताता आदि दस अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। सिद्ध तुष्टि और स्थिति नाम स योग की भी तीन कोटियाँ बतलायी गयी हैं।

गौरव प्रीति के उद्दीपन विभावा में वात्सल्य, स्मित प्रेक्षा आदि का परिगणित किया गया है। पुन स्वयं भी प्रमा स्नेह राग और अयोग यापादि क्रम से अनेक भेद प्रभेदों को स्वीकार किया गया है। गौरव प्रीति के उद्दीपन विभावा में वात्सल्य को समाविष्ट कर देने से प्रोतिभक्ति रस में शृंगार के साथ वात्सल्य रस का समावेश कर लिया गया है। मूल स्थायी रति को देखते हुए उपर्युक्त दोनों रसों का एक में ही अन्तर्भाव कर लेना अनचित्त नहीं कहा जा सकता।

प्रयोभक्ति रस

सख्यभक्ति को ही प्रयोभक्ति कहा गया है। हरि तथा उनके वयस्य ही प्रयोभक्ति रस के आलम्बन हैं। पुर और व्रज के सम्बन्ध से वयस्य दो प्रकार के हान हैं। सम्बन्ध की प्रगाढ़ता के अनुसार सखाओं के क्रमशः मुहूर्त मन्त्रा प्रियसखा और प्रियनमसखा चार भेद हैं। वय रूप शृंग वण विना और प्रच्छन्न इनके उद्दीपन विभाव हैं। उनकी कोड़ाएँ ही प्रमुख अनुभाव हैं। उग्रता प्राग और आरस्य को छोड़कर सभी स्वयं संचारी भाव माने गए हैं। योग में मृति कर्म आदि तथा अयोग में मन्त्र हृष गव निष्ठा धृति आदि ल्याय हैं। विमुक्त-मध्रम सम्भरति ही इसका स्थायीभाव है। यह सख्यरति उत्तरोत्तर

बढ़ती हुई कम प्रणय प्रेम स्नेह और राग के अनुसार कई प्रकार का बतलायी गयी है। इसके अन्तर्गत भी विप्रयोग की दस दशावा की उल्लेखना की गयी है।

वत्सलमक्ति रस

वत्सलमक्ति रस का आवेग कृष्ण तथा उनके युग्मज हैं तथा वात्सल्य रति ही इसका स्थायी भाव है। श्रीरङ्ग का वय रूप का गानवानुभूत चापल्यादि क्रियाएँ इसके उदाहरण विभाव हैं। परिस्मृति का अन्तर्गत इनके अनेक भेद प्रभेद की उदाहरण की जा सकती है। मिर मूषना गरीरावयवा का स्वयं आगीवचन गालन-पातन हितोपम्यादि इसके अनुभाव हैं। स्तम्भादि आठ सारिका के अनिश्चित स्तम्भ्याम नामक नवम सारिका की भी परिकल्पना की गयी है। पूर्वोक्त प्रीतमक्ति रस के परिचयिका के साथ साथ अस्मार की भी इसमें परिमिति किया गया है। वात्सल्य रति योग्य आदि में स्वभावतः प्रीति होती है किन्तु अनेक व्यक्तियों में प्रेम स्नेहादि के उत्तर के अनुसार उनकी कई दशाएँ सम्भव हैं। विप्रयोगस्या में चिन्ता, विषाद निर्वेद जड़ता दम्य क्षण्टा उन्माद और मोहान्ति का अधिक उल्लेख होता है। कुछ भाष्यकारों ने इन्हें रस रूप स्वीकार किया है।^१

मधुर रस

मधुर रस के प्रतिपादक म श्री रूपगोस्वामी का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। भक्तिरामानन्दमिथु नामक ग्रन्थ में उन्होंने मधुर रस का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि आमोचिन विभाव्यादि द्वारा मधुर रति जब सदायस्य व्यक्तियों के हृदय में परिपुष्ट होती है तब उस मधुर नामक भक्ति रस की उत्पत्ति होती है। यह मधुर रस निवन्त जना के लिए अनुपयोगी नहीं तथा रहस्यपूर्ण है। यद्यपि यह मधुर रस बहुत ही विराल एक विवन्त है।^२ इस प्रसंग में निवन्त शब्द की व्याख्या करते हुए श्री रूपगोस्वामी ने स्पष्ट किया है कि निवन्त जन वे हैं जो मधुर रस के साथ प्रवृत्त शृंगार रस की समानता स्मरण ही इस भागवत रस से विमुख हो गये हों अथवा जो प्रवृत्त शृंगार रस के साथ इसका साम्य शृंगार रस की ओर आकृष्ट हुए हों। हाँकि भ्रान्ति या द्विद्रव्यसुख के प्रभावप्रत्यय रस की ओर आकृष्ट होने वाले अनेक लोग परम भागवत रस के भ्रमकारी हो गये हैं।

चिज्जगत् और जडजगत् में रसो की स्थिति

जड जगत् की चिज्जगत् का प्रतिपन्न बतलाया गया है। चिज्जगत् विषयम् हाकर

१ श्रीकृष्ण रसमिथु नामक ग्रन्थ में विवेचन। १ ह० म १० मि० प० वि०, ल० ४०, २३।

२ चिज्जगत् विभाव्यादि पुत्रि जोना मर्ता इति ॥

मधुरावयवो मधुर भक्तिरसो मी मधुर रति ॥१॥

निवन्तानुपयोगिता दुःखत्व दय रस ।

रसवत्त्वान् सविध्य विवन्तानि नि विवन्ते ॥२॥—ह म० १० मि० प० वि० ल० ४

जड़ जगत में स्वरूप रूप धारण कर नेता है। वस्तुन परम वस्तु रस रूपतत्त्व है।^१ भक्तों की रति या स्वभाव का अनुसार भगवदविषयक रति या रम्यता दास्य सत्य वात्सल्य और मधुर स्वभाव की होती है। इन पंच स्वभावों के अनुसार गाता प्रीति प्रयत्नी अनुकम्पा और काता—ये पाँच प्रकार की रति होती है। जड़ जगत के विषयिक क्षत्र में विषयस्त प्रतिफलन के कारण शान्त की सबसे अच्छे समेकता क्रमण एवमरे की निम्न मानते हुए मधुर की वाता विषयक प्रकृत शृंगार के रूप में स्वीकार कर सबसे निम्न स्थान दिया जाता है जड़विषयक होने के कारण कातारति की सर्वाधिक निवृष्ट माना जाता है। किन्तु चिजगत में जाकर रसों की यह स्थिति सर्वथा विपरीत हो जाती है। विषयस्त प्रतिफलन के कारण इसमें मधुर रस का स्थान सर्वोपरितया गात रस का स्थान क्रमशः सबसे निम्न हो जाता है। भक्तों के अनुसार जड़ जगत् चिजगत की प्रविच्छाया है जो माया के दपण में प्रतिबिम्बित हुई है।^२ दपण में छाया उठती खिललाई पत्ती है। ऊपर की वस्तु नीचे और नीचे की वस्तु ऊपर हो जाती है। विषयस्त प्रतिफलन के कारण गान्त दास्य सत्य वात्सल्य और मधुर रस की रतियों की भी ऐसी ही अवस्था होती है। जड़ जगत में जो प्रकृत शृंगारपरक मधुर रस सबसे निम्नस्थ है वही भगवदविषयक हो जाने पर शीघ्रस्थ हो जाता है। जड़ जगत का विषयिक मुखों से सबलित निवृष्ट शृंगार रस भगवदविषयक शृंगार हो जाने पर उत्कृष्ट मधुर रस में परिणत हो जाता है।

क्या मधुर रस शृंगार रस का भक्तिपरक नाम है ?

कुछ आचार्यों ने मधुर रस को शृंगार रस का भक्तिपरक नाम दिया है। किन्तु भक्तिशास्त्र की मर्यादा के अनुसार ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि शृंगार कामाग्नि है और मधुर रस विगुह हृदय से प्रमाणित है। भक्ति आनन्द और सौम्य का आधारभूत रस प्रेम ही है। प्रेम सत्तामात्र की व्यापक गति है तथा विश्व की सगति करने वाला अनिमित्त मूल है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत जना का शृंगार और मधुर एक रस नहीं हो सकते। केवल कृष्ण प्रियाओं के लिए शृंगार और मधुर रस एक माने गये हैं क्योंकि उन कृष्ण वत्तमाओं के लिए काम और प्रेम में कोई अंतर नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जड़विषयक अनुराग की काम कहा जाता है क्योंकि इसमें नाना स्वाधों से बलित विषयिक मुख की वासना की प्रधानता रहती है। इससे भिन्न भगवदविषयक अनुराग को प्रेम कहते हैं क्योंकि इसमें निरामना मुक्ति सात्त्विकता तथा आत्मोन्मेष की भावना प्रबल पर रहती है। व्रजागनाओं की समस्त कामनाओं के आश्रय स्थल स्वयं परम प्रेमनिधि और परम सौम्यनिधि साक्षात् भगवान् कृष्ण ही थे। अतएव व्रजागनाएँ जो कुछ करती थी श्योक्ल के मुख के लिए ही। उनकी विलापिता की तुष्टि ही उनका एकमात्र ध्येय था। ऐसा स्थिति में व्रजवत्तमाओं के काम की जड़

१ वैश्वम अष्टाध्याय ३१ द २४ ।

२ वा गुन की पराद्विरी मया रूपन नीच ।

गुन ते गुन धार नहीं अमर बरि मिलि नीच ॥

विपरक मानना सवया अनुचित ही कहा जाएगा। उपयुक्त विचार बिंदुओं में यह स्पष्ट है कि मधुर रस अपने आप में पूर्ण भगवान के प्रति भवन की चान्ताविषयक रति की समात्मक अभिव्यक्ति है। कृष्ण तथा उनकी चन्दाभाए ब्रह्म और उनकी गतिपर्यं इसके आश्रय हैं। सबत्र परि प्राप्त उनकी मावमीय सत्ता गति और सौन्दर्यादि एवय और माधुय गुण और मुरली स्वराणि इसके उद्दीपन विभाव हैं। नयन-कोण से देखना मुसकुराना आदि इसके अनुभाव, आलस्य उरना को छोड़कर आप सभी इसके व्यभिचारों भाव तथा मधुरा रति इसका स्थाया भाव है। विप्रलम्भ और सभोग इसके दो भेद मान गये हैं जो अवस्था भेद के अनुसार कई कान्तियां में विभाजित किये गये हैं। आगे इन पर विस्तार के साथ विचार किया जाएगा।

जडादिविषयक शृंगारादि रस के साथ मधुर रस का मौलिक वैषम्य

जानिविषयक शृंगार रस के साथ अनिवचनीय मधुर रस के एक और मौलिक वैषम्य का स्पष्ट करते हुए आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बतलाया है कि अलंकार शास्त्रों में विदित शृंगारादि रस केवल जड़ोन्मुख नहीं होते उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही हानी है। अलंकार शास्त्रों में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रत्नाणि स्थाया भाव सस्वार रूप से मन में स्थित रहते हैं। यह सस्वार या आमना पूर्व जयोपाजित भी हानी है और मन जय की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा को निर्लेप है उसका साथ पूर्व जय के संस्कार तो आ ही नहीं सकते कि स्थायी भाव के संस्कार आन कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ मूर्ख या निष्ठ गरीर भी एक गरीर में मूर्ख में सत्प्रति होता है। इस मूर्ख गरीर में ही पाप पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' सांख्यशास्त्रिका श्रीमद्भगवद्गीता ब्रह्मसंहिता आदि ग्रंथों में बार-बार बार पुष्टि मिलती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उपयुक्त शब्दों की पुष्टि करते हुए बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान मन आत्र पृथ्वा जल वायु आकाश तेजस काम अकाम श्रोत्र अक्षय घम अधम आदि सबको लहर निकालती है। मनुष्य जसा माधु अगाध पार पुण्य कम करता है वसा ही उसका भागना पटना है।^१

शास्त्रशास्त्रिका में निष्ठ गरीर की व्याख्या गरा इहा वाता की पुष्टि की गयी है। पृथु के समय प्रकृति के सत्य सत्त्वा में स अतिम अति स्पृष्ट पवनरत्ना का छात्रक रूप अन्तर्गत तब पुण्य के साथ ही निगन हो जाते हैं। जब तक मनुष्य पान प्राप्ति नियम

१ माधवजीन धर्म साधना डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३६४।

२ म का भवना ... अत्र विज्ञानमयो मनोमय प्राणमय इन्द्रियमय ओषमय शरीरमय आशमया वातु मय आशमय आशमयो तेजोमय काममयो अशमयो ज्ञानमयो धर्ममयो धर्ममय मय मयमय इति इमयो तेजस इति दशकाली दशकाली तथा भवति। मधुरादी संप्रत्यक्ष विषयों का भवति पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पार पातेना ॥

मरता है तब तब य तत्त्व उसके साथ ही साथ लगे रहते हैं ।^१ नास्त्वकारो ने अनेक यथो मे अनेक प्रकार से वही बातों की पुष्टि की है ।^२ जिनकी सागोपाग चर्चा करना यहाँ अनपेक्षित है । उपपन्न बातों का श्रुति ही सात्त्विक यह है कि स्थायी भावा के सत्कार मा लिंग शरीर में सम्भव है । अतएव उसके जड़ होने का कारण उमकी प्रवृत्ति का जड़ो-मुग्य होना भी संवया स्वाभाविक है ।

अलकार नास्त्रो के अनुसार रस न तो वाय है और न आप्य है । यदि रस वाय होता तो विभावाणि के समाप्त हो जाने पर समाप्त नहीं हो जाता । कारण यह नष्ट हो जान पर वाय नष्ट हो जाय ऐसा देखने में नहीं आता है । इससे भिन्न मधुर रस गान्त है वह आत्मा का धर्म है वह गान्धर्वविषयक न होकर भगवत्विषयक है । वह स्थूल जड़ जगत की वस्तु न होकर चिन्मय जगत की वस्तु है । उससे विभावाणि सभी गान्त हैं । अतएव प्रवृत्ति शृंगारादि के समान इससे लिए सम्भाव्य प्रसंग के उठने का कोई प्रदण ही नहीं है ।

मधुर रस की अलौकिकता

आत्मा का सर्वाधिक स्थूल बाह्य आवरण स्थूल देह है । इसी की उपनिषदा में अन मय कोण की सत्ता दी गयी है । इसके अन्त आवरण प्राणमय कोण आनमय कोण विमान मय कोण और आनन्दमय कोण हैं जो क्रमशः अधिनाधिक सूक्ष्म होने लगे हैं । गीता में भी इसी की दूसरे प्रकार से वर्णनाया गया है ।^३ इन पञ्चकोणों के आस्वाद्य रस भी इसी प्रकार क्रमशः सूक्ष्म होने लगे हैं । स्थूल रसनादि इन्द्रियों के उपभोग्य रस सर्वाधिक स्थूल एवं वपयित सुख विकार प्रवण होते हैं । इससे अधिक सूक्ष्म वह रस है जिसका आस्वादन मनन चित्तन द्वारा किया जाता है । इससे स्थूल गारीरिक्ता के बन्धन सूक्ष्म मानसिकता का प्राधान्य होता है । अतः इस प्रकार के रस की मानसिक रस की सत्ता दी जाती है । बुद्धि द्वारा आस्वाद्य विमानमय रस इससे अधिक मानसिक एवं सूक्ष्म होता है । सर्वाधिक सूक्ष्म आत्मा द्वारा आस्वाद्य आनन्दमय रस सूक्ष्मतम है । इसी की सर्वप्रथम भक्ति रस की सत्ता दी गयी है । भक्तजन अपने अपने स्वभाव और रस के अनुरूप इस अलौकिक भक्ति रस का आस्वादन अनेक भाव से करते हैं । मधुर रस को उसी का सर्वाधिक भाव प्रवण सबसे श्रेष्ठ स्वरूप माना गया है । इस अनिवार्य मधुर रस की सम्यक् धारणा स्थूल इन्द्रिया से ही सम्भव ही नहीं है । सूक्ष्म मन और बुद्धि द्वारा भी यह अवगम्य है । क्योंकि मधुर रस चिन्मय और बोध का विषय न होकर चित्तित्त का सूक्ष्म आत्मा का विषय है अतएव वह अनपम अनिवार्य और अलौकिक है ।

१ मायदुर्गा - ४ ।

२ अङ्गनामा १३ तथा उमकी वि मनोरथनी टीका ।

× × ×
सुरेश्वराचार्य का अङ्गीकरणार्थिक भाषा ।

३ म च न कथं विम वा विनाशो वि तस्य मय प्रमणा न वि तस्य मिदस्य तस्य मय प्रमणा ।

— बा पञ्चमोऽनुध उ भास (॥२८॥)

४ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनमस्तु परा बुद्धिर्यो बद्धे परमस्तु म ॥६२॥ — श्रीमद्भगवद्गीता । अ. ३ ।

मधुर रस में प्रेम की आन्तरिकता

प्रेम भक्ति, आनन्द और मौदय जीवन के विविध तथा परस्पर सम्बद्ध रस हैं। ये ही जीवन को प्रिय बनाने वाले उपकरण हैं। किन्तु भक्ति, आनन्द और मौदय में भी आधारभूत रस प्रेम ही है। भक्ति पूज्य के प्रति प्रेम है आनन्द प्रेम की आन्तरिक भावना और गति है और सौन्दर्य प्रेम का आश्रय है। मानव जगत् पशु जगत् वनस्पति और जड़-जगत् में आवृण्ण विवर्ण का यह अनिवार्य तत्त्व विद्यमान है। शारीरिक प्राणिक, मानसिक और आत्मात्मिक—इन चार स्तरों पर प्रेम के चार रूप होते हैं। शारीरिक स्तर पर होने वाले प्रेम में भौतिक आकार और रूप के कारण आवृण्ण होता है। प्राणिक स्तर पर होने वाले प्रेम में कभी-कभी अनावृण्ण भौतिक आकार और रूप के प्रति आवृण्ण होना है। इस प्रकार के प्रेम में चढ़ाव-उतार नाटकीय ढंग से होता रहता है। मानसिक स्तर पर होने वाला प्रेम मनुष्य की स्थूल व्यावहारिकता में लिप्य आत्मा है। मानवीय यकित्व में प्राण के दो रूप होते हैं—एक बाह्य और स्थूल दूसरा आन्तरिक और सूक्ष्म। इसमें प्रथम केवल व्यक्तिगत रूप है और द्वितीय व्यक्ति में उसका गुह्य वक्ष्याधार है। इसमें अधिक आन्तरिकता यापकता मृदुमता और स्थायित्व होते हैं और सम्पूर्ण अनुभव आत्म-दान से अनुप्रेरित और परिष्कावित प्रतीत होता है। इसकी उदारता और मधुरता अपूर्व होती है। इसमें विचार चिन्तन और आशयों के साम्य से यकित्व परस्पर मानसिक बौद्धिक प्रेम अनुभव करते हैं। इसमें सामान्य प्राणिक प्रेम का आवेग नहीं होता, सूक्ष्म प्रेम का आत्म-दान भी नहीं एक पारम्परिक प्रयाद सहानुभूति होती है। परन्तु मानव मानव के सम्बन्धों में अन्तर प्रेम वह अपूर्व प्रेम है जो उनके यकित्व के सजगतम और गम्भीरतम भाग को उनकी अन्तःआत्माओं अपवा चक्षु पुरुषा को आपस में जोड़ देता है। इसमें यकित्व आत्मा-ने आत्मा का स्पर्श अनुभव करते हैं जो अवर्णनीय रूप में मधुर, सूक्ष्म और एकरूप होता है। शुद्ध निरपेक्ष आनन्दान इसकी गली है और पूण एकरूप इसका ध्येय है। यह भोग मुक्त है। यही यथायथ स्थाय प्रेम है। इसे धरिताय करने के लिए मन प्राण की शुद्धि करन उन्हें आत्मज्ञान का स्वर्णिम नियम मिलाते का भाषना परमावश्यक है। ये विविध प्रेम-सम्बन्ध पुरुष-पुरुष में, स्त्री स्त्री में तथा पुरुष-स्त्री में हो सकते हैं। इसका मिलपण विवेचन कठिन है।^१ हृदय स्थित चक्षु पुरुष का प्रेम जीवन का गूढ रहस्य है। भक्ति साधना द्वारा ही इस पहचान और पाया जा सकता है।

मधुर भाव का हृदय में प्रतिष्ठापन

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में प्रेम का भाव बंठि हो जाता है। कदापि काम बहिष्कृत प्राणिक आवेग है जो प्रेम का पानत्र है। यह अनेकानेक प्रतिक्रियाओं का उत्पादन है। अन्तःप्रवृत्तिजय काम के सयम और नियम में आने से ही प्रेम का मधुर भाव हृदय में प्रतिष्ठित हो पाता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान का सिद्धान्त काम और प्रेम में कोई अन्तर नहीं मानता और इसी के समर्थन को दुःख का कारण बताता है। वास्तव में काम दण स्थायी एवं विकार प्रवण है एक निम्न वृत्ति है जो प्रेम के प्रतिष्ठित होने में बाधक है। इसमें भिन्न प्रेम की स्वाभाविक गति में

1 What is called love is sometimes onething sometimes another most often a confused mixture

एक अनंतता और असीमता के भाव विद्यमान रहते हैं। इसके लिए प्रमाधार की विनिष्टता आवश्यक है और यह ईश्वर ही हो सकते हैं। एकमात्र परमात्मा ही प्रेम का परम विषय है। प्रेम के स्वाभाविक विकास से भी व्यक्ति अंत में भागवत प्रेम का अभीप्सु बन जाता है। इस भागवत प्रेम रस का प्रभाव अवर्णनीय है। केवल एक बार उस महावारणी के मान कर लेने पर फिर इसकी छुमारी कभी नहीं उतरती।^१ तभी ता हेतु रहित अनुनि अविबाधक बधमान राम-पद्म के अनुराग के मामले भागवत प्रेम रस रसिक साधक सुगति सुमति सम्पत्ति ऋद्धि सिद्धि मान बढ़ाई सबको अत्यंत तुच्छ समझता है।^२ काय में रहस्यवान् इसी न्यानुभूतिजय आंतरिक प्रेम का प्रकाशन है। वस्तुतः प्रेम का मधुर भाव और उसका आनंद सत्ताविषयक अंतिम गान है। ये ही परम रहस्य हैं परम गुह्य तत्त्व हैं।^३

अलौकिक मधुर रस का प्रादुर्भाव

अपने अलौकिक माधुर्य से मन रूप चातक को मतवाला करने वाले सब अष्ट मधुर रस का प्रादुर्भाव बड़ा ही कठिन एवं दुरुह है। इसके योग्य अधिकारी बनने के लिए बहुत ही कठोर साधना की आवश्यकता बतलाई गई है। विषयी की विषया के प्रति जसी निरतिगाय आसक्ति होती है वसी ही जनयासक्ति इसके लिए अपेक्षित है। सबतोभावेन निष्काम होकर अपना सबस्व भगवदपण करने के उपरान्त ही साधक सर्वोत्कृष्ट मधुर रस का अधिकारी हो सकता है। जीव तीन प्रकार के होते हैं—विषयी साधक और निष्ठ। इन्हीं के अनुरूप प्रमी की भी तीन कोटिया होती हैं—भीतिमार्गी प्रतीतिमार्गी और प्रीतिमार्गी। भीतिमार्गी की परिपक्वता में प्रतीति माग सधता है और प्रतीति माग की परिपक्वता में प्रीति माग सधता है। इस प्रीति माग में माध्य के प्रति साधक की तमयता प्रेम की ऐकात्मिकता सर्वात्म-समपण भाव एवं आत्मनिवेदनात्मक चर्म सोमा पर पहुंच जाती है। इसी विशिष्ट भाव रसा का वपन करते हुए मधुर रस के समन भवन गिरोमणि अग्नीदास ने कहा है कि हे बंधु ! तुम मेरे प्राण हो ! मैंने देह मन कुंठ नील जाति और मान आदि सब-कुछ तुमको सोप दिए हैं। कृष्ण ! तुम अखिल

१ नाम सुमारी नानका की रत्न रत्न ॥

—नामक ।

ओर सारी मन् पीपी मनी
मैं रिनु पीया ही माती ।
प्रेम मठी को मैं मन् पीया
दकी किन्हीं दिन राती ॥

—भीरा ।

२ चान सुगति सुमति सम्पत्ति कतु
रिधि मिधि विपुल बडा ।
हेतु रतिन अनुगम रामपद्म
की अनुनि अधिकाह ॥

—एक मन्त्र ।

Love and Anand are the last words of being the secret of secrets
the mystery of mysteries
—Shri Arbindo

जग के नाथ हो योगिया के आराध्य धन हा । हम भाष भक्ति-निया अतिहीन हैं, भजन-पूजन नहीं जानती । प्रेम के रस में डालकर मैंने अपना तन मन तुम्हारे चरणा में डाल दिया है । तुम्ही मेरी गति हो, तुम्हा भरे पति हो मेरा मन और किसी को नहीं चाहता । मुझे सब सोण कल्किनी कह कर पुकारते हैं इसका मुख दुःख नहीं है । बंधु ! तुम्हारे लिए कष्ट का हार गये मैं धारण करने में मुझे मुख है । क्या भला है और क्या बुरा—यह मैं नहीं जानती । हे प्यारे ! मेरा पाप पुण्य सब केवल तुम्हारे चरण ही हैं ।^१

जब साधक अपने चित्त आगम्य की भजन क्रिया में प्रवृत्त होता है तो उसे अनेक अनर्थों का सामना करना पड़ता है । फिर वह अनर्थों का सामना करते हुए उत्साहपूर्वक उसमें प्रवृत्त रहता है । इसे 'उत्साहमयी दशा' कहते हैं । किन्तु पुन उसे आत्मा विरागा आन्दोलित करने लगती है । उगवा चित्त खच हो उठता है फिर भी वह हठाना के साथ भजन में लग्न रहता है । इसे व्यूढ विवर्त्तन दशा कहते हैं । पुन समार के प्रति राग विराग की भावना उसे आन्दोलित करती है । उसने मनोराज्य में भोग विषयो का लेकर हठ होने लगता है । इसे विषय-सगरा दशा' कहते हैं । फिर भी वह भजन क्रिया को भग नहा होने देता । किन्तु कभी-कभी उसके नियम में शिथिलता आ जाती है । इसे नियम-क्षमा की दशा कहते हैं । इसके उपरान्त तरंग रगिणी की दशा आती है और साधक भक्ति की तरंगों में हिलोरे लेने लगता है । साधक अनिच्छिता भक्ति की दशा में 'निच्छिता भक्ति' की भूमिका में प्रवेश करता है । धीरे धीरे निष्ठा का उत्पन्न होने पर 'रुचि उत्पन्न' होती है । रुचि द्वारा चित्त की समृद्धता आती है जिससे भगवत्प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा का जागरण होता है । पुन हान्ति अव्ययकालत्व विरक्ति मानसूयना

१ बंधु ! तुमि मे आमार प्राण ।
मेह मन आदि सोमाने सेवेधि
कुल रसि आति मान ॥
अतिर नाथ तुमि मे वाचिया ।
योगीर । आराध्य-धन ॥
गोप-गोपालिनी हम अनि हीन ।
ना जानि भजन पूजन ॥
रिरीने रमे ते दानि तर मन ।
न्याधि सोमार पाय ॥
तुमि मोर गनि तुमि मोर पति ।
मन नहि चाय जान ॥
बनही बनिषा दाके सब सोने
तागने नाहि दुःख ।
बंधु सोमार लागिया बन्धेन हार
गलाय पति मुख ॥

भजन मन नाहि आति
बड़े बघही-नाम पाप पुण्य मन
सोमार चरण छानि ॥

आशावध समुत्प्लुष्टा नाम गान म सदा रुचि हरिगुण वणन म आसक्ति परमधाम म निवास के लिए प्रीति आदि अनुभवो का स्फुरण होता है। ये ही भावाकुर भावक साधन के परिचायक हैं। श्रद्धा साधु सग भजन अनयनिवर्ति निष्ठारुचि आसक्ति भाव और अत म प्रम—ये ही हमारे विकास क्रम हैं।^१ कृष्णरास कविराज ने भी चतुर्थ चरितामृत म मधुर रस के प्रादुर्भाव पर विचार करते हुए लिखा है कि कृष्णरसि का उन्मय सहज भाव स नह होता। बर सौभाग्य स विसा किमी जीवात्मा म श्रद्धा फिर साधु सग फिर हरिगुणगाथा—श्रवण-वीतन म रुचि अनयनिवर्ति भक्ति निष्ठा रुचि आसक्ति रत्याकुर और प्रम का प्रादुर्भाव होता है।^२ तात्पर्य यह है कि पहल भक्त के हृदय म प्रमोदय होता है। फिर मन म भगवान् से मिलन की इच्छा का जागरण होता है और अत म भक्त और भगवान् का आन्तर मिन्न होता है। अतएव अय धम काम और मोह स परे प्रम ही पचम पुरपाय है क्योंकि मधुर भाव के बिना असङ्ग और सक्कोचहीन मिन्न अमम्भव है। भक्ति गारुडबारा ने बतलाया है कि जब तक भोग और मोक्ष की पिपासिनी स्पृहा हृदय मे विद्यमान है तब तक प्रेम-सुख का अभ्युदय कथमपि नही हो सकता।^३ जब तक चिद्रूप मन और बुद्धि का पूण निग्रह न हो जाए तब तक कोई मधुरा भक्ति की सुकोमल भाव भूमि म प्रवेश पाने का अधिकारी नह हो सकता। लोक परलोक के अगणित वपपिब सुखो और मोह सुख की कामना का जब तक सवतोभावन विलापन नही हो जाता तब तक इस मधुर प्रम रस के प्रागण म कोई प्रवेश नही पा सकता। श्री चतुर्थ महाप्रभ के कथनानुसार तृण स भी सुनीच होकर वक्ष से भी सहिष्णु बनकर मान विसर्जन कर तथा दूसरे को मान प्रदान कर ही हरि की सेवा सम्भव है।^४ मन मन्दिर से वासना की घूलि बाह्य कर भक्ति जल से उसे प्रभावित कर

- १ आशावध तस साधुमगो ध भजनक्रिया ॥
ततोऽनयनिवृत्ति रत्याच १ निष्ठा रुचिरत ॥६॥
अभासवितरन्तो भावस्तन प्रेमाभ्युत्पत्ति ॥
साधकानामय प्रे स प्रादुर्भाव भवेत् प्रम ॥७॥

—रिमिभिरम धृतसिधु पू वि , ४ लहरी।

- २ कान भाग्ये कीन जीवे श्रद्धा नति हय ।
तवे सह नीह स तु सग करय ॥
साधु सग हैते हय श्रवण कीटन ।
साधन भक्तये हय मन्त्रानध निवर्तन ॥
अनय निवृत्ति हैन भक्तिनिष्ठा हय ।
निष्ठा हैने श्रवणाद्ये रुचि उपपद्य ॥
रुचि हैने हय तब आसक्ति प्रचुर ।
आमक्ति हैन कामे चित्तैर अचुर ॥
मेह रतिगा हन धरे प्रेम नाम ।

—नयचरितामृत मध्यलीला परि २१ पृ० २२=।

- ३ भुक्तिमुक्तिरशुद्धा यवत् पिशाची कृत्ति बतने ॥
सावत् भक्तिमुत्तरयात्र कथमभ्युत्थो भवत् ॥११॥

—हरिमवितरसाधृतनिधु पू वि २ लहरी।

- ४ तस्यापि सुनीचन तरोरपि सिन्धुना ।
अमानिना मानेन सेवितय सता हरि ॥

—श्री चतुर्थ महाप्रभ ।

तथा पान-श्लोक का दीपक जग कर प्रेम सिंहासन पर भगवान् की मानस-मूर्ति स्थापित करना ही मधुरता की सेवा कही जाना है। इसी प्रसंग में आचार्य हजाराप्रसाद द्विवेदी न लिखता है कि जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जाएगा भाव और पाण्डित्य गाय हो रहेंगे तब वह परमाराध्य जिसकी नित्यमान भ्रूलता वणाग्रभाग भ्रूलता के कारण मुख-श्री अत्यन्त मधुर हो उठी है जिसका वणाग्रभाग अणु-कणिका में विभूषित है। ऐसा कोई नवान निकष प्रस्तर के समान बगवाग किणार बनी रख से मन और बुद्धि बबल कर डालेगा।^१

मधुर रस और उसका स्थायी भाव

'उज्ज्वलीलमणि म श्री रूपगाम्बारी न मधुर रस का सावयव निरूपण किया है। नामक भेद नादर-महायक भेद हस्विल्लामा, श्रीराधा नायिका भेद मूषावरी भेद दूती भेद सखी भेद आम्बन, उद्दोषन अनुभाव सार्विक भाव, व्यभिचारी भाव स्थायी भाव शृंगार भेद मान विप्रभ मम्मगाति के विस्तृत विवेचन द्वारा मधुर रस को एक स्वतन्त्र रस के रूप में सिद्ध किया गया है तथा इस रसगत को उपाधि में विभूषित किया गया है। उपयुक्त विषयों में अधिकार का परम्परागत रूप से ही वर्णन किया गया है। किन्तु स्थायी भाव आदि के प्रसंग में वर्णन नवीन तथ्या को उद्घाटित करने का स्तुत्य प्रयास भी परिलक्षित होता है।

निमित्त रमान् मूर्ति परमब्रह्म और उनके विग्रह एवं चिन्मया शक्तिर्या या बलभाएँ हैं। शिव्य मधुर रस के आम्बन हैं और इन दोनों की प्रियता (मधुरा रति) की इस शिव्य मधुर रस का स्थायी भाव है जो दोनों का मध्याम की प्रेरणा देता रहती है। सात्यक यह है कि भगवद् रति ही मधुर रस का स्थायी भाव है जो सायक की रति प्रवर्ति और स्वभाव के अनुसार गायता श्रीरा प्रेमभी अनुकम्पा और बाला रतिया के नाम से पाँच प्रकार की बतलाई गई हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार साधनमक्ति के द्वारा भवन के हृदय में रति का उदय होता है जो प्राप्ति हावर प्रेम के नाम से अभिहित होता है। वही प्रेम प्रमत्त विवर्तित हावर स्नह मान प्रणय राग अनुराग भाव और महाभाव में परिणत हो जाता है। इन सबको भी मधुर रस का स्थायी भाव माना गया है।^२ यही स्थायी भाव निमग्न अवतर में सुप्रराशित हावर निगिरल रमा नन्द-स्वरूप परमात्मा के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मगल-सम्बन्ध का समारम्भ करने वाला है। इस प्रकार परमात्मा के प्रति मधुर मनोरंजन (Sweet Sentiments) ही इस शिव्य मधुर रस का स्थायी भाव है। परमात्मा की स्वरूप शक्ति-भक्ति-नार गुड विशेषाभिप्रायान्नी चित्तवृत्ति हा भाव है। भगवत्प्राप्ति की अभिगया, उनका सेवा की अभिगया, उनके सोहाद-राम एवं आनन्द मित्र की अभिलाषा में सवि मक्ति प्रेम मूल की विरक्षा के समान उन्नि हावर चित्त का मधुर कर देता है। चित्त जब मय्यवरूपण मधुरता हुआ जाता है तब परम आनन्द के उत्पन्न में पनीभूत भाव

१ भक्तिउदयकलासुधानामधी नरेन्द्रोत्कृष्टभित्तयार ।

का-य नवीननिकोपणतुल्यवेको बशीरदेव सवि मामबशीकरोति ॥

—म० ब० छा० के १८ ११० पर उद्धृत ।

२ पैत वरिष्ठमृग मध्यतीता, परि० २१, पृ० १८८ दृष्टव्य ।

ही प्रेम कहलाता है।^१ मन के अवस्था भेद के अनुसार ही भावोन्मत्त होता है। गरिष्ठ मन स्वर्ण पित्र के समान लघिष्ठ मन तूत के समान गम्भीर मन मधुर के समान गाम्भीर्यरहित मन द्रुत जलाग्न के समान महिष्ठ मन नगर के समान और क्षोण्ठ मन क्षोपडी के समान होता है। ककश चित्त वज्र स्वर्ण और छाया के समान है और भाव अग्नि के समान है। प्रम अथवा निमल निविड भाव विभाव अनुभाव सात्त्विक और व्यभिचारी भावांश स्याम स भगवद् रति म चमत्कार आ जाता है। यही भगवद् रति या ईश्वर के प्रति श्रिय मनोराग या मधुरा रति मन्ति रम राट मधुर रस का स्थायीभाव है जो अविरद्ध या विरद्ध सभी प्रकार के भावांश को आत्मसात् करने सम्म्राट की तरह सबको बग भ करने विराजमान है। यही मधुरा रति नामक श्रिय स्थायी भाव है जो साधक की रुचि प्रवृत्ति और अवस्था भेद के अनुरूप पात दास्य सख्य दात्मन्य और मधुर इन पांच मुख्य रसांश और हास्य अद्भुत और करुण रौं भयानक और बीभत्स इन सात गौण रसांश का आस्वादन कराती है।

मधुरा रति के भेद

मधुर रस का स्थायीभाव मधुरा रति^२ अभियोग से विषय से सम्बन्ध से अभिमान से तनीयविशेष से उपमा से और स्वभाव से मात प्रकार की होती है जिन्हे क्रमशः अभियोगजा वषयिकी सम्बन्धजा अभिमानजा तनीय विशेषजा उपमाजा और स्वाभाविकी की सज्ञा दी गई है। स्व तथा पर भेद से अनुराग की अभिव्यक्ति को अभियाग कहते हैं। इसके अन्तगत स्व और पर भेदानसार दो प्रकार की भावाभिव्यक्ति सम्भव है। यदि स्पष्ट रूप रस एव म घ स उत्पन्न रति को वषयिकी कहते हैं। कुल रूप गौण सौगीत्य आदि की समग्रता के आधिक्य से समुद्भूत रति सम्बन्धजा है। अनेक रमणीय पदार्थ अथवा व्यक्ति के होते हुए भी किसी एक ही की प्रायना या अभिग्राया करना अभिमान है। पद चिह्न गोष्ठ तथा प्रिय सख्यायि तनीयविशेष हैं। सादृश्य से उत्पन्न रति को उपमाजा कहते हैं। इन सम्पूर्ण बाह्य हलुआ की अपेक्षा न करनेवाली रति स्वाभाविक है। अज्ञानाभास प्रायः यही रति विद्यमान है^३। निसर्ग तथा स्वरूप के नाम से स्वाभाविकी रति के दो भेद माने गए हैं। सुदृढ अम्यास जाय सस्कार को निसर्ग-स्वभाव तथा स्वतः सिद्धभाव का स्वरूप स्वभाव कहा गया है। पुनः कृष्णनिष्ठ श्लानिष्ठ और उभयनिष्ठ नाम से स्वभाव के तीन प्रकार बतलाए गए हैं। स्वभावज मधुरा रति गोकुल-वियोम ही विद्यमान है।

व्रजवत्सलाओं की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद

श्रावण की वत्सला का स्वभावज रति की दृष्टि में रखकर अर्थात् नायिका की दृष्टि से साधारणी समजसा और समर्था नाम से मधुरा रति के तीन प्रकार हैं—साधारणी मधुरा रति

१ सम्बद्ध मसृजित्वा नो ममत्वातिशयाति ॥

भाव स एव मादाभासुषै प्रमा निगलने ॥^१ ॥ — इ भ र मि, पू वि ४ सरी।

२ स्थायिभावो न गृह्यते कथ्यते मधुरा रति।

— वत्सलनीलमणि पृ ३८८।

३ प्रोक्ता भ्रान्तिवियोगाया विलासाधिक्यहेतवे ॥३६॥

रति स्वभावैव स्थाय्यायो गोष्मगुप्तकाम्।

— वही पृ ४०६।

कु-जादि म विद्यमान है। इसमें अन्तर्गत 'आत्मतपणवतात्पया' अर्थात् अपनी ही तृप्ति मुख्य होती है। यह साधारणी मधुरा रति हरि के साक्षात् दशन से उत्पन्न होती है। यह अति साद्र नहीं होती तथा समोगेच्छा से युक्त रहती है। समोगेच्छा के ह्रास स इसका भी ह्रास होता है।^१

इसमें भिन्न समजसा मधुरा रति सत्यभामा रुक्मिणी आदि महिषिया म विद्यमान है। यह हरिगुणानि के श्रवणादि से उत्पन्न सघन तथा पत्नी भाव से समन्वित अभिमानवाली साद्र रति है जिसमें समोगेच्छा कभी-कभी खण्णित भी होती है। इसमें उभयनिष्ठा रति की प्रधानता रहती है।

गोकुल देवियो म विद्यमान समर्पा मधुरा रति सबधेष्ठ मानी गई है। यह कवल कृष्णाय होती है। साधारण रति से समोगेच्छा जब सादात्म्य उपलब्ध करती है तब वह समर्पा रति कह जाती है। यह समोगेच्छा विशेष में दाधित या खडित नहीं होती। यह नित्य एव एकरस है। इसमें अद्भुत विलास-र-हरिया का चमत्कार उत्पन्न करनेवाली गोमा विद्यमान है। इसमें केवल कृष्ण के सौख्याय ही उद्यम होता है। शन गान यही रति प्रौढता का प्राप्त होकर महाभाव दगा म परिणत हो जाती है। साधक भक्तजन ब्रजदेवियां क कृष्णविषयक भाव को स्वरूप लक्षण से तथा कृष्ण क ब्रजदेवी विषयक भाव को तटस्थलक्षण से आम्वादन करते हैं।^२

उज्ज्वलनीलमणि म श्री रूपगोस्वामी ने मधुरा रति क उपयुक्त साधारणी, समजसा और समर्पा रति की पारस्परिक महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'य त्रमग भणि के समान नातिदुलभ चिन्तामणि के समान सुदुलभ तथा वीस्तुभमणि के समान अनयउभ्य होती है।'^३ राम भक्ति साहित्य म भी इसी प्रकार स्वमुखी, चित्मुखी एव तत्मुखी भाव भक्ति की उद्भावना की गई है।

साराग यह है कि समया मधुरा रति साद्रतमा होती है और यही रति प्रगाढ होकर प्रमारूप को प्राप्त होती है और परिवर्धित होकर त्रमग स्नेह, मान, प्रणय राग अनुराग भाव और महाभाव-दगा को प्राप्त करती है। जिस प्रकार बीज स ऊँच उत्पन्न होता है फिर उससे रस रम स गुड गुड स छाँड़, छाँड़ से चकरा और चकरा से सितापला अथवा मिथी बनती है उसी प्रकार रति, प्रम स्नेह मान, प्रणय राग, अनुराग, भाव और महाभाव म त्रमग विकसित होकर पूणता को प्राप्त करती है।

भावानुसार मधुरा रति के भेद

भावानुसार मधुरा रति के आठ प्रमुख भेद हैं—प्रम स्नेह मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव।

१ नातिसाद्रा हरे प्राय साधारण सभवा।

समोगेच्छानिदानेय रति साधारणी मता ॥३६॥ —३० जी, ५ ४०८।

२ इष्टे गान दृष्ट्या राग एव स्वरूप लक्षण।

इष्ट भाविष्टता धर तटस्थ लक्षण ॥

—वैतन्य चरितामृत, कृष्णदास कविराजकृत मध्य० २२/२६।

३ साधारणी निगदिता समजसा मा समर्पा च।

कु-जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च त्रमग ॥३७॥

मसिदभ्यि नास्यिक्वकीचुभमसिदभ्यिक्वत्रिषाभिमतता।

नातिदुलभमेवमभित सुदुलभा स्वादन-पमम्या च ॥३८॥

—३० जी०, ५० ४०७।

प्रेम

प्रेम का अर्थ है भाव व घन । यह रति का अमर बीज है । भाव की प्रगाढता का नाम प्रेम है । अतः करण का सर्वपेक्षा बड़ा आकर्षण प्रेम हुआ करता है । अतः प्रेम ईश्वर के प्रति अनयावयण है । इसीको परामक्ति की सत्ता दी गई है । नारद भक्ति-सूत्र में प्रेम को अनिवचनीय गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वधमान अविच्छिन्न मूढमत्तर तथा अनुभव रूप कहा गया है ।^१ भक्ति अपनी चरमावस्था में भुक्ति का भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम नाम से अभिहित होती है । अतएव ईश्वर के प्रति मन की अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति को ही प्रेम कहते हैं । इसीको प्रेम भक्ति भी कहा गया है । सभी प्रकार के भक्तों एवं सन्तों ने साधना के क्षेत्र में बार-बार प्रेम की अनिवार्यता और उसकी 'यापकता' की उद्घोषणा की है । भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि उनके परमाराध्य भगवान् राम की एकमात्र प्रेम भाता है ।^२ सत नबीर ने भी प्रेम की अविच्छिन्न गति की महिमा का बखान करते हुए उसकी अनिवार्यता का योगान किया है ।^३ भक्तों एवं सन्तों की प्रेम भावना अत्यन्त विस्तृत और 'यापक' है । सन्तों ने तो अनिवार्य रूप से प्रेम को अग और विरह को अग' लिख कर अपनी प्रेम भावना को अभिव्यक्त किया है । सत्प्रेम में प्रेम जागतिक तत्त्व है सत्तामात्र की 'यापक' शक्ति है तथा विश्व को सगठित करने वाला अलक्ष्य सूत्र है ।

सामान्यतः प्रेम के दो भेद हैं—विधि मार्ग से चलने वाला महिमाज्ञानयुक्त प्रेम और राग मार्ग से चलने वाला ऐश्वर्यज्ञानयुक्त प्रेम । ऐश्वर्य भाव और माधुर्य भाव—इन्हीं दो भावों से भगवान् का अनुभव हो सकता है । इसमें प्रथम कोटि का प्रेम शास्त्राश्रित होता है । इसमें भगवान् के ऐश्वर्य ज्ञान एवं महिमा ज्ञान से अभिभूत साधक शास्त्राचारा का अनुगमन करता हुआ सब शक्तिमान परमेश्वर को पापों का दण्ड देनेवाला मानकर भीति भाव से प्रभु की उपासना करता है । दूसरी कोटि का प्रेम जगत् अपने माधुर्य को प्रवाणित करते हुए मूल के समान चित्तरूपा नवनीत को अपने प्रभाव से द्रवित करता है । इसमें प्राणों के स्वतः स्फूर्त आवगमन से भगवान् के रूप-गुण लीला माधुर्य की बातें सुनकर मन में रगड़सा का उदय होता है प्रियतम प्रभु के प्रति नमस्कार रसमयी आविष्टता दीख पड़ती है । इसी को रागभक्ति की सत्ता दी गई है । इसमें सब कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ किये जाते हैं । अर्थात् इसमें भगवान् को सुखी बनाने की ऐकात्मिक वासना की ही प्रधानता रहती है । उल्लनीलमणिवार के अनुसार ध्वस कारण के रहते हुए भी सबधा ध्वसरहित अवस्था में स्त्री पुरुष के मध्य भाव-वर्धन या मधुर वर्धन को प्रेम कहते हैं ।^४ इससे तीन भेद हैं—मद मध्य और प्रीति । प्रिय को सहन करने न करने के अनुसार इसकी तीन दशाएँ

१ अनिवचनीय प्रमस्वरूपम् ।

—बा. भ. सू. ११ ।

२ अणुरहित कामना रति प्रतिक्षणवधमानमविच्छिन्न मूढमत्तरमनुभवरूपम् ।^१

—बही, १४ ।

३ रामहि देवत प्रेम पिमारा । जनि नेहू ओ जननिहारा ॥

—मानस तुलसीदास ।

४ दिनहि चै दिन ऊतरे सो तो प्रेम न होय ।

भयट प्रेम पिबर नवै प्रेम बनवै सोय ॥

जा घट प्रेम न सचरे सो घट जानु मसान ।

जैमे सान सरार की मोम सन दिन प्रान ॥

—सत नबीर ।

हैं जिन्हें क्रमशः प्रकृष्ट प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम कहते हैं। इनमें क्रमशः असहिष्णुता कुछ सहिष्णुता और विमृष्टि के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

स्नेह

चित्तस्थी नवनीत को अपने माधुर्य की रसिमयो से द्रवित करने वाला प्रेम ही स्नेह कहलाता है। प्रेम की उत्कृष्टता जब दग्धन करने पर भी अतृप्ति ही उपस्थित करती है और हृदय अत्यन्त द्रवित हो जाता है तब स्नेह की अवस्था होती है जो क्रमशः अग सग दग्धन तथा श्रवण के आधार पर कनिष्ठ मध्यम और श्रेष्ठ बड़ी जा सकती है।^१ यह स्नेह प्रमानुभूति की उन्मी प्रकाश उद्दीप्त कर देता है, जिस प्रकार तप्त दीपक की उष्मा और प्रकाश को बढ़ाता है। दूसरे गानों में स्नेह मन की द्रवणशीलता का ही नाम है। स्नेह के दो भेद बतलाये गए हैं—घत स्नेह और मधुर स्नेह। घत स्नेह में आन्तर तथा मधुर स्नेह में आत्मोपना की अतिगम्यता रहती है।

मान

मान स्नेह का उत्कृष्ट परिणति है। यह स्नेह की उत्कृष्ट दशा है जिसमें अदाक्षिण्य विद्यमान रहता है। दूसरे गानों में अनिगम प्रियत्व के अभिमान से प्रणय-बौद्धि का आभास ग्रहण करने पर जो भाव-वचिन्मय को ग्रहण करता है उस मान कहते हैं। वस्तुतः यह प्रेमाति रवावस्था में उपेक्षा का अभिनय है। इसमें दो भेद हैं—उत्तम और ललित। 'उत्तम' के 'दाक्षिण्योदात्त' और 'वाम्यग-घोदात्त' नामक दो भेद होते हैं। इसी प्रकार ललित के भी दो भेद हैं—बौद्धि और नमललित।

प्रणय

मान में जब विलम्ब की अर्थान्ति अपने देह, मन प्राण आदि से प्रेमास्पन्द के साथ अभेद की भावना जाग्रत होती है तब उस प्रणय कहते हैं। दूसरे गानों में विलम्बरूप विवासमय रति की ही प्रणय कहा जाता है। प्रणय निष्कामी सार्विकी एक शुचिता मूर्ति है। इसमें आत्मात्मन्य की चरममौमा होती है।^२ विलम्बरूप प्रणय के दो प्रकार हैं—मन्त्र और सम्म्य। उत्तम के माय मन्त्री का सुमन्त्र और ललित के साथ सम्म्य की सुमन्त्र कहते हैं। प्रणय कभी स्नेह में उत्पन्न होकर मान की दशा में पहुँच जाता है और कभी स्नेहाधिव्य के कारण मानोद्भव के भाव प्रकट होता है।

राग

अनिगम अभिलाषा से युक्त होने पर प्रणय ही राग में परिणत हो जाता है। इसमें प्रणयात्मक हृदय में दुःख के रहने हुए सुख का प्रभाव होता है। राग के दो भेद हैं—नीलिमा और रत्निमा। नीलिमा के दो प्रकार हैं—नाली राग और 'यामाराग'। जिसमें राग-निरविवेक न हो और अव्यक्त रह उस 'नीली राग' कहते हैं। 'यामाराग' दान गान करने वाले राग का कहते

^१ रस भिन्नान्त स्वल्प आर विरनेवय—दा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २७।

^२ 'निष्कामी है प्रणय शुचिन्मूर्ति है सार्विकी है।

होती सीमा नरम इसमें आत्मोत्सर्ग की है।'

हैं। इसी प्रकार रत्नमा के दो भेद होते हैं—कुसुम्भ राग और मजिष्ठ राग। गीत ही दूसरे में फल जाने वाले को कुसुम्भ राग कहते हैं। हरिवल्लभाओ में कुसुम्भ राग मलिन नहा होता। मजिष्ठ राग स्थायी और स्वन्त्र होता है। यह अनाश्रय है तथा अनयसाप तथा निरन्तर अपनी वान्ति का बढ़ाता जाता है। राधा माधव में यही राग विद्यमान रहता है। उपयुक्त चतुर्विध रागा में अनुरक्ति की निविडता एवं प्रकाशवत्ता उत्तरात्तर अधिकाधिक होती जाती है।

अनुराग

राग अपने विषय को नये-नये रूपा में अनुभव कराने तथा स्वयं भी नया नया रूप धारण करके अनुराग नाम ग्रहण करता है। अनुराग में प्रिय और प्रिया के प्रेम वचिन्त्य का अनुभव होता है तथा प्रिय के सम्बन्ध में अप्राणिता में भी जन्म लेने की लालसा जाग्रत होती है। इसमें परस्पर बनी भाव विद्यमान रहता है। दूसरे गानों में अपने इष्टदेव में अनुभव किया हुआ सौन्दर्य गुण और माधुर्य को जो नित्य नवीन रूप में आस्वादानाय बनाने लग जाए और स्वयं भी नित्य नवीन बनता चला जाए वह राग अनुराग कहा जाता है। प्रेम की नित-नूतनता इसकी प्रमुख विशेषता है।^१ अनुराग कई स्तर हैं। यथा—परबनी भाव प्रेम-वचिन्त्य अप्राणि जन्म-लालसा विप्रलम्भ विस्फूर्ति। परबनी भाव में आत्मसमर्पण प्रेम-वचिन्त्य में विरह को स्नेहमयी आका अप्राणि जन्म लालसा के अन्तर्गत प्रियतम के स्पर्श सुख की प्राप्ति के लिए निर्जीव वस्तुओं में जन्म लेने की आकांक्षा तथा विप्रलम्भ विस्फूर्ति में विरह में प्रिय की झलक देखी जाती है। तत्परता ही अनुराग की महत्वपूर्ण सीढ़ी है। विप्रलम्भ-दशा में ही इसका प्रकट दृष्टिगोचर होना है क्योंकि विरह में अपार गति है। हठयोग की सारी गतिरथा यह अपने साधक को क्षण में प्रदान कर देता है।^२ श्री गङ्गाधाय न प्रायितपतिकाया को उपासना के दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया है।^३ श्रीमद्भागवत में भी विरह दशा की दियो-मात्रजय स्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है।^४

परम अनुराग

कामिना कचन और कीर्ति क प्रति अनुराग की बानें सत्तार में सवन देखा सुनी जानी हैं। किसी किसी में इन नखर वस्तुओं की ओर परम अनुराग भी हा जाता है। जब अनुराग इस कोटि का हो जाए कि उस वस्तु के बिना एक क्षण के लिए भी चन न पड़े और चित्त का समस्त

१ 'से हो निरीत अनुराग बखानिअ तिले तिल नूतन होवा' —विधावति।

२ 'देहि गति योगिनि की जिन में वियोगिनि की
विरह महन् की मनोसी यह बात है।

३ 'विनि उपास्योरच अन्य-यनिरवेण प्रयोगो द्रवन्
व्यावति श्रेष्ठि नाथा पतिन् इति निरन्तर स्मरणा पति
प्रति सोत्कण्ठा सा श्वय् अभिधीयते।

—नटायुज १/१/४ (माध्य)।

४ 'वाग्दण्डादवने वरदचित्त
रत्नभीरप हसति वचिन्त्य।

विलम्ब दर्शायाति नृत्तये च
मद्मस्त्रिपुत्रो मुबन पुनाति ॥

—श्रीमद्भागवत, ११/१४/२४।

वर्तिषा पूगरूप से उठी अनुराग-याम्य वस्तु में केन्द्रित हो जाए, तब समझना चाहिए कि अनुराग परम अनुराग की कोटि में पहुँच गया। परम अनुरागी का अपने इष्ट के साथ सयोग मछली और जल का सा होना है और वियोग चानक का-मा होना है। वह स्वप्न में भी अपने इष्ट का छोड़ कर किसी अर्थ की कल्पना नहीं करता है। इसी दशा में अनुराग पराकोटि में पहुँच जाता है। इस स्थिति में आराध्य-आराधक का भावाद्वय हो उठना सहज हो जाता है। इस अवस्था में आराध्य आराधक के मध्य अनिवचनीय द्वाताद्वय विलक्षण स्थिति रहती है। संक्षेप में परम अनुराग दाय हेमन्त गुह्य निमल उज्ज्वल कामगणहीन स्वाभाविक गोपी प्रेम का पयाय है।^१

भाव

प्रतिभण वधमान अनुराग की चरम दशा स्वयं सवेद्य होकर भाव की सज्ञा प्राप्त करती है। उतार के समय समुद्र की तरंगें जिस प्रकार बूला को आप्लावित कर देती हैं उसी प्रकार अनुराग भी सम्पूर्ण मन प्राण का आप्लावित करता है और सबको प्रभावित कर पुनः केन्द्रित हो जाता है। इस प्रकार भाव प्रेम का परम निवास है प्रेम का परम सार है^२ अनुराग का उत्कप है जो स्व सदा दशा को प्राप्त कर प्रकाशित होने वाला है। मधुरा रति में भाव उच्चतर अवस्था है। यह चित्त का रजन करने वाला तथा चित्त की कठोरता को दूरकर उस नवनीत-वामल बनाता वाला है। भाव ही अनुराग का महान् आश्रय है।

भाव क्या है इस एक दृष्टान्त द्वारा बतलाते हुए कहा गया है कि श्री राधिका का चित्त अयाय बालिकाओं के समान बाल्य ब्रीडा में रत था। सहसा उन्हें एक दिन चित्रपट में मुरलीधर श्रीकृष्ण की भुवन-माहिनी श्रीमूर्ति देखने को मिली। यह भी मालूम हुआ कि इस निविल रमा नन्दमूर्ति का नाम यामसुन्दर है। दूरागत बगी ध्वनि उड़ सुनाई पड़ी। उसी क्षण उनके मन में प्रेम विकार उत्पन्न हुआ। बाल्य ब्रीडा भुवन उचट गया क्षणभर में उनका चित्त बल्ल गया। यागिनी के समान वे गिरिपि-छबूडालकृत बगीधर श्यामसुन्दर के ध्यान में निमग्न हो गई। आहार निग्न सग्निया के साथ आलाप, सलाप सब बंद हो गया। वे घर के बोन में बटकर श्याम सुन्दर का ध्यान करने लगीं।^३ इसी का नाम भाव है।

महाभाव

भाव का उत्कप महाभाव की आम्षा से अभिहित होता है जो समया रति के लिए ही समव है। इसमें सम्भोग विनाश की अत्यन्त चमत्कारी ऊर्मिया का प्राग्भाव होता है।^४ प्रजदयी

१ कामगणहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।

निर्मल उज्ज्वल गुह्य यो दग्ध हेम ॥

इष्टो सदाय गुरु, बाधव, प्रेयसी।

गोपिका इयेन प्रिया, शिष्या सती दाम्नी ॥

गोपिका जानेन इष्टो यनेन बाधिन।

प्रेममेवा परिपाटी इष्टमेवा समाहित ॥

२ प्रेम परम सार सार नाम भाव।

३ सारसुत विनाशोर्मि चमत्कारकरिभिव।

समीपेष्टा विराजोष्ठा रतेर्बापु न निरुदने ॥४६॥

—नेत्रचरितानुग तनुष मध्याय।

—पैतृचरितानुग तनुष मध्याय।

से सम्बन्धित एक सम्बन्ध होने पर भाव महाभाव में परिणत हो जाता है। यह महाभाव अति दुःख भरा मत-स्वरूप होता है। यह मन का स्वरूप में मिला होता है।^१ जिस प्रकार बाज अकुरित होकर ईश फिर ईश से रस रस से गुड़ गुड़ से खाँड़ खाँड़ से गकरा गकरा से मिथी और मिथी से सितोपला बन जाती है उसी प्रकार मधुरा रति प्रेम स्मृति के मोपानो से होकर उत्तरोत्तर अधिवाधिव माधुय ग्रहण करती हुई महाभाव की अनयलम्ब्यता को प्राप्त हो जाती है। इसमें हरि का प्रवृत्ति हरिवल्लभा की प्रवृत्ति का और हरिवल्लभा की प्रवृत्ति हरि की प्रवृत्ति का अनुसरण करती चलती है। तात्पर्य यह है कि अनुराग अममोघ्व चमत्कारिता प्राप्त करने जब उमादेक हो जाता है तब उस महाभाव की सज्ञा दी जाती है। महाभाव का उदय होने पर समागवस्था में पलक का गिरना भी असंभव हो जाता है कल्प का समय भी क्षण के समान अनुभूत होता है और विरहावस्था में क्षण काल भी कल्पवन् सुदीर्घ प्रतीत होता है।

महाभाव के भेद

महाभाव के दो भेद हैं—रूढ़ और अधिरूढ़। जिस महाभाव में सारे सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं उसको रूढ़ महाभाव कहते हैं। यह नेष्ट अमल के तुल्य स्वरूप—सम्पत्ति धारण कर चित्त का निज-स्वरूप प्रदान करता है। रास रसनिमग्ना गोपिया में स्वर भग प्रकम्प रोमाञ्च अश्रु स्तम्भ ववण्य स्वेद और मूर्च्छा—य आठो सात्त्विक भाव परिलक्षित होते हैं। इस प्रकार रूढ़ महाभाव सात्त्विकों की परम उद्दीप्त स्थिति है। सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों ही अवस्थाओं में क्षणमात्र के लिए विरह अमल हो जाता है। इसमें हृदय को विगड़ित करने की विलक्षण शक्ति होती है। इस दशा में प्रेमी साधक को एक क्षण एक कल्प की तरह और एक कल्प एक क्षण की तरह प्रतीत होता है। प्रियमम की मुलमय अवस्था में भी आनि गका के कारण खिन्ना रहती है तथा मोह मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्मविस्मरणशालिता विद्यमान रहती है।

कृष्णदास कविराज ने गान्त दास्य सख्य वात्सल्य एवं मधुर नामक पञ्चविध भक्ति रस पर विचार करत हुए कहा है कि मधुर रस अन्य सभी रसों से प्रबल है। गान्त और दास्य के योग और वियोग एक सख्य और वात्सल्य के मायात्मिक अनक प्रकार हैं। किन्तु रूढ़ और अधिरूढ़ महाभाव कल्प मधुर रस में ही सम्भव है। रूढ़ महाभाव महिषीगण में तथा अधिरूढ़ महाभाव गाविया में होता है।^२ जहाँ रूढ़ भाव उत्कल अनुभावा से आग बरकर किसी विगिष्ट दशा को

१ मुक्तामणिपीड-दैत्यसावनिदुःखम् ।

प्रमत्त्यैक सर्वेदो महाभावास्त्वयाभ्यने ॥१४४॥

वराभूतस्वरूपप्रीत्यै स्वरूप मनो नयेत् ।

स रूपवापिरूपवत्पुष्पने विविधो बुध ॥१४५॥

—उज्ज्वलनीलमणि पृ. ४६२ ४६३ ।

२ पञ्चविधरस शान्त दास्य सरय वात्सल्य ।

मधुर नाम मधु गार रस साधने प्राबल्य ॥

शान्ता रमेर योग विषेय दुःख भेद ।

सद्य वात्सल्य योगादिर अनक विभेद ॥

रूढ़ अधिरूढ़ भाव केवल मधुर ।

महिषीगये रूढ़ अधिरूढ़ गोविकानिकरे ॥ —चैतन्यचरितामृत, मध्वलीला, परि. २३, पृ. २६० ।

प्राप्त होता है उसको अधिरूढ भाव कहते हैं।^१ यह रूढ भाव की विशेष उत्पत्ति-दशा है। एतद्व्याप्त द्वारा 'अधिरूढ महाभाव' की महत्ता को बनलाने हुए कहा गया है कि 'एक दिन श्री राधिका के प्रेम के विषय में जिनासा करने पर गजरजी ने पावसीजी से कहा कि हे शिव ! गंगातीन वक्रुष्टगुण एवं कोटि-वर्ति ब्रह्माण्डगत त्रिकाल सम्बन्धी सुख दुःख यदि विभिन्न रूप में रागीभूत हा तो भी व श्रीराधा के प्रेमोद्भूत सुख-दुःख मिथु की एक बूद की भी तुम्हना नहा कर मरते।'^२

पुनः श्रीराधिका श्रीललिता से कहती हैं कि 'हममि ! श्रीकृष्ण यदि ब्रज में लीन कर नहीं आते हैं तो निश्चय ही मैं उनको इस जीवन में नहीं पाऊँगी। अतः इतनी वदना सहन अब इस गरीर रक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है। अब यह गरीर भी चला जाए यह पचनत्व का प्राप्ति होकर स्पष्ट रूप से आकाशादि स्वकारण रूप भूता में लीन हो जाय। परन्तु मैं विधाता मे हाथ जोड़कर प्रायना करती हूँ कि मेरे गरीर के पचभूत प्रियतम श्रीकृष्ण से समर्पित भूता में ही विलीन हो जाए। जल-तत्त्व उस वावडो के जल में मित्र जाए जहाँ प्रियतम कृष्ण जल विहार करते हा, तेजस्तत्त्व उस दपण में समा जाय जिसमें प्रियतम श्रीकृष्ण अपना मुख दर्शते हा, आकाश-तत्त्व उस आगि के आकाश में चला जाय जिसमें प्रियतम श्रीकृष्ण श्रीडा करते हा। पृथ्वी-तत्त्व उस धरती पर समा जाय जिस पर प्रियतम श्रीकृष्ण विचरण करते हा और वायु-तत्त्व तावत अनिल में समा जाय जो प्रियतम श्रीकृष्ण का गीतर वायु प्रगट करता हो।'^३

सारांश यह है कि अधिरूढ महाभाव भाव समुद्र की अगाधता और अनन्तता का परिचायक है। रूढ में सात्त्विक विशेष उद्दीप्त रहते हैं और अधिरूढ में रूढ व समान अनुभावों के साथ विषय रूप से वामक अवाप्ति रूप अनुभावा का दान होता है।^४

अधिरूढ महामाव के दो भेद

अधिरूढ महामाव के दो प्रकार हैं—मोहन और मानन। मानन सात्त्विका का अत्यन्त उदात्त गीष्ट्य है और इसका सम्बन्ध राधिका युग से है। विष्णुगणा में मानन ही मानन कहा जाता है। मोहन अधिरूढ भाव के उद्घूषण और चित्रजल्प दा भन मान गये हैं। उद्घूषण, म नाना प्रकार की अवगत्रियाएँ होनी हैं तथा चित्रजल्प में प्रिय सत्त्वा से वात्सल्यपत्रिया जाता है। उद्घूषण के दो अंग हैं—विरह चेत्या और निम्नामान। विरह चेत्या व अतगतन माना

१ क्लेशोन्मोन्मनुम वध्य कामवाता विविधनाम् ।

यत्रानुभावा इत्यने से क्रिन्ने निगद्वने ॥१४१॥

—४ वृन्नीलमणि, पृ ४३२।

२ लोकातीनमनाश्च कोटिगमपि त्रैलोक्ये यन् सुखं
दुःखं तेन पृथक्पदि स्तुमुपे ते वक्रुष्टं कुर्यात् ।

पैवाभासनुत्ता गिरे तन्वि तन्मूर्च्छय राधिका
प्रेमोपलुप्तदुःखमिधुमवयोर्वि तै बि दोरुपि ॥१५॥

—३ नी पृ० ४३२ ।

३ पनराव तपुतेभूतनिवहा रवांते विरागु स्तुट
वागार मलिपसव दान शिरमा तत्रावि पाये वरम् ।

तन्वापु पयसदीधनुकरे चोत्तिस्त्रीधाय
मोमि मोम तपोव वरुनि परा लतालहने निज ॥

—भी वरगगरामी ।

४ रमिद्धा त स्वरूप कीर विरहचप १ २०६ डॉ का प्र दीप्ति ।

दिल्लेऽपि मूच्छना अर्थात् प्रिय के आलिंगन म हाते हुए भी प्रिया का मृच्छित होना, अमहत्त्व से स्वीकारादपि तत् सुखकामिता अर्थात् स्वयं असह्य वेदना सहकर प्रिय के सुख की कामना करना ब्रह्माण्ड सोमकारित्वम् अर्थात् सारे ससार को दुखी कर डालने का प्रवर्ति तिरश्चामपि रोदनम् अर्थात् पशु-लोक का रोदन मृत्युस्वीकारात् स्वभूतरपि तस्मै कृष्णा अर्थात् मधु वरण कर भी प्रियतम के संग की अभिलाषा आदि परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार विरह-दग्गा म अपने को ही कृष्ण मान लिया जाता है। चित्रजल्प क प्रजल्प, परिजल्प विजल्प उज्जप सजल्प अवजल्प अभिजल्प आजल्प प्रतिजल्प और सुजल्प नामक दस अंग हैं।^१

समाग म अधिरूढ महाभाव 'मादन' कहलाता है यह सात्विको का सुनीप्त सौष्ठव है। मादन वह ऋष्ट मनोदशा है जो सबभावोद्गम का उत्प्लास करने वाली और परात्पर है। इसका सार आनन्द या 'ह्लाद' है। यह केवल राधा म सदा सम्भव है। इसकी गति अत्यन्त सुष्ठ तमा मदन की तरह दुग्गम है। इसम सहस्रग निरय विलास काड़ाए चलती रहती हैं।^२ इस प्रकार अनेक लीला प्रकारों से इसका सम्बन्ध है।

लीला

विकास की इच्छा का नाम ही लीला है। किसी प्रयोजन से रहित क्रिया को ही लीला कहते हैं। इसम उस क्रिया से बाहर किसी नाय की सृष्टि नहीं होती और उत्पन्न हुआ नाम भी अभ्याप्त नहीं होना और न वह क्रिया कर्ता म स्वभाव भी प्रयास की सृष्टि करती है। अपितु अतः वर्णन में पूरा आनन्द भर जाने से उस आनन्द के उत्प्लास म कार्योत्पादन के समान एक क्रिया उत्पन्न होती है। उसीका नाम लीला है। इसम लीला ही एकमात्र प्रयोजन है।^३ इससे यह सिद्ध होता है कि मधुर रस स्वरूप होते हुए भी रस के पिपासु है।

१ अधिरूढ महाभाव दुःख त प्रकार ।

ममोग मान् विरहे मोहन नाम ता ॥

माने चुम्बनादि हय अनन्त विभे ।

उत्प्लुष्टा चित्रजल्प मोने दुःख भे ॥

चित्रजल्प दरा अग प्रजल्पादि नाम ।

भमरा गीता दारारलोक त होने प्रमाय ॥

उत्प्लुष्टा विरहवध्या विमोमान् नाम ।

विरहे कृष्णरूपेण आपना के कृष्ण ज्ञान । —चैतन्यचरितामृत मध्यलीला, ११० २३ पृ० २६ ।

२ सबभावोद्गमोत्प्लासी मादने व परात्परा ।

रात्रते हस्ताग्निमारो राधापासेव व सन् ॥२॥ २॥

योग एव भवत्येव चित्रि कोऽपि मान् ।

मक्षिनामा विरात्र ते निरयनीला महम्भवा ॥२॥ २॥

मानन्द गति मुकु मन्मदेव दुग्गमा ।

न निरवतु मरेऽक्षया तेनामो मुनिनन्दनम् ॥२॥ ६॥ —उत्प्लुष्टलीलमणि पृ० ४६६ १०१ ।

३ लीलानामविज्ञानेऽन्ना काव्यमित्रिरेव कृतिमन्त्रम् । न तथा कृष्या वनि कार्ये ज्ञापने । जनिमतमपि कार्ये नाभिदेवम् । जनिरुचिरे प्रयास जनयति । कित्वा न करये पूर्ये आनन्द तनुत्प्लायेन कार्ये जननमदृशी क्रिया कवाचिदुत्पद्यते । तत्र नहि किंचित् प्रयोजनमस्ति । लीला एव प्रयोजनस्वरूपः । —मुनोपनिषद् अग ३ ६४४ ।

मधुर रस के आलम्बन

नायक और नायिका रस के आलम्बन होते हैं। मधुर रस के आलम्बन निम्नलिखित रसामृताणव परमात्मा और उनके प्राणप्रिय भक्तजन हैं। भक्ति काव्यशास्त्र की रचना मुख्यतः कृष्णोपासक वणवाचार्यों ने की है। अतएव उन्होंने निम्नलिखित भूति व्रजजन के कृष्ण और उनकी कात्ता महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा को ही नायक-नायिका के रूप में परिवर्तित किया है।^१ श्रीकृष्ण मधुर रस के विषयालम्बन हैं तथा उनकी वल्लभाएँ इसका आश्रयालम्बन हैं।^२ सभी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा अथवा भगवान् और उनके भक्त भी जगत् विषयालम्बन तथा आश्रयालम्बन माने गए हैं। परमात्मा ही एकमात्र भोक्ता हैं तथा समस्त विद्वत्स्वर्गण प्रकृति रूप में उसकी भोग्या हैं। जब जगत् में कोई जीव भोक्ता है तो कोई भोग्या है। इस मूल तत्त्व के विषय के कारण सारे व्यापार हेतु एवं लज्जास्पद हो जाते हैं। तत्त्वन जीव जीव का भोक्ता नही हो सकता। अतएव परमात्मा ही एकमात्र भोक्ता हैं तथा समस्त प्राणी उनका भोग्या हैं।

परमात्मा-स्वरूप श्रीकृष्ण के निम्नलिखित रसामृत-भूति होने के कारण उनमें सम्बन्धित सारे विषय रस-स्वरूप ही हैं। उनका सौरभ्य से उद्बत्तन स्नेह से अभ्यजन माधुर्य में मग्न होकर स माजन सौन्दर्य में अनुलेपन और जलाशय श्री से शृंगार होता है। श्रीकृष्ण धीरललित नायक गिरोमणि हैं।^३ वे मधुर रस की रसमयी भूति तथा उनके आश्रय हैं। निरन्तर अपनी वल्लभा महाभाव-स्वरूपा राधा के साथ प्रीति करते हैं।^४ इस प्रकार अपनी वल्लभाभा के साथ सदैव काम प्रीति करना ही इनका उद्देश्य है। अपनी रूप-माधुरी वणु-माधुरी और ऐश्वर्य माधुरी से ये पुरुष, स्त्री स्थावर जगत् सबके चित्त को आकृष्ट करने वाले हैं। अपने अपने स्वाभावानुसार भक्तों के हृदय में जा मिल मिल प्रकार के रसों का उद्भव होता है उनके आश्रय हैं। कृष्ण सागान् भक्तों में रसराज भूतिधर शृंगार हैं। उनका रूप-माधुर्य लक्ष्मीकान्ति के साथ-साथ उनके अपने मन की भी हरण करने वाला है जिससे अपने आपका ही वे आलिंगन करना चाहते हैं।^५ कृष्ण अनन्य गुण-मग्न हैं जिनमें सब का

१ नायक नायिका दुःख रस के आलम्बन।

मेरे दुःख श्रेष्ठ राधा के दुःख जगत् ॥

—चैतन्यचरितामृत, मध्यमीमा परि० २४, पृ० २६०।

२ 'भक्त-जन-कृष्ण गणेशगिरोमणि'।

—चैतन्यचरितामृत, मं० स्त्री, परि० २१, पृ० २६१।

३ राय के कृष्ण हृदय धीरललित।

निरन्तर कामकीर्ति का शृंगार करित ॥

—वही, परि० २, पृ० २६१।

४ रसमयभूति कृष्ण सागान् शृंगार।

पुरुष ओरिदु किवा स्थावर जगत् ॥

सर्व विद्याधर सागान् भक्तों में ॥

माना भक्तों के रसामृत नानाविध हृदय ॥

मेरे सब रसामृतों के विषय आश्रय ॥

१ गार रसामृतमय भूतिधर ॥

अतएव आश्रय-पदम स व चित्तहर ॥

लक्ष्मी कान्ति भक्तों के हरे मन ॥

लक्ष्मी का नारी गरीर को के बंधन ॥

आशा माधुर्य हरे भक्तों के मन ॥

आशना आशनि के करिने के विषय ॥

—चैतन्यचरितामृत परि० ८ पृ० १४-१४६

पचास^१ और कहा चौसठ गुण^२ प्रधान माने गए हैं। अपनी अनुरजनी गति द्वारा समस्त विश्व का आनन्दोपाप्न करने वाले इंदीवर-श्रेणी के समान अपने कोमल न्यामल अंग स अनगोत्व का विस्तार करने वाले ब्रजमुन्दरियो द्वारा स्वच्छन्द भाव से समालिखित मूर्तिमान शृंगार के समान मुख्य होकर वसंत विहार करने वाले सागान् शृंगार-स्वरूप परमब्रह्म भगवान् कृष्ण मधुर रस के मुख्य आलम्बन हैं।^३

प्रमो रूप में नायक कृष्ण के पच्चीस गुण माने गए हैं। पति और उपपति दोनों रूपों में कृष्ण का उपस्थित किया गया है। उपपति के रूप में ही प्रमो कृष्ण के प्रम का—शृंगार भाव का परमा रूप होता है। उपपति भाव का प्रम प्रकृति नायक के लिए बर्जित भाग गया है। कृष्ण के लिए नहा क्या कि रसाक्षतार श्रीकृष्ण की अलौकिक गैला भूमि को प्राप्तकर यह वदनीय बन जाता है।^४ परकीया भाव की रति के लिए ही कृष्ण का अवतरण हुआ था। इसी के आधार पर कहा जाता है कि नायक चूडामणि कृष्ण ब्रज में पूणतम हैं मधुरा में पूणतर हैं और द्वारिका में पूण हैं। सारांश यह है कि परमब्रह्म कृष्णात् अथवा उनके अवतार रूप राम कृष्णादि का कान्त रूप ही मधुर रस का मुख्याधार है।

मधुर रस के आश्रयालम्बन का सागण

जिम प्रकार निखिल रमान् मूर्ति रमावनार परम सौन्दर्यनिधि परमप्रमात्प कान्त रूप परमात्मा मधुर रस के विषयालम्बन हैं उसी प्रकार कान्ता भाव से भगवान् की सेवा उपासना करने वाले सब कुछ भगवद्प्रीत्यय समर्पित करने वाले रागात्मिका पय के साधक ही मधुर रस के आश्रयालम्बन हैं। वणव आचार्यों ने भक्ति-वाक्यशास्त्र में शृंगार के साक्षात् रूप रमावनार कान्त रूप श्रीकृष्ण का और उनकी कान्तामा का मधुर रस के त्रय विषयालम्बन और आश्रयालम्बन के रूप में विस्तृत विवेचन किया है।

कृष्ण का ता के भेद

कृष्ण का कान्तामा के तीन वर्ग हैं—लक्ष्मीगण महिषीगण और व्रजागणगण।^५ लक्ष्मीगण श्रीकृष्ण के नारायण रूप की महवारी उनकी जग विभूति तथा बभ्रव विलासा रूप हैं। य

१ हरिभक्तिरसासूत्रमिधु २ वि १ लक्ष्मी १६ ३६ ६६ य।

२ चैतन्यचरितामृत, मध्वनीना परि २३ पृ २ १ द्वाय।

३ विश्वेश्वरभट्टरचनन जनकान्तामिंदीवर।

त्रैलोक्येश्वरकोमलपुष्पनयनगौरगोस्तवम्।

४ द्वा २ मधुरात्मीमिरविन प्रत्यगमानिनि

५ गार सखि मूर्तिमानिबभौ मुग्धो हरि की नि ॥

—गीतगोवि २।

५ श्रीव परमोत्प ५ गारस्थ प्रतिष्ठित।

—कान्तनीलमणि पृ १४।

लघुस्वमत्र यत्प्रोक्तु लक्ष्मीगणनावक।

न कृष्णो रमनिर्दामस्वान्धमवतारिणि ॥१॥

—वही पृ १५।

५ कृष्ण का तागय गैलि त्रिविध प्रकार।

लक्ष्मीगण लक्ष्मी महिषीगण अर ॥

मदानन्दरूप अर कान्तगण अर।

—चैतन्यचरित गृह आनिनीना परि ४ पृ २४।

एकवयमयी है माधुयमयी नहीं। श्रीकृष्ण की ब्रजगीता का मुख इह प्राप्त नहीं है। लम्बी दबी देह से ही श्रीकृष्ण का प्राप्त करना चाहती हैं। अनएव कृष्ण का मगम-मुख और राम विगम का अधिकारिणी वे नहीं हो पाती क्योंकि यह मुख गोपीरामानुरता से ही सम्भव है। गाय-कुमार कृष्ण की प्रियमी गोपियाँ ही हैं। अतः देवी या अय स्त्री का कृष्ण अगीवार नहा कर मगम और गोपी-देह के बिना कृष्ण का रस विलास-मुख मिल ही नहा सकता है।^१ लक्ष्मीगण जहाँ भगवान् कृष्ण की वयव विगसाग रूपा एव अग विभूति है वहाँ महिमीगण द्वारिकाधीश कृष्ण की सहचरी उनका बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप एव प्रभाव प्रकाश-स्वरूपा हैं।^२

प्रजागनागण श्रीकृष्ण की चलभाए हैं। इनके बिना मधुर रस का उल्लाम नहीं हो सकता। प्रजागना रूप वानागण का सार है, जिसका चरम बिम्बार श्रीराजिका म हाना है।^३ य ही यजदविद्या आकार और स्वभाव के भेद से कृष्ण सग-मुख गम विगम एव कृष्ण रति नागक मधुरा रति के कारण हैं। प्रजवल्लभ श्रीकृष्ण का प्रजागनाओं के साथ जो लाला विगम है वही मधुर रस की आमा है। दोनों की प्रियता (मधुरा रति) का दोनों स दाना को सदाग की प्ररणा देती रहती है इस अलौकिक मधुर रस का स्यायी भाव है। कृष्ण की काताएँ बहुत हैं। उनम बहुत-सी काताओं के बिना मधुर रस का पूर्णोल्लाम सम्भव नहीं है।

श्रीकृष्ण चलभाओ की दो कोटियाँ स्वकीया और परकीया

श्रीकृष्ण की चलभाए स्वकीया और परकीया दोनों प्रकार की हैं। इनकी प्रयमियाँ पर माधुभुत किरीटियाँ हैं जो नव-नव वर माधुरी की आधार-स्वरूपा हैं। उनका अग प्रयग भगवान्

१ तारि रसों नाहि जाय पनित्रना धम ।

कौमुदेने लक्ष्मी चाहे कृष्णेर मगम ॥

—वही, अध्या० परि ६, पृ १९० ।

गोप जानि कृष्ण गोपी प्रियमी लाहार ।

देवी का अय्य स्त्री कृष्ण ना करे अगीवार ॥

लक्ष्मी चाहे मेध रहे कृष्णेर मगम ।

गोपीरामानुरता हवा ना वैम यजद ॥

अय रहे ना पारदे रास विलास । —वही, पृ० १९१ ।

२ लक्ष्मीगण इन तार अग विभूति ।

बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप महिमीर तति ॥

लक्ष्मीगण तार देवद बिलामाश रूप ।

महिमीगण प्रभाव-प्रकाश स्वरूप ॥

—विचरित-रत्न, कालीना परि० ४ पृ २८ ।

३ प्रजागना रूप अर कातागण सार ।

ओ राजिका देने काव्यल्लेर बिम्बार ॥

आकार स्वभाव भेदे प्रजागनागण ।

काव्यल्लेर रूप तारि रस के कारण ॥

बहुकाता बिना न रहे रस के उल्लाम ।

लीनार सदाय लागि बहुत प्रकाश ॥ —वही ।

की प्रणय-तरंग से करम्बित हैं। वे रमण रूप से भगवान् का भजन करनेवाली हैं।^१ श्रीकृष्ण की सोलह हजार स्वकीयाएँ बनी गयी हैं जिनमें रुक्मिणी सत्यभामा जाम्बवती अवनदिनी गव्या भद्रा कौतल्या तथा माती श्रुष्ट माना गया है। परकीयाओं की दा कोटियाँ हैं—काम्यका और परोक्षाएँ। काम्यकाएँ अविवाहिता दुर्गा का व्रत करने वाली एवं मुग्धा के गुणों से युक्त हैं और परोक्षाएँ विवाहिता होने पर भी श्रीकृष्ण के सम्भोग-मुख की आकांक्षिणी अपुत्रवती व्रजागनाएँ हैं। परकीया के तीन अवातर भेद किये गए हैं—साधनपरा देवी और नित्यप्रिया। इनमें नित्यप्रिया का स्थान सर्वोपरि है। नित्यप्रियागण कृष्ण के समान ही नित्य सौन्दर्य वाम्गम्य आदि गुणों से मण्डित हैं जिनमें राधा सबश्रेष्ठ मानी गयी है। वे नित्यनवयययाग्री विदग्ध लज्जावती और महाभावोत्पन्न की अभिलाषा रखनेवाली कृष्ण की प्रमुख नित्यप्रिया हैं।

परकीया में मधुर रस का अत्यन्तोल्लास

स्वकीया और परकीया दोनों प्रकार के भावों में मधुर रस चरितार्थ होता है। दोनों प्रकार की नायिका में मधुर रस की अवस्थिति है। किन्तु स्वकीया की अपेक्षा परकीया भाव में मधुर रस का सर्वाधिक उल्लास होता है। जिस प्रकार छात से दास्य में दास से सत्य में सख्य से वात्सल्य में और वात्सल्य से मधुर रस में भगवद्विषयक रति का प्रमत्त अधिकाधिक उत्कण्ठ होता है उसी प्रकार स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव में मधुर रस प्रेमोत्कण्ठ पर पहुँच जाता है। हालाँकि सतत बाणी में प्रतिपादित मधुर रस-साधना के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। सता ने परकीया भाव की सबत्र विगहणा की है जो सती की अग विषयक बाणियों में सबत्र दृष्टिगत हुआ है। किन्तु वष्णव रम-साधना के अन्तर्गत परकीया भाव ही मधुर रस के परमोक्त्य का आधार है। व्रजागनाएँ ही इस परकीया भाव की परमावधि हैं और उनमें राधा सर्वोपरि है।^२

परकीया भाव की श्रेष्ठता

जिस प्रकार कान रूप श्रीकृष्ण के पति रूप का अपना उपपति रूप में मधुर रस का परमावयव पाया जाता है उसी प्रकार व्रजागनाओं के स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव में ही मधुर रस का परमोत्कण्ठ तरंगयित होता है। जिस प्रकार दीप बुद्धि से चित्तामणि ग्रहण करने की प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति होता है उसी प्रकार जल बुद्धि से भी भगवान् में प्रवृत्ति होती है और उसमें भगवत्प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण का गोपिया के साथ विहार प्रवृत्त काम नहीं

१ नवनवव्रतापुरीपुरीया प्रणयतरंगकरम्बिततरंगा ।

निश्रमण्यता हरि मज्जता प्रणयन ता परमाद्भुता किशोरी ॥

—ह म र सि, प ति, ५ लहरी, पृ० ४२६ २०।

२ अनन्य मधुर रस वनि तार नाम ।

स्वकीया-परकीया भावे मधुर सत्त्वान ॥

परकीया भावे अनिरमेर उत्तमान ।

प्रत्र विना इहार अयव नाहि काम ॥

प्रवभूगटोर पर भाव निरवधि ।

तार मध्ये श्री राधर भावेर अवधि ॥ —चै च, भाँसीला परि० पृ २३।

'गुद प्रेमम्' है और प्रकट लीला में ही स्वकीया परकीया का प्रश्न उठता है।^१

परकीया-भाव की दार्शनिक व्याख्या

श्री जीवगोस्वामीजी 'श्रीकृष्णसदम' में ब्रजलीला की रहस्यपूर्ण नागनिक वाक्या की है। मधुरा और द्वारिका की गोपिया श्रीकृष्ण की स्वरूपा गति हैं। गोपिया का परकीया भाव प्रकट वृंदावन-लीला में आभास मात्र है। श्रीकृष्ण द्वारिका में पनि भाव से और ब्रज में उपपति भाव से लीला करते हैं। भावना माग से अपने को ब्रजवासी मानकर तथा किसी मौमाग्यवती ब्रजवासिनी के परिचारिका भाव से अपने को प्रीति मानकर राधाकृष्ण की सेवा करता ही श्रेष्ठ है। यही प्रीतिभिमान ब्रजगोपीत्व धर्म है।^२

परकीया-भाव वृष्णव रस साधना का आदर्श

परकीया भाव ही वृष्णव रस-साधना का परमाणु है। इसीका आधार लेकर आत्मा अपने-आपको सबभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रहती है। श्रीकृष्ण व इसी भाव को लेकर वृष्णव नास्त्री ने उन्हें द्वारिका में पूज्य मधुरा में पूजनर और ब्रज में पूजनम मिद्ध किया है। नायक-नायिका के पर भाव से मित्र पर राग अत्यंत ताव्र हो उठता है और उससे एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि होती है। गौडीय वृष्णव रस-साधना का यही परकीया भाव मुख्य आधार है। उनके मत में परकीया भाव का मधुर भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। इससे द्वारा अपने हृदय श्रीकृष्ण को अपने पर अर्थात् ब्रज में ही पाया जा सकता है। परिणीता के साथ प्रणय-व्यापार को अवध एवं निष्ठ माना गया है। किन्तु वृष्णवमत के अन्तर्गत परकीया नायिका को सर्वश्रेष्ठ मानकर प्रियतम—उपपति के प्रति प्रर्णित उनसे प्रणय-व्यापार को परमात्मा व प्रति आत्मा की अन्यासक्ति का प्रतीक माना गया है।^३

श्रीराधा मधुर रस का श्रेष्ठतम आश्रय

श्रीराधा मधुर रस का श्रेष्ठतम आश्रय है। परम मुक्ति नन्तर्गत उनसे प्रेम के आनन्दन है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी ह्लादिनी महानिधि हैं। श्रीराधा ब्रजवधुआ व मध्य परकीया भाव की परमावधि हैं। श्रीकृष्णमयी प्रेम रसमय-कृष्णस्वरूपा मूर्तिमान् कृष्ण श्रीरा

१ विशद के लिए देखिए—श्री जीवगोस्वामीजी 'श्रीनिवासदर्प', पृ० ६४, ६८६।

२ मायाकवित्त ताट्टक श्रीराधोन्नतानां सुधुमि।

न जातु मन्त्रोदीना पतिभिः सह सयम ॥३१॥

—ब० नी, पृ २८, श्री जीवगोस्वामी।

3 Even if orthodox poetics deprecates Love to a married woman she is according to Vaishnavas idea the highest type of heroine and forms the central theme of the later Parkiya doctrine of the school in which the love of the mistress for her lover becomes the universally accepted symbol of the Soul's passionate devotion to God

हैं। उनकी देह प्रमत्त्यरूप एव प्रम विभावित है। वे कृष्ण की प्रपसी हैं।^१ कृष्ण की वाटा की पूर्ति करना ही उनका एवमात्र उद्यम है।^२ ललितादि सभी उनका काय ग्रहण करते हैं। इन सखियों के सहयोग से ही उनका लीला विलासपूणता को प्राप्त होता है। ये सखियाँ तटस्थ भाव से लीला विस्तार में अनुपम योगदान करती हैं। राधा कृष्ण की प्रम वरपलता हैं सखियाँ पल्लव और पुष्प हैं।

व्रजागनाभि में सब पृष्ठ वातागिरोमणि महाभाव स्वरूपा राधा का सौंदर्य अपरिमित है। उनके चारु लोचन में भक्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करने वाले हैं उनके परमाह्लादक वदन में राधा की वात कीर्ति का दमन करने वाले हैं अविकृत कलघोत स्वर्ण के समान उनकी अंग जो सुशोभित है। वे मधुरिमा की साक्षान् मधुपात्री हैं।^३

श्रीराधा निमल उज्ज्वल रस और प्रसरण की खानि हैं। वे वयस से मध्यमा स्वभाव से समा और गाढ प्रेम भाव से निरंतर कामा हैं।^४

वाताशिरामणि राधा ने कृष्ण प्रेम के अग्राग से अपने शरीर को सुरभित एव उज्ज्वल वण वात्रा बनाया है। उनमें इतनी करुणा स्वरूप और लावण्य है कि मानी उन्होंने कारुण्यमृत और लावण्यमृत की धाराओं में मग्न किया है। उनके शरीर पर कृष्णानुराग के अरणाभरण और प्रणय मान की काचली सुशोभित हैं। उनकी देह यष्टि कृष्ण प्रेम रस के मग्न मद से चित्रित है। प्रकृत मान और वामता रूपी वणी वियास और धीराधीरागुणरूपी पदवास उनकी गोभा बना रहे हैं। उनके अघर स्नेहरूपी ताम्बूल से रजित हैं। प्रेम कीटिल्यरूपी काजल नयनों में विराजमान है। सात्विक सचारी भाव के आभूषण विराजमान हैं। सद्गुणरूपी मालाएँ उनका मंडन कर रही हैं। वे प्रेम वचिचरूपी रत्न और कृष्ण नाम यज्ञ के वर्णभूषण को धारण कर कृष्ण को मधुर रस का पान कराती रहती हैं।^५

श्रीराधा का परकीयात्व

वर्णव रस-माधना के अतगन्त स्वराया और परकीया दोनों भावा में मधुर रस का सत्त्वात्मक माना गया है किन्तु परकीया भाव के प्रेम में मधुर रस के तीव्र उत्साह के कारण उसे

१ चन्द्रचरितः १०० आश्लिषा, परि ४ पृ० २४ २५।

प्रेम र स्वरूपेऽहं प्रेम विभावितः।

हृत्पद्म प्रपसी श्रेष्ठजगते विवर्तितः॥

२ वही।

३ मन्वन्तु चकोरी-रक्त-गारुडि—

वन्दन-निवाराकारोन्मिषी कानकीर्तिः।

अविद्वन् वन्दनी-रूप-ति-धारयक-जी—

मधुरिममनुपायो राधे पश्य राधा॥

४ गोपीगण मध्य नेत्र राधा टकुरानी।

निमल उज्ज्वल रस प्रेम रत्न खानि।

वदने मध्यमा त्रिषो स्वामने ममा।

नृप प्रेमभाव त्रिषो निरन्तर कामा॥

५ चतय च मध्य, परि पृ० १५०

—व १ मन्वन्तीना, परि ८, पृ १५६।

—ह म० र सि, परि, पृ ४२०।

—चै च मध्य० परि १४ पृ २०५।

सर्वश्रेष्ठ बनलाया गया है। हिन्दी के वष्णव साहित्य में राधा को स्वकीया रूप में ही दिखलाया गया है। मूर-साहित्य में वर्णित रास प्रसंग में राधाकृष्ण के गायव विवाह की भी उदभावना की गई है।^१ वहाँ राधा भी नदन-दन वष्ण को पति रूप में पान के लिए दबी से प्रार्थना करती हुई चित्रित की गई है।^२ प्रसिद्ध कृष्णोपासक भक्तकवि नन्ददास ने राधाकृष्ण की 'सगाई का विधिवत् वरण किया है। गोपिया में भी कुछ को स्वकीया और कुछ को परकीया रूप में ही दिखी के वष्णव कविता ने उपस्थित किया है। किन्तु बंगाल के वष्णव वाङ्मय में विनोदकर गौड़ीय वष्णव साहित्य के अतिसूक्ष्म गोपिया के साथ साथ राधा को भी परकीया नायिका के रूप में ही रखा गया है और मधुर रस के सद्भक्त में इसकी महत्ता का प्रतिपादन गान्धारीय ढंग से किया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भक्ति रस की गान्धारीय चर्चा का अभाव है। उसमें भक्ति रस या मधुर रस को रस रूप में सिद्ध कर उसके सावयव निरूपण का प्रयास ही नहीं किया गया है। यद्यपि भक्ति रस के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित उदाहरण एवं उक्तिर्यों का वहाँ प्राचुर्य है। भक्ति रस उसके आलम्बन उद्दीपन आदि सम्बद्ध विषयों के सावयव निरूपण द्वारा रस रूप में भक्ति रस की स्थापना का साग शय बंगाल के वष्णव आचार्यों को ही दिया जा सकता है।

श्रीराधा के भाव

ऊपर कहा जा चुका है कि निमल उज्ज्वल रस और प्रेम रस की रानि का ता गिरामणि राधा गाढ प्रेम भाव से निरतन बामा है। अपने इसी बामा स्वभाव के कारण अपन अन्तर में निरन्तर उठने वाली मनामिया से व कृष्णानन्द की जलधि की तरफागिन बगती रहती है और अपार लीला विलास का सृजन करती रहती है।

श्रीराधा का प्रेम विगुह निमल दशावत स्वर्ण के समान अधिरुह महाभाव-रूप है। अचानक अपने प्रियतम कृष्ण के साक्षात्कार से उनमें नाना भावा का उद्रेक हाता है और वे हर्षाति आठ सात्विक व्यभिचारी और सहज प्रेम से प्रादुर्भूत किलकिचित कुटुम्भित विलास गलित विबोव भाट्टाधिन भोग्य चकित आदि बीस प्रकार के भावा से विभूषित हो उठती है। इन्हीं भाव भूषाओं से राधा कृष्ण मन का हरण करता है।^३ श्री रूपगाम्वासी ने 'उज्ज्वलनी-मणि में

१ आकाश्याम करनत रास ।

है गायव विवाह चित दे सुनी विविध विलास ॥

—सूरसागर १ ७१, पृ० ६०६ ।

२ 'नन्दसुग पति-दे दबी पुनि मन की भास ।'

—सूरसागर, वही ।

३ बामा स्वभावे मान उठे निरन्तर ।

तार बाग्ये बाँके कृष्णो भान इ-सागर ॥

X X X

अधिरुह महाभाव राधिकर प्रेम ।

विगुह निमल नेछे दशावत देव ॥

कृष्णर दशन जनि पाव आचमिने ।

नानाभावे विभूषये हव विभूषिने ॥

अष्ट सात्विक इषादि व्यभिचारी आर ।

सहज प्रेम विरानि भव प्रलकार ॥

इन भावों को अनुभावा के अन्तर्गत उपस्थापित किया गया है।^१ यहाँ इनकी विशेष चर्चा न कर मधुर रस के अनुभावों के प्रसंग में ही इन पर विचार किया जायगा।

श्रीकृष्ण की तीन गतिरियाँ हैं—सधिनी सविन् और ह्लादिनी। ह्लादिनी श्रीकृष्ण और भक्ता का सुख निधान करने वाली है। मान्न नामक भाव इसका सार है। इसमें सब प्रकार के भावों को उत्पन्न कराने का सामर्थ्य है। मादन भाव महाभाव स्वरूपा श्रीराधा का अमाधारण गुण है। इसीलिए श्रीराधा के भाव को मादनाख्य महाभाव की सत्ता दी गई है। श्रीराधा के छह काविक गुण हैं—

- १—मधुरा।
- २—नववया।
- ३—चपलागा।
- ४—उज्ज्वलस्मिता।
- ५—चारु सौभाग्यरेखाद्या।
- ६—मधोमान्ति भाषवा।

इसी प्रकार श्रीराधा के तीन वाचिक गुण हैं—

- १—सगीत प्रसराभिजा।
- २—रम्यवाक।
- ३—नमपण्डिता।

श्रीराधा के दस मानस गुण हैं—

- १—विनीता।
- २—वरुणापूर्णा।
- ३—विन्मया।
- ४—पाटवाविना।
- ५—लज्जालीला।
- ६—सुमर्या।
- ७—धयगालिनी।
- ८—गाम्भीर्यागालिनी।
- ९—सुविलासा।

१०—महाभाव-परमोत्पत्तिपिणी

महाभाव-परमोत्पत्तिपिणी श्रीराधा की दया का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण से एक सखी बहती है कि ह वगीधारी ! तुम्हें देख बिना आज राधा की क्या दया हो रही है जानते हो ? उसके नाना की अति अश्रु-वर्षा में यमना का जल बढ़ गया है। उसके गरीर से पसीना इस

विलकिंचित्तुमित्र विलास ललित ।

त्रिविक्रमोत्पत्तिभार मगध्वचक्रिन् ॥

एतन्मय भूषण भूषिनी श्रीराधा भव ।

विलकिंचित्तुमित्र भारेण शुभ विवरण ।

को भव भूषण राधा हरे कृष्णमन ॥ —चैतन्यचरितामृत, मध्य, परि० १५, पृ० २५२०६।

१ उज्ज्वलनीलमणि अनु० ३६, २७ ५१, ५४ दृष्टव्य ।

प्रकार प्रसविन हो रहा है जैसे राका रजनी म चंद्रवान्तमणि पसाज उठती है। उनकी दह मा रग भी उसी मणि के समान पीला पड़ गया है। बठा की बापी अथ-स्फुट एव स्वर भगमुक्त हो गयी है। बद्ध-वेसर व समान सर्वांग पुलकायमान हो उठा है। अग-रतिका प्रबल यज्ञावात से प्रताडित कर्णों के समान भूलुठिन पड़ी है।^१ इस प्रकार अश्रु कम्प पुलक स्वप्न ववण्य कठोरोध, दग्मीणा के समान भूलुठन अति सात्त्विक मूढोत्त भाव-अनुभाव श्रीराधा की महा भाव-स्वरूपता को प्रकट करते हैं। अनन्त विलासमय प्रेम के विवत या विचित्र परिपाक दग्ग म रमण रमणी का भाव दूर होकर प्रमय विलीन हो जाता है। अपनी इसी दग्ग का वणन करती हुई मामिनी राधा कहती है कि नेत्रों के कटाक्ष से ही प्रथम राग उत्पन्न हुआ। क्षण-क्षण प्रीति बढ़ने लगी। उसकी कही अवधि आयी ही नहा। अब तो हालत यह है कि न तो वह रमण है और न मैं रमणी हूँ। दोनों का मन को प्रम ने पराभूत कर एकमक कर लिया है। अरी सखि! यह सब प्रेम-बहानी प्रियनम कात से कहनी है। भूटना मत। न मैं दूती खोजने गई और न किसी दूसरे का दूठा। हम दोनों का इस महामिलन का मध्यस्थ केवल प्रेम दवता ही है।^२

सखी भाव और उसके परकीयात्व का आदर्श

मधुर रस के आश्रयावलम्बन की दृष्टि से सखिया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की बाछा की प्रति करती हैं विन्तु उनके काव्य-स्यूत-रूप रलिता आदि सखिया व मह्याग के बिना राका लीला विलास पूणता को नहीं प्राप्त हो सकता। सखिया ही तटस्थ भाव से राधा कृष्ण-लीला का विस्तार करने वाली हैं। वे नटवर-नागर श्रीकृष्ण के साथ महामाव-स्वरूपा श्रीराधा की लीला करवाकर उमम अत्यन्त आनन्द-लाम करती हैं। जिस प्रकार रतिका का मीचने से पल्लव-शुष्को को ही अधिक सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार श्रीराधा को कृष्ण के लीला विलास से सुख प्राप्त कराकर ये सखियाँ अधिक सुख का अनुभव करती हैं। व मल्लपूषण राधा कृष्ण का सम्मिलन कराने वाली हैं।^३

श्री हरिष्यास की सिद्धान्त रत्नाजलि^४ और महाकाणी, श्री सनातन शास्वामी के शृद्ध भागवतामृत, श्री जीवगोस्वामीकृत 'सकल्प कल्पद्रुम' रघुनाथ शास्वामी रचित विलास कुसुमाञ्जलि^५ एव गौडीय बष्णवाचार्यों द्वारा रचित बष्णव रम-साधनाविषयक ग्रन्थों में सभी भाव से

१ अमलामतिवृष्टिभिर्दिगुणयस्यकौस्तुभजानिकर

ओररनीरयन्ति विधूतप्रतिरुषिच्छाय वपुर्भिन्ननी ।

कठातरुद्धदधरायपुनर्कैर्नष्ठा कम्भाङ्गिति

राधा वेपुषप्रवातकस्तोत्रावाकविद् वनते ॥

—वचननीलमणि, ४०, पृ ६०-६१ ।

२ पहिलहि राग नयन भग भेज ।

अनुदिन वात्स अरुपि ना गेल

ना सो रमय ना काम रमणी ।

हुई मन मनोभाव वेषन जानि

य मसि से सब प्रेम काहिनी

कानु ठामे कहवि विदुरह जनि

ना सोअनु दूनी ना सोअनु अन

हुई केरि भितने मध्यय दोष बाज ॥

—महाकवि विद्यापति ।

३ वेपुषचरितानृष मध्य०, वरि ८, पृ० १११ ११२ दृष्टव्य ।

नित्य वत्नावन म श्री राधागोविन्द की युगल सेवा प्राप्त की साधना का विस्तृत विवेचन किया गया है। सनत्कुमारतन्त्र म कहा गया है कि गोपी भाव या सखी भाव म अपने को रूप-यौवन सम्पन्न परम मनाहर किशोरी क रूप म सिद्ध देह अर्थात् अंतर म अमीष्ट श्री राधा गोविन्द की सेवा के योग्य गरीर से साधना करनी चाहिए। साधक देह अर्थात् भौतिक गरीर गोपी भाव के लिए उपयुक्त नहा है। सिद्ध देह स ब्रज भाव का आविर्भाव होता है। सखी भाव म मानसी सेवा के अतिरिक्त सम्भोग के लिए कोई गज्रायण नहीं है। इसम केवल सेवा की वासना है। अतएव सदा सेवा के लिए उत्सुकता साधनों की सिद्धि-रूपा इस मजरी देह की निरन्तर भावना अपेक्ष्य है। राधा कृष्ण के प्रति मानसी-सेवा का स्वरूप ही इस गोपी भाव का प्राण है। पद्मपुराण क पातालखंड म गोपी भाव की उपासना की विस्तृत विवेचना मिलती है।^१

श्रीराधा की सखिया पाँच प्रकार की हैं—सखी नित्यसखी प्राणसखी प्रियासखी और परमप्रेक्षासखी। सखी भाव (ब्रज भाव) म प्रवेश करने के पहले उपासक परिस्मृति और उपास्य परिस्मृति परमावश्यक है। उपासक परिस्मृति के अतगत उपासक से सम्बन्ध रखनेवाले निम्नलिखित ग्यारह प्रकार के भाव होत हैं —

१—मन्वन्ध (भाता पिता सखा पति प्रमा प्रमिका आदि)

२—वयस (किशोर साधक द्वारा किशोरी रूप म भावना)

३—नाम (गर द्वारा प्रदत्त नाम यथा—प्रिया लता अली सखी नला आदि)

४—रूप (गुरु द्वारा सिद्ध रूप का निगम)

५—यूथ (यूथेवरी राधा की अष्टसखियो—ललिता चन्नावली आदि म से किसी एक के यूथ म जाना)

६—वर्ण (रूप-यौवन-सम्पन्ना किशोरी का वर्ण)

७—आज्ञा (करणाग्रणी सखी की नित्य और नमिसिक्त आज्ञा द्वारा सेवा करना)

८—वास (ब्रज ग्राम वास)

९—सेवा (यूथेवरी की आज्ञा का पालन उनकी आज्ञा क अनुसार ही कृष्ण-सेवा)

१०—पराकाष्ठावास

११—पाद दासी भाव (धृष्टदासी जो राधा-कृष्ण का गीला बिहार कराती हैं राधिका को रसपूर्वक मान गिना देती है एमी श्री ललिता अपनी पाल्य दासी बना ले—यही साधक द्वारा कामना करता।)

१ कामान् विवेचेत्तत्र सामा मध्य मनोहराम् ।

रूपयावनम प नो किशोरी प्रमत्ताकृतिम् ॥

नाना शिपकलाभिन्ना कृष्ययोगानुरूपिणीम् ।

प्रार्थितामपि कृष्येन तत्र भोग पराडमुनीम् ॥

राधिकानुचरी नित्य तत्मेव न परायणाम् ।

कृष्यन्त्यपि न प्रेम रात्रिकाया प्रकुवनीन् ॥

प्रेत्यानु विम यानमेतयो सगमकारिणीम् ।

तत्मेव न मुग्धा भावेनानि मुनिव तम् ॥

इत्यात्मन विविन्धत तत्र सेवा समाचरेत् ।

नन्द मुहूर्त्तमारभ्य वाच्य स्वात्तु महानिशा ॥

—पद्मपुराण, पातालखंड, ५.२१७-२२१।

सखी प्रेम प्रकृत काम नहीं, शुद्ध प्रेम है

सखिया का प्रेम प्रकृत काम नहीं है शुद्ध प्रेम है। देहस्थ काम और प्रेम म वही अंतर है जो ओहा और सोना म है। सखी प्रेम मे आत्म द्वय प्रीति इच्छा नहीं कृष्णोद्वय प्रीति इच्छा है। हममे काम दोष आ ही नहीं सकता। गोपिया जो भी उत्पन्न करती हैं कृष्ण-सुख क लिए ही। अतएव सखी प्रेम काम बाधहीन दम्भ हेम के समान निमल उज्ज्वल और शुद्ध है। वे कृष्ण की सहायिका हैं उनकी बाधवा प्रेयसी, प्रिया गिण्या सखी और दासा है।^१ वे कृष्ण की मनोवाछा को जाननेवाली हैं।

सारांग यह है नि सखिया माधुर्य मूर्ति थी कृष्ण भगवान् की प्रियतमा और एकनिष्ठ उपासिका हैं। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के ४६वें अध्याय म गोपी प्रेम की एकनिष्ठता का वर्णन करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि हे उद्धव ! तुम ब्रज म जाओ मेरी विरह विधुरा गोपिया मुझे न देखकर मृतवत् पड़ी हुई हैं। मेरा सवाद देकर तुम उठे सात्वना दो। उनके मन प्राण, बुद्धि और आत्मा अहर्निग मुझ म ही अपित हैं। वस्तुन मेरा मन ही उनका मन बना हुआ है मेरे ही प्राणों से वे अनुप्राणित हैं। मेरे सिवा और कुछ वे नहीं जानती। उहाने मेरे लिए नैव धम, वेद धम और देह धम सबका त्याग कर दिया है। वे अहर्निग मेरा ही चिंतन कर विरहोत्कण्ठा म विह्वल बनी मेरे स्मरण ध्यान म विमुग्ध हो मेरे दाम की आशा म अति कष्ट स जीवन यापन कर रही हैं।^२ वे पुन कहते हैं कि ब्रजवालाओं के भाव रस निरंतर ध्यान धारणा म रत योगेदवरो की ध्यान-समाधि से भी प्रणा है।^३

नायिका-भेद

कृष्णवत्सला ब्रजगंगाए दो प्रकार की हैं—स्वकीया और परकीया। वे पति और उपपति रूप स कृष्ण का भजती हैं। ऊपर कहा जा चुका है नि वष्णव रम-साधना के अतगत स्वकीया की अपेक्षा परकीया को ही परमादग माना गया है क्योंकि परकीया के अतिरिक्त मधुर रम का अन्यत्र उत्कृष्ट विकास हो नहा सकता। परकीया नायिका दो प्रकार की हैं—वयवा और परोक्ष। विवाहिता स्त्री स प्रम-व्यापार सामाजिक दृष्टि स हय और वर्जित है किन्तु वष्णव रम-साधना म हमे ही परमात्कृष्ट माना गया है। स्वकीया और परकीया नायिकाओं के मुग्धा मध्या और प्रगल्भा—य तीन विभाग बतलाए गये हैं। मुग्धा नायिका मान-वदग्ध विभे स अन भिन्न होती है। मान प्रसंग म वह मह देव कर केव रोग्न करती है। बात के प्रिय-वाक्य श्रवण पर प्रमत्त होती है। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के धीरादि भेद होते हैं। स्वभाव क अनुगाद

- १ शमग-बहीन स्वामादिक गोपीप्रेम ।
निमल बच्चल शुद्ध देन दम्भ हेम ॥
कृष्णेर सहाय गुरु, बाधक, प्रेयसी ।
गोपिका इयेन प्रिया शिष्या, सखी, दासी ॥
गोपिका अनन कृष्णेर मनेर वादित ।
प्रेम सेवा परिवारी इष्टमेका समाहित ॥

— रैन-यचरितादृत, उपर्युक्त अध्याय ।

- १ श्रीमद्भागवत, दशम स्क व ४६वां अध्याय दृष्टव्य ।
- १ वरी, पद-रस रक्त ।

इनके प्रखरा मधु और समा नामक तीन भेद किये गए हैं, जो क्रमशः अपने प्राप्त्य मादव और साम्य-स्वभाव से श्रीकृष्ण का परितोष कराती हैं ।^१

गोपी मान नदी की शतधारा के समान हैं । नायिका के स्वभाव और प्रेम वृत्ति के अनुरूप इसके भेद प्रभेद हैं जिनकी चर्चा करना यहाँ समभव नहीं है । मान के अनुसार गोपिकाओं के तीन मुख्य भेद हैं—धीरा अधीरा और धीराधीरा ।^२ धीरा नायिका कान्त की दूर देखकर प्रत्याख्यान करती है किन्तु समीप आने पर आसन प्रदान करती है । हृदय में कोप भाव रहता है किन्तु प्रवट रूप से मधुर वचन बोलती है । प्रिय द्वारा आलिंगित होने पर वह भी आलिंगन कर लेती है । इस प्रकार अपने सरल व्यवहार द्वारा अपने मान का पोषण करती है । परिहास वाक्यों से भी प्रिय का प्रत्याख्यान करती रहती है ।^३

अधीरा नायिका मान दंगा में निष्ठुर वचनों द्वारा प्रिय की भत्सना करती है । प्रिय के कान को पकड़ कर लाड़ना करती है तथा मात्स्य-बंधन में डाल देती है ।^४

धीराधीरा नायिका मान करने पर वक्र-वचनों द्वारा प्रिय का उपहास करती है । कभी निन्दा और कभी स्तुति करती है और कभी उदास हो जाती है ।^५

नायक के प्रेम करने के अनुसार उपयुक्त धीरादि नायिकाओं के तीन प्रकार हैं—उत्तमा मध्यमा और कनिष्ठा । इनमें राधा कृष्णानन्दवरी एवं नायिका गिरोमणि हैं ।

वर्णन रस शास्त्र के अनुसार नायक के साथ नायिका के सम्बन्ध के आधार पर नायिका के निम्नलिखित आठ भेद हैं—

१ मुग्धा मध्या प्रगल्भा तिन नायिका भेद ।

मुग्धा नाहि जानेर मानेर वैदग्ध्य बिभे ॥

मुख भाषादिया करे केवल रोदन ।

कात प्रिय वाक्य मुनि हय परसन ॥

मध्या प्रगल्भा भरे धीरादि बिभेद ।

तार मध्ये सवार स्वभाव तिन भेद ॥

केह प्रखरा केह मधु केह हय समा ।

स्व-स्वभावे कृष्येर बाइय प्रेम सीमा ॥

प्राख्य्य मानैव साम्य स्वभाव निर्णय ।

सेह-सेह स्वभावे कृष्ये कराव संगोष ॥

—चै० च , मध्य० परि १४, पृ २०५ ।

२ माने केह हय धीरा के हय अधीरा ।

एह तिन भेदे केह हय धीराधीरा ॥

—वही पृ २०५

३ धीरा कात दूरे देखि करे प्रत्याख्यान ।

निकट आसिने करे आसन प्रदान ॥

हृदये कोप मुखे कहे मधुर वचन ।

प्रिय आलिंगिने तारे करे आलिंगन ॥

सरल व्यवहारे करे मानेर पोषण ।

किम्बा सोलुठ वाक्ये करे प्रिय निरसन ॥

—चै० च , मध्य० परि० १४, पृ २१ ।

४ अधीरा निष्ठुर वाक्ये करे भत्सना ।

कपोंसने तारे करे मात्स्य बचन ॥

—चै० च , मध्य० परि १४, पृ० २०५ ।

५ धीराधीरा वक्र वाक्ये करे उपहास ।

कम स्तुति कम निन्दा, कभी वा उदास ॥

—वही ।

१—अभिसारिका—सम्पूर्ण प्रसाधना से सज्जित होकर सवेत-स्थल पर अपने प्रेमी से मिलने जानवाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं।

२—वामकम-जा—सम्पूर्ण प्रसाधनो से युक्त होकर प्रिय-समागम हेतु सवेत-स्थल पर न जाकर अपने घर पर ही प्रेमी का प्रत्याशा करन वाली नायिका वामकम-जा कहलाती है।

३—उत्कण्ठिता—प्रेमी से निराग होनेवाली नायिका को उत्कण्ठिता कहते हैं।

४—विप्रलम्बा—प्रेमी से प्रवचन हान वाली नायिका विप्रलम्बा कहलाती है।

५—खण्डिता—सारी रात प्रतीक्षा में सलग्न उस नायिका को खण्डिता की संज्ञा दी जाती है जिसका प्रेमी उसके पास न जाकर किसी दूसरी प्रेमिका के पास रात बिता देता है।

६—कल्हान्तरिता—कल्ह के कारण वियुक्त होने वाली नायिका को कल्हान्तरिता कहते हैं।

७—प्रोपितमत का—जिम नायिका का नायक प्रवास में चला जाता है उस प्रोपितमत का कहा जाता है।

८—स्वाधीनमत का—जिस नायिका का प्रेमी सम्पूर्ण रूप से उसका अनुगत रहता है, उस स्वाधीनमत का कहते हैं।

रागात्मिका भक्ति-पथ के साधक वण्णव आचार्यों ने सामान्यतः इन्हीं भावों का अनुरूप पद्य की रचना की है। मधुर रस के जिन मधुरतम प्रसंगों ने उन्हें सर्वाधिक आकृष्ट किया उन्हीं प्रसंगों पर उन्होंने पद्य की रचना की। यही कारण है कि काव्य शास्त्र के अनुरूप वण्णव रस शास्त्र में इन विषयों का सामान्य विवचन नहीं मिलता।

हिन्दी के वण्णव पद्य-साहित्य में इन भावों से सम्बंधित पद्य अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनका शास्त्रीय विवचन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिन्दी के वण्णव आचार्यों का लक्ष्य भगवान् की स्तुति का गान करना था न कि रस शास्त्र का प्रणयन करना। इससे भिन्न बंगाल के वण्णव कवियों की पद्यावली में वण्णव रस शास्त्र के अनुरूप विषय प्रणिधान का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

धर्मशास्त्र के आधार पर हरिवल्मिका के तान भक्त बनलाय गये हैं—साधन सिद्धा नित्य मिद्धा और देवी। पुन इनके कई अवांतर भेद निर्धारित किये गए हैं।

माराग यह है कि रूप वय प्रकृति स्वभाव प्रम-वृत्ति, प्रेम-लगा आदि दृष्टियों में नायिका का अनेकानेक भेद प्रभेद हैं जिनका विस्तृत विवेचन करना इस प्रसंग में न तो समभव ही है न आवश्यक ही। अतः वण्णव रस साधना का दृष्टि से कुछ प्रमुख भेदों का ही विवेचन करना विषय को समाप्त किया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि बंगाल के वण्णवाचार्यों और कवियों की तरह हिन्दी के वण्णवाचार्यों और कवियों में मधुर रस का आश्रयात्मक श्रोतों और गोपियों के आधार पर नायिका भक्त का शास्त्रीय विवचन नहीं किया है।

मधुर रस के उद्दीपन विभाव

भगवान् के अनुपम रूप, गुण चट्टा अण-सौरभ प्रसाधन क्षेत्र भक्तियोग भक्त आदि मधुर रस के उद्दीपन विभाव हैं।

मधुर रस के उद्दीपन विभाव के छ भेद हैं—गुण नाम चरित्र मण्डन सम्बन्ध और

तटस्थ । गुण उद्दीपन के कायिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार हैं । पुनः कायिक गुण उद्दीपन के वय रूप लावण्य सौन्दर्य अभिरूपता माधुर्य और मात्स्य—गात भेद हैं । वय के अनुसार मधुर रस के उद्दीपन विभाग की चार अवस्थाएँ हैं—वय संधि नय यौवन व्यवन यौवन और पूण यौवन । अय कायिक गुणों में रूप लावण्य सौन्दर्य और माधुर्य विशेष महत्वपूर्ण हैं । अभूषित अंगों से हो जो गोभा प्रदान करता है उसे रूप कहते हैं । मोतिया म छाया की आन्तरिक तरलता व समान जो वस्तु अंगों में चमकती है वह लावण्य है । जग प्रत्यग का सुश्लिष्ट संधि व य से युक्त जो यथोचित सन्निवेश है उसीको सौन्दर्य कहा जाता है ।^१ नायक या नायिका के शरीर या स्वभाव की व्यक्तज स्वाभाविक रूप से दिखाई पड़ने वाली मोहकता, मधुरता लालित्य और रमणीयता को माधुर्य कहते हैं । भरत के अनुसार प्रत्येक अवस्था में विनोदकर दीप्ति और ललित में नायिका को जप्टाएँ माधुर्य नाम से अभिहित होती हैं ।^२ धनत्रय ने इस केवल अनुस्वणत्वम् अर्थान् कोमलता माना है ।^३ साहित्य दणकार विश्वनाथ सभी अवस्थाओं में नायिका द्वारा अपनी चेष्टाओं में मधुरता अथवा रमणीयता की स्थिति बनाए रखने को माधुर्य की सज्ञा दत्त है ।^४ रूप गीतामी न रूप की अनिवार्यता का ही माधुर्य माना है ।^५ उन्होंने माधुर्य की जो परिभाषा की है वह दूसरे आचार्यों के मतों की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

चरित उद्दीपन के अनुभाव और लीला दो भेद हैं । अनुभाव चित्तस्थ भावा के बोधक होते हैं ।^६ अतः दूसरे पक्ष के लिए उनका उद्दीपनकारी होना संगत ही प्रतीत होता है । लीला के आराप विलाप सदेव आदि कई भेद होते हैं ।

मण्डन उद्दीपन व वस्त्र भूषण मात्स्य धारण और अनुलेपन—चार भेद बनलाय गए हैं । इसी प्रकार सबधी उद्दीपन के कई भेद हैं—वगी शृंगी ध्वनि आभूषणों की चकृति उतारी हुई माला उतारा हुआ वस्त्र प्रियसंस्पर्श के दान प्रिय घाम तथा उसके आर्तित पदाम तथा गोवधनादि ।

तटस्थ-उद्दीपन व अतगत नायक नायिका से असम्बद्ध प्राकृतिक वस्तुएँ हैं । जैसे—

१ अग्रा यभूषिता यव वनविस्तृष्टाणि ।

येन भूषितवद्भानि तन्वमिति कथ्यते ॥२३॥

सुस्नापनेषु क्षायाधारतरल वनिवातरा ।

प्रतिभानि मङ्गलु लावण्य तन्निहोष्यते ॥२४॥

अग मत्स्यकाना य सन्निवेशो यथोचितम् ।

सुश्लिष्टमपि वय स्वात्सर्ग्य दयमितीयते ॥२५॥

—उ वलनीलमणि, पृ० २७१ २७४ ।

२ सवावस्थाविशेषेषु दीप्त्यु लक्षितेषु च ।

अनुस्वण्य चेष्टाया माधुर्यमिति कीर्तितम् ॥२७॥

अभ्यासात् करणानां विनम्रत्व यत्र जायते ।

महत्तरि विकारु तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥२४॥

—वही पृ २४ ।

३ दशरूपक २ ३६ ।

४ सवावस्थाविशेषेषु माधुर्य रमणीयता ।

—साहित्य-पद्य ३, ६७ ।

५ रूप किम्बन्धानिर्वाण्य तन्नामाधुर्यमुच्यते ।

—उ वलनीलमणि पृ २७५ ।

६ अनुभावस्तु चित्तस्थ भावानामवबोधका ।

ते बहिर्दिशि प्राया प्राक्का उद्गामुराग्यवा ॥२॥

—हरिभक्तिरामायनमिषु ६० नि०, २ ल, पृ० २०५ ।

चन्द्रिका मध, बिजली बमतःस्तु जादि। इनम कृष्ण की मुरली माधुरी सभी उदापनो म श्रेष्ठ तम मानी गयी है।

कृष्ण रति अथवा मधुर रस क जयाय उद्दीपन विभावा म स्मित अगसौरभ, कतु पत्ताय क्षेत्र, तुलसी, वेणु मुरली बशी आदि उल्लेखनीय है।

मधुर रस के साधक के प्रसाधन तथा रूप विन्यास

मधुर रस की स्पृहा रखन वाला के लिए ब्रजवासी भाव को अपनाकर ब्रजवासिनी की भावना करनी होती है। स्पृहा के अनुरूप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है। मायिक स्वभाववशा पुरुष अपने को पुरुष समझता है। वस्तुतः श्रीकृष्ण का छोड़कर जीवमात्र स्त्री है। विजगत् म वस्तुतः स्त्री पुरुष चिह्न है ही नहीं। मधुर रस क भावुक रसिक की भावना के अनु रूप ही प्रसाधन तथा रूपविन्यास करना होना है।

प्रसाधन के मुख्य तीन विभाग हैं—वसन आकल्प और यमुन। वसन के भी तीन मुख्य अंग हैं—युग चतुष्प और भूमिष्ठ। चतुष्प के कचुक उष्णीष तुडब घ और आनरायिन चार प्रकार हैं। आकल्प के वेगवदन आनेप चित्र मांग विपक साम्बूल और कल्पिप नामक सात भेद हैं। केशवदन छूहा कंगरी जूट और वेणो चार अंग हैं। आलेप के पादुर पीत और कनुर तीन प्रकार हैं। इसी प्रकार माला के वज्रयती रत्नमाल और वनसज तीन रूप हैं। चित्र क श्वेत पीत और अरण तीन प्रकार हैं। यमुन क किरीट, कुंडल हार चतुष्को वलय, अगुरीय कपूर और नूपुर आठ प्रकार बतलाये गए हैं। जहाँ तक सत-सम्प्रदाय के मधुर रस साधना का सम्बन्ध है मधुर रस-साधना विषयक प्रसाधन एवं रूप विन्यास की इन बाह्य विधियों एवं उपकरणों का निरस्तार किया गया है। राधा-कृष्ण और सीता राम की माधुर्य भक्ति साधना के अंतर्गत ही इनकी विन्यास पाई जाती है।

मधुर रस के अनुभव

भरत मुनि ने रस निष्पत्ति पर विचार करते हुए अनुभाव की विभावादि रस महत्ता म एक तत्त्व माना है।^१ साहित्यरूपणकार ने आत्मन उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भाव का बाह्य प्रकाशित करने वाले काय के रूप म अनुभावा को रवानार किया है।^२ तात्पर्य यह है नि वाणी तथा अंग-संचालन आदि की जिन चेत्याओं और क्रियाओं से आत्मन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय म जागृत भावा का साक्षात्कार होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं। इन प्रकार अनुभाव विचार-रस तथा भावा का सूचना देने वाले हैं। भावा के सूचक होने क कारण ही अनुभावा को भावा के पञ्चाङ्गों एवं काय रूप मानते हैं। इन्हें सहृदय क विचार म कारण रूप भी माना गया है क्योंकि इन्हीं अनुभावों के द्वारा सहृदय-जन सामयिक पात्रों क भावा की जान करी प्राप्त करते हैं। एचान्त-स्थल म प्रियतम के साक्षात्कार स मन म रति का अनुभव करने हुए नायिका का उसरी आर पटंगन करना, मकत ग बुलाना रोमांचित हो जाना दूसरों को

१. नाट्यशास्त्र ६११।

२. 'वरद्वार कारी रते रतेदिभाव प्रकाशयत्। —साहित्यरूपण ३ १२३।

नजर बचाने के लिए इधर उधर देखना आदि व्यापार अनुभाव कहे जाते हैं। भिन्न भिन्न रसों के अनुभाव भी अलग अलग होते हैं।

अनुभावा की संख्या अनेक है। सामान्यतः इनके कायिक मानसिक आहार्य वाचिक और सात्त्विक नाम से पांच प्रकार हैं। इनमें कायिक और मानसिक अनुभावों के अगज अयत्नज और स्वभावज नामक तीन भेद किये गए हैं। रूपगोस्वामी आदि आचार्यों ने अनुभावों को सात्त्विक अलंकार की भी संज्ञा दी है।

ऊपर कहा जा चुका है कि अनुभावों को चित्तस्वभावा के बोधक बताते हुए उन्हें चरित नामक उद्दीपन का भेद माना गया है। रूपगोस्वामी ने कृष्ण रसि स्थायी भाव के निम्नलिखित अनुभाव बतलाए हैं—

नृत्य विलुठित गीत क्रोशन तनुमोटन हुवार जम्भा द्वाभामभूयन लोकानुपेति लालास्रव अट्टहास घृणा और ह्वका ।^१

नायिका के सत्त्वज अलंकारों का अनुभावों की श्रेणी में रखकर उद्भास्वर और वाचिक नामक दो अन्य प्रकार के अनुभाव भी बतलाये गए हैं। नीवी-सस्तन उत्तरीय-मस्तन के सस्न अगडाई अम भगीपूवक काम प्रदर्शन करना, जम्भा नाक फुलाना आदि उद्भास्वर और आलाप प्रताप विलाप अनुलाप सलाप अपलाप सदेश अनिदेश निर्देश उपदेश अपदेश यपदेश ये बारह वाचिक अनुभाव हैं। चाटूकित को आलाप दुःखमय वचन को विनाप निरपक बकने को प्रलाप बार बार कहने को अनुलाप पहले कही गयी बातों का अर्थ अर्थों में प्रयोग अपलाप सवाद भेजने को सदेश प्रस्तुत वस्तु की अर्थ अभिधाय वस्तु से सूचना देने को अतिदेश अपने विषय में वह यह मैं हू कहकर समझाने को निर्देश गिना देने को उपदेश मैंने या उसने ऐसा कहा इस प्रकार के वचन को अपदेश और याज्ञपूवक आत्माभिगम्य प्रकट करने को उपदेश कहते हैं।

उच्चरन्तीमणि म रूपगोस्वामी ने सहज प्रमत्त प्रादुर्भूत क्लिप्तचित्त कुट्टमित विनास त्रिगुण वित्रोक मोह्यामिनी मीम्य चकित इत्यादि भावा को अनुभाव के अंतर्गत ही रखा है। कृष्णदास कविराज ने इन भावा को राधा का भाव बतलाया है जिनसे भ्रूणित होकर राधा कृष्ण का मनहरण करती हैं।^२

क्लिप्तचित्त

राधा को देखकर कृष्ण का मन यदि उल्टा स्पष्ट करना चाहता है वे मन्त्रियों में या घाट पर राह रोकन है या राधा के अग पर फेंकन के लिए पुष्प उठाते हैं अथवा सखी को आगे जाने नए देखकर राधा के गरीर का स्पर्श करत हैं तब हर्षाति संचारी के मूल कारण से इन सब स्थानों एवं परिस्थितियों में क्लिप्तचित्त भाव की उत्पत्ति होती है।^३ इसमें जब गव अभिलाष भय

१ इन्द्रिस्तरसागृतमिधु ॥ वि २ लहरी पं २ ।

२ क्लिप्तचित्तानि भावरं गुण विवरण ।

जे भावभूयस राधा द्वे कृष्ण मन ॥ —चै० च मध्य परि १४ पृ २६ ।

३ उच्चरन्तीमणि पं ३४ पृ ३२१ २२ ।

द्युक् रुदिन क्रोध अमूया और मदस्मिन् ये सात भाव मिल जाते हैं तब वह महाभाव में परिणत हो जाता है।

विलास

राधा अपने घर पर रहें या वदावन जाएँ, यदि उन्हें एकाएक कृष्ण से साम्नात्कार हो जाता है तब प्रियतम के सहसा दशन पाने से उनके मन में अनेक प्रकार के भावों का बलशाय्य उत्पन्न होता है। इन बलशाय्या को ही 'विलास भूषण' की सजा दी गई है।^१ कृष्णदास कविराज ने भी चतुर्वचरिसामुत्त में इसी रूप में इसकी चर्चा की है।^२

ललित

लज्जा, हृष, अभिलाष सभ्रम चाम्य और भय ये सब भाव मिलकर राधा को उद्विग्न बना देते हैं। उस समय राधा यदि कृष्ण के समक्ष प्रस्तुत रहें अग भगकर भ्रूकुचित करें और मुल नेत्र आदि के द्वारा अनेकानेक भाव प्रकट हो तब उस कान्ता भाव को ललितालंकार के नाम से अभिहित किया जाता है।^३

कुट्टमित

कृष्ण ललित भूषिता राधा को देखें और दोनों एक-दूसरे से मिलन हलु समुत्सुक हो तब कृष्ण राधा का कचुकाकचन आदि छेड़छाड़ करें और राधा आंतरिक उत्साह का अनुभव करते हुए उसका वजन करें और ऊपरी मन से धामता और श्रोत्र का प्रत्यक्ष करें परन्तु मन में सख्य भाव मानें तो उनसे इस भाव को कुट्टमित कहा गया है।^४ भरत ने इसे आंतरिक हृष के भवसर

१ उद्बलनीलमणि पं २७ पृ० ३०२ ।

२ राधावसि आदि किंवा वृन्दावन जाय ।

साह आचम्बिने कृष्ण दरशन पाय ॥

देखिनेर नानामाव हय बैलछण ।

से बैलछपेर नाम विलास भूषण ॥

—वै० पं०, परि १५, पृ २०६ २०७ ।

३ नाट्यशास्त्र, पं०, २१, पृ २७१ ।

४ नी० पं ११ पृ० ३१३ ।

लज्जाहृष अभिलाष सभ्रम चाम्य भय ।

एते भाव मिनि राधाय चचन करय ॥

कृष्ण भागे राधा नहि रहे दांढाहया ।

तिन भगभगे रहे भू नागहया ॥

मुसे नेत्र हय नाना भावरे उद्गार ।

एह कान्ताभावेर नाम ललितालंकार ॥

—वै० पं०, पृ २५, पृ २७ ।

५ उद्बल नीलमणि पं ४४ पृ ३१३ ।

ललित भूषित राधा देखे यदि कृष्ण ।

उड्डुडा मिनिवा रे हयेन सतप्य ॥

सर पर कृत्रिम रूप प्रकट करना माना है जो प्रिय द्वारा स्पर्श विय जाने की प्रसन्नता और घबराहट से अनुप्रति है।^१ सामान्य यह केलि कलह में झूठे रोप का प्रमाण है।^२ वस्तुतः प्रिय द्वारा केवल स्तन आदि अंगों का स्पर्श या भदन विये जाने पर हृदय में प्रमत्त होने हुए भी कृत्रिम रोप अथवा घबराहट अथवा अनिच्छा को प्रकट करते हुए विवर्ण गति से अंगों को चलाने अथवा सीतकार करने को कुटुमित अलंकार कहते हैं।

मोहयित

भरत ने मोहयित अलंकार को प्रिय के उल्लेख से मग्न होकर लीला विलास आदिक माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में माना है।^३ कई आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं। "यापक रूप से प्रिय स्पर्श की अभिव्यक्ति रखते हुए अथवा किसी अन्य से प्रिय के रूप गुणादि को वर्णन करने रहने के लिए जब नायिका उधर ही जान लगाये रहती है किन्तु ऐसा भाव प्रदर्शित करती है कि वह देख या सुन नहीं रही है उस ओर सचेतमनस्क है या उपश्रिता कर रही है तब उसे प्रिया को मोहयित अलंकार कहते हैं।"^४ इसका प्रमुख उद्देश्य दूसरा से अपने मनाभावों का गोपन करना ही है। जान स्वजगना उगलियो या पद नखा से पथ्वी कुरेचना तथा लज्जा के अर्थ अनुभाव भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

विशोक

भरत ने प्रेम प्राप्त करने के बाद गव या अभिमानवग नायिका द्वारा अनादर या उपेक्षा प्रदर्शित करने के भाव को विशोक अलंकार कहा है।^५ व्यापक रूप से मत में प्रिय या वृष्ट वस्तु के प्रति अधिकाधिक आक्षेपण का पोषण करते हुए भी नायिका द्वारा यौवन धन अथवा कल के गव अथवा प्रिय के अपराध के कारण उसका केवल वाणी द्वारा अनादर या उपेक्षा करना^६ विशोक कहलाता है।

मौग्ध्य

जाना-मुना और समझी हुए वस्तुओं के प्रति अनजान बनकर प्रिय के सामने या स्वयं प्रिय से हा उन वस्तुओं के विषय में जिज्ञासा प्रकट करना मौग्ध्य कहलाता है।^७ सरलता में

लोभे कामि कृष्ण करे वचुआउषण ।

अनरे वचनान राधा करे निवारण ॥

बाहिरे वाक्ता शोध भितरे मरय मान ।

कुटुमिद नाम पर भाव विभूषण ॥

—श्री० च० मध्य० परि० १५ पृ० ७ ।

१ नाट्यशास्त्र २४२ ।

२ हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८७ ।

३ नाट्यशास्त्र २४१६ ।

४ हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८७५ ।

५ नाट्यशास्त्र २४२१ ।

६ हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८७ ।

७ 'कलानाटि या वृद्धा प्रतीतिरिति वस्तुन ।

बल्लभरय पुर प्रोक्त मौग्ध्य तत्परं कनि ॥१७॥

—सा० ६० त० परि० ।

निसर्गजय अदृष्टिम शोभा होती है किन्तु मीमंसा म चातुय का भाव विद्यमान रहता है।

चकित

कभी-कभी प्रिय व सम्मुख नायिका के अकारण भय विभ्रम प्रज्ञान म भी एक शोभा होती है जिसे चकित अकार कहते हैं।^१

उपयुक्त सात्त्विक अनुभाव स्वभावज अलंकार क प्रमुख भेद हैं। भरत मुनि न स्वभावज अलंकार मे लीला विलास, विच्छिन्न विभ्रम विलम्बित मोहामयि वदमित विवोच ललित और विहृत की हो परिगणना की थी। कालांतर म भोज विस्वनाथ आदि जाचार्यों न म तपन मीमंसा विमप, कुतूहल, हसित, चिन्तित और बोधक को जाडकर इसकी सख्या उनीस कर दी।

सात्त्विक अनुभाव क अतगन तीन अगज अलंकार भी सम्मिलित किय गए हैं। अगज अलंकार का सम्बन्ध नायिकाओं के आंगिक विकार क्रियाओं एवं चेष्टाओं म है जिनके द्वारा उनके मन म यौवनोन्मेष के कारण उत्पन्न एवं विकसित होने वाल काम पक्षन व परिषय मिलते हैं। भरत के अनुसार अगज अलंकार के तीन भेद हैं—भाव हाव तथा हेला। ये एक-दूसरे स अद्भुत सत्त्व के विभिन्न रूप हो के कारण गरीर से सम्बद्ध माने जाते हैं।^२ उनके मतानुसार सत्त्व गरीर स सम्बद्ध है 'भाव सत्त्व स उत्पन्न होता है हाव भाव स उत्पन्न होता है और हेला हाव स उत्पन्न होता है।'^३ निर्विकार चित्त म यौवनोन्मेष व साथ मन म जिम काम विकार का बपन होता है उमी को भाव कहते हैं।^४ भरत के अनुसार सत्त्व भाव व उद्रेक के साथ अय व्यक्ति के प्रति व्यजित होता है और इसीसे विभिन्न स्थितिया स सम्बद्ध हाव देखे जान हैं।^५ धनजय के अनुसार हाव भाव की वह विनयितावस्था है जिसम भोगच्छा को प्रवर्तित करने वाला कटाग-मान आदि विकार प्रवट होने लगते हैं।^६ भरत के अनुसार ललित अभिनय द्वारा अभिषेकन शृंगार रस पर आधारित प्रत्येक व्यक्ति का भाव हला है।^७ धनजय न इसे शृंगार की महज सवेत देनेवाली अभिव्यक्ति के रूप म स्वीकार किया है।^८

मधुर रस के सात्त्विक अनुभाव

मधुर रस के प्रतिष्ठापन श्री रूपगास्वामा न प्राचीन काव्यशास्त्र म स्थित गए आठ सात्त्विक भावों का ही उल्लेख मधुर रस के सन्तभ म किया है। परम्परागत सात्त्विक भाव आठ हैं—स्नग्ध स्वेद रोमाञ्च स्वर भग वपयु ववण्य अश्रु और और प्रत्यय।

भरत मुनि ने अनुभावा को सात्त्विक इसीलिए कहा है कि इनका अभिनय विविध मनोरम

१ कुतोपि दवित्रयामे चकित भयमभ्रम । १०६ (२२)।

—भा० द०, त प ।

२ नाट्यशास्त्र, २४/६।

३ नाट्यशास्त्र, २४/७।

४ 'निर्विकारात्मकामाश्रद्धावस्तव विक्रिया ॥३३॥ —राक्षक धनजय, दि प्र०।

५ नाट्यशास्त्र, २४/६।

६ अस्वभाव स गरीर हावो-विभ्र विकारहृत् । —राक्षक वि० प्र (१२ ३४ का पूरा)।

७ नाट्यशास्त्र २४/११।

८ ॥ ५६ हेला सुभयव शृंगारमश्रुविका ॥३४॥ —राक्षक दि प्र०।

से ही सम्भव है। चित्त वि रूप के माध्य इनका अभिनय कोई नहीं कर सकता।^१ सत्त्व अन्न करण के विशेष धम को कहते हैं। इसे मन प्रभाव भी कहा गया है। अतएव सत्त्व ॥ उत्पन्न ऐसे अग विकार को सात्त्विक अन्नभाव कहते हैं जिससे हृदयगत रस या भाव का परिचय मिलता है। साहित्यदपणकार व अनुसार सत्त्व स्वात्मविश्राम^२ अर्थात् रस को प्रकाशित करनेवाला आन्तर धम है। जब इस आन्तर धम से सम्बद्ध रहने के कारण ही इन अनुभावो को सात्त्विक अनुभाव की समा दी गई है।^३ ये सात्त्विक भाव पूणरूप से मानसजय हैं। हेमचन्द्र ने सत्त्व का अय प्राण लिया है। उनके अनुसार स्थायी भाव ही प्राण तक पहुँचकर सात्त्विक का रूप धारण कर लेते हैं। प्राण म पृथ्वी का भाव प्रधान हो जाने पर स्तम्भ जल का भाव प्रधान हो जाने पर अश्र तेज व भाव की प्रधानता होने पर स्वेद तेज व भाव के तीव्रता गूँथ होकर प्रधान होने पर ववर्ण आकाश का भाव प्रधान होने पर प्रल्य वायु के भाव व मध्य और उत्कृष्ट आवेग से रोमाच कम्प तथा स्वर भग हुना है। गरीर धम बाह्य स्तम्भा^४ ही इन आन्तरिक स्तम्भा^५ की व्यजना करत हैं।^६

हृय भय रोग विस्मय विषाद लज्जा मादकता एक रोपा^७ से अवस्मान शारीरिक अवयवो का संचालन दय जाना स्तम्भ नामक सात्त्विक है।^८

क्रोध भय हृय लज्जा दुःख श्रम रोग ताप चो^९ कृत्राति समाचार आदि से उत्पन्न पमीने को स्वेद सात्त्विक कहते हैं।^{१०}

स्पर्श श्रम गीत हृय क्रोध रोष एक भय आ^{११} के कारण गरीर के रागदो का छटा हो जाना रोमाच नामक सात्त्विक है।

भय क्रोध हृय मद बद्धावस्था रोगा^{१२} के कारण स्वर का मद्गद हो जाना स्वर भग नामक सात्त्विक है।^{१३}

गीत भय क्रोध श्रम हृय स्पर्श बद्धावस्था आ^{१४} के कारण गरीर का कांपने लगना

१ नाट्यशास्त्र ६ ६३ ।

२ साहित्यदपण ३ १३३० ३४ ।

३ हिन्दी साहित्यकोश पृ ८३

४ नाट्यशास्त्र ६ ६९ ।

रस भस्व^{१५} गीत भय भयविश्रामाभि ॥१३६॥

—सा ८, वृ ५० ।

५ नाट्यशास्त्र ६ ६५ ।

वपुःकोरुगम रवो रविभमम निभि ॥१३७॥

—मा ८ वृ ५ ।

६ नाट्यशास्त्र ६ ६८ ।

स्पर्शभुनम^{१६} भयो रोमाचो रोमविश्राम ॥ १३८ का उत्तराद ।

—सा ८ वृ ५ ।

७ नाट्यशास्त्र ६ ८६ ।

मन्समन्धीह मेदेरेवर्ग गदग वि ॥१३८ प का पूर्वाद ।

—सा ८ वृ ५० ।

वेपथु सात्त्विक कहलाता है ।^१

गीत श्लोक भय हृष, विपात् माह तया राग आनि क कारण मह व रग उ जाने का वदण्य सात्त्विक कहत हैं ।^२

आनन्द अमप अथु धूम भय गोर अथवा निनिमप दृष्टि स दवन स आवा स औमुओ के वहन को 'अथु नामर सात्त्विक भाव कहा जाता है ।^३

श्रम मूच्छा, भय निरा हृष अभिघात और मोह स उत्पन्न निश्चेष्टता निष्स्पन्ना द्वासावरोध आनि स यत्न अवस्था का नाम प्रत्य सात्त्विक है ।^४

वर्णन रस-साधना के अन्तर्गत इन आठ सात्त्विका का स्निग्ध शिथ्य और रस तीन धर्मों में विभाजित किया गया है ।^५ स्निग्ध क मुख्य और शौणव भू हान हैं । बद्धि की दृष्टि स सभी सात्त्विका के प्रमाण धूमायिन जबलिन, दीप्त और श्दीप्त नामक चार भेद निधारित किए गए हैं ।

मधुर रस के संचारी भाव

भरत क अनुसार रस क सम्बन्ध म जा अथ वस्तुता की ओर मचरण कर उम हा संचारी कहत हैं । श्री आधार पर धनजय ने कहा है नि जा भाव विनाप रूप म स्थायी भाव की पुष्टि क लिए अभिमुख रहते हैं और समुद्र की लहरा क स्थान स्थायी भाव के अतगन उत्ति और पयवमित होत रहत हैं उह ही संचारी या व्यभिचारी भाव की सभा दी गई है ।^६ निम प्रकार लहरें समुद्र म पदा होकर उमी म विलीन हा जाता हैं उमी प्रकार रत्यानि स्थायी भावा म निर्वेदानि संचारी भाव उमग्न और निमग्न हान रहत हैं । स्थायी भाव म ही संचारी भाव आविभूत और निराहित हाने रहत हैं । लहरा के उथान-मनन म समुद्र का समुत्तर और भी परिपुष्ट होता है उमी प्रकार संचारी भाव स्थायी भाव का पोषण करत हैं ।

भरत क अनुसार संचारी भावा का मख्या तनीम है । यथा—निर्वेद आवग दय श्रम म जडना औप्रेय माह विवाय स्वप्न अपस्मार गव मरण अज्ञता अमप निद्रा,

१ मा० शा० ६/६८

रागद्वैप अमाश्रित्य कम्पो गात्ररव वपु । प ११८ का उत्तराद्रः । —मा ६०, पृ ५ ।

२ मा० शा , ६/६९

विषात्मन्तोपायैवया यव विवर्तना । —मा ६०, ३१३ ।

३ मा० शा० ६/६७

अकनेत्रोद्भव वारि शेषु खड्गपत्रम् ॥ —मा० ६०, ३१३ ।

४ मा० शा० ६/६६

प्रलय मृत्युदग्ध्या अज्ञाननिराहृति । —मा ६०, ३१६ ।

५ इतिवितरसमृन्मिषु स वि ३ लहरी पद १२ ।

६ विरोधदानिमुद्रन पर मो व्यभिचारिण ।

रवाविद्यु मग्न निमग्ना कल ला इव वारिणी ॥१॥ —लहरीक पद ६६५ ।

अवहित्वा ओमुक्थ्य उमान् सका स्मृति मनि पाधि मन्त्राम लज्जा ह्य अमूया विपा
पति चपलता ग्लानि चित्ता और वितक ।

भरत ने आधार पर सचारी भावों की तृतीस सख्या प्राप्त स्वभाव हो चुकी है । कई आचार्यों ने इसकी सख्या वृद्धि के प्रयास किए हैं । भानुज्ज ने छत्र नामक नये सचारी की चर्चा की है । इतना ही नहीं उन्होंने रस-तरंगिणी में दम मन्नावस्थाओं की व्यभिचारियों में परिगणित कर लिया है ।^१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तृतीस सचारियों को उपलक्षण मात्र बतलाकर सचारियों की परिमित सख्या का प्रत्याख्यान किया है । उनके विचार से स्मृति के समान विस्मृति का भी सचारियों के अंतर्गत सन्निवेश किया जा सकता है ।^२ श्री राघवन ने भी अनुभाव नायिकाओं के बीस अलंकार भाव हास आदि सात्विक भाव आलाप आदि दस कामावस्थाएँ सभी को सचारी के अन्तर्गत समाविष्ट करने सचारियों की तृतीस की सख्या को बढ़ाने का प्रयास किया है ।^३ वल्गव रस माधना के प्रमुख आचार्य श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस के सदृश में तृतीस सचारियों को ही माना है । किन्तु मधुर रस के प्रतिबल होने के कारण भीमप्र और आत्स्य के उदाहरण नहीं दिए हैं । तृतीस सचारियों के अतिरिक्त तेरह और सचारियों की उद्भावना की गई है । किन्तु मूढ परीक्षण के बाद वे भरतोज्ञ तृतीस सचारियों में ही अंतर्भूत हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त रस विनय के सदृश में उन्होंने कतिपय अन्य विनिष्ट सचारियों की परिगणना की है । सचारियों के वर्गीकरण अंतर्भाव आदि विषयों को लेकर आचार्यों ने पर्याप्त विचार विमर्श किये हैं । प्रसंगानुसार इन सारी बातों पर विस्तार के साथ विचार करना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही । किन्तु निष्पत्ति के रूप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कोई भी भाव विभाव अनुभाव और सचारी के समूह से ही रसावस्था की प्राप्ति करता है । अतएव किंसा स्थायी भाव को रसावस्था तक पहुँचाने में सचारी का योग अनिवार्य है ।

श्री रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतमिथु की चतुष लहरी में सचारियों का विस्तृत विवरण करते हुए कई नवान सचारी भावों का सन्निवेश किया है और तृतीय सचारी भावों में ही उनका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है । सभी सचारियों के स्वतंत्र और परतंत्र नामक दो भेद किये गए हैं । पुनः परतंत्र सचारी में वर और अवर दो भेद निर्धारित किये गए हैं । वर के सातान् और व्यवहृति नाम रूप माने गए हैं । मुख्य रति के पोषक को सातान् और गौणी रति के पोषक को व्यवहृति कहा गया है । स्वतंत्र सचारी के रति पूर्य रत्यनुत्पन्न और रति-पाधि नामक तीन भेद बतलाये गए हैं ।

मधुर रस के भक्तिपरक शृंगार के भेद

वल्गव रस माधना में मधुर रस की ही सर्वप्रथम उल्लेख किया है । विषयस्तु प्रतिफलन के कारण तब जगन् में जिस मधुर रस को सर्वप्रथम निम्नस्थ माना गया है चित्रगन् में वही सर्वप्रथम रसरान की उपाधि में विभूषित किया गया है । मधुर रस की इसी सर्वप्रथमता के कारण वल्गव

भानुज्ज रसतरंगिणी पृ ३ ।

२ रसमीमांसा शुक्ल पृ० २२२-२२३ ।

३ राघवन दीनम्बर चन्द्र रसज्ञ पृ १४६ ।

साहित्य में विनोदकर राधा कृष्णलीलाविषयक काव्य साहित्य में मधुर रस की प्रधानता है। सगुणोपासनापरक वष्णव साहित्य में इतने व्यापक रूप से इस मधुर रस का स्वरूप विधान किया गया है कि उसके प्रभाव से निगुणोपासनापरक सत साहित्य में भी इसकी बड़ी ही विनाद एवं मार्मिक अभिव्यजना हुई है।

हिंदी के निगुण एवं सगुण वष्णव कविया ने मधुर रस के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित प्रचुर काव्य-साहित्य की रचना की है किन्तु वे सब उनके उदाहरण स्वरूप ही मान जा सकते हैं। प्राचीन संहृत रसशास्त्र पर आधारित वष्णव रसशास्त्र के अनुकूल मधुर रस का सावयव निरूपण बंगाल के वष्णव आचार्यों ने ही किया है जिनमें गौडीय वष्णव आचार्यों का सर्वाधिक श्रेय है। इन वष्णव कविया और आचार्यों ने राधा कृष्ण की लीला विलास का बड़ा ही विनाद, मार्मिक और वाग्दम्यपूर्ण वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के परस्पर आकर्षण प्रेम मित्रान मान बिरह आदि से सम्बन्धित विषयों की वष्णव साहित्य में बड़ी ही मार्मिक अभिव्यजना हुई है। इन मधुर प्रसंगों से सम्बन्धित पदों की संख्या अपरिमित है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वष्णव आचार्यों ने भक्तिरस के शांत दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर नामक पाँच प्रमुख भेद निर्धारित किए हैं। बंगाल के वष्णव कवियों का पदावलिता में शान्त और दास्य रस के पदों की संख्या नितांत कम है। सख्य और वात्सल्य रस के पदों की संख्या भी ज्यादा नहीं है। उनकी पदावलिता में मधुर अथवा उज्ज्वल रस के पदों की ही प्रचुरता है।^१

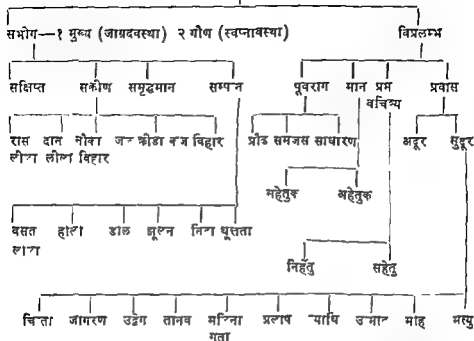
यहाँ यह स्मरणीय है कि बंगाल के वष्णव कविया विनोदकर गौडीय वष्णव कविया की पदावली श्री रूपगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित भक्ति भावना और भक्ति रस शास्त्र के आधार पर ही लिखी गयी है। राधा-कृष्ण की लीला से संबंधित सारे पद उनके द्वारा निरूपित मधुर रस के साथ ही जोड़े गये हैं। हिन्दी के राधाकृष्ण-लीलापरक पद उपयुक्त आधार पर नहीं रचे गये क्योंकि उनके समस्त बंगाल के वष्णव आचार्यों के भक्ति रस शास्त्र के समान रस-साधना के व्यवस्थित रूप का अभाव था। अतः इन भक्त कविया ने अपने मन के प्रबोधन के लिए बग़ाय मूकक पदों की रचनाएँ की हैं अपने आराध्य देव की तुष्टि के लिए उनकी एकाग्र माधुरी का वर्णन किया है और अपने आत्माराधन को सुगम और आनन्द प्रदान करने के लिए भगवान् की रूप-माधुरी और लीला-माधुरी के गान किये हैं।

वष्णव आचार्यों के रस शास्त्र के अनुसार मधुर रस का सांख्यिक वर्णन इस प्रकार किया गया है—

१ 'वैष्णव आचार्यगण रस के पञ्चमुख्य भागों विभक्त करिया हैं। यथा शांत दास्य सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। पदावली में ये शांत एवं दास्य रसों पर रस मय्या जितानह कम। सख्य एवं वात्सल्य रसों पर संख्या भी अधिक नाह। मधुर का उज्ज्वल रस पर रस संख्या प्रचुर।'।

—बंगीय साहित्य-सम्प्रेतन का दशमोत्सव अभिवेदन, १९११ की सम्मेलनी अध्यापिका का भाषण।

मधुर रस



साधारणतः मधुर रस के दो भेद हैं—संभोग और विप्रलम्भ।^१ संभोग प्रमी युगल की मिश्र-दशा तथा विप्रलम्भ उनकी विषाग दशा को कहते हैं। धनजय ने तमन तीन भेद दिये हैं—अयाग (न मिश्रता) विप्रयोग (मिश्रकर वियुक्त हो जाना) और सयोग (मिश्रता)। इनमें अयोग और विप्रयोग वस्तुतः विप्रलम्भ के ही अन्तर्गत आते हैं। श्रीरूपगोस्वामी ने उक्त वर्णनील मणि में शृंगार भेद प्रकरण में संभोग और विप्रलम्भ के उपभोगों का विस्तृत विवचन किया है। उनके मतानुसार विप्रलम्भ सयाग का ग्राह्यत्व गति है। अतः विप्रलम्भ के बिना सयाग की पुष्टि सम्भव नहीं है। विरह स हा प्रम परिपुष्ट होता है। जहाँ रति नामक भाव प्रकट को प्राप्त करे किन्तु नायक नायिका के अभाष्ट का मिद्वि न हा उस विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं। (भाजराज मरस्वनाकामरण ५/५५)। भानुजित के मतानुसार युवा और युवती की परस्पर मुक्ति पचद्विधा के पारस्परिक मरघ का अभाव अथवा अभाष्ट की प्राप्ति विप्रलम्भ है। (रस तरंगिणी ६) पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार नायक-नायिका में वियोग लता में प्रेम हो ता वह विषाग शृंगार होता है।

श्री रूपगोस्वामी ने विप्रलम्भ के उपयुक्त दो भेदों को मानते हुए विप्रलम्भ के चार भेद माने हैं—पूवराग मान प्रमवचिन्त्य और प्रवास। चतयचरितानाम में श्री कृष्णदास कविराज ने भी ऐसा ही माना है।^२

१ संभोग विप्रलम्भ निविध शृंगार।

सम्भोग भनन भन नाहि भन तार ॥

२ विप्रलम्भ चतुर्विध पूवराग मान।

प्रव माय मर देनवैचि य भनान ॥

—ये च मरघ परि० २३ पृ २१।

—वही।

पूवराग

पूवराग एक तरह की प्रसुप्त प्रेम का है। इसमें प्रिय व प्रियमदन रूप-गुण-श्रवण स्वप्न-मग्न चित्रात्मिका से उत्पन्न प्रणयामिलापा विद्यमान रहती है। विप्रलम्भ शृंगार का इस अवस्था में प्रेमावुर का प्रस्फुटन होता है परन्तु इसमें साक्षात् मिलन की स्थिति नहीं होती। प्रिय का दर्शन साक्षात्कार और चित्रपट से भी हो सकता है। यह कभी-कभी स्वप्न में भी संभव हो सकता है। सखी या दूती द्वारा प्रिय के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर भी पूवराग का उदय होता है। प्रसिद्ध अपने प्रिय से संबंधित मुरगी आदि वस्तुओं को देख-सुनकर भी पूवराग की दशा की प्राप्ति करती है।

श्री रूपगोस्वामी ने उल्लसल्लसणि में पूवराग के प्रसंग में दर्शन श्रवण और उनका भेद का कूट वर्णन किया है। रति-जन्मक हेतु अभियोगादि पूवराग में भी कारण स्वरूप माने गये हैं।

पूवराग के तीन भेद प्रीति, समजस और साधारण

पूवराग के तीन अवातर भेद हैं—प्रीति, समजस और साधारण। समय रति को प्रीति कहा गया है। इसके अंतर्गत लालसा उत्प्रेय जागरण सानव जडिमा व्यग्रता व्याधि उन्माद, मोह (भूछाँ) और मद्यु—ये दस दर्शाएँ होती हैं। अथवा श्री शृंगार रस के प्रकरण में इन दस अवस्थाओं के वर्णन मिलते हैं। कभी-कभी सानव या तनुजा के स्पर्श पर विरगप का उल्लेख मिलता है।

समजस के अन्तर्गत अभिलाष चिन्ता स्मृति, गुण-वचन उद्वेग, विरगप उन्माद व्याधि जडता तथा मति नामक दस अवस्थाएँ मानी गयी हैं। साधारण में अभिलाष चिन्ता स्मृति, गुण-कीर्तन उद्वेग और विलाप नामक छह दर्शाएँ स्वीकार की गयी हैं। पूवराग में काम लक्ष और उससे भेद निरुद्ध तथा मादुर एव मात्स्यापण आदि का वर्णन माय है और इसका सबध कृष्ण तथा राधा आदि दोनो पक्षा से ठहरता है।^१

वर्णन रस शास्त्र के अनुसार पूवराग का अथ राधा और कृष्ण के मन में प्रेमान्ध से है। दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति कई प्रकार से प्रेमोद्भव होता है और उनमें कई सोपान हैं। नायक और नायिका (राधा कृष्ण) एक-दूसरे के प्रति दर्शन एक रूप गुणादि श्रवण से आकर्षित होते हैं। एक दूसरे के साक्षात् दर्शन के कारण भुग्धता की भावना भी विद्यमान रहती है।^२ सखियाँ या दूतियाँ नायक और नायिका के रूप गुण प्रेम भावना आदि का वर्णन कर एक-दूसरे

१ रस निदान स्वरूप और विवेचन पृ० २७ ।

—दश० भा० प्र० दीर्घ १ ।

२ भेद रसि शास्त्रे मनमोहन से गद्य रीति चारि ।

अवरो रति मारण है निरुद्धे, लवि निरसन तन तोरि ॥

—मृगमातर, १०/६७ पृ० ४६६ ।

कि वेगुड जमुनार तोरे ।

कानिवा बरप रक्त मातुष आकर गो,

विरागु छार करिछारे ॥

विदप बजार रूने, आरुन करित गो, बरपे न बाव मोर हिया ॥

—दुन्दुन, प० क० पृ० ६, पृ० १४० ।

के मन में प्रेमाकुरित कर परस्पर आकर्षित करती हैं। इससे दोनों के मन में तीव्र मिलनोत्कंठा जाग्रत होती है। उनका विरहाकुलता कभी-कभी मरण-दशा तक पहुँच जाता है।^१ इस प्रकार हिन्दी के पन्ना और गौडीय पदावली में भाव-साम्य तो है, पर गौडीय पदावली के समान हिन्दी के पन्ना में वष्णव रस शास्त्र के अनुरूप विषय प्रतिपादन का अभाव है।

मान

बाह्य उदासीनता और भीतर भीतर स प्रबल आसक्तिमुक्त प्रणयोत्सास को तीव्र बनाने वाला हृष विषाद भय आशा अहंकार क्रोध प्रेम वितृष्णा आदि का सम्मिश्रित रूप मान' बड़ा ही रहस्यमय एवं यापक है। श्री रूपगोस्वामी ने मान प्रसंग में उसके भेदों एवं मान-मोचन की युक्तियाँ का हृद वणन किया है।

मान के दो भेद हैं—सहेतु और निहेतु। विप्रभ मधुर रस की मान-दशा कभी सहेतु होती है और कभी निहेतु। सहेतु मान के कारण दृष्ट अत तथा अनुमित भी हो सकते हैं। निहेतु मान अकारण या कारणाभास से होता है।

मान का उपगम मधुरालाप उपहार दाप स्वीकृति या क्षमा-याचना प्रणसा तथा उपक्षा से होता है। ब्रज मुल्परिया के मान का उपगम देश-काल-ब्रल से या भुरली नाद के श्रवण मात्र से अत्यन्तपूर्वक ही हो जाता है।

राधा और कृष्ण की प्रेम लीला के प्रकरण में मान दशाओं से संबंधित पदों का बाहुल्य है। सामान्य रूप से राधा ही मान करती हैं। उनका मान सकारण और अकारण दोनों होता है। व सखियों द्वारा या श्रीकृष्ण के गरीर में अग्राग सिद्धर काजल आदि के चित्तों की देखकर आकृष्ण का अय गापी से विहार करना जानकर क्रुपित हो मानवती हो जाती हैं। कृष्ण दूती द्वारा तथा अंत में स्वयं जाकर अनूनय मनुहार द्वारा मान माँचन करने में सफल होते हैं। कृष्ण कभी-कभी राधा के मान का उपगम करने के लिए गापिका का वेश भी धारण कर लेते हैं। इस प्रकार सहेतु मान का आविर्भाव और उपगम होता है।

वष्णव पन्ना में निहेतु मान का भा प्रयाप्त वणन मिलता है। राधा कृष्ण के कठहार की मरकत मणि में अपना प्रति-छाया देखकर उस एक ठमरी गोपी समझ लेती है और क्रुपित होकर मान कर बैठती है। सखियाँ द्वारा अपना भूल जान लन पर बंछिजन होकर मान त्याग करती हैं।^२

प्रेम वचित्र्य

प्रभावप के स्वभाव के कारण प्रिय के समीपस्थ हान पर भी वियाग की आशंका से

॥ मरम चान्न परश मरद्वर मज्जत जलत चीर ।

वच उठन ककुं बैठत पये हरत तोर ॥ —गोविन्दनाम प ५० त ५—२१७ ।

० रसवति आर रमिकवर ठाम ।

रसम तन मुञ्च देर अशुशाम ॥

निज निविम्भ रसम अगे हरि ।

रोवि बइत धनि अनन पेरि ॥

नगर पत्र बिंद भवण भेनि ।

हामरि ममुन नर मान भवे कनि ॥

—उदयनाम प ५० त ५—५१७ ।

उत्पन्न पीड़ा को 'प्रेम-वचिन्मय' की सज्ञा दी गयी है। प्रिय के दूर रहने पर वियोग-वेदना से आक्रांत हो जाना स्वाभाविक है। किंतु प्रिय के सन्निकट रहते हुए भी विश्लेष दुःख का प्रदान करना प्रेम का वचिन्मय ही तो है। 'प्रेम-वचिन्मय' वस्तुतः एक विचित्र प्रकार की अनुराग-दशा है। प्रेम के कारण जब चित्त की दशा अनुरागमयी हो जाती है तब विप्रलम्भ शृंगार का रूप प्रेम-वचिन्मय नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें स्नेह मन प्राण को ढँक लेता है और प्रमिका भावावेग के कारण मुग्ध मुग्ध भूल जाती है।^१ वह प्रेमावगा में उमत्त-सी हो जाती है और प्रमी के रूप वण शृंगार आदि के प्रति उसके मन में प्रबल अनुराग का उदय होता है। प्रेम-वचिन्मय तीन प्रकार के हैं—१—रूपानुराग।

२—आपक्षानुराग।

३—रसोद्गार।

प्रमी के रूप में प्रबल आकर्षण और अनुराग होने का 'रूपानुराग' कहते हैं।^२ प्रेमाधिपत्य के कारण नायक से संबंधित वस्तुओं द्रुत एवं द्रुतियों सखा एवं सखिया या अपने आपको दीप देना आपक्षानुराग है।^३ अतीत की मधुर स्मृतियाँ श्रीढाओं एवं आनन्दपूर्ण मधुमयी घटिया के स्मरण करने को 'रसोद्गार' की सज्ञा दी गयी है। हिन्दी और बंगला के वल्लभ कवियों ने इस अनुराग-दशा को लेकर बड़े ही उत्तम पदों की रचनाएँ की हैं।

प्रवास

नायक से नायिका की पूर्ण विश्लेष-दशा को 'प्रवास' कहते हैं। प्रवास के दो भेद हैं—अदूर और सुदूर। अदूर प्रवास में बहुत थोड़े समय के लिए नायक नायिका से विमुक्त होता है। राधा-कृष्ण-लीला के प्रसंग में कालीमन्मथ गोचारण नन्दमोक्ष कार्यान्तरोध-गमन रास-लीला आदि के समय थोड़े समय के लिए कृष्ण के बाहर चले जान या अंतर्धान होने में अदूर प्रवास की स्थिति बनलाई गयी है। इस रूप वियोग से भी राधा आदि वजागनाआ की अत्यन्त बला होता

१ रसकवि बडि रमिकरत पार।

रोह कहइ बनि बिहइ दुतारा ॥

आर कि मिलव मोहे रसमय श्याम।

बिरह बलधि बत पडरव ह्याम ॥

निकरि नाह नः हेरइ राह।

सहचरि कत परबोध ताह ॥

कानु चमकि तव राह कर कोट।

गोविन्ददास हेरि मन भेल ओर ॥

—गोविन्ददास पृ० १०, पं०-७१७।

२ मैं बलि जाऊँ श्याम मुख छवि पर।

बलि-बलि जाऊँ कुटिल कच विधुरे, बलि भकुटी सलाह पर ॥

—मुराराम, मू. भा २०/६६४ पृ० ४८४।

३ बिषना मुरली सीन बनाइ।

कुटिल बोल की, बस दिनानिदिन काम निराम कराइ ॥

—मुराराम, मू. भा०, १०/१३८६ पृ० ७१७।

५—मलिनता^१

६—प्रलाप^२

७—व्याधि^३

८—उमाद^४

९—मोह^५

१०—मृत्यु^६

हिंदी के बष्णव कविया ने भी इनमें से अधिकांश विरह-रोगों का मार्मिक एवं सजीव चित्रण किया है किन्तु उनका यह बष्णव रसास्त्र पर विद्यमान आधारित न होकर स्वतंत्र रूप में ही उपस्थापित हुआ है। बष्णव पदावली में सुदूर प्रवासजय विरह-रोग का बष्णव पद ऋतुआ और बारहमास के अनुबल भी दिया गया है।

समोग शृंगार और उसका भेद

‘जहाँ अनुबल बिलास। एक दूसरे के दान-स्नान इत्यादि का सेवन करते हैं वह आनन्द में युक्त समाग शृंगार कहलाता है।^१ आनुत्तक मतानुसार दान स्नान सत्पाप आदि से अनुभूयमान सुख या बहिर्निर्गत सम्बन्ध में उत्पन्न आनन्द समोग है।^२ साहित्यरूपणकार के कथनानुसार जहाँ एक दूसरे के प्रेम में अनुरक्त नायक और नायिका स्नान स्पर्शन इत्यादि का सेवन करते हैं वह समोग शृंगार कहा जाता है।^३ पंडितराज जगन्नाथ के मतानुसार ‘समोग का अर्थ स्त्री पुरुष का एक स्थान पर रहना नहीं है क्योंकि एक क्षम्या पर सोते रहने पर भी यदि इर्ष्यादि के कारण प्रमानुमूर्ति न हो तो वह समोग न होकर विप्रलम्भ ही माना जाएगा। अतः समोग शृंगार के अंतर्गत स्त्री पुरुष के समोग के माय-माय पारस्परिक प्रमानुमूर्ति अपेक्षित है।

परस्पर दान, सस्नान, आलिंगन, अधरपान परिरक्षण परिचुम्बन आदि नायक नायिका के पारस्परिक व्यवहार भेद से समोग शृंगार के अनेक भेद होते हैं। चित्तु आचार्यों ने उनमें से समोग शृंगार में ही अन्तर्भाव मान लिया है।

भरत के मतानुसार ‘समाग ऋतु रमणायता मात्थ अनुत्पन्न अलवार इष्टजना का साग, द्विद्रोय के विषय रम्य भवन, उपवन गमन प्रिय के वचना का श्रवण प्रिय-स्नान, प्रिय के माथ लीला प्रीडा आदि विभावों से उत्पन्न होता है तथा नयन चानुय भ्रू रिगव बटारा ललित एव मधुर अंग चेष्टा आकाशक वचन आदि अनुभाव से व्यञ्जित होता है।’ नाग विष्णु

१ अ-कल्पतरु, पृ० १६०४।

२ बही पृ० १६५५, १६५६।

३ बही, पृ० १६१०।

४ बही पृ० १६१६ १६२०, १६२१।

५ बही पृ० १६२० १६२६।

६ बही, पृ० १६१६ १६३७।

७ दर-रूपक धनञ्जय, ४/६३।

८ रंगतरंगिणी (अनुबल) ६।

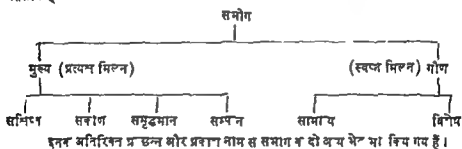
९ साहित्यदण्ड, ३/११०।

विच्छिन्ति आदि दस हाव भी सभोग वषणन में आ जाते हैं। प्रास आत्स्य उप्रता जुगुप्सा और मृदु को छोड़कर सभी यमिचारी भाव इसमें सन्निविष्ट हो सकते हैं। जहाँ नायक के मन में नायिका को देखकर रति का भावोद्भव होता है वहाँ नायकारण सभोग शृंगार और जहाँ नायिका के मन में नायक को देखकर प्रेम का उदक होना है वहाँ नायिकारण सभोग शृंगार कहा जाता है।

सयोग और वियोग की पृथक् स्थितियों का सम्बन्ध केवल लौकिक सम्बन्ध है। सबव्यापक अन्तर्यामी और अतियामी सबत्र प्रकट या अप्रकट रूप से सदा विद्यमान रहनेवाले विश्वात्मा परमेश्वर की स्थिति में भिन्नता कस सम्भव है? पारमाधिक दृष्टि से उनकी स्थिति दोनों (सयोग और वियोग) की सम्युक्तावस्था के समान ही तो है। किन्तु जिन कारणों से निगुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म के रूप में अवतरित होना पड़ता है उन्हीं 'प्रावहारिक' कारणों से ईश्वर के लीला गान के प्रसंग में भावुक भक्त को सयोग और वियोग दशाओं की भी उद्भावना करनी पड़ती है। फलतः वष्णव मधुर रस साधना के अतगत भा हरि और उनकी वल्लभाओं की विभिन्न सम्बन्ध स्थितियों की परिकल्पना द्वारा उनके अनुरूप सभाग एवं विप्रलम्भ शृंगार और उनके भेद प्रभेदों का सागोपाग निरूपण किया गया है जो अधिक मात्रा में परम्परागत रसाशास्त्र पर आधारित है।

लौकिक भेद में प्रेमी-युगल की सयोग या मिलन-दशा को सभोग शृंगार कहते हैं। राधा-कृष्ण-लीला अथवा जीवात्मारूपी दुल्हन और परमात्मारूपी दुल्हा के प्रेम प्रसंग में यही लौकिक सभोग शृंगार अलौकिक मधुर रस में रूपायित हो जाता है।

श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस का प्रतिपादन करते हुए सभोग के निम्नलिखित भेद बतलाये हैं—



सन्निपत्त सभोग

पूरवर्णन के आठ प्रेमी-युगल के प्रथम मिलन को सन्निपत्त सभोग कहते हैं। लज्जा की अधि कता के कारण उनका यह प्रथम मिलन सन्निपत्त हो जाता है। वष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा कृष्ण के सन्निपत्त मिलन और क्रांदा का सन्निपत्त सभाग के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। यह अल्प कालीन मिलन कभी गा चारण में कभी गा-जोहन में और कभी बाल त्रीडा में होता है। वन गच्छ आदि इनके निम्न-स्थल हैं। कभी-कभी बाल क्रांदा के प्रसंग में राधा कृष्ण का सन्निपत्त मिलन आकस्मिक रूप में हो जाया करता है। दोनों एक-दूसरे का देखकर आकृष्ट होते हैं। राधा कृष्ण को एक बार देखने पर विरह-ज्वर से पांडित्य हो उठती है और कृष्ण से मांगालार के लिए अनुरोध करने का अवलम्बन करती है। बाष्पा और हिनी के पञ्चाह्वय में इस प्रकार के

संक्षिप्त मिलन की काम त्रीडाओं का बड़ा ही उत्साहपूर्ण वर्णन किया गया है।^१ राधा कभी-कभी कृष्ण से मिलने के लिए मय काटने का बहाना भी करती हैं। गारुडी कृष्ण आकर उनके तपाकपित विष का हरण कर उनके मनोरथ को सिद्ध करते हैं।^२ श्री जीवगोस्वामी के अनुसार पूर्वराग के बाद सभोग के चार प्रकार हैं—सदशन सम्पग सजल्प और सप्रयोग।

सकीर्ण सभोग

प्रमी युग्म का मान के बाद जो मधुर मिलन होता है उसे सकीर्ण सभोग कहा गया है। मान के कारण मानिनी के मन में जो लोभ और दुःख की स्मृति गेय रह जाती है उसके कारण मिलन का पूर्ण आनन्द नहीं हो पाता क्योंकि मान के उपगम हो जाने के बाद भी मनोद्भूत दुःख, श्लोष, अहंकार आदि की झट्टि थोड़ी-थोड़ी भीतर-ही भीतर बनी रहती है। कृष्णव रस गास्त्र के अनुसार राधा-कृष्ण के सकीर्ण सभोग से सम्बन्धित प्रेम लीलाओं के निम्न प्रकार माने गए हैं—

१—रामलीला

२—दानलीला

३—मीका विहार-लीला

४—जलश्रीहा और स्नान यात्रा

५—कुजविहार लीला

रासलीला

गरद की राका रजनी में राधिकारमण श्रीकृष्ण गोप-क्याओं का नाम ले ल कर वगी की मात्क स्वर-लहरियों द्वारा उनका आह्वान करते हैं। मुरली की मधुर ध्वनि श्रवण कर के गोप-क्याएँ उल्टा पुन्टा घस्त्रामूर्षण धारण कर जसे-तमे वगीवट पहुच जाती हैं।^३ कृष्ण उनक

१ तपनक तापे तपन भेल महितल,
अनल बाजुक दहते समान ।
चदत मनोरथे भाबिनि चनु पथे
ताप तपन नाहि जाज ।
मेमक गति दुरवार ।
नवीन जीवनि, बनि नरथ कमच निनि,
तबहि कयल अभिमार ॥

—कविरौखर, ९० क १०, पृ १३१ ।

सैन है प्यारी लर मुनाह ।
गेवन की निनि करि कै निकसै वरि कहि गए बहार ॥
अमुनि की कहि प्यारी निकसी, घर की नाउ मुनाह ।
कर दोहनों लिये तहँ छाड, जहँ हथपर के भार ॥

—मुरमागर १०/७१८, पृ ५४ ।

२ रोमर पक-पत्रक पद २४० दृश्य ।

मुरमागर, १/७४० पृ ५१६ १/७४८ पृ ५२० दृश्य ।

३ सरय निसि निसि हरि हरण पयी ।

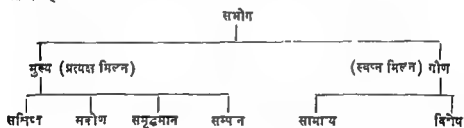
राधिकारमन बन भवन मुल देखि कै कषर पति देनु मुचन्ति बजह ।

विच्छिन्ति आदि दस हाव भी सभोग वणन में आ जाते हैं। त्रास आलस्य उपता जुगुप्सा और मृत्यु को छोड़कर सभी यमिचारी भाव इसमें सनिविष्ट हो सकते हैं। जहाँ नायक के मन में नायिका को देखकर रति का भावोद्वेग होता है वहाँ नायकारण सभोग शृंगार और जहाँ नायिका के मन में नायक को देखकर प्रेम का उद्वेग होता है वहाँ नायिकारण सभोग शृंगार कहा जाता है।

सयोग और वियोग की पृथक् स्थितियों का सम्बन्ध केवल लौकिक सम्बन्ध है। सबध्यापक अन्तर्यामी और अतियामी सबन्ध प्रकट या अप्रकट रूप से सदा विद्यमान रहनेवाले विश्वात्मा परमेश्वर की स्थिति में भिन्नता कैसे सम्भव है? पारमार्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति दोनों (सयोग और वियोग) की समुक्तावस्था के समान ही तो है। किन्तु जिन कारणों से निगुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म के रूप में अवतरित होना पड़ता है उन्हीं व्यावहारिक कारणों से ईश्वर के लीला गान के प्रसंग में भावुक भक्त को सयोग और वियोग दगाभा की भी उद्भासना करनी पड़ती है। फलतः वणनव मधुर रस साधना के अन्तर्गत भी हरि और उनकी बल्लभाओं की विभिन्न सम्बन्ध स्थितियों की परिकल्पना द्वारा उनके अनुरूप सभाषण एवं विप्रलम्भ शृंगार और उनके भेद प्रभेदों का सागोपाग निरूपण किया गया है जो अधिक् मात्रा में परम्परागत रसनास्त्र पर आधारित है।

लौकिक स्नेह में प्रेमी-युगल की सयोग या मिश्र-दगा को सभोग शृंगार कहते हैं। राधा-कृष्ण-लीला अथवा जीवात्मारूपी दुलहन और परमात्मारूपी दुल्हा के प्रेम प्रसंग में यही लौकिक सभोग शृंगार अलौकिक मधुर रस में रूपायित हो जाता है।

श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस का प्रतिपादन करते हुए सभोग के निम्नलिखित भेद बतलाये हैं—



इनके अनिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश नाम से सभोग के दो अर्थ भेद भी किये गये हैं।

संक्षिप्त सभोग

पूरवगत के बाद प्रेमी-युग्म के प्रथम मिलन को संक्षिप्त सभोग कहते हैं। लज्जा की अधि कता के कारण उनका यह प्रथम मिलन संक्षिप्त ही होता है। वणनव रस नास्त्र के अनुसार राधा कृष्ण के संक्षिप्त मिलन और काढा का संक्षिप्त सभोग के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। यह अल्प कालीन मिलन कभी गा-चारण में कभी गा-नेहून में और कभी बाल-ब्रीड में होता है। वन गोष्ठ आदि इनके मिलन-स्थल हैं। कभी कभी बाल-ब्रीड के प्रसंग में राधा कृष्ण का संक्षिप्त मिलन आकस्मिक ढंग में हा-जाया करता है। दोनों एक-दूसरे का देखकर आहृष्ट होत हैं। राधा कृष्ण का एक बार देख लन पर बिरह-ज्वर से पांडित हो उठनी है और कृष्ण से सामान्यार के लिए अनन्य बहानों का अवलम्बन करती है। बगला और हिन्ना के पत्र-माहृत्य में इस प्रकार के

समिप मिलन की काम त्रीडाया का बड़ा ही उल्लासपूर्ण वर्णन किया गया है।^१ राधा कभी-कभी कृष्ण से मिलने के लिए मय वाटने का बहाना भी करती हैं। गारुडी कृष्ण आकर उनके तथाकथित विष का हरण कर उनके मनोरथ को मिट्ट करते हैं।^२ श्री जीवगोस्वामी के अनुसार पूवराग के बाद सभोग के चार प्रकार हैं—सदगन, मस्मदा मज्ज्य और सप्रयोग।

सकीर्ण सभोग

प्रमो युग्म का यान के बाद जो मधुर मिलन होता है उसे 'सकीर्ण सभोग' कहा गया है। मान के कारण मानिनी व मन म जो क्षोभ और दुःख की स्मृति गेय रह जाती है उसके कारण मिलन का पूरा आनन्द नहीं हो पाता क्योंकि मान के उपनाम हो जाने के बाद भी मनोद्वेषत दुःख, क्रोध, अहवार, आदि का साईं थोड़ी-थोड़ी भीतर-ही भीतर बनो रहती है। वर्णव रस गान्धर्व के अनुसार राधा-कृष्ण के सकीर्ण सभोग से सम्बन्धित प्रेम लीलाओं के निम्न प्रकार माने गये हैं—

१—रामलाला

२—दानलीला

३—नीका बिहार-लीला

४—जलक्रीडा और स्नान यात्रा

५—वज्रविहार लीला

रासलीला

गरद की राधा रजनी से राधिकारमण श्रीकृष्ण गोप-कपाजों का नाम ले ल कर कगी की माफ़ स्वर-रुहरियो द्वारा उनका आह्वान करते हैं। मुरली की मधुर ध्वनि श्रवण कर के गोप-कपाज उल्टा पुन्टा वस्त्राभूषण धारण कर जसे-तम कगीवट पहुच जाती हैं।^३ कृष्ण उनके

१ तपन तारे तपन भेल मदिगल,
भगल बानुक दहन समान ।
न न मनोरथे भाबिनि चतु पथे,
ताप तपन न हि जाल ।
प्रेमक गति दुरवार ।
नबोन ओबनि, पनि वरख कमल जनि,
तबहि कथन भमिमार ॥

—कविशेखर, प क त० पृ० १३१०।

सैन नै प्यारी लई मुनाइ ।
मेवन कौ मिनि करि कै निकसै मरि कहि गय कहाइ ॥
अमुनि का कहि प्यारी निकसी, वर कौ भाउ मुनाइ ।
कर तीरनी लिये तहै भाइ, जहै हनपर के भइ ॥

२ रोगर वक-पयक, पद २४ इत्यम् ।

—मुरमागर १०/७२, पृ० ४०४।

३ मुरमागर, १०/७४७, पृ० ४११ १/७४८ पृ० ४२० इत्यम् ।

४ सरद निमि गति हरि हरण पायी ।

राधिकारमण वन भवन इस दक्षि कै, अवर धरि वेनु गुननि बजाइ ।

आने का कारण पूछते हैं और उनकी हसी उड़ाते हैं।^१ गोप कथकाण अत्यन्त कातर विह्वल हाकर प्रत्युत्तर देती हैं।^२ वष्ण गोत्री भाली गोप-कथकाओ की अनयासविन का देनकर भाव विह्वल हो उठते हैं और राम रचाकर वन वदावन म प्रवट-लीला आरम्भ करते हैं जिन्हें देखकर चराचर प्रकृति भी भावाकुल होकर योगदान देने लग जाती हैं।^३ गौडीय वष्णव कविमा तथा हिन्दी के वष्णव कविमा ने राम लीला का अत्यन्त ही मादक एवं ममस्पर्शी चित्रण किया है।

दान-लीला

दानलीला के प्रसंग में गोरस बेचने वाली गोपियों को और राधा को रास्ते में रोक कर कृष्ण दान (कर) मागते हैं और उनके साथ छेड़ छाड़ कर उन्हें नाना प्रकार से तग करते हैं। इस दान लीला प्रसंग से सम्बंधित पदा की सख्या भी पर्याप्त है।

नौका विहार-लीला

नौका विहार के प्रसंग में कृष्ण बेवट बन कर गोपियों और राधा का यमुना में नाव पर बटा कर पार उतारते हैं और उतराई मागते हैं। राधा पहले कृष्ण को बेवट समझ बैठती है और उनके स्पर्श से दुःखी हो उठती है। वात्सल्य भेद खुल जाने पर दोनों अत्यंत प्रमुग्ध होते हैं। इस

नाम लै लै सकल गोप-कथानि के
सबनि केँ खवन बर धुनि सुनाइ ।

—सूरसागर १/६८८, पृ. ६२।

करत । गार पुवनी सुनानी ।

अग सुनि नानी उलटै बसन धारनी दफ एकनि कछु सुरनि नाहीं ।

नैन अवनन अपर औनहीं हरष माँ खवन लाटक कलटे सँवार ।

मूर प्रभु मुख ललिन बैनु धुनि वन सुनन चली बेगल अचल न धारि ॥—बही १/६६८ पृ. ६६।

१ निमि काँहें वन का उठि धाइ ।

हँसि-हँसि खाम कहन है सुनारि की तुम प्रज मारगहिं सुनारि ॥

—सूरसागर, १/१२२, पृ. ६०६।

२ ऐसम बचन कह्य जब जान ।

प्रज रमणीगण मज्जन मयान ॥

हृदय सरसु मनीष-वर्णयि ।

अवनन अनन नखे निपु धरयि ॥

भोगनि कुप रिल सुरनिक मान ।

किंकरिगण अनु वेश धरि मान ॥

अव वन कये परमनुव बोच ।

धर्मिक हरये कमारि निधोच ॥

तहै सौरित त्रिउ दुषा रम दब ।

तुग वन दाहि अव को कहाँ बार ॥

—गोविन्दराम पञ्चक ॥, पृ. १२८७।

३ कर्चि-नीर सुधेर मधोरस कुं कुन अगि-विकार ।

नचन मार मर मधुपुत्र शुक्र मारिक किं वचन मार ॥

मधुरने निपुवन सुगंध सुगार ॥

—गोविन्दराम पञ्चक ॥, पृ. १६८

प्रसंग से सम्बंधित पदा में अपार माधुर्य है।^१

जल-क्रीडा और स्नान-यात्रा

जल क्रीडा और स्नान यात्रा के प्रसंग में राधा-कृष्ण की जल क्रीडाया का और स्नान यात्रा का बड़ा ही मनोमुग्धकारी वर्णन किया गया है।^२

कुज-विहार-लीला

राधा-कृष्ण की कुज विहार-लीला से सम्बंधित पदों में कुजों के प्राकृतिक सौंदर्य के साथ साथ राधा-कृष्ण के मिलन का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया गया है।^३ अधिकांश पद माधुर्य भावना से ओत प्रोत हैं।

समृद्धमान सम्मोग

मुद्गर प्रवाम के साथ प्रेमी-युगल का जो मिलन होता है वह अपूर्व आनन्द जनकाला होता है। यदि वह मिलन अचानक सम्पन्न होता है तो आनन्द की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। यही कारण है कि इस 'समृद्धमान सम्मोग' कहा जाता है। यह मिलन छोड़े बाल के लिए हाना है किन्तु बाधा विघ्न से सबथा रहित होता है। वर्णन पद्मवती के अन्तर्गत राधा कृष्ण के मिलन के सम्मोग में रमोद्गार तथा स्वप्न मिलन के रूप में इसके दो प्रकार मिलते हैं। मूरदास ने भी

- १ बैठे धनश्याम सुन्दर खेवत हे माव ।
आज सखी मोहन सग खेलके को दाव ॥
समुना गम्भीर नीर अनि तरंग सोने ।
गोविन्द प्रवि कहन लाग मीठे मुहु बोले ।
पथिक हम येवद तुम लीजिये उतराइ ।

—परमानन्द की २०, पृ ४२।

- २ श्यामा श्याम सुन्दर जमुना जल निर्भय करत विहार ।
खेत कमल हठोर पर मानो भार ही भर हे निहार ।

भीराधा कर अहुन भर भर द्विरकन बारम्बार ॥ —मूरदास, की० म० पृ० २६०।

- ३ राधा माधव, कुजवर्द्धि पैठल, रति रण रग रमाना ।

रण-बाजन-वन, वीकिन वनरव भकक मधुर माला ॥ —गोविन्ददास पदवन्दनक, पृ० १४८७।

- ४ रजनि रमानन्द कि कहव तोय ।
चिर विने माधव मीलन मोय ॥
दियाव हरेने मोरेना करे बारि ।
हेरने बरन नयने बडे नीर ।
बारिद हेम जनु मिलेन ना खोइ ।
पदने हाम रहनु रिया कोट ॥

—अनन्द, पृ० ४० त०, पृ० २०२०।

मूरदास म० मा०, १०/१२०३, पृ० ११५१।

- ५ मुनी हरि आए ह। दिनकी ।

नील गु मौनि भर रिपु हमवा यदि न सकी रनि मिली ॥

बा जागो मो कोऊ नाई रोइ रहनि न दित की ।

जन किरि बरनि भइ नय मिछत निया बनि जनु मिल की ॥

—मूरदास, पृ० मा०, १/१२६२, पृ० ११६८।

बुद्धि मिलन का वर्णन किया है।

सम्पन्न सम्भोग

प्रथम वचिष्म-दशा के अनन्तर होने वाला मिलन अत्यन्त आनन्दपूर्ण होता है। इसीलिए इसे सम्पन्न सम्भोग की सत्ता दी गई है। इस स्थिति में नायक नायिका का पारस्परिक अनुराग अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाता है। इसमें दुःख भङ्गिता क्रोध रोष अहंकार आदि का स्थान भी नहीं रहता। अतएव इसका मिलन-सुख अत्यन्त आनन्दपूर्ण होता है। वष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा-कृष्ण से सम्बंधित सम्पन्न सम्भोग की निम्नलिखित प्रेम लीलाएँ परिलक्षित होती हैं—

१—वसंत लीला

२—होली-लीला

३—झोल-लीला

४—झूलन-लीला

५—निग

६—घूँसता

वसंत लीला

वसंत लीला के प्रकरण में रसावनार श्रीकृष्ण से नवलनागरी श्रीराधा और उनकी सखियाँ वसंत खेलने के लिए वन में जाती हैं और मदनोत्सव मनाती हैं। इस प्रसंग में वसंत के बसव विलास का भी सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है।^१

होली-लीला

होली-लीला प्रकरण में राधा और उनकी सखियाँ कृष्ण और उनके सत्ताओं के साथ होली खेलती हैं। वे गीत नृत्य वाद्य रंग वर्ण आदि से सम्पूर्ण वायुमण्डल को रस भिगव कर देती हैं। हिन्दी के समुण तथा निगण बवियों की बाणियों में होली लीला का बड़ा ही सरस एवं बसवपूर्ण वर्णन किया गया है।^२

१ आभोल रे अदुराज वसंत ।

रोकत राख कानु गुलबन ॥

तनकुम मुकलित कलितुल धाव ।

मन मरोत्मद धिबुडन राव ॥

—शान्तानाम व क० प० पद १४२६ ।

२ शेषत कागु कृष्णन चोँ ।

अदुरनि मनमथ मनमथ चोँ ॥

मुन्दरिगय कर मडवि मडि ।

रगिनि प्रेम तरगिनि मडि ॥

अहय तकय नन अहयि भरयो ।

बन, जनवर मेन समे एक भरयो ॥

अहयि नोर अहय करविन् ।

अहय हय मेन दाम गोविन् ॥

—गोविन्द शास्त्र, पृ ४ त पृ १४२६ ।

डोल लीला

डोल-लीला एक प्रकार से हिलोले पर बठकर होली खेलना है। मन्त्रियाँ राधा-कृष्ण का हिठाटे पर बठाकर झूला झुलाती हैं और डोल मारती हैं।

भूनन-लीला

मनोरम प्रकृति के मधुर परिवेश में बने उल्हासमय वानावरण में मन्त्रियाँ राधा-कृष्ण को झूले झुलाती हैं।^१

निद्रा या रसालय

निद्रा के मधुर त्रोट में विश्रामरत राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का मानक वणन इस निद्रा प्रकरण में किया जाता है। राधा और कृष्ण रममत्त हाकर सुखपूर्वक तड़ित भस्ति जगत् की भाँति एक-दूसरे में निपटकर ऐसे मोह हुए हैं जिन चद्र वक्रा चद्रमा से एकमेक बनी रहनी है।^२

धूत्तता या छल से मिलन

प्रेमी-युगल एक-दूसरे से मिलन के लिए प्रायः छल वपन का भी महारा लत हैं। अपने प्रणय-व्यापार को स्वजन में छिपाने के लिए उन्हें धूत्तता भी करनी पड़ती है। गोडीय बणव पन्नावली में स्वयं शीघ्र प्रकरण में इस मिलन-रंगा की बनी मधुर अभिव्यक्ति हुई है। मूरगमजी ने भी माला जोड़ने के पात्र से राधा के यमुना-नट जाने के वणन किये हैं। बभी-बभी दब पूजा के बहाने भी नायिका वन जाने का उपक्रम करती है। राधा बभी भाग भूत जाने बभी भ्रमर को भगाने, बभी मोतिमरी दूढ़ने आदि का बहान कर कृष्ण को एवात्म कुञ्ज में जान का सवेत करती हैं अथवा स्वयं एवात स्थल को जानी हैं।^३ उक्त-वर्गी-मणि' में श्री रूपगोस्वामी

१ हरिमग भूनत है ब्रजनारी ।

सावन मास पुड़ी बोरी बोरी नेमीवे भूमि हरिय री ।

नववन नववन नव आतक विक नवन कुमुभी मारी ।

नवन किशोर बाम कण शोभिन नव वृषभानु दुलारी ।

—कुम्भनगम की० स०, पृ ३६।

२ दोड मिलि पोद मन्त्री दख अकामी ।

पत्तर कदा दीने गोपीजन नैनन को सुषरासी ।

रामा राम सग वो राजन है मालो च द कथा भी ॥

—वरमानन्द कीसनमग्रह, भाग ३ उल० पृ ८२।

३ एनहुँ त्रिपा से होने नव आकुच की पन मन्दिरे गुञ्ज ।

साहि चपड जाहि कुमुम विधारल भनुच भाषहि कन्ध ॥

एनहुँ मनेन कथन जब कामिनि कानु चनन मोहठाम ॥ —शशि दाम, प० १०८, पृ ६४६।

जै बरौ मोतिमरी मोरी ।

अब छुनि अब लख बाही नी रेवाँन चभी वृषभानुमिमोरी ॥

अबही मैं लो हँ आबनि हँ मेरँ सग जाने बनि कोरी ॥

मेरँ कानु अवेरि लागि हँ दाँगी मरनर ब्रजखोरी ॥—मनमग्न गू ज्ञा १०/११७७ पृ ६२१।

ने उपयुक्त सम्भोग शृंगार के चतुर्विध भेदों में सम्पन्न होने वाली अनेकानेक विलास श्रीडाओं का निर्देश किया है जिनमें सम्पन्न सत्पत्नी सजत्प सप्रयोग रमसरमम वार्त्तांगप मार्गाविरोध रास श्रीडा कुञ्ज श्रीडा जल श्रीडा वृत्तावन श्रीडा यमुना-जलरत्न नौका विहार चौर हरण वगी चोरी पुष्प चोय दान लीला कुञ्जा म आगमिचौनी मधुपान वृष्ण द्वारा गोपी-वेग धारण वषट निद्रा स्नृत श्रीडा वस्त्रावपण नखदान चुम्बन आलिंगन विम्बाधर मुधा पान निधुवन रमणादि और अन्त में सम्भोग विशेष उल्लेखनीय हैं ।

मधुर भक्ति रस का खण्डन मण्डन

मधुर भक्ति रस स्वतन्त्र रस नहीं है वरन् भावमान है और उसका अन्तर्भाव गान्त, शृंगार जड़भूत आदि रसा में हो जाता है ऐसा मानकर कई आचार्यों ने मधुर भक्ति रस का विरोध किया है । सप्त दृष्टि से प्राचीन काव्याशास्त्रकारों में आचार्य अभिनवगुप्त धनजय भोज राज मम्मटाचार्य विश्वनाथ पंडितराज जगन्नाथ तथा आधुनिक विद्वानों में श्री रंगाचार्य रेड्डी प्रो० मा० डा० अल्लेक्कर प्रो० श्री बी० पराजपे श्री बा० ना० देगपाण्ड श्री पी० बी० काण प्रो० द० सी० पग प्रो० रा० श्री जोग रा० हिंगणकर आदि के विचार ध्यातव्य हैं । दूसरी ओर मधुर भक्ति रस के स्वतन्त्र रस के रूप में स्थापित करने वाले विद्वानों में चतुर्थमहाप्रभ श्री रूप गोस्वामी श्री जीवगोस्वामी श्री मधुमूदन सरस्वती श्री वृष्णदास कविराज श्री विष्णुपुरी गोस्वामी श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती डा० बाटवे श्री राव जी मोडक रा० प्रधान रा० भागवत रा० म गोर प्रो० भी चापेकर प्रो० द० वेल्लेकर प्रो० रा० देगपाण्ड प्रो० श्री ना० वनहछी बा० श्री पामारकर डा० मा गो देगमुय श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध सठ बट्टैयात्रा पोन्नर बाबू गुणाय राय प्रभृति विद्वान् तथा सबन्धों भक्ति काव्य एवं भक्ति शास्त्र विषयक प्राचीन ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं । नीचे मधुर भक्ति रस के खण्डन मण्डन करने वाले विद्वानों के विचारों को संक्षेप में उपस्थित किया जा रहा है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने पुरुषाय चतुष्टय के आधार पर रसा की उपयोगिता मानी है और तत्पश्चात् नीचे रसा को स्वीकार किया है^१ और 'य रसा को भावः' अतःगत डाल दिया है । रसा आधार पर उद्भूत भक्ति रस का भावः रूप में ग्रहण^२ कर घृति मति स्मृति और उमाहाति में उसका अन्तर्भाव मिट दिया है तथा गान रस में ही उसे अन्तर्भूत कर दिया है ।^३ देगपाण्डकार धनजय ने भी भक्ति का भावमान स्वीकार कर रूप उल्गाह आदि में उस अन्तर्भूत कर दिया है ।^४ भास्कराचार्य ने रसा की सम्मिश्र-वद्वि क सिद्धांत को स्वीकार करके भी भक्ति का स्वतन्त्र रस के रूप में नहीं माना है । मम्मटाचार्य ने भी भक्ति को देवतान्विषयक रतिमात्र स्वीकार किया है । विश्वनाथ ने वाचनाय को स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार किया है किन्तु भक्ति का स्वतन्त्र रस के रूप में नहीं माना है । सम्पूर्ण काव्याशास्त्र के इन आचार्यों में

१ 'एव ते नवैव रसाः पुमर्थेऽयोगित्वेन रतनाभिर्भवेन वा इवामेवोपपत्त्यत्वात् ।

—अभिनवभारती भाग १ पृ० ३४२ ।

२ भक्तिविवारता मग १ पृ० ३४२ ।

३ 'अन्तरावस्थिधन विषये भक्तिग्रहे स्मृतिमित्रिपुमाहाधनुप्रविध्योन्वयेर्वागमिनि न तयो पृथक्स्वरूपमस्ति ।'

—वही पृ० ३४ ।

४ शास्त्रक ४-३ ।

पंडितराज जगन्नाथ अवश्य उत्तर एवं प्रगतिशील प्रतीत होते हैं और अपने दृष्टिकोण की नयी प्रगतिशीलता और विशदता व कारण व व्यवहार से भक्ति रस का समर्थन करते हैं। भक्ति नामक दशम रस की शका करते हुए उन्होंने लिखा है कि रस इतने ही अर्थात् नही क्या है ? साक्षात् भगवान् इस रस के आलंबन हैं, भागवत श्रवण आदि उद्दीपन हैं रोमांच, अश्रुपात आदि इससे अनुभाव हैं और हृषीकण्ठ सचारीभाव है तथा भगवान् के विषय में प्रेमरूपी भक्ति ही इसका स्थायी भाव है। अतः भागवत आदि पुराणा के श्रवण करने समय भक्तजन जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं वह भक्ति नामक दशम रस भी अपलप्य करने योग्य नहीं है।^१ किंतु परम्परा प्रम के कारण वे उसे एक स्वतंत्र रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। अथ आचार्यों की तरह पंडितराज ने मधुर भक्ति रस और गीत रस में से किसी को भी एक दूसरे में अंतर्भूत करने की राय नहीं प्रकट की है क्योंकि मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव अनुराग है और गीत रस का स्थायी भाव वराग्य (निर्वेद) है। अतएव ये दोनों एक दूसरे व विरुद्ध हैं। अतः वराग्य प्रधान गीत रस व अनुराग अनुराग प्रधान मधुर भक्ति रस का अन्तर्भाव कदापि संभव नहीं है।^२ पंडितराज जगन्नाथ ने भक्ति रस और गीत रस के मौलिक अंतर को सिद्ध करते हुए भी परम्परा के 'माधोह' के कारण श्रु गारेतर रति को भी भावमान मानने का आग्रह किया है। उक्त रीति से भक्ति नामक दशम रस की शका को स्थिर कर चुकने के बाद उसका समाधान करके हुए वे कहते हैं कि 'देवता' आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है उसी को 'भक्ति' कहते हैं। अतएव वह भाव ही कहा जाएगा रस नहीं। क्योंकि दत्ता आदि के विषय में होनेवाली रति और प्रजना वृत्ति से जान हुए 'प्रतिपक्षारीभाव' भाव कहे जाते हैं और अनुचित रीति से प्रसन्न रस तथा भाव प्रमग 'रमाभास' और 'माकाभास' कहे जाते हैं यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धांत है।^३ इस प्रमग में पंडितराज ने स्वयं यह शका उठाई है कि कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) होती है उस भी भाव क्यों न माना जाय ? क्योंकि दत्तादि विषयक रति और कामिनी विषयक रति में कोई अंतर नहीं है—द्वाना प्रेम ही तो है। अथवा भगवद्भक्ति का ही श्रु गार का स्थायी भाव मान लिया जाय और कामिनी विषयक रति को हा सचारी भाव स्वीकार किया जाय क्योंकि इसमें कोई तर्क नहीं है कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायी भाव मानना चाहिए।^४ स्पष्ट है कि पंडितराज ने उपयुक्त शका का समाधान तर्क-बुद्धि से न कर श्रु-बुद्धि से करने का प्रयत्न किया है। उनसे कथनानुसार साहित्य में रस भाव आदि की व्यवस्था भरत आदि मुनियों व

१ 'अथ कथमेत एव रस । भगवद्भक्त्यनुराग रोमांचाश्रुपातानिभिरनुभावितस्य हृषीकण्ठे परिपाकितस्य भागवतादिपुराणसकलसमये भगवद्भक्त्यनुरागभूयमानस्य भक्तिरसस्य स्वरूपव्याख्या । भगवदुत्तराहवा भक्तिरसज्ञान रक्षाविभाव ।

—रमणगोपल, चंद्रिका सस्कृत हिन्दी व्याख्यान पृ १७६ ।

२ 'न कामी शान्तरमेव न भवति । अनुरागस्य वैराग्य विरुद्धात् ।' —वही ।

३ 'भक्त्येवादि विषयवृत्तिस्त्वन भावा न्यस्तस्य रसस्यानुपपत्त्यः ।

रतिरिति विषया व्यापारो तर्थाजितः ।

अथ श्रोतव्यदामासा ध्यानादित्य प्रवर्तिता ॥

—रमणगोपल, चंद्रिका सस्कृत हिन्दी व्याख्यान पृ १७६ ।

४ 'न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रक्षेयावसरत्न रतिरतिनिरोधाय भक्त्य वा भगवद्भक्त्यनुराग रसादितस्य कामिनीविरलीनां च भावस्य, विनिर्णयकामाया, रतिरिति वाच्यम् ।' —वही ।

पंचनो के आधार पर की जाती है। अतएव इस विषय में स्वतंत्रता का स्थान नहीं है।^१ तात्पर्य यह है कि भरत आदि मुनियों ने देवतादिविषयक रति को भाव माना है। इसलिए दूसरे लोगो को भी उन्हा का अनुसरण करना उचित है। रस और भाव के प्रामाणिक व्यवस्थापक के मतों की अवहेलना कर यदि केवल तब-बुद्धि से काम लिया जाएगा तब सम्पूर्ण साहित्य दशन ही अस्त-व्यस्त हो जाएगा। यदि भगवद्विषयक रति को स्थायी भाव मान लिया जाएगा तो पुत्रादि के विषय में माना पिता का जो प्रेम होता है उसको भी स्थायी भाव और जुगुप्सा तथा शोक को शुद्ध संचारी भाव क्यों नहीं मान लिया जाएगा ?^२

अतएव पंडितराज न यन्त्रो निष्कर्ष किया है कि भरत आदि मुनियों को व्यवस्थापक मानने पर दशम भक्ति रस को अस्वीकार करना ही उचित है अथवा भरत मुनि ने बहुत सोच समझकर जो रसों की मर्यादाओं की निर्धारित की है, वह असंगत हो जाएगी।^३ इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पंडितराज के उपयोग कथन में थोड़ा या परम्परानुमोदन की प्रवृत्ति को छोड़ कर और कोई बल नहीं है। दूसरी बात यह है कि भगवद्विषयक रति (प्रेम) को और कामिनी विषयक रति को उन्होने समान हो कैसे मान लिया ? भगवद्विषयक रति में प्रसाराध्य सुख किंवा ऋण्यद्रिय सुख की वाछा बलीयसी हाती है तथा कामिनीविषयक रति में आरमेद्रिय सुख की। इस प्रकार दोनों में कोई तुलना ही नहीं है। अपनी उपयोग्यताओं के अनुसार उन्होने तो भक्ति रस को स्वतंत्र रस के रूप में एक तरह से स्वीकार ही कर लिया है। परवर्ती विद्वानों ने प्रायः पंडितराज के परम्परानुमोदन की प्रवृत्ति का ही अनुसरण करते हुए भक्ति रस को स्वतंत्र रस मानने से अस्वीकार किया है।

मराठी विद्वान् श्री रंगाचार्य रेड्डी के कथनानुसार रति भाव विस्तारात्मक है। अतएव उन्हीं से राष्ट्र राजा देवता गुरु आदि के प्रति भक्ति का विकास होता है। ऐसी स्थिति में एक ही स्थायी भाव से कई भिन्न रसों की स्थापना करना शास्त्र परम्परा का उल्लंघन होगा। इसके विपक्ष में उनका तर्क यह है कि रस-स्थापना के लिए विभावोक्ति की योजना के साथ-साथ चरित्र का वर्णन अवश्य करना है। वचन भक्ति का वर्णन करना अथवा भक्ति-भाग का अवलम्बन करना भक्ति को एक स्वतंत्र रस-भक्ति में नहीं स्थापित कर सता। श्री रेड्डी यह भी कहते हैं कि निवृत्त रसान्तर मूर्ति भगवान् ही इस मधुर भक्ति रस का विषयावलम्बन हैं, उनके भावुक भक्तजन तथा उनकी गति या या वन्दनाएँ हैं। इसके आन्यावलम्बन हैं भागवत पुराणादि ग्रन्थों का ध्वनि प्रेम संस्मरण स्थल उनके गीत गति सौन्दर्य तथा अंग सौन्दर्य। इनके उद्दीपन विभाव हैं। आवेगका भावना गाना भाव विह्वल होकर रोना हसना भूमि पर पड़ जाना हवागति इसके अनुभाव हैं तथा भगवद्मधुर रति ही इसका स्थायी भाव है। भक्ति भावोपन भक्ति का साथ भगवान् का जो लीला विरास है वही इस निर्व्य मधुर रस की आत्मा है।

एक अनिर्विकल भक्ति रस के विरोधी अन्य विद्वानों ने उसे स्वतंत्र रस के रूप में न

१ भरत मुनि वचनानामेश्वर रसभाववादि परस्परपक्षतत्वन स्वरूपयोग्यात् ।

—रसगोषधर (बही) पृ. १०५ ।

२ अन्यथा पुत्रादि विषयाणां कवि रते स्थायिभावक कुतो न ह्यत्र, न स्वादुतां कृत शुद्ध भावक जुगुप्साशोकानां इत्यस्मिन् रस-साधुनी स्थान् । —रसगोषधर (बही) पृ. १०६ ।

३ रसानां नवध्वनयना चतुर्निवचननिवृत्ति मध्येन इति यथा शास्त्रमेव व्याय ।

—वही ।

स्वीकार कर दूसरे दूसरे रसा में ही अन्तर्भुक्त मान लिया है। श्री वा० ना० नेपाडे ने रहस्यवाना कविनामा का अपनी दृष्टि में रखकर मधुर भक्ति रस को अदभूत रस में अन्तर्भुक्त कर लिया है क्योंकि इसका सम्बन्ध भगवान् की विराट् भक्ति अन्तर्गत सौन्दर्य अनिवार्य रूप माधुरी, ऐश्वर्य माधुरी, शैला माधुरी एवं भक्ता की रहस्यपूर्ण निव्यानुभूति से है।^१ इसी तरह प्रो० मा० दा० अल्लेकर ने भक्ति रस का शृंगार रस तथा प्रो० वी० पराजपे ने गीत रस^२ में अन्तर्गत अन्तर्भुक्त कर लिया है। श्री पी० वी० कान्हे ने परंपरा विरोधी शृंगारपरक वर्णन और वीर रस के कनिष्ठ भेदा के साथ रस के सादृश्य के कारण इसकी स्वतंत्र सत्ता का अस्वीकार किया है।^३ प्रो० ए० सी० पगु के कथनानुसार निर्जोष मूर्ति के प्रति जो आत्मनिवेदन किया जाता है उसमें रस के अनुरूप भावावगा की तीव्रता या उत्कटता नहीं आ सकती। अतः उस आत्मनिवेदनाभक्तिरूपी भक्ति को रस न मानकर भाव ही मानना समीचीन होगा।^४ इसी प्रकार प्रो० रा० श्री० जोग ने भक्ति को अमौलिक एवं जयापक भावना कहकर^५ तथा प्रो० रा० शिणकर ने उसे विक्रियाधीन बतलाकर^६ स्वतंत्र रस मानन का विरोध किया है।

उपयुक्त विद्वानों ने भक्ति को एक स्वतंत्र रस मानन के विरोध में जो तर्क दिए हैं उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१ भक्ति रस को स्वीकार करना रस और भाव के प्रामाणिक व्यवस्थापक भरता शरा निर्णीत शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन करना होगा, जिससे समस्त साहित्य-ज्ञान अस्त-व्यस्त होकर पिनडा प्रभु हो जाएगा और अनेकानेक नई समस्याओं को उपस्थित करेगा।

२ भक्ति रस का अन्तर्भाव जब अर्थ रसा में हो जाता है तब उस स्वतंत्र रस मानना उचित नहीं है।

३ भक्ति एक स्वतंत्र रस न होकर भावप्राप्त है।

४ निर्जोष मूर्ति के प्रति आत्मनिवेदनासक्ति होने के कारण भक्ति में भावावगा की तीव्रता और उत्कटता का अभाव है। अतएव यह विक्रियाहीन है।

५ भक्ति भूल भावना नहीं है।

६ भक्ति में व्यापकता नहीं है।

इनमें पहली आपत्ति निराधार है। क्योंकि साहित्य और उसके विचार मनुष्य की गहिरा परिवर्तनशील रचनात्मक प्रक्रिया भक्ति के परिणाम हान हैं। परिवर्तित युग चेतना के अनुरूप साहित्य के क्षय में नई-नई भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं अतिव्यक्ति अतिव्यक्ति के नए माध्यम तथा आलम्बन प्रतिष्ठित हो रहे हैं। जावन्त चिन्तन धारा का यही गमन होता है और भारतीय साहित्य गाम्भीर्य का प्रसिद्ध विनाम इसका अव्यक्त प्रमाण है। भरत के पाँचों आचार्यों ने भरत मुनि की मायताओं का खण्डन करने में अस्वार्थ रानि गुण भाव

१ रस विमर्श पृ० २६३।

२ वही पृ० २६२।

३ वही, पृ० २६६।

४ वही, पृ० २६१।

५ वही, पृ० २६१।

६ वही पृ० २६२।

७ वही पृ० २६१।

आदि सभी क्षेत्रों में नए-नए तथ्यों का सधान किया है तथा नए-नए काव्य सिद्धान्तों एवं काव्य सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा की है और उन्हें मायता भी प्राप्त हुई है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथ और उनके अनुयायियों का यह ऋण कि देव विषयक रसि मधुर भक्ति को रस की मायता देने से भरतादि आचार्यों द्वारा निर्णीत काव्यास्त्रीय-परम्परा की मर्यादा का अतिश्रमण हो जाएगा नितांत महत्त्वहीन है। अतएव इस स्तर तक द्वारा भक्ति रस का विरोध करना सत्य से आँखें बंद करने व समान है। भक्ति रस के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। सभी रसों के अपने-अपने स्थायी भाव हैं तथा अपने-आपमें व पूर्ण और स्वतन्त्र हैं। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने गान्ध रस में भक्ति रस के अन्तर्भाव का यह कहकर विरोध किया है कि मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव भगवत्प्रम नामक मधुरा रसि है। गान्ध रस बराग्याश्रित है तथा मधुर भक्ति रस अनरागाश्रित। ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी स्थिति एक भाव रखनेवाले दो भिन्न रसों को किसी एक में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

श्री मधुमूदन सरस्वती ने गान्ध रस और मधुर भक्ति रस के अन्तर का स्पष्ट करते हुए कहा है कि गान्ध का सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थ से है और केवल अद्वैतचित्त व्यक्ति ही उसके योग्य प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु भक्ति रस का सम्बन्ध ऐवांतिक रूप में भगवत्प्रीत्यर्थ है। कृष्णद्वय मुख ही एकमात्र उद्यम है। अतः भक्ति रस के अधिकारी केवल द्रुतचित्त व्यक्ति ही हो सकते हैं।

गान्ध रस और भक्ति रस में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि गान्ध का विषय जहाँ ज्ञान भाग है वहाँ भक्ति का विषय राग-भाग है। अथ देवादि से सम्बन्धित होने के कारण रसि को भाव माना गया है किन्तु निर्विकृत रमानन्द-मूर्ति परमानन्द और परम प्रेम स्वरूप परमात्मा से सम्बन्धित होने पर यह ब्रह्मानन्द प्रदायिनी रसि मधुर भक्ति रस में रूपायित हो जाती है।^१ इसी भिन्नता के कारण गान्ध रस का दशम स्थान का अधिकारी कहा गया है।^२

गान्ध-भाग का अनुमरण करते हुए वस्तुश्री के सम्बन्ध में नित्यानन्द विवेक और उसने द्वारा माता की कामना ही गान्ध रस का मुख्य प्रतिपाद्य है। किन्तु भक्ति का मुख्य प्रतिपाद्य है आत्मनिर्वन्तात्मनि निर्मला चरम रूप मधुरा भक्ति में अभिव्यक्त होता है। भक्ति में भगवद् प्राप्ति का आछा हा प्रधान होती है। गान्ध में वासना व पूर्ण विश्राम द्वारा निर्विकारता प्राप्त करने का महत्त्व है किन्तु भक्ति में लौकिक मोह मायापरक सम्बन्धों का परित्याग कर उस परम सत्ता में अपने-अपने स्वभाव व अनुसार उसी प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना की जाती है और विरह वृत्ति एवं मित्रानन्द की अनुभूति भी उसी प्रकार की तीव्रता के साथ की जाती है।

इसके अनिश्चित गान्ध में आत्म ज्ञान अपरिहाय होता है किन्तु भक्ति के लिए पवित्र और मन्त्रादयः ज्ञान चाहिए उमक भाव सच्च ज्ञान चाहिए। गान्ध रस के अन्तर्गत जुगुप्सा प्रमुख तत्त्व माना गया है क्योंकि उमक विषय व प्रति विरक्ति होती है। भक्ति में भी जुगुप्सा का समावेश होता है किन्तु यहाँ उसका प्रमुख उद्देश्य प्रेम के समक्ष अपनी दीनता-हीनता को उपास्य रचना होता है। किन्तु यह बात भक्ति रस के सर्वप्रमुख रूप मधुर रस के सम्बन्ध में

१ द्रुतचित्त भगवत्प्रम द्वागवद्विज्ञाता गता।

सर्वरामनसोद्दिष्टि भक्तिरित्यभिधीयते ॥ —भक्तिरसावन श्री मधुमूदन सरस्वती, १/३।

२ वही २/७४।

नही बहो जा सकती क्याकि वहा तो गविनमान और उनकी गक्तिया बिबा हरि और उनकी वल्लभाया का नित्य जौला बिलास होता रहता है। गान्त रस म भव भोति और भगवान् के पदवय नान के लिए ताकिनता के स्वर प्रमुख होते हैं किन्तु इससे भिन भक्ति रस म थडा और बिदवाम के आधार पर राग द्वारा सभी अपरागा का उपशम किया जाता है। बुद्धि और तर्पाश्रित ज्ञान क कृपाण पथ पर चलता बडा कठिन एव दुग्याराध्य है किन्तु थडा और बिदवास पर आधारित भक्ति के प्रेम पथ पर अग्रसर होना सहज सुलभ और सुग्याराध्य है। गान्त रस म भी भाव प्रतीति होती है किन्तु वह समयमित एव नियश्रित होनी है। भविन रस की भाव प्रतीति जसी तीव्रता वहाँ नही होती। भावना की इसी तीव्रता के कारण भक्ति को थप्ट माना गया है। मधुर भक्ति रस की काता रति म भावना की यह तीव्रता चरमोत्कथ पर पहुच जाती है। इसीलिए मधुर रस को सर्वथेष्ट मानना सवथा सधीचीन है।

विषय-व्याग निविकारता नित्यानित्यवस्तु विवेक वराग्य गम दम आदि साधना रूपमात्रा भेद संघात और भक्ति दोना क लिए ग्राह्य माने गए हैं। किन्तु भावना की तीव्रता उत्कट प्रेमानुभूति रसाद्रता सवग्राहिता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि स दानो म बहुत अंतर हो जाता है। भविन रस के प्रभाव की उत्कटता भगवत्प्रेमजनिन त्रियोमाद के भावावगो की तीव्रता की बडी ही मार्मिक अभिव्यजना श्रीमद्भागवत^१ रत्नावली, भक्तिरसायन आदि भविन शास्त्रा म की गई है। परामवित की इस दिव्यामादपूण अवस्था म भाव बिह्व होवर भवन कभी नरय करने लगता है कभी आनन्द मग्गद होकर तार स्वर से हरि गुण-गान करने लगता है कभी राते लगता है और कभी हँसने लगता है। यहा तब कि उसके मारे व्यवहार लोक बाह्य प्रतीत होने लगते हैं। इस स्थिति म भक्त की भावना-तन्त्री परमात्मा के स्वर से पूणत सवादो स्वर में बजने लगती है। भक्त के भावनात्मक जीवन म एक तीव्र वेदनागीयता उत्पुण्णता आ जाती है तथा सबको भूलकर उस ईश्वर की सतत अनुभूति होने लगती है। भक्ति के प्रभाव की इस उत्पुण्णता म जिन अनेकानेक भाव कल्पाया का प्रस्फुटन होता है वह मधुर भक्ति रस को छाहकर अय गान्त आदि किसी भी रस म सम्भव नही है। प्रसिद्ध मराठी विद्वान् डा० वाटव ने भी गान्त रस में भक्ति रस के अतर्भाव का विरोध करते हुए लिखा है कि गान्त रस का उद्भव वराग्य से होना है और उसका सम्बन्ध नान भाग स है। अतएव घात में भावना की अपेक्षा ज्ञान की ही प्रधानता रहनी है। शास्त्र पुराण श्रुति स्मृति गुरु के उपदेशादि से जिज्ञामु का नित्यानित्य वस्तु का विवेक होता है और वह भुषुषु जनवर ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयास करता है। आरत्य ज्ञान प्राप्ति करने क लिए उसे गोक मोह राग द्वेष आदि स अपन का मनमा वाचा कम्पा निविकार रखना पडता है। इसक अनिरवित घान्त भाव-साधना का उद्देश्य कथन अदत सिद्धि है। किन्तु भक्ति भाव-साधना में इसके विपरीत दत स अदत की निद्धि की जाती है।

^१ भाग्यशास्त्रा दवने परयविचि सदस्थभीदयां हसति कविरिच्य ।

विमग्ग उद्गायति गुरपने थ मदभक्तिनुक्तो भुवन पुनाति ॥ — श्रीमद्भागवत/११/१४, १४ ।

११ मत स्वविधानामकीर्त्या जानानुरागो द्र तविच उच्ये ।

इत्यवधो रीतिरिति गायन्नुन्मादव गुरयति लोकाद्य ॥ — वही, ११/१/४० ।

कविदुःखधुवचिगवा कविदुःखसति जन्मि कम्ति लौकिका ।

मृपति गादनकनुगीतदत्तव्य भवति दुष्पौ परमेश्व निष्ठया ॥ — वही, ११/१/१२ ।

इस दृष्टि से भी शांत रस की अपेक्षा मधुर भक्ति रस की अधिक उपादेयता एवं पृथक्ता सिद्ध होनी है।

शांत रस का स्थायी भाव 'शम' अभावरूप नहीं, भाव रूप है

इस प्रसंग में शांत रस के स्थायी भाव 'शम' पर भी विचार करना आवश्यक है। 'गम' का अर्थ समाधान और सन्तोष किया गया है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषय विकारात् मन को अलग कर जीवन के अन्तिम समाधान अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए मन का नियोजित करना ही 'गम' है। इस प्रकार वे शांत की दृष्टि से 'गम' साध्य रूप है और साहित्य की दृष्टि से साध्य रूप। विश्वनाथ हेमचन्द्र और अभिनवगुप्त ने शम को क्रमशः निरिच्छित अवस्था में 'आत्मविभ्रातिज-यसुख' 'तृष्णाशय और तृष्णाशय-मुक्त' की सत्ता दी है। इस दृष्टि से 'गम' सुख शांति और सन्तोष का योजक है। अतः 'गम' अभाव रूप नहीं होकर भाव रूप है। इसमें ब्रह्मनिष्ठ का मन ब्रह्म पर केन्द्रित रहता है। परम ब्रह्म के विराट रूप और सौन्दर्य के ज्ञान से प्रादुर्भूत विस्मय आनन्द आदि 'यमिचारी भाव' रोमांच नेत्रोन्मीलन आदि अनुभाव के समूह से शांत रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार शांत रस के स्थायी भाव 'गम' की अभाव रूपता का खण्डन हो जाने से उसके साथ भक्ति रस का अन्तर्भाव का एक व्यप सिद्ध हो जाता है। मोक्षमात्र की दृष्टि से चान्दालित शांत माग और प्रमादित भक्ति माग दोनों का महत्त्व स्वीकार किया गया है। भागवत में भक्ति के तीन प्रकार बतलाये गए हैं—अभेद भक्ति अद्वैत भक्ति और मुक्ति भक्ति। इस तरह प्रकारांतर से भक्ति रस में ही शांत रस को अन्तर्भूत मान लिया गया है। भगवद्गीता में भी स्पष्ट शांत में भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'भाव भक्तिपूर्वक' भगवान् को जानने वाला अन्त में उसी में समा जाता है।^१ इस प्रकार भक्ति माग भी मोक्षप्राप्त साधन सिद्ध हो जाता है। नारद भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को मान का परम साधन मानकर उक्त कम और जान में श्रेष्ठ कहा गया है।^२ इससे सिद्ध है कि भक्ति द्वन्द्व में आरम्भ होकर अतनागत्वा मोक्ष-रूप अद्वैत में परवर्तित हो जाती है। द्वैताद्वैत का यह मणिनाचन-मयाग अमत्र नह। त्रिवर्गई पन्ता। भक्ता की दृष्टि से विचार करने पर भी भक्ति माग सर्वोपरि सिद्ध होना है। परमात्म अनुभव के दो साधन भाव—एक्य भाव और माधय भाव में माधय भाव का भक्ता में सर्वोद्दिष्ट माना है।

भगवत्प्राप्ति के तीन साधन हैं—भक्ति ज्ञान और योग। ज्ञान माग से निर्विरोध ब्रह्म के रूप में योग-माग में परमात्मन् के रूप में और भक्ति माग से स्वयं भगवत्त्व के रूप में वै मानन है। ज्ञान योग और कम का छाड़कर बवल भक्ति के प्रेम रस से ही भगवान् बनामून होत है।^३ इसका कारण यह है कि भगवान् के रूप में ही काम या प्रेम भाव की आध्यात्मिक उत्पत्ति

१ भक्त्या मामभिजानाति यावत्परचरति तत्त्वं ।

तन्मे मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तन्तत्तम् ॥

२ सा तु कम ज्ञानम्योऽर्थविकाराकृतस्वरूपवान् ।

३ त्रिं साधने भगवान् त्रिं स्वरूप असे ।

ब्रह्म परमात्म भगवत्वे प्रकाश ॥

—गीता १८/५५ ।

—ना भ सू २५ २६ ।

साकार हो उठती है। हिंदू शास्त्रा ने भगवन मर्मपित जो काम गति है उसी के स्वाभाविक अर्थात् सष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप को भगवान् का स्वरूप बताया है। (प्रजनसचापि कल्प — गीता १/२८)

ऐसी स्थिति में शांत में भक्ति का अन्तर्भाव बतलाना सबथा अनुचित प्रतीत होता है। रस की दृष्टि से विचार करने पर भी शांत रस की अपेक्षा मधुर भक्ति रस में सर्वाधिक भाव नात्मनता एवं काय प्रेरकता दिखलाई पड़ती है। ज्ञान भावना और क्रिया मनुष्य के ये तीन प्रमुख मानसिक व्यापार होते हैं। इनमें भावनाओं की तीव्रता एवं उससे उत्पन्न अनुभाव रूप श्रियारम्भक सवेगा के कारण चित्तवृत्तियाँ सर्वांगिक रमनी हैं। मनाविकारा से रहित विरतिपूर्ण ज्ञान रस में चित्तवृत्तियाँ के इस प्रकार रमने का कोई अवकाश नहीं होता।

ज्ञान रस की साधना में ज्ञान और उसके फल का आस्वादन ज्ञानी साधक तक ही सीमित रहता है। किन्तु भक्ति रस की साधना में भक्ति के 'नीपफल प्रेमानन्द' का अनुभव अथ जन भी करते हैं।

धार्मिक दृष्टि से भी 'ज्ञान रस की अपेक्षा भक्ति रस अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। भारतीय धर्म भावना ज्ञानात्मक कम, भावात्मक अधिक रही है और यह भावात्मक उत्कटता साविकता एकमात्र भक्ति रस में ही सम्भव है। दार्शनिक दृष्टि में उस परम शक्ति में ऐश्वर्य है। अपने इस ऐश्वर्य के कारण वह निश्चय ही सर्वशक्तिमान्, अभेद और अक्षय है। ब्रह्मत्व भी उसकी दूसरी विशेषता है। इसीलिए वह सबव्यापक सावकाशिक अर्थात् अनादि अनन्त अखंड एवं सनातन है। किन्तु इस ऐश्वर्य और ब्रह्मत्व से भी बढकर है उसका माधुर्य गुण। प्रेम में ही उसका यह अनिवचनीय माधुर्य चरिताय होता है। इस प्रेम माधुर्य के सामने वह परम शक्ति अपन ऐश्वर्य और ब्रह्मत्व दाता को भूलकर अहीर की छोहरियों के इगित पर छछिया भरि छछ पर नाचता है गाता है।^१ इसीलिए कहा गया है कि जो उस ज्ञानमय समझते हैं ब्रह्म समझते हैं वे उसके एक अंग ही जानते हैं पर जो उस प्रेममय समझते हैं वे उसके सम्पूर्ण अंग को जानते हैं। इसीलिए तो प्रेमा पुमर्थो महान् बह्वर मोक्ष को परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक^२ के अनुसार परम पुरुष के तीन रूप माने गये हैं—ब्रह्म परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म विगुण ज्ञानमय होना है। ज्ञानमार्गी ब्रह्म के इसी रूप की उपासना करते हैं।^३ परमात्मा योगिया का उपास्य माना गया है।^४ परन्तु प्रेममार्गी

ज्ञानमार्गे निर्बैरोध प्रकाश प्रकाशे ।

योगमार्गे अतर्क्या रवरूपे ते भाते ॥

रागभक्ति विधिभक्ति इव दुर्लभ रूप ।

स्वयं भगवत् प्रकाश दुर्लभ रवरूप ॥ —वैत प चरित गृह मध्य० परि० २४, पृ० ३६९ ३६७ ।

ज्ञान बन्धों योगे धर्म नहे कृष्णवश ।

कृष्णवश हेतु धन कृष्ण प्रमत्त ॥

—बही भाषिणीता परि २, पृ० १० ।

१. निरदिष्ट उत्पत्तयस्ति उत्पत्तय यज्ज्ञानमद्वयम् ।

प्रद्योति परमात्मेति भगवानिति शब्दो ॥

—श्रीमद्भागवत १२.११ ।

२. ब्रह्ममहिता ६. ४६ ।

३. श्रीमद्भागवत, १.६.४२ ।

भक्तों के समीप ही भगवान् का पूणरूप प्रत्यक्ष होता है। उनके इसी रूप को भगवान् कहा गया है।^१

उपयुक्त विचार बिंदुओं के आलोचन में यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मधुर भक्ति रस गान्धर्व रस से केवल भिन्न ही नहीं है बल्कि भावना की तीव्रता, व्यावहारिकता, सावधानता, पारस्परिक श्रद्धा, सबजनसुलभता आदि जाति दृष्टियाँ से भी सब नेष्ठ है। ऐसी परिस्थिति में शांत रस में भक्ति रस के अन्तर्भाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

शृंगार रस में मधुर भक्ति रस का अन्तर्भाव

श्री मा० दा० अलङ्कार^२ एवं श्री कृ० कोल्हटकर^३ प्रभृति विद्वानों ने भक्ति रस की मूल भावना रति को देखकर भक्ति रस को शृंगार के अन्तर्गत मानने का आग्रह किया है। किन्तु उन्होंने इस सत्य पर विचार नहीं किया है कि 'रति' एक अत्यन्त व्यापक भाव है जो समाज के विविध स्नेह सम्बन्ध भूतों के अनुसार अनेक भूमिकाएँ धारण करती है। अतएव भक्ति रस की मूल भावना 'रति' अपनी उत्कटता के कारण लौकिक शृंगार रस की रति से सबथा भिन्न है। शृंगार रस का प्रयोग लौकिक प्रेम भाव के अर्थों में रूढ़ हो गया है। ऐसी स्थिति में भक्ति या वात्सल्य रस का शृंगार रस के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त मानना समीचीन नहीं कहा जा सकता। भक्ति के अनेक भेदों में से कान्ता भावपरक भक्ति को मधुरा भक्ति के रूप में स्वीकार करने का भी यही रहस्य है।

ऊपर से दूरान पर शृंगार और मधुर भक्ति रस में बहुत-कुछ समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु बात ऐसी नहीं है। शृंगार और मधुर भक्ति रस दोनों तत्त्वतः एक दूसरे से सबथा भिन्न हैं। शृंगार और मधुर भक्ति रस का मौखिक अंतर यह है कि शृंगार जहाँ पूर्णतः ऐहिक तथा लौकिक है वहाँ मधुर भक्ति रस सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक और पारलौकिक है। शृंगार का विषय जहाँ वैयक्तिक सुख होता है वहाँ मधुर भक्ति रस का विषय विदुष पारमार्थिक सुख है। शृंगार का आलम्बन प्रकृत जन होता है किन्तु मधुर भक्ति रस का आलम्बन स्वयं जगन्नाथार निखिल प्रेम रसानन्द भूति परमेश्वर है। शृंगार में आलम्बन स्थूल एवं सजीव होता है किन्तु मधुर भक्ति रस में आलम्बन निगुण भी होता है तथा मगुण होने हुए भी सूक्ष्म एवं परात्पर होता है। इसके अनिरिक्त निर्जीव भूति को भी मधुर भक्ति रस का आलम्बन माना जाता है। शृंगार में ममत्वस्वता की अपेक्षा होती है किन्तु मधुर भक्ति रस में अय का भेद विद्यमान रहता है। शृंगार में परस्परालम्बन की स्थिति रहती है, किन्तु मधुर भक्ति रस एकपक्षीय भी होता है।

शृंगार वशयिक सुख का विपुल वामना मध्य द्वय हुए स्त्री पुरुष के स्नेह सम्बन्ध का वाचक है, जिसमें गुह्य प्रेम का भाव अममव है। प्रकृत स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध काम-मधुपुक्त होता है। उसमें बहिर्मुख प्राणों के आवरण की प्रयत्ना होती है। इसलिए प्रकृत जना का प्रेम

१ जीवगोस्वामीयुक्त भगवत् सत्य तथा श्रीमद्भागवत के स्कन्ध १२ ११ की भी जीवगोस्वामी और विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएँ द्रष्टव्य।

२ रस रिमता पृ २६२।

३ श्री पृ २६२।

व्यापार को काम' की सत्ता दी गयी है। यह नाम एक विकार है एक निम्न वृत्ति है जो गुद प्रम भाव के प्रतिष्ठित होने में बाधा डालती है। दूसरी ओर प्रकृतिज्ञान नाम के समय नियम में आन से ही प्रम का मधुर भाव हृदय में प्रतिष्ठित होता है।

प्रेम की स्वाभाविक गति में एक अनन्तता असीमता और परान्तरता के भाव विद्यमान रहते हैं। इसके लिए प्रेमाधार की विशिष्टता अपरिहार्य है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का विनिष्ट प्रमाधार परमात्मा ही हो सकता है। परमात्मा ही गुद प्रम का परम विषय है। हृदय स्थित चेत्य पुरुष का प्रम जीवन का अति मूढ रहस्य है। इसे प्राप्त करने, पहचानने के लिए मधुर भक्ति साधना की ही अपेक्षा है। इन दृष्टियों से विचार करने पर शृंगार और भक्ति रस की पृथक् सत्ता एवं मधुर भक्ति रस की अवश्यप्यता सिद्ध होती है।

शृंगार के अन्तर्गत मुख्यतः नारीरूप स्तर और अधिक-से अधिक प्राणिक स्तर पर प्रेम विभा जाता है। किन्तु मधुर भक्ति के अन्तर्गत प्रम मानसिक स्तर पर आरम्भ होता है और आन्तरात्मिक स्तर पर उसका परमोत्कर्ष होता है। इसमें अधिक आन्तरिकता व्यापकता मूर्धमता एवं स्थायित्व होते हैं तथा इसके सारे अनुभव आत्मदान से संप्रति और परिप्लावित होते हैं। इसकी उदारता और मधुरता अपूर्व एवं अनिवचनीय होती है। यह मानव की स्मूल व्यावहारिकता में दिय प्रेम-ज्योति है। चतुर्वर्चरितामृत में गौडीय वृष्णव आचार्य श्री वृष्णदान कविराज ने 'काम' और 'प्रेम' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मार्थ प्रीति इच्छा काम है तथा वृष्णार्थ प्रीति इच्छा प्रेम है।^१

मधुर भक्ति रस के आन्तरात्मिक से साधक भक्त आत्म-संपृक्त और पर-संपृक्त भाव भावनाओं से सवया असस्पृष्ट और निराविदान-दमय हा उठता है। किन्तु वचनिक मुख की वाचना से वर्णित लौकिक शृंगार रस में ऐसा स्थिति कभी नहीं आती। इसमें भी शृंगार रस और भक्ति रस की पृथक् सत्ता एवं भक्ति रस की अवश्यप्यता सिद्ध होती है।

बालाभावा की उपासना की महत्ता तथा जडा-मुख शृंगार की अपेक्षा चिन्मय रस की श्रद्धा के कारण का उद्घाटन करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि आगम शास्त्रियों का विश्वास है कि भगवान् ने लीला के लिए जब मूर्ति उत्पन्न करनी चाही तो अपने को उन्होंने द्विधाविभक्त किया। इसमें एक आर ना नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी। नवनि निषध व्यापार रचा होता है क्योंकि वह भगवान् की उस इच्छा का रूप है जिसके द्वारा वे कुछ के अभाव का अनुभव करते हैं। स्त्री से इसी शक्ति का प्रापाय है। नमल्लिख ली निषध व्यापार रचा या अपने-आपको समर्पण करके हा साधक हानी है। भक्ति में इसी निषध-व्यापार या आत्म-समर्पण की भावना चरम सीमा पर पहुँचनी है। यही कारण है कि भक्त का ता भाव के भजन को इतना धृष्ट समझना है।

महं ध्यान में रखने की बात है कि लौकिक प्राप्ति होने पर प्रम जडा-मुख होता है और

१ आत्मार्थ प्रीति इच्छा तारे कहि काम ।

वृष्णार्थ प्रीति इच्छा चरे प्रेम नाम ॥

इसलिए तात्ता भाव म जडासति हो चरम रूप म विद्यमान होना है। लौकिक प्राप्ति का विषय हान पर यह प्रेम शृंगार रस का विषय हा जाता है और तब यह प्रेम क जिनन रूप है उनम सबसे नीच पड जाता है परंतु जब यह चिमुख होता है अथवा भगवद्विषयक होता है, तब रसका नाम मधुर उज्ज्वल रस होता है। यही श्रष्ट रस है।^१

धा रूपगोस्वामी ने मधुर नामक भक्ति रस का ऐसे लागा क लिए अनुपयोग। बतलाया है जो निवृत्त हा^२ अर्थात् मधुर भक्ति रस क साथ शृंगार रस की समानता दखकर हा इससे विमुक्त हा गए हा और यह उन लागा क लिए मानहा है जो शृंगार रस क साथ इसकी समानता देखकर इधर उमुख हुए हा। इन बातों से भी शृंगार रस और मधुर भक्ति रस की पृथक्ता एव मधुर रस की सब श्रष्टता का प्रमाण मिलता है।

विप्रतम्भ-दशा की दृष्टि से भी शृंगार और मधुर भक्ति रस म बड़ा अंतर है। सद्भावितक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से जहाँ लौकिक विषयालम्बन और आश्रयालम्बन होते हैं वही सयोग वियोग की सुख और दुःखपूर्ण स्थितियों का सम्बंध रहता है। मधुर भक्ति रस का सम्बंध तो सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अतियामी विश्व रूप भगवान् से है। वह तो घन दुग्ध के समान विश्व के कण कण मे रमा हुआ है। फिर उससे वियोग कैसे हो सकता है? इस गता का समाधान करते हुए कहा गया है कि साधना की दो अवस्थाएँ होती हैं—साधकावस्था और मिद्धावस्था। साधकावस्था आरम्भिक अवस्था है जिसम साधक भक्त परम प्रियतम परमात्मा का परिचय प्राप्त करना चाहता है। धन धन वह उस परम प्रियतम क सो दय की एक झलक पा लेता है और उसने एक अंग की महिमा को देखकर ही आनंद से विह्वल हो उठता है।^३ उसकी यह भाव विह्वलता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसकी विरह-वेदना भी तीव्रतर होता जाती है। माया की बन्ध बाल के कारण यह भाव दशा जब-तब भंग भी हो जाती है और तब साधक विरहाकुल हो तड़प उठता है। इस दशा म उसकी विरह बन्ना तीव्रतम रूप धारण कर लेती है और वह अत्यंत कालर रात्रि म बार बार अपनी मनो बाछा अभिमत करने लगता है। यह आध्यात्मिक विरह जहाँ एक ओर साधक का सत्य का वास्तविक पता पान के लिए उत्साहित करता है वहाँ दूसरा ओर उसका साधना की दाप गिला का सग्न जाग्रत रखता है। अन विरहावस्था म ही भक्त को भगवान् के अम्भुत, मधुर लीला विलास का वास्तविक अनुभव हो पाता है।^४ मीलिए तो साधक विरह का वरदान मानता है उस रत्नर स भिगन वाला अमाश साधन समझकर उसस कभी अपना नाता तोड़ना नहीं चाहता है।^५ यही कारण है कि सभी प्रकार के साधकों ने विरह को प्रेम की सजीवनी भूरि मानकर

१ मध्वकालीन धम साधना श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १५ ।

२ आत्मोक्तिर्निभावादेव पुष्टि नीता मता हन्ति ।

मधुरासयो भवेद् भक्तिरमोऽप्यौ मधुरा रति ॥१॥

निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुःखत्वाच्च रस ।

रहस्यत्वाच्च मन्त्रिय विप्रतामोऽपि निरुप्यते ॥२॥

—ह मधुर रसि, प वि, ५ लहरी—श्री रूपगोस्वामी।

३ कबीर देरुया दक भग महिमा कही न आव ।

तेखु ज परम मयी नैनु रहा समय ॥

—कबीर प्रभावली, पृ० १५ ।

४ विरह बहे कबीर सौ दु जिन धड़ि मोहि ।

पारमह के ठेब में सहाँ सै राखौ ताहि ॥

—कबीर प्रभावली पृ० १२ ।

उसे अपार भक्ति का स्रोत कहा है। जिस परम भक्ति को योगी हठयोग की कठिन साधना के उपरांत प्राप्त करता है उसे वियोगिनी क्षणमात्र में प्राप्त कर लेती है।^१ रागराचायजी ने भी प्रोषित पतिवाओ को उपामना के दृष्टांत के रूप में उपस्थित किया है।^२ मतों ने भी विरह विरहित घट को मसान बटकर उसकी भत्सना की है।^३ इस अनन्त निखिल चराचर में सर्वाधिक गम्भीर और सनातन सत्य विरह ही है।^४ विरह ही निमित्त भेद से नाना रूपों को ग्रहण कर लेता है। अतः यह विरह भाव ही रस का सार है।

इससे भिन्न मिटावस्था पूर्ण मिल्नावस्था है। जब माधक भक्त को यह पात हो जाता है कि जिसके विरह में वह पागल बनकर दर दर की ठोकर खा रहा था वह दिलबर भी उसकी श्लि में ही हरदम मौजूद है।^५ अनानता के कारण ही उसकी दशा कस्तूरिया मृग जसी हो रही थी। इस तथ्य का पता पा लेने पर उसका अनन्त वियोग अनन्त समोग में परिणत हो जाता है। भक्तों एवं सत्तों ने इस स्थिति का बड़ा ही मार्मिक घणन किया है।

सारान यह है कि भक्तिरस के अतम तत्त्व भासमान परमेश्वर से समोग वियोग की पृथक् स्थितियों के सात्त्विक रूप से अभाव रहने पर भी उपयुक्त कारणों से वियाग-दशा की उद्भावना की जाती है किन्तु उसका आधार शृंगार की तरह लौकिक न होकर विगुह रूप से आध्यात्मिक होता है।

इस प्रसंग में एवं दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शृंगार की विप्रश्नम्भशा में आत्म विश्वास के बगैरे प्रिय विश्वास की ही प्रमुखता रहनी है किन्तु मधुर भक्ति रस की विप्रलम्भ दशा में आत्म विश्वास का ही सबल लेकर साधक विरह पयोधि में अपनी जीवन-नीका को छोड़ देता है। शृंगार में विरह यथा तभी तक सह्य हो सकती है जब तक कि विरही जन को यह विश्वास होता रहता है कि उसका प्रियजन भी उसे चाहता है। किन्तु मधुर भक्ति रस में आत्म विश्वास और प्रिय विश्वास दोनों ही के अन्तर्गते विरही साधक दुःख को भी मुक्त मानता हुआ अगणित कष्टों को झेलता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शृंगार में आत्मविश्वास की प्रतीति होनी ही नहीं है। इसका इतना ही अर्थ है कि लौकिक शृंगार में आत्मविश्वास की अपेक्षा प्रिय विश्वास की प्रधानता रहती है। क्या शृंगार और क्या मधुर भक्ति रस आत्मविश्वास का प्रेम की नींव है। इनके अभाव में वही कुछ नहीं हा सकता। अतः शृंगार में जहाँ प्रिय विश्वास का सहारा अधिक लिया जाता है वहीं मधुर भक्ति रस में आत्मविश्वास और प्रिय विश्वास दोनों का सहारा लिया जाता है।

१ देव गति योगिनी की छिन में वियोगिनी की,
विरह मरुत की भनोमी यह बात है।

२ ब्रह्मसूत्र, १/१/४ (भाष्य)

३ विरहा विरहा मत कहो विरहा है मुलतान।

का घट विरह न मखरै सो घर आजहु ममान ॥

—बरीर।

४ प्राप बदे सुनु कावा मेरी तुम हम मिलन न होय।

तुम सम सीन बहुत हम बीना संग न सीना कोय ॥

—बरीर।

५ ओ बिछुड़े हैं दियारे मे भटवने दर ब दर फिरने।

हमारा पार द हममें हमन की इतगरी क्या।

हमन की बेकारी क्या।

—बरीर।

शृंगार और मधुर भक्ति रस के पायक्य का एक दूसरा कारण यह भी है कि विप्रलम्भ के अन्तर्गत मान दशाभा और उसके उपनाम के उपायो की जितनी सुस्पष्ट परियोजना शृंगार के अन्तर्गत सम्भव हो सकती है उतनी भूति या निरावार ब्रह्म के साथ नहीं हो सकती।

शृंगार और मधुर भक्ति रस की पृथक्ता का मुख्य आधार आत्मन का लौकिक और अलौकिक सम्बन्ध व्यापार है। वस दोनों में लौकिक-सम्बन्ध व्यापार की अनेक समानताएँ हैं। किंतु दोनों में मुख्य ब्यभिच विदु यह है कि मधुर भक्ति रस में जहाँ शृंगार के अर्थ भेदों का समावेश सम्भव है वहाँ शृंगार में मधुर भक्ति रस के अर्थ भेद का संनिवेश सम्भव नहीं है। इससे भी दोनों रसों की पृथक्ता तथा मधुर भक्ति रस की स्वयंभूता सिद्ध होती है।

स्वर्गीय जयन्कर प्रसाद ने अपने नाव्यकला और अर्थ निबन्ध नामक ग्रन्थ में भक्ति रसरस मधुर रस की प्राचीन काल में अस्वीकृति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि वस्तुतः मधुर या भक्ति रस शृंगार रस का ही दार्शनिक रूपान्तर है। शृंगार की धारा ही दूसरे रूप में दार्शनिक दृष्टिभूमि पर भक्ति रस के रूप में बह चली।^१ प्रसादजी ने गवागमों के आन्तर्वादी सिद्धान्त और बुद्धिवादी सम्प्रदायों के सिद्धांतों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि गवागम में अभेद और समरसता तथा बुद्धिवादी सम्प्रदायों में दुःख तथा विरह को मायता दी गई है। गवागम के आन्तर्वादी सिद्धान्तवादियों के लिए विरह तो प्रत्यभिज्ञान का साधन मिलन का द्वार था। चिर विरह की कल्पना आन्तर्वास नहीं की जा सकती। गवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटाना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा।^२ गवागम के आन्तर्वादी सिद्धान्त की मानकर चलने वाले रसवादी गायक या शृंगार इन दोनों रसों में से किसी एक को ही मानकर चले हैं। गान्त रस निस्तरंग महोदधि कल्प समरसता ही है। बुद्धि द्वारा सुख की खोज करने वाले सम्प्रदायी न रसों में शृंगार को महत्त्व दिया और आग चलकर गवागमों के प्रकाश में साहित्य रस की वाक्या से मनुष्य न होकर उन्होंने शृंगार का नाम मधुर रस रस लिया। कहना न होगा कि उक्तवर्तीलम्पि का सम्प्रदाय बहुत-कुछ विरहीमुख ही रहा और भक्ति प्रधान भी। अतः वाचिन् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसलिए नहीं मानते थे कि उनमें द्वन्द्व का भाव रहता था। उसमें रसाभाव की कल्पना होती थी। आगमों में भक्ति भी अन्तर्भूत थी। उनके यहाँ द्वन्द्व प्रथा का तदमान सुखवान् बधमुष्पने के अनुसार रस बधन था। इस मधुर-सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ उसमें परकाया प्रेम का महत्त्व इसलिए बना कि वह गौण दार्शनिक दृष्टि से तत्त्व को स्वयं पर मानते थे।^३

निष्पत्ति यह है कि प्रसादजी के मतानुसार अद्वय की अमिद्वि के कारण प्राचीन काल में भक्ति को रस रूप में स्वीकृति नहीं मिली और वाग्यन्तर में बुद्धिवादी के प्रभाव से रसवादी सम्प्रदाय का विकास हुआ है।

उपयुक्त दृष्टि से विचार करने पर भी शृंगार मधुर भक्ति रस के अन्तर्भाव का विचार अवश्य ही एक असंगत प्रतीत होता है। अतएव मधुर भक्ति रस अपने-आप में पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वयंभूत है।

१ नाव्यकला और अर्थ निबन्ध की अवलोकनप्रसंग पृ. ७३७-८।

२ वही।

३ वही।

अद्भुत और मधुर भक्ति रस

अद्भुत और मधुर भक्ति रस में आकस्मिकता का समावेश रहता है किन्तु मधुर भक्ति रस में आकस्मिक या अप्रत्याशित घटना द्वारा भक्ति के आलम्बन के प्रति अनुराग और श्रद्धा भाव की वृद्धि होती है। इतना ही नहीं भगवान् के विराट रूप को देखकर भक्त के हृदय में तभी अनुराग और श्रद्धा के भाव जगते हैं वहाँ उस अपना लघुता का बोध होता है। अद्भुत में अनुराग श्रद्धा तथा लघुता-बोध का कोई प्रदन ही नहीं उठता। अद्भुत रस में आश्चर्य की भावना प्रधान रहती है किन्तु मधुर भक्ति रस में भगवान् के ऐश्वर्य-बोध और माधुर्य बोध से भक्त के हृदय में आश्चर्य नहीं भक्ति का भावावेश उत्पन्न होता है। इसके कारण यह है कि 'भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति सदैव अनुराग विद्यमान रहता है और उसी अनुराग में रजित कर वह अद्भुत का भक्तिमय वर्णन करता है। वस्तुतः अनुराग ही प्रधान होने से अद्भुत उसका सचारी मात्र हाकर आता है।'¹ भक्तिविषयक पद्य में जहाँ भगवान् की अद्भुत विभूतियों का वर्णन किया जाता है वहाँ भी उसका मुख्य लक्ष्य प्रभु की ऐश्वर्य-माधुरी और लीला माधुरी की महत्ता को ही प्रदर्शित करना होता है। भाषक अपने साध्य के विराट लीला विलास को देखकर विस्मय विमुग्ध होता है। ऐसी अवस्था में 'विरमय' भक्ति का सचारी मात्र बन जाता है। इसी तरह रहस्यवादी कवि तात्प्रा में प्रभु की कल्पित भूति का मानसिक प्रत्यंगीकरण होता है और उससे प्रति अनुराग का आकषण विद्यमान रहता है। इस प्रकार मधुर भक्ति रस श्रद्धा और अनुराग प्रधान है, अद्भुत विस्मय प्रधान। इसमें भी मधुर भक्ति रस की पक्क सत्ता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होनी है।

वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स तथा मधुर रस

मधुर भक्ति रस और अय रसा के आलम्बन की भिन्नता के कारण श्री मधुगूढ सरस्वती ने भगवद्भक्तिरसायन में मधुर भक्ति रस की पक्क सत्ता सिद्ध की है। उसी आधार पर इन्होंने घमभीर और दयावीर को भक्ति रस के अन्तर्गत मानने से अस्वीकार किया है। वीर करुण रौद्र भयानक और बीभत्स आदि प्रीति विरोधी होते हैं। अतएव इन्हें मधुर भक्ति रस में या इनमें मधुर भक्ति रस की अन्तर्भूत करने का प्रयास करना दुराग्रह मान होगा।²

मधुर भक्ति रस को भाव को सजा क्यों ?

भक्ति चरित्र का मतिवर नारायण तीर्थ ने मधुर भक्ति रस की विषयावच्छिन्न बिना नानाभूत लोकिन रस का साध्य तत्त्व कहा है। इसकी अनुभूति अयाय चरित्र वृत्ति द्वारा अविच्छिन्न साधन भक्ति द्वारा समापन्न मुष्टिपर चित्तवृत्ति में ही सम्भव है। इस स्थिति विशेष में वह वृत्ति मात्र न रहकर चरित्र का रूप ग्रहण करती है और यहाँ भावुक भवन की मधुर भक्ति रस का आम्वादन होता है।³ इस प्रसंग में यह प्रश्न स्वभावन उठता है कि मधुर

१ रस विद्यात स्वरूप विवेचन, भाग द्वितीय, दोष्ठ १०२६०।

२ भगवद्भक्तिरसायन श्री मधुगूढ सरस्वती २/२०-२१।

३ 'इत्येव च लौकिक रसे मधुराणां विषयावच्छिन्न नरदेव विनाशिताय स्वरसंगान शीतल-पुन्य भगवत्पादोक्त चेतोवृत्ति लघुते अक्षितरसे मधुरावच्छिन्न विनाशिताय भगवत् स्वरसंगान शीतल-पुन्य विषयमान इत्येव। अतो भगवद्भक्तिरस एव लौकिक रसागुणैश्च परस्परमिदं सिद्धम्।

—भक्तिचरित्र, मतिवर नारायण तीर्थ।

भक्ति रस जब लौकिक रस का साध्य तत्त्व है तब इसे कायोचित-लक्षण ग्रन्थों में भाव मात्र की सजा क्यों दी गयी है ? इसका कारण यह है कि यह मधुर भक्ति रस सामान्य जनो की प्रीति का विषय नहीं बन सकता । अतर्योग से परिचित व्यक्ति इस भली भाँति जानते हैं कि किस प्रकार हृदय देण की कल्पना भूति के अंतराल से कोटि काम-वमनीय तडित-कांति सम्पन्न भगवद्भिन्न का आविर्भाव होकर अनुपम मधुर भक्ति रस की वर्षा होती है । फल भक्ति रूप उत्कृष्ट पूण ऐक्य की सिद्धि होती है । यही तो भक्त का परम साध्य मोक्ष है ।^१

ऊपर विभिन्न रसों के साथ मधुर भक्ति रस के अन्तर्भाव पर विचार करते हुए यह सिद्ध किया जा चुका है कि शांत शृंगार वरुण वीर अद्भुत भयानक बीभत्स आदि रसों से सबंधा पथक मधुर भक्ति रस की सत्ता है तथा यह अपनी व्यापकता सहजता सबजनमुलभता भावनाओं की तीव्रता विक्रियाशीलता विलक्षणता मधुरता, साविकता एवं उत्कृष्टता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ रस है । श्री रूपगोस्वामी ने तो इसकी विलक्षणता को देखते हुए इसे भक्ति रस राट कहा है । ऐसी स्थिति में मधुर भक्ति रस को स्वतंत्र रस के रूप में मानकर भावमात्र कहना सत्य से आस मूढ़ने के समान ही है ।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने संस्कृत साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ के द्वितीय भाग में वस्तुस्थिति पर विचार करते हुए शृंगारादि नव रसों के अतिरिक्त भक्ति रस को सर्वोपरि प्रधान रस माना है । प्राचीन ऋषियों एवं साहित्यकारों ने भी स्वीकार किया है कि अनानावरण से रहित आनन्द स्वरूप धर्म से युक्त रति आदि स्थायी भाव ही रस है ।

इसी के आधार पर रसजद आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है । वस्तुतः ब्रह्मानन्द ही रस के रसत्व का मूल तत्त्व है । शृंगारादि नव रस तो ब्रह्मानन्द सहोदर मात्र हैं । मधुर भक्ति रस और ब्रह्मानन्द तत्त्वतः एक ही हैं । श्री मधुसूदन सरस्वती ने समाधिजय ब्रह्मानन्द और मधुर भक्ति रसानन्द को एक माना है ।^२

वष्णव रस साधना के व्यवस्थापक श्री रूपगोस्वामी ने तो भक्ति रसायन के समक्ष

१. सैव प्रीति विरक्ति सुखरिच रचना सम्प्रतुक्ति प्रसिद्धा ।

सैवान्न मरायाति ध्वजदुपनिषत्तत्त्व विद्याप्रसक्ति ॥

बीजभक्तिरस सैव प्रवृत्ति परमानन्द सत्त्व भुक्ति ।

सैवांता च भुक्ति कथमपि कलाकामुके वातु भक्ति ॥ —भक्तिनित्य ।

२. रसा वै स । रसं शब्दाय ल शान्तनी भवति ॥१॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द नी ।
आनन्दो ब्रह्म नि व्यजानात् ॥ आनन्दो वै सर्वमात्र भूतानि आवर्ते ॥ आनन्दे जायते
जीवति ॥ आनन्दं प्रवृत्त्यभिमतविशतीति ॥ —श्री मधुसूदन सरस्वती ।

अपर परम ब्रह्म मननममत्र विभुम् ।

देवतेषु वन्द्येकैवैव वागिरीश्वरम् ॥१॥

आनन्द सहजमनस व्यसने म क त्वन ।

अद्विज मा तस्य चैवदयमन्क ररमाश्रया ॥२॥

—अग्निपुराण, म ३३६ ।

३. समाधि सुखरसैव भक्तिरसोऽस्मात् स्वतन्त्रं पुत्राद्यन्वात् तस्मात् भक्तिरसोऽपि पुत्राद्य परमानन्दरूप
स्वन्ति निर्दिष्टम् ।

—भक्ति रसायन, प्रथमोऽध्याय १०६ ।

समाधिजय ब्रह्मानन्द को परमानु तत्त्व भी मानने से अस्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत में भी मधुर भक्ति रसास्वाद का ब्रह्मानन्द से थप्ट कहा गया है।^१ आनन्दवधनाचाय ने भी भक्ति रसानन्द को सर्वोपरि स्वीकार किया है।^२ शृंगारादि नव रसा का स्थायी और विभावान् सभी रसोद्बोधक पन्थाय जहाँ लौकिक होते हैं वहाँ मधुर भक्ति रस का स्थायी विभावान् रसोद्बोधक पन्थाय अलौकिक होते हैं। मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयक मधुरा रति है। निर्मल रसानन्द भूति अखिल विश्व सौन्दर्य निधि भगवान् और जनक भवन जन इमक आलम्बन विभाव है। अनयासविन प्रमाथ रामाच त्रिव्योमाजय अनेकानक लान बाह्य प्रणय व्यापार इसक अनभाव है तथा हर्षादि इमक व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार मधुर भक्ति रस का ये सभी रसोद्बोधक पन्थाय अलौकिक हैं। 'भगवद्भक्ति चन्द्रिका मृन् रसात्म्य म दूमीन् ए परामर्शित प्रोक्ता रस इति रसास्वात्नचण ?' कहकर इमकी प्रशस्ति का गयी है।

'ऐसी परिस्थिति में तो है कि जिन साध्याभाम नव रसा में चिन्तान का अंगान के स्फुरण मात्र से साहियाचाय रसानुभूति बनाने हैं उनका साहित्य में रस की प्रतिष्ठा दी गई है एवं कालाविषयक रति को सबप्रधान शृंगार रस माना गया है किन्तु एतस्यवानन्दस्य आनन्द मानानुपजीवति इत्यादि श्रुतिया द्वारा प्रतिपादित जा ब्रह्मानन्द अखिल आनन्द का एवमात्र आश्रय है उस साध्यात् चिन्तानात्मक ब्रह्मानन्द में भी बल्कर उपासना का अमर भाग जा भगवद्भक्तिजय परमानन्द है उसे रस न मानकर राजविषयक रति (मिथ्याप्रणामासन चाटु बारा) एवं पुत्रविषयक रति (जातमत्य) के समान ही मात्र मात्र माना गया है इससे अधिक् क्या आश्चर्य हो सकता है ? यही क्यों मोघ, मोघ भय और जुगुप्सा आदि स्थायी भावा को जा प्रत्यगत सुख या आनन्द के विरोधी हैं रीति कण भयानक और बीभत्स रस की प्रतिष्ठा दी गयी है जबकि इनसे अमिनगुणाधिक भगवद्विषयक रतिजय आनन्द का रस मिद्विक् अयोग्य माना गया है। यदि यह कहा जाए कि मम प्रमाण क्या तो इसका उत्तर तो यही है कि अय रसा के आस्वाद का प्रमाण के लिए आप लग सहस्र जनसं पृष्ठन का गण आना करत है ता हमारा निवेदन है कि भक्ति रसास्वाद के विषय में आप लोग भी तत्तीय भवनजना से क्या न पूछिएगा ? ऐसी अनस्था में हम विषय में हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों के दुराग्रह का गिरा अधिक् क्या कहा जा सकता है ? *

१ ब्रह्मानन्दो भक्त्यैव वेद परादनुशीकृत ॥१६॥

नति भक्तिगुणाभ्यो धे परमानुत्तुलामपि ॥

—हरिमतिरसागुन मि पु ५ वि, १ ७११

२ या निद्रुनितशृंगारा तव वाप्य मध्यान्तरसक प्रकथामवसेन का स्यात् ।

सा ब्रह्मवि रसमहिमादधि नाथ सा भूत निरवतारागिपुनितरपनना विमान ५ ॥

—मीमन्स १४१, ४/६/१

३ या भ्यापारवनी रसान् रसमिदु काटिद्वीनी भवा

द्विषा परिनिष्ठिनाय विषयान्नेषा च वैपश्चिनी ।

ने द्वे अत्यवमम्य विरममिना निवदुद गो वय

भागा १६ च ल पमभिरवयनवद्विनिष्ठ सुख सुखम् ॥—रस मोह ५ २२७ ।

४ मधुर रस रसि वरि वरिहाग, भाग—२ ५ ६६ मेड काईनामाल वीर १ ।

मधुर भक्ति रस पर विक्रियाहीनता का आरोप

मधुर भक्ति रस के विरोधियों ने इसके ऊपर विक्रियाहीनता का आरोप लगाया है। श्रीमद्भागवत भगवद्भक्तिरसायन उक्तवन्नीलमणि भक्तिरसामृतमिधु रत्नावली गीत गोविन्द आदि अनेक भक्ति-काव्यों में मधुरा भक्ति प्रभावापन भक्ता व अनुभावा के जो सजीव एवं प्रभावपूर्ण वर्णन किये गए हैं उनसे आप ही आप विक्रियाहीनता का यह आरोप खानि ही जाता है। मनुष्य के त्रिविध मानसिक व्यापारा—गान भावना और क्रिया में से भावना ही सबसे अधिक प्राणवान् एवं काम प्ररक होती है। यह सिद्ध है कि मधुर भक्ति रस में भावना की प्राणवत्ता एवं भावावेगा की तीव्रता सत्रय अधिक होती है। अपने इष्ट व प्रति भावना की इस उत्कृष्ट अवस्था में तीव्र वेदना के जहाँ अश्रुकण झरते हैं वहाँ उल्लास के गान गत पाटल प्रमूढ भी खिलते हैं। ब्रज्ज्वाली और उल्लास की ऐसी आँखें मिचौनी अयत्न नहीं देखी जाती। निष्प्रियमात्र की इस विगिष्ट अवस्था में भयत कभी हसता है कभी रोता है कभी प्रणय करने लगता है तो कभी मोन धारण कर लेता है और कभी उच्च स्वर में हरिमण गान करने लगता है।^१ महाकवि जयदेव ने अपने गीतगाविन्द में राधिका को एकाग्र प्रेम निभर भक्त के रूप में उपस्थित करते हुए उनका प्रमोदमात्र का ब्रज ही ममस्पर्शी चित्रण किया है। विरहोन्मादिनी राधिका अपने वन स्थान पर की पुष्पमाला को भी अपने कृपा तनु के समान ही भार अनुभव कर रही हैं सरस मसण चंदन के रूप को सगर्व भाव से विषय के समान देख रही हैं मदनानल से दग्ध हुए के समान गम गम दीप उसाँसें ले रही हैं। जलकण से भरे नाल विहान नलिनी की तरह नयना का नतस्तन निरूप कर रही है सप्यानास में उनका कपोल तन उनका कर पल्लव पर आश्रित है व किसलय कुसुम गम्या को आग की जपट की तरह देख रही हैं और सखाम भाव हो हरि हरि की रट लगा रही हैं। रट रहकर उह रामाच हो रहा है वे कभी वेल्नाधिक्य के कारण साकार कर उठती हैं कभी विनाय करने लग जाती है कभी यह उद्भ्रान्त हो कंधर ऊपर दीड पत्नी हैं कभी कण्ठगान धरती पर गिर पत्नी हैं और कभी मूर्च्छित हो जाती हैं।^२ इस प्रकार एक व दो न गान विरहोन्मादिना राधिका में गाने अनुभावा का सत्रमण होता रहता है।

निगित रमाना मूर्ति भगवान् कृष्ण भा अपनी प्रियतमा के विरह-ताप से दग्ध हो रहे हैं। वे रट रहकर बारम्बार आप ठोमों में मर रहे हैं उद्भुत नयना से बारम्बार क्षतुर्तिक देख रहे हैं कभी कभी वे बाहर निगित गान हैं और फिर कुछ गुन घुन करत हुए भीतर प्रवेश कर जाते हैं अपने हाथा एक बार मन का रचना करत हैं और फिर अयत्न जाकु होकर चारों ओर निहारन लगन हैं। राधा कृष्ण के ये मार भाव एकान्त प्रेम निभर भक्त और भगवान् के ही भाव हैं। डा हृत्तारीप्रमाण द्विकान्त टाक नी कहा है कि जयदेव की विनासिनी राधा और श्रीकृष्ण की विनाय कथा बन्धुन आधा भी नहा रंगा अमर राधिका को एकाग्र प्रेम निभर भक्त के रूप में न

१ श्रीमद्भागवत १०.२६.११-१३ आदि।

२ रत्नविनिर्दिष्ट मधु हारमुनारय

मं मनुने कृष्णनुविध भरन्।

राधिका तव शिरसे देव।

मरमयमृदुलवि मनवज्जडन्

देखा जाय ।^१

फिर प्रश्न यह है कि जिस मधुर भक्ति रस में जीवन की इतनी अधिक तन्मयी अन्तर्दशा का मार्मिक अभिव्यजन होता हो जिसके अनन्त जीवन की इतनी अपार वस्तुस्थितियाँ का क्षण-क्षण घात प्रणिघात होता हो, उस-उपर विज्रियाहीनता का आरोप करना नितांत भ्रम ही तो है। मधुर भक्ति रस के साथ विस्मय हृष्य अहंभाव तथा अनैकानेक पूर्वोक्त अनुभाव मिल रहे हैं। भक्ति भावापन-व्यक्ति अर्हतिश भगवान् व भजन वात्तन स्मरण वदनाति भक्ति कृपा में सलग्न रहते हैं एवं दूसरे व्यक्तिवा की भी प्रभावित करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मधुर भक्ति रस के ऊपर विज्रियाहीनता का आरोप करना हठधर्मिता एवं अथ परम्परानुमानों को छोड़कर और क्या हो सकता है ?

मधुर भक्ति रस की व्यापकता

मधुर भक्ति रस की व्यापकता का सत्य बात प्रमाण यह है कि सभी भाषा और सभी कालों में किसी न किसी रूप में इसका बोलचाल रहा है। भक्ति का विपुल साहित्य भण्डार इसका महत्त्व को स्वयं सिद्ध करता है। भक्ति अपने आपमें ही बड़ा व्यापक अथ रस्य बाला भा है और अनेक लौकिक एवं अलौकिक भाषा का व्यन्तक है। सभी आधार पर भक्ति व कर्म भा मान गये हैं। यथा—देव भक्ति प्रभु भक्ति राज भक्ति स्वामी भक्ति पितृ भक्ति गुरु भक्ति दत्त भक्ति आदि। मराठी कव्य श्री निवारा पत न देव भक्ति रस की प्रतिष्ठा करने हुए देव भिमान को इसका स्थायी भाव माना है।^२ इसका पण विपदा में विद्वान्ता न काफी विचार विमर्श किया है। सारांशतः यही कहा जा सकता है कि जहाँ प्रभु और देव का चितप्रतापवत् गौरव

परमति विधमिव वपुषि सरासम् ॥ ११
 इवमिव पवनमनुषम परिचाहम् ।
 मन्तलूनमिव बहति सगाहम् ॥
 शिशि शिशि किरति सजनकल आलम् ।
 नयन नयनमिव दिगन्तिनालम् ॥
 इत्यत्रि न पाणिनलन कपोलम् ।
 बाणशनिमिव मायमकोतम् ॥ १२
 नयन विषयमपि विशलवतलम् ।
 गणपति विहिनदुताशक्तिवम् ॥
 हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।
 विरह विहिन मरत्येव निव मम् ॥ १३

मा रोनाचित्र मी ररोनि
 बिलकलुम्पने लाभनि ।
 क्यावातुर्भमनि प्रमीनति
 पनातुर्वाति मूढलक्षणि ।

—सोमनाथ-वि-१ ।

१ मध्यकालीन समयका ४०० हजार वर्षों की वही पृ० १२२

२ जीवन का हि साहित्य ३ ४२ शिवराम पत्र ।

गान हो वहाँ भक्ति रस स्वीकार करना चाहिए और उसे प्रभु भक्ति तथा देव भक्ति आदि रसों में विभाजित कर लेना चाहिए किन्तु अयन भावानुसूल रस मानना चाहिए ।^१

डा० वाटवे ने रस विभाग नामक ग्रंथ में भक्ति रस के मध्यम विभागों के मता का उल्लेख करते हुए मानस शास्त्र के आधार पर भक्ति रस का विभाग विवेचन किया है तथा इस एक व्यापक रस के रूप में सिद्ध किया है ।

डा० वाटवे के मतानुसार भक्ति की भावना डिराइन् या साधित नहीं है । डिराइन् भावना स्थिर वृत्ति नहीं बन सकती है । भक्ति का प्रारम्भ सम्पत्ता के आरम्भ काल से ही जान पड़ता है । बह्म साहित्य स्वयं इसके प्रमाणा से भरा है । मनुष्य ने सत्रप्रथम विविधतामूलक गति के अक्षय स्रोत विश्व के रगमच पर नित्य नयी भूमिकाएँ धारण करने वाली भुवन मोहिनी प्रकृति सुन्दरी के बभ्रव वचिष्य को देखा और उसकी विविध गतियों से प्रभावित होकर दवी देवताओं की कल्पना की । इन्हीं के परिणामस्वरूप उपाय पवन अग्नि वरुण इन्द्र आदि देवा का उद्भव हुआ । इन देवताओं की गति और परानम को देखकर मानव विस्मय विमुग्ध हो उठा । उसने मन में यह ठान्स वधा कि यदि इन गति-पुञ्ज देवताओं को प्रसन्न कर लिया जाय तो वे गाढ़ दिना में उमकी रक्षा कर सकते हैं । इसी रक्षा की भावना से अभिभूत होकर मनुष्य ने उनकी आराधना शुरू की । पहले इन देवताओं के प्रति उसके मन में विभ्रम की भावना थी जो धीरे धीरे श्रद्धा भावना में रूपायित हो गयी । यही श्रद्धा भाव कालान्तर में जाकर मनोरोग में रूपांतरित हो गया जिसके परिणामस्वरूप आराध्य और आराधक के बीच कई स्नेह सम्बन्ध सूत्रों की अवतारणा हुई । मनुष्य के पारिवारिक जीवन में जितने नात रिश्ते होते हैं उनके सक्षप में ये पाँच प्रमुख अंग माने गये हैं—स्वामी सम्बन्ध सेवक सम्बन्ध सुहृद् सम्बन्ध वामत्य सम्बन्ध और दाम्पत्य सम्बन्ध । इन्हीं स्नेह सम्बन्धों के आधार पर भक्तों के पाँच प्रकार के स्वभाव वर्णित हुए हैं—गान्त-स्वभाव दास्य स्वभाव सत्य स्वभाव वारमत्य स्वभाव जीर मधुर-स्वभाव । भक्त जन अपने अपने स्वभावानुसार अपने षट्पदे में इनमें से किसी एक प्रकार के सम्बन्ध-सूत्र के माध्यम से तन्त्रुप गुणों का आरोप करते हैं और उसी भाव से उनका आराधना करते हैं । इन पाँच प्रकार के सम्बन्ध सूत्रों में दाम्पत्य सम्बन्ध और उसका मधुर स्वभाव सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इनके माध्यम से मनोरोग अपने चरमोत्कर्ष पर पतन जाना है ।

आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत सामान्य चरानुभूति को यत्न करने के लिए तीन प्रकार की गतियाँ काय्यता किया गया है—रूपक गली व्यापानामक गली और दाम्पत्य नावरक गली । इनमें दाम्पत्य भावपरक गली की ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसमें माध्यम में भक्त निःस्वार्थ भाव में सर्वथा सम्भ्रम रहित होकर अपने को मानो खोकर रस में मग्न होता है ।

डा० वाटवे ने भी स्वाकार किया है कि मनुष्य ने अपने अपने स्वभाव के अनुसार उचित गति स्वभावा में भिन्न भिन्न गुणों का आराधन किया और सभी प्रकार में उन्हें वह अन्तः परम महादक तथा उदात्त मानने लगा । धीरे धीरे मनुष्य का स्वभाव विषयक भावना में परिवर्तन होत लगा । वह अनन्त दवी स्वभावा के बन्ध एक परमेश्वर की कल्पना करने लगा ।

१ रस भिन्न स्वल्प आदि विवेचन इन्द्र आदि गति पृ. २-५ ।

उत्तर वक्त्र साहित्य तथा परवर्ती वदिक साहित्य में स्थूल स भूयस वदुःखवाद स एवेदवरवाद का सत्रमण स्पष्टतः परिलक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार समुल्लेख स मनुष्य फिर निगुण निराकार का भी चिन्तन करने लगा। उस रूप न लस भक्ति माग से उठाकर जानमार्गी बना दिया। सन्तों में जहाँ-तहाँ दोना भावनाओं का प्रवाहान सिद्धाई पढना है जिसमें प्रताप-पूजा आरम्भ हुई है और राम कृष्णादि अवतार माने जान लगे हैं। इस प्रतीक पूजा में मनुष्य के स्वरूप में देवता की कल्पना कराई है। मनुष्य में प्रभु में सार लौकिक प्रम-सम्बन्ध जोड़ लिए हैं और इस प्रकार परमेश्वरानुराग की भावना समिध बननी गई है। परमेश्वर का मूल स आरम्भ करने मनुष्य उसकी मनामय प्रतिमा के निमाण में सफल हुआ है। मन-वाच्य में परिणीत स जान हागा कि उसका अन्तगन प्रभु की मनामय प्रतिमा के प्रति अनन्त नात रित्त। का प्रतिष्ठा के कारण उत्सुकता जाना विषा दय चिन्ता व्याधि भय गव, श्रीहा जितामा आदि अनेकाने मधुर भावा का समावेश किस प्रकार सफलतापूर्वक हा गया है। इसका सम्बन्ध उसमें नव रमा की छत्र में प्रस्तुतित हुई है। इन सम्बन्धों में परमादृष्ट रूप शृंगार भावना का रहा जो भाव-साधना के गोपयन के रूप में परिणत हाकर मधुर रस के रूप में परम उत्तमन का प्राप्त हुआ। कृष्ण-गायिकाओं के परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध के रूप में जाह्नव गण और लौकिक शृंगार भक्ति के उत्तम रूप में उपस्थित हुआ। वल्लभ चन्दा राधावल्लभी आदि मन्त्रियों में ही नहीं राम-सीता के भक्ति और मूर्खी मन्त्रियों में भी यह भावना स्थिराई पढनी है। यहाँ तक कि भक्ति की भावना इस रूप में व्यापक है कि तरहवा स। म धामन श्री० हंस नामक स्वयं ने अपन काव्य में ईसा का यही भक्तिपरक रूप उपस्थित किया है। इतिहास इस प्रकार के भवना के प्रमाणों का साक्षी है कि भक्ति के सामन उत्तरी भूय जमी सहज प्रकटित हो भा दय गई हैं। अन भक्ति का भूतपार दवविषयक रति का स्थायीभाव मानन में कोई हासि नहा है।

यदि व्यापक दृष्टि से दगा जाय तो मधुर भक्ति रस में अत्यन्त सगी रगा का अन्तभाव हा जाता है। इनीति रूपोस्वामा ने गान्ध दास्य मध्य वाच्य और मधुर का पाँच मुख्य रस तथा शृंगारादि सान रमा को गौण रस माना है और इन मान गौण रमा को मुख्य भक्ति रस का सकार कहा है।

मधुर भक्ति रस में अनवाने भावनाओं का जिनना अधिक सम्मिश्रण सिद्धाई पढना है उतना अत्यन्त निमी दूसरे रस में नहा। जिस रस में भावनाओं का जिनना ही अधिकतम रहता है वह उतना हा अधिक प्रभावशाली और आस्वाद्य माना जाता है। शृंगार और वरग रस भयानक और बीभत्स रस में इमालि अधिक महत्वपूर्ण मान जान हैं। वस्तुतः मागवत्-मन्त्रों की पावर गमी भाव अवान प्रकार के स्थि भावनाओं में चमकन हा उद्यत है और उद्यत आम्वाद्यता में परिपूर्ण हा जान हैं।

आकषण और विषय अथवा राग और रूप का दो विच्छेदित मनुष्य में हाती है। राग द्वारा मनुष्य की अनेकाने अभिमुख (आकषण) शक्तियों का अभिव्यक्त होनी है। मधुर प्रेम रस की कल्पना का यही रहस्य है। मनुष्य की यह शाक्त शक्ति प्रेम का 'रति' वाच्यविषयक देवता-विषयक और अर्थ-विषयक हासि प्रमदा दधि शृंगार रस मधुर भक्ति

गायन के सहज मालूम पड़ते हैं।^१ मधुर भक्ति रस की इही विवेचनाओं पर मुग्ध होकर निगुण पार्श्वों से महात्मा कबीर प्रेम पथ के पथिक बन गये और उन्होंने उच्च स्वर से घोषणा की कि 'भाव भगति के बिना भव का सगय मूल' नहीं मिट सकता। हरि का अपना पिय और अपने को उनकी बहुरिया मानकर उन्होंने बिरहिणी की आत्म-ज्ञा का जसा माधुयमय हृदयग्राही एवं ममस्पर्शी निवेदन किया है वसा अत्यन्त दुलभ है।^२ इसी मधुर भक्ति रस का प्याला पीकर प्रेमदिवानी मीरा ने सारे ऐश्वर्य, राजसी वभव पर लात मारकर अपने गिरिधर गोपाल से मित्र के लिए योगिनी का बाना पहन लिया।^३ इसी मधुर भक्ति रसायन से प्रभावित होकर गौरांग महाप्रभु ने समस्त उत्तराखण्ड को भगवद्भक्ति रस में आप्लावित कर दिया। इसी मधुर भक्ति रस से सराबोर होकर भमूर ने 'गुनी पर चढ़कर झर पुवारा कि यह उसका बाम का जीना है आये जिमका जी चाह और उधर खून बहता था अनलहन दार के माया तल'। सम्पूर्ण विश्व-वात्म्य इस प्रकार के अनेक दुष्कांता में भरा पड़ा है।

मधुर भक्ति रस के इस त्रिभुवन मोहन प्रभाव को दायवर प० अयाध्यासिह हरिऔध ने ठीक ही लिखा है कि कोई सामने आये और बताय कि बिना दूसरे रस का आस्वादन ऐसा है।

रस की ओर विपत्ता क्या है ? यह कि वह स्पष्ट स्तब्ध जाता है हृदय में प्रवेश कर जाना है सर्वांग को सुधा रस संचित बनाना है और अथ वक्ष विषया को निरोद्ध कर दत्ता है।

अथ रसा पर भी यह गण घटित हो सकता है दूसरे रसा में भा यह विपत्ता पायी जा सकती है, किन्तु मधुर भक्ति रस में तो इस गण और विपत्ता की परावाष्टा हो जाती है वरन् कहना तो यह चाहिए कि मधुर भक्ति रस में ही इन विपत्ताओं की वास्तविक साधकता होती है।

यदि ऐसा न होता तो यह क्या कहा जाना— प्रमग्व परो घम ।'

१ 'स्वत्माघातकरणाद्वाद विशुद्धाग्नि स्थितश्च मे ।

शुभानि गोपयन्त्यने

॥

—श्रीमद्भगवद्ग ।

२ पिया मिलन की भास रहा बस ली सरी ।

कचे नहि चदि जाय मने लज्जा भरी ॥

बाँव नहि डहराय बन् गिरि गिरि बरूँ ।

जिरि जिरि बरूँ सन्धारि चरन भाग बरूँ ॥

भग भग बहराय तो बहुविध करि रदू ।

करम बपट मग घेरि तो भ्रम में परि रदूँ ॥

बारी निपट भनारि तो मीनी नैन दू ।

भट-पट चाल मुखार विमन कम होए दू ॥

भट-पट पट रे सोन शब्द उर लावरी ।

निल निच दाम कबीर विन ताहि बावरी ॥

—भगवद्गीता म ।

३ मरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई ।

आके मिर मोर मुख मेरो बनि मोर ॥

मधुरन जग सोधि सोधि प्रेम-नेनि बर ।

मीरा को जगन लगी होनि हो सो होइ ॥

—मीरा ।

आपमे यदि कभी भक्ति का उद्वेग होता है या यदि कभी आपने किसी भक्ति-उत्कृष्ट प्राणा को अभिनिविष्ट चित्त से देखा है तो आपको इस बात का अनुभव होगा कि जिस समय हृदय में भक्ति-स्रोत प्रवाहित होता है उस समय उनकी क्या दशा होती है। क्या उस समय समस्त अंगों में अलौकिक रस संचन नहीं होने लगता जिसका आस्वादन सबधा लोकोत्तर है ?^१

मधुर भक्ति रस का ऐसा अलौकिक चमत्कार है कि इसके सामने भक्ति रस रसिक कलागंधाम स्वर्ग सावभौम साम्राज्य योग सिद्धियाँ अपुनर्भव आदि सबकी हेय समझता है।^२ वह जपन इष्टदेव के पदरजानुराग को छोड़कर अथ धर्म काम और मोक्ष कुछ भी नहीं चाहता। वह तो सिर्फ यही चाहता है कि कामी को कामिनी के प्रति और लोभी को धन के प्रति जसा आकर्षण होता है वसा ही उसका अविचल अनुराग जन्म जन्मांतरपर्यन्त इष्टदेव के प्रति बना रहे।^३ इससे यह स्पष्ट है कि मधुर भक्ति रस जसा चमत्कार किसी रस में नहीं है इस दृष्टि से भी उसकी सब रसों पर प्रधानता है। हिन्दी सत्सार में तो सत्ता की बाणियों ने उसका भांडार भली भाँति भर दिया है।^४

मानव-जीवन विराट एव संकुलित है। मनुष्य के मनोभावों की इयत्ता नहीं निर्धारित की जा सकती। इसलिए उन लोगों का उद्योग जिन लोगों ने नव रस के अतिरिक्त अन्य रसों को माना है किसी प्रकार से हृय नहीं कहा जा सकता।^५

इस प्रकार मधुर भक्ति रस विराट है उसका साहित्य विस्तृत है। श्री रूपगोस्वामी श्री जीयगोस्वामी एव अन्य गौडीय वृष्णव आचार्यों ने राधा-कृष्ण के लीला विलास को ही आधार बनाकर मधुर रस का सावयव निरूपण किया है एव सबधृष्ट रस के रूप में सिद्ध किया है। पूर्ववर्ती अन्वय शास्त्र रस शास्त्र एव काम शास्त्र में यथेष्ट पारिभाषिक गान्धर्वों को उनमें वर्णन विभाव अनुभाव उद्दीपन संचारी भाव नायक-नायिका भेद आदि को उद्घाटन स्वीकार कर नायक गिरोमणि श्रीकृष्ण और नायिका गिरोमणि श्री राधिका के लीला परिवेग में मधुर रस का अमूर्तपूर्व विस्तार किया है। य सारे निरूपण इन वृष्णवाचार्थों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं एव भगवद्भक्ति की प्राप्ति ही इस अत्यन्त रस का प्रथम एव अन्तिम रूप है।

इस प्रकार भक्ति व शून्य तत्त्वा का साहित्यशास्त्रीय पारिभाषिक गान्धर्वों में अमि सम्पन्न कर तथा साहित्य शास्त्र का एक विनिष्ट अंग शृंगार को भक्ति सिद्धान्तों की पसीटी

१ रमकवता हरिभूष, पृ २१२, २१६।

नन्दारनन्दन न महेन्द्रविष्णुष न मानभूष न रसाधिपतिवम्।

न दोगतिनीपुनर्भव का वादनि वत्साञ्जल प्रथमा ॥

—भागवत।

२ अथ न धर्म न काम रुचि, गति न च-उं निरवान।

जनम जनम रतिराम पन् यदु बरगानु न अन्य ॥

कानि निनारि विवागि जिनि लानिदि दिव जिनिगम।

नि नि रपुनय निन्दर, नि लङ्ग मोदि राम ॥

—गोस्वामी गुप्तसीतम।

४ रमकवता हरिभूष, पृ २१६।

५ नवरस वाद गुणावगाव पृ ३४२।

पर बसकर गौणैय वणव आचार्यों ने वाङ्मयानुगतिवों एवं भगवद् प्रेमानुगतिवों के लिए मधुर रस के रूप में अनुपम रसायन प्रदान किया है।

गौडाय वणव आचार्यों ने मधुर रसविषयक सिद्धान्त की प्रशंसा करते हुए दा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने टीका कहा है कि हमारे देश में रसविषयक ही सिद्धान्त ऐसे हैं जो स्वच्छ रूप में ज्ञान (विश्लेषणी नहीं) पर आधारित हैं। एक तो कम्मारी गवा के अन्तर्गत पर और दूसरा गौडाय वणवों के अचिन्त्यनान्तर्वात् पर। अथ वणव आचार्यों ने भी रस का आध्यात्मिक रूप दिया है पर रसगान्धर्व का जसा विग्न विवेचन भक्तिरसामृतमिषु और उर्व्वन्नीलमणि में किया गया है वसा अव्यक्त है कि नहीं यह नहीं कहा जा सकता। उनके विचार में श्री कल्मष और हितहरिवंश सम्प्रदाय की मधुर भक्तिपरक साहित्य-सम्प्रदाय के मूल में अवश्य ही बाद अन्त्यात्मवादी रस सिद्धान्त होगा। नन्दास का रसमञ्जरी से ऐसा संबंध अवश्य मिलता है पर भक्तिरसामृतमिषु और उर्व्वन्नीलमणि के समान उसमें व्यवस्थित गान्धीय विवेचन का अभाव है। वाङ्मय का छठा पीढ़ी में बताया जान वाला गल्ला गढ़ी के एक मधुरापासक राम भक्त द्वारा सम्पूर्ण बाबाकि रामायण की मधुर रसपरक व्याख्या का देखकर राम भक्तों में भी उर्व्वन्नीलमणि के जार के विमील बिना रस का अनुमान किया जा सकता है। १८वां मणी के अन्त और १९वां मणी के प्रारम्भ-वाक्य में अथाध्या के रसिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी बाद मधुर रस सिद्धान्त अवश्य स्वाकृत हुआ होगा ऐसा मोचना अनुचित नहीं होगा।

उपयुक्त विवेचन में यह स्पष्ट है कि वणवाचार्यों का मधुर रस विवेचन पूरा आध्यात्मिक है। वह आत्मा-परमात्मा के आन्तरिक मिश्रण की मार्मिक अभिव्यक्ति है। हन्तावन के गास्वामिना ने (रूपगाम्वामी सनान और जीवगाम्वामी) इस तरह का जमी व्याख्या की है यही किसी अन्य साहित्यिक रस विवेचन नहीं का। यह एक बार बौद्धिक है और दूसरी ओर प्रमाणित। मनुष्य के भीतर के स्वभाव का जगान का यह प्रयत्न बहुत ही स्पष्ट है।

माराग यह है कि मधुर रस के समान आम्वाद्य या तारकारक व्यापक मन्त्र-मुग्ध परमानन्द प्रत्यक्ष लोकोत्तर विष्णु विराट विगिष्ट विष्णु वाग्मय-परिपुष्ट तथा भक्ति गान्धर्व मानस गान्धर्व दान गान्धर्व और वाङ्मय गान्धर्व की कमीनिया पर परा उत्तरन वाग्मय रस का नहीं मानन का कोई कारण नहीं है। मधुर रसविषयक विष्णु एवं विगिष्ट धार्मिक एवं साहित्यिक सम्प्रदाय के विद्यमान होने हुए भी तथा रस सिद्धि की सम्पूर्ण विगिष्टता का बावजूद हमें जो रस रूप में अस्वाकार किया जाता रहा है उसका एकमात्र कारण परम्पराभिमान ही हो सकता है अथ कुछ नहीं। निश्चय ही हम प्रसार का परम्पराभिमान या परम्परानुमान साहित्य और गान्धर्व गान्धर्व के नवान पथों को अवरोध करके उमर। स्वतंत्र चिन्तनपारा का राक रखना है। अतएव साहित्य और साहित्य गान्धर्व दाना के रूपक अभ्ययन और विज्ञान का दृष्टि में हम प्रसार का मिथ्या परम्पराभिमान गवया उपरान्त है।

वस्तुतः मधुर रस रस रस है। वह आत्मा रसात्मक मारलाय वाग्मय का आन्तरिक है

जिनमें अनायास ही सभी रसा का अन्तर्भाव सहज ही सम्भव है। मधुर रस के सवश्रुष्ठ प्रतिष्ठापक श्री रूपगोस्वामी ने इस अलौकिक दिव्य रस राट की विराटता और निस्सीमता पर प्रकाश डालते हुए सत्य ही कहा है कि मधुर रस निस्सीम जलधि के समान अतः अपार और दुर्बिगाह है। उन्होंने अलौकिक दिव्य रस राट मधुर रसाणव के तट पर खड़े होकर ही इसका स्पर्श मात्र किया है।^१

१ अतस्तत्त्वज्ञानरसराज्यान्मिदं दुर्बिगाहकम् ।

रूप राट तटस्थेन रसाब्धिर्मनुजो मया ॥ १॥

— रूपगोस्वामि रूपगोस्वामी ।

उपसहार

मधुर रस का वास्तविक स्रोत भक्ति-प्राप्त्य है। भक्तसाधना का एकमात्र प्रयोजन-उत्त्व प्रेम है। भक्ति-वस्तु-वृत्ताओं में भक्ति का परम प्रेम स्वरूप तथा परानुरक्तिरोगर का जो मना है उससे भक्ति का दसा अर्थ की प्रतीति होता है। 'प्रमा पुमर्थो महान्' द्वारा भा भक्ति का लिए प्रेम-वस्तु की अनिवार्यता की सिद्धि होती है। भगवद्भक्ति प्रेमसे प्रेम प्राप्य मान स्नह राग अनुराग भाव और महाभाव का रूप में वर्धमान होती हुई जब परमानन्द का प्राप्त होता है तब इसी का नाम भक्ति रसराज मधुर रस ही जाता है जो समस्त सौन्दर्यों का सौन्दर्य है और समग्र रसा का मधुर नियास है जिसका आनन्दतिरेक में जीवाभा अथवा भक्त आत्मसम्भूत और परममय भावा से सबधा अमल्यष्ट हार विमान-मय ही जाता है। मूल की किरण का समान अथवा अग्नि-स्फुल्लिग का समान जावाभा नियम स्वस्व प्रेम-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप परमात्मा का अंग है। अतएव विगुह प्रेमरस आनन्द ही राव का प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। विषयावच्छिन्न धन-य है। नून अन्न करण का वृत्ति में उपाग हाकर स्थायामाव और रस-स्वरूप ही जाता है। सन्धे में भक्ति अर्था विवाह और प्रमपूण भक्त हृदय का वह निष्प मधुर मनोरोग है जिसका महारे उपासक अपने उपास्य का प्रति अपना हृदि प्रकृति और स्वभाव का अनुमात्र मान वाप रस में अस्मिन्निचिन का अन्व प्रकार में भावात्मक सम्बन्ध की उद्भासना करता है और उस नाम रूपातीत वृत्त की मधुर भाव-वर्धन में आगुह कर अनिवचनाय अस्तकान का आम्वाद करता है। इस प्रकार मधुर भक्ति भवन का विमल मानन से नि सत निष्प प्रेम की वह उर्वर रस धारा है जिसका प्रवाह में लौकिक प्रेम का विषयान् अपने समस्त कर्तुषों का प्रगालन कर अलौकिक प्रेम का वृत्तान्त में परिणत हो जाता है। लौकिक प्रेम का पारलौकिक प्रेम में रूपांतरित हो जान का तथा लौकिक प्रेम प्रतीका द्वारा अलौकिक प्रेमानिधिरूप का यही रहस्य है।

भगवान् की एवम भाव-परक और माधुर्य भाव-परक गीलाभा में से प्रेम की अनन्त गति की दृष्टि में माधुर्य भाव की लीला का ही सर्वोपरि स्थान है क्योंकि इसमें भक्त की भावान् का प्रभुत्व अथवा एवम का अन्त मानवाय रस में आन प्राप्त माधुर्य रस का दान होत है। माधुर्य भक्ति में भगवान् का साथ भक्त का आत्मोपानातृप अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित होता है और भगवान् पुत्र सगा पति आदि रूप में उगका परम प्रेमाश्रय बन जाता है। भगवत्प्रम का इस तीव्रता में भक्त की सहृदयी मानसिक समझना प्राप्त हो जाता है। मानसिक समझना अथ सहज प्रगता की इसी विशिष्ट भाव-दशा में माधुर्य भाव उर्वर का प्राप्त हाकर रस रूप में निष्प होत है जिससे भक्त का सभी रसों एव सभा अवस्थाओं में निष्प आरता का दान होत

लगते हैं।

माधुय भाव की सरसता मधुरता प्रेम की तीव्रता और सहज ही प्राप्त होन वाला असहानन्द के आस्वाद के कारण माधुय भाव की भक्ति साधका के लिए अत्यधिक स्पष्टनाय है। सामान्यतः साधक का तात्वाभाव गोपी भाव और सखी भाव से मधुर रस का आस्वादन करता है जिनमें प्रमानुभूति की तीव्रता समयता की दृष्टि से काता भाव सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके द्वारा उपासक अपने उपास्य के साथ प्रत्यक्ष रमण करता है। इसीलिए भगवान् क प्रति भक्त जितने प्रकार के भावात्मक सम्बन्धों की स्थापना करता है उनमें कान्ता भाव-परक सम्बन्ध सर्वोच्चक मधुर एवं श्रेष्ठ है। काता भाव परक मधुर भक्ति में ही जीवात्मा अथवा भक्त प्रयत्नी और परमात्मा रूपी प्रियतम की मधुर प्रेम-लीलाओं में ही माधुय भाव का चरमोत्कृष्ट होता है। जीवात्मा परमात्मा के दाम्पत्य भाव परक सम्बन्ध में प्रेम के तीव्रतम रूप की अभिव्यक्ति होती है। इस दशा में भक्त प्रयत्नी को प्रेम के संयोग वियोग परक उन सभी भावों की अनुभूति होनी है जिनका अनुमेष लौकिक नायक नायिका को हुआ करता है।

कान्तादि विषयक लौकिक रस भी परमानन्द रूप ही है। उसमें केवल जड़ के सम्पर्क से हीनता और 'यूनता' आ जाती है। माधुय भाव की भक्ति में अनवच्छिन्न विद्वानन्दधन भगवान् का स्फुरण होने से उसकी परमानन्दरूपता स्पष्ट होती जाती है। निस्सीम समुद्र में सरिता का जसा मधुर मिलन होता है परम रसमय परम प्रेममय और परम आनन्दमय परमात्मा के साथ जीवामा का मधुर संयोग भी वसा ही होता है। जीवात्मा परमात्मा भक्त प्रयत्नी और भगवान् प्रियतम का यही मधुर मिलन और तत्त्व-आनन्द मधुर रस का उत्स है।

भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने दार्शनिक सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए प्रायः मनोविज्ञान का सहारा लिया है। मनुष्य की इन्द्रियां स प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध होने के कारण साधना के क्षेत्र में आरम्भ से ही मन के महत्त्व का माना गया है। मन एवं मनुष्याणां कारण बन्धनोऽयो उक्ति से भी मन की अप्रतिम सकल विकल्प शक्ति और प्रभाव का परिचय मिलता है। ईश्वर के प्रति राग और सत्कार के प्रति विराग के लिए मन का अनुपासन आवश्यक है। वसंता मन की चंचल दृष्टियां के निरोध तथा सभी लौकिक कामनाओं के ईश्वरोन्मुख करने के पश्चात् ही मधुर रमण का आविर्भाव होता है जिसमें मन की अंतर्बाह्य क्रियाशालिता और सकल विकल्प की शक्तियां सबका विरल हो जाती हैं। हम दृष्टि से मधुर रस का क्षेत्र कारण-कार्य संबंध भाव से पर हो जान के कारण मनोविज्ञान की सामाजिक आग का विषय बन जाता है। किंतु जिन कारणों से निर्गुण निर्गुण ब्रह्म का साकार विग्रह रूप भगवान् बनना पड़ता है उन्हीं प्रयाजनों से नित्य रमणस्वरूप आनन्दस्वरूप परमात्मा के नियंत्रण रम की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक प्रेम प्रतीका का साहचर्य भी सिद्ध होनी है। महावद विदु है जहाँ भगवान् के प्रति भक्त के मधुर मनोभाव और मनोवृत्ति का उच्छालन होना के कारण मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता पड़ती है। मन का अनुविषय अवस्थाओं में सन्तुष्टावस्था में ही पटुचर साधक ब्रह्म-साक्षात्कार का महामुण प्राप्त करता है। मनुष्य के प्रत्येक मानसिक व्यापार में समस्त रूप में मन का त्रिविध दृष्टि—गान-वर्ति भावना वर्ति और क्रिया-वर्ति का समावेश रहता है तथा दृष्टि रूप में जनन में किन्ना वर्ति विषय का प्रधानता रहता है। उपासना के क्षेत्र में उपास्य के एकाग्रता में गान माधुय-बाध में भावना और उसमें प्रति गौरीत्व विविध ध्यानों द्वारा

द्रियावृत्ति का सतत सम्पर्क बना रहता है। इस दृष्टि से भी मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की साधकता सिद्ध है।

मृष्टि व समस्त व्यापारों के मूल में आनन्दोपलब्धि की भावना प्रेरक शक्ति के रूप में सक्रिय रहती है। आनन्द अद्वैत है। इस अद्वैतानुभूति में ही मनुष्य को अद्वैतत्व का बोध होता है। आनन्द का उद्रेक रसत्व है तथा उसका उपभोगना बहुभाव है। भाव आनन्द ही रस है। विषमता मूलक मृष्टि की विधात्मक प्रभूतियाँ के पारम्परिक आक्षेपण में आनन्दोपलब्धि की यही प्रवृत्ति चरिताय होता है।

आधुनिक मनाविज्ञान की दृष्टि में मनुष्य में काम की प्रवृत्ति एकत्व स्थापन अथवा पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति सर्वमूल्य और सर्वाधिक स्थायी आनन्द प्रणायक प्रणय के अवपण की प्रवृत्ति आस्थावाद की प्रवृत्ति आत्मप्रतिष्ठा और आत्म रक्षण की प्रवृत्ति तथा अयुक्त काम वासना की प्रवृत्ति ग्राह्य हैं। भक्ति भावना के मूल में इन प्रवृत्तियों की प्रेरणा सक्रिय रहती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेम या राग मानव जीवन का सर्वाधिक गहन मौलिक भाव है। राग स्वविस्तार अथवा परस्पर सगमच्छा जड़ चेतन सत् में विद्यमान है। यही राग प्रायः का काम है जिस उद्दिष्टि जीवन की मूल-वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। मधुर या प्रदलन वृत्ति मनुष्य की मूल वृत्तियाँ में एक प्रबल वृत्ति है तथा काम एक अनिवार्य मनोयोग है। काम सर्वलक्ष्य के इंगित पर ही विषय के समग्र क्रिया रूप में चल रहे हैं। काम प्राणी मात्र का मूल प्रयत्न भाव है काम ही प्रेम है काम ही मूल्य है और काम ही दाम्पत्य रति की सन्तुष्टि है। काम का यथाय रूप हृदय की सज्जामताजय अथवा मानसिक प्रवृत्तिजय यह पवित्र उत्तम उच्चल और आनन्दमय मधुर प्रभाव है जो ससार की मृगत शक्ति का उत्स है। मृगत ही आनन्द है और आनन्द ही रस है। ससार में सभी जान अज्ञात दूय अल्प रूप में एक दूसरे के साथ मधुर भाव बंधन में आरुढ़ हैं एक एक दूसरे के पारम्परिक सौन्दर्यवर्णन सम्मिलन आदि नानाविध प्रेम व्यापारों द्वारा काम के व्यापक प्रभाव को चरिताय कर रहे हैं। मधुरा भक्ति के मूल में भी यही काम वृत्ति कार्य कर रहा है जिसमें काम भावना का उन्नत रूप है अभिध्वन्य होता है। यह भक्ति भावना स्वतन्त्र एवं सहज वृत्ति न होकर हुए भी महत्त्व और प्रभाव का दृष्टि में महज वृत्तियों के समान ही है।

काम जब वैयक्तिक मुग का विषय बन जाता है तब वह निम्नवर्गता मूल्य हो जाता है किन्तु यही जब रूपान्तरित होकर परमायमूलक पुरुषार्थ का रूप धारण करता है तब वह मनुष्य को ऊर्ध्वमग करता है और निम्न प्रवृत्ति प्रगण प्रगण करता है। उच्च स्तर पर पञ्चरत्न या अष्टा भक्ति में परिणत होकर अनीतिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है। जाति-मुग प्रेम जब ईश्वर-मुग प्रेम में परिणत हो जाता है तब रागमया भक्ति मापना का प्रादुर्भाव होता है जिसमें मधुर रस निगूत होकर भक्त हृदय को व्याप्यमान करता है।

प्रेम भाव का मूल्य बना मान मानि भाव है और उमरा उमर मयया शक्ति है। कामवृत्ति के स्थायीभाव रति और उमर के व्यावहारिक रूप प्रेम द्वारा ही उमर को अभिध्वन्य होता है। पात्र में से बही प्रेम दाम्पत्य रूप वात्सल्य और दाम्पत्य भाव का रूप में प्रकट होता है। दाम्पत्य प्रेम में प्रेम भाव का पूर्ण स्वरूप एवं काम भाव का उन्नत होना के कारण स्थाय का।

गीणता एवं पराध की प्रमुखता रहती है जिससे मानव-हृदय में कोमल भावनाओं का उत्पन्न होता है। काम का उन्मयन दाम्पत्य आनन्द का स्वरूप है तथा दाम्पत्य प्रेम और ईश्वर प्रेम का मना दगाए समान हैं। काम के उन्मयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रेम है और आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है। दाम्पत्य प्रेम अत्यन्त 'यापक एवं आत्मा-परमात्मा' के तात्कालिक प्रतीक है। नर-नारी के रूप में दो हृदयों का अत्यन्त अखिल विदुर जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। इस प्रकार काम वसति के स्थायी भाव रति या प्रेम भाव का ही भगवान् का मधुर भक्ति में रूपान्तर हो जाता है। यह रूपांतर एक नये जन्म ग्रहण के समान है जिसमें पुरानी वषट्क वसतिपूर्ण भूजित बीज के समान सत्त्वहानि हो जाती है और परम प्रमानन्द स्वरूप मधुरा भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। फलन लौकिक प्रेम के अलौकिक प्रेम में रूपान्तरित हो जाने पर सामान्य नायक नायिका के मिलन विरह प्रसंगों के अनुरूप ही जीवात्मा अथवा भक्त रूपी प्रिया और परमात्मा रूपी प्रियतम के मिलन विरह प्रसंगों की भाव-दगाए परिणति होने लगती है। साधक भक्तिमान और उसकी भक्तिया के मध्य मानवीय रस से परिपूर्ण दाम्पत्य भाव-संश्लेष की अवतारणा द्वारा आध्यात्मिक परिणय की गति अभिव्यञ्जना करता है। उसकी यही अनन्य प्रेम दगा सर्वोत्तम मधुरा भक्ति की भाव गति है जिसकी चरम परिणति ही मधुर रस की सिद्धि है।

चिन्तन का विषय होने के कारण धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों में मधुर रस का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतना-मूलक जीवन में है। घन चेतना में मनुष्य का सम्पूर्ण अद्यतनी अनुभूतियों के प्रतापमान एकता रूप के दगन होने हैं। दृश्यतेनैव चिन्तनम् सं यह स्पष्ट है कि जीवन के किसी मूल तत्त्व या परम सत्य का विवचन करना ही दानगाम्त्र का प्रतिपादक है। दानगाम्त्र जीवन के मूल तत्त्व या परम सत्य से सम्बद्ध तथ्यों की तत्वावली एवं अथ मूल्यों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास करना है। कुछ प्राकृतिक एन्द्रिय अनुभव के आधार पर तरंगित सत्य का ही अन्तिम मध्य मानन है और कुछ स्वयं प्रकाश ज्ञान क्षेत्र में प्रवेश कर तरंगित सत्य को ही परम सत्य स्वीकार करने हैं तथा बुद्धि द्वारा उसके स्वरूप का प्रकाशित करने का प्रयास करते हैं। मूल तत्त्व के मा स्पष्टीकरण विषय मयावपण के परिणामस्वरूप अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना हुई है।

भारतीय चिन्तन के इतिहास में पानापर्याय की प्रक्रिया और उपर्युक्त ज्ञान उभय रूपों में दान गति का प्रयोग हुआ है। जहाँ तर आध्यात्म-माधना और अध्यात्म गाम्त्र का प्रग्न है व दान के चिन्तन विविध अर्थों में गति प्रणिगत अनुप्राणित हैं। इनके अतिरिक्त साहित्य और सांख्य गाम्त्र भी पानापर्याय की प्रक्रिया और उपर्युक्त ज्ञान दाना रूपों में दानगाम्त्र मनवान में प्रभावित हैं। इसका मूल कारण यह है कि सांख्य गाम्त्र और दान गाम्त्र दानों अपनी अपनी पद्धति में मानव अन्तर्भाव के मूलभूत सत्य का प्रकाशन और परम सत्य का साधन करते हैं। भारतीय साहित्य-गाम्त्र-बला दानगाम्त्र के भा ममन थ। अतएव उन्होंने ब्रह्मास्वात्म-रमास्वात्म में कोई सांख्यिक अन्तर नग माना तथा 'पाप मामामा माप्य, तत्र गति और वगान् दान का मगना लकर काश्य रस का अनेक प्रकार से व्याख्या का। परमगति और परम अतन्त्र का मन्त्रम अनुभूति महा सत्य गति और आनन्द का सम्मिश्रण जाना है। महा वह सन्त है जहाँ सांख्य और गान का एकात्म सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और मधुर रस की

पारा चित्तन और अनुभूति व बगारा से प्रवाहित हान लगती हैं।

धुधा वाम वासना आदि मूल वृत्तियाँ से सम्बद्ध आवश्यकताएँ जिस तरह उह पूण करने वाले पदार्थों की सत्ता को मिट्ट करती हैं उसी तरह उपासना की अवश्यकता का अनुभव भी यह सिद्ध करता है कि कोई उपास्य सत्ता या देवता है जिसके प्रति उपासक अपने स्वभाव रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप भावात्मक सम्बन्ध की उदभावना करता है। इनसे सम्बद्ध धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रेम और सौन्दर्य की अनुभूतियाँ के समान ही अगण्य हैं। ईश्वर का अस्तित्व बोध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा ग्राह्य आनन्द-राम आध्यात्मिक साधना का मूल प्रयोजन है। अध्यात्म-क्षेत्र में मधुर भाव की साधना का यही मूल कारण है। मनुष्य के हृदयस्थित मधुर भाव का मूल अभिप्राय ग्राह्य आनन्द प्राप्ति है। यह आनन्द तत्त्व मनुष्य के कर्माँ या संस्कारों का अनुरूप प्रकट होता है। मधुरापासना द्वारा इसी की अभिव्यक्ति होती है।

मृष्टि की उत्पत्ति का कारण जड़ और चेतन का भेद विश्व और जीवन की उत्पत्ति जीव जगत और ब्रह्म का स्वरूप ग्राह्य आनन्द गम जरा-मरण भय में त्राण आदि कुछ ऐसे ग्राह्यत प्रदान हैं जो मानव चेतना के विकास से सम्बद्ध हैं। युग-युग में इही मूल प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता रहा है। मनुष्य ने अपने अजित पान के आधार पर अनुभव किया है कि गृजन का आनन्द ही मृष्टि का प्रत्यक्ष तत्त्व है। सभी तत्त्व एक ही विगट चेतना के भिन्न भिन्न रूप हैं। सभी पारस्परिक मधुर प्रेमावपण के बोधमूल तनु में आवद्ध हैं। मृष्टि के मूल में ईक्षण गति प्ररणा आवपण और सम्मिलन की मधुरावागा सन्निहित है। यह मृष्टि प्रजात्मा एव पुरुष दाम्पत्य अनुरजन का परिणाम है। इस तरह मृष्टि का सूत्रपात मूल मधुनी है और जगत के समस्त पदार्थों का कारण आधार और रूप आनन्द ही है। यही आनन्द मधुर रस का आस्वाद्य है।

मधुर रस का विषमालम्बन ब्रह्म और आश्रयालम्बन उसकी शक्ति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। हम सभी ईश्वरवादी दार्शनिक सिद्धांत स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्म और उसकी शक्तियों के तात्त्विक-स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर ईश्वरवादी दार्शनिक व क्षत्र में अद्वयवा विविधताएँ गुदाद्वयवा द्वयाद्वयवा द्वयवा अचिन्त्य नानाभेदा सर्वेश्वरवा आदि दार्शनिक मतवादी की स्थापना की गई है तथापि सब प्रसारान्तर में ब्रह्म और उसकी शक्तियों की एकात्मता का अनुमोदन विचार है। ब्रह्मवाचापों में मूल में अन्त का मानने हुए भगवत्प्रीत्य भाविन द्वय की तथा नाम और रूप की उपासना द्वारा भगवान के भावाश्रित रूप की स्थापना की है। प्रेम की अन्तर्गत और आत्मनिवेदनात्मक व श्रमात्मक की दृष्टि में भगवान् का यही भावना विनिर्मित साकार रूप भक्तों का उपास्यत्व है। भक्ति का क्षत्र में राधा-रूप तथा मोक्ष गम की युगलोपासना का यही रस्य है। पुष्टि क्षत्र का यही मूलमंत्र है। भक्तों के लीला-राम का यही मंत्र है।

व्यवसायों के दार्शनिक सिद्धान्तों में व्यष्टि रूप में यद्यपि व्यवस्था विचार विचारित होना है तथापि समष्टि रूप में उनमें मौलिक समानता है। मनु एवमात्र विष्णु भगवान् की आराधना को स्थापन रूप में ग्रहण किया गया है तथा राम और कृष्ण की विष्णु का ही भिन्न रूप माना गया है। स्वयं राधाधायक अन्तर्वा और मायाधायक की अन्तर्वा-विशेषता ईश्वरवादात्मक भक्ति का अनिवार्य अन्तर्गत प्रमाणित बिन्दु मुक्ति पराशरति नाम माहात्म्य

साधारण रूपोपासना एवं स्त्रीला माहात्म्य पर पर्याप्त बल दिया गया है। ये ही सारे तत्त्व सगुणोपासक भक्तों की मधुर रस साधना के प्रारंभ सोन हैं जिनमें सर्वोपरि है स्त्रीला-तत्त्व। बष्णव दशन की अभिनव कल्पना—यह स्त्रीला तत्त्व ही मधुर रस का उत्स है जहाँ स भागवत रस की प्रमोद-वल सुधाधारा युग युग से प्रवाहित होती रहती है। परिष्कृत बष्णव निगुनिया सन्तों ने भी बष्णवाचार्यों का दार्शनिक एवं साधनागत उपयोग उपलब्ध किया म से भक्ति-तत्त्व नाम तत्त्व, पराप्रपत्ति अनन्य प्रमासक्ति आदि तत्त्वा का ग्रहण कर निगण भक्ति का अत्यधिक प्रचार किया है तथा राजा राम की अपना प्रियतम और अपने आपको उसकी प्रियतमा के रूप में कल्पित कर मधुर रस की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है।

साक्ष्य दशन के अनुसार पञ्चम तत्त्वा में पुरुष और प्रकृति ही दो मूल तत्त्व हैं। विषम गुणवाले इन दोनों के भोग से ही सृष्टि की स्थिति है। पुरुष समस्त पदार्थों में विद्यमान रहता हुआ भी अल्पित है किन्तु प्रकृति अपने प्रपञ्च-जाल में पुरुष को नित्य ही फसाने का प्रयत्न करती है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत की स्थिति उसी प्रकार है जस अग्नि की उत्पत्ति सूर्य एवं दण्ड के संयोग से होता है। जिस तरह चुम्बक के समान सूर्य गतिशील हो उठती है वायु के संयोग से समुद्र में तरंग उठने लगती हैं और सूर्य के प्रकाश से वेध भिन्न भिन्न रूपों को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना होती है। साक्ष्य ज्ञान के पुरुष प्रकृति तत्त्ववाचक आधार पर ही मध्यकालीन षड साधना के क्षेत्र में जीवात्मा और परमात्मा गतिमान मान और उसकी गतियों के दाम्पत्य प्रेम-सम्बन्ध का अवतारणा का गई है जो साधना साहित्य के भावात्मक रहस्यवाचक तथा मधुर रस साधना का मुरम्भ सन्धान है।

योग-ज्ञान जीवात्मा परमात्मा के साक्षात्कृत स्थापन की विविध प्रणाली का प्रतिष्ठापक है। षड-चित्तवर्तिया का विरोध करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। सम्पूर्ण योग ज्ञान अन्तर्माधना पर आधारित है। योग साधना से सम्बद्ध समग्र व्यापार काया मन ही सम्पन्न होत हैं। साधक को इन विविध साधना पद्धति में निष्ठा हो जाने के लिए क्रमशः क्रम नियम आसन प्रसाधार ध्यान धारणा और समाधि—याग के इन आठ अंगों की साधना करनी पड़ती है तथा साधक का इनका पूर्णाङ्गन के उपरांत ही सच्चिदानन्द स्वरूप के निर्व्यदग्न होने है और वह जीवात्मा परमात्मा के मध्य नागात्म्य सन्ध के स्थापित करने में समर्थ होता है। मन का लय ही योगियों का विर साध्य है। समा जमाष्ट का निष्ठि के लिए योग के अनेक भेदों का अवतारणा हुई है। मन के रूप का सर्वोत्तम साधन नागानुमधान है। याग ज्ञान में नाग और बिंदु के सम्मिलन का ब्रह्म ही मधुर कथा की गई है। जिस तरह भकर-ज्ञान में मस्त भवरा मध की आर ताजता में नहा उभा प्रकार याग का वागमत्त चित्त नाग में ही रस जाता है। अन्तर्माधना मूलक योगिक प्रविद्याओं में भी जिसान किमी रूप में मधुर रस के स्वरूप का स्पष्टाकरण किया गया है। इस दृष्टि में राजयोग लययोग मन्त्रयोग और हृदययोग का विशेष महत्त्व है। राजयोग का साधना विनियोग के भीतर अन्तर्गत का मानसिक प्रवर्धन है। यह मूल्य मन-साधना में सम्बद्ध है। समा साधक भागमय समार के मध्य रहकर भी उगम निश्चित रहता है। पञ्च ज्ञान और भक्ति के समन्वय के कारण राजयोग में मधुर रस का सन्निवेश अनामस हो जाता है। यौग्य साधन भाव की दृष्टि से याग-साधनाओं में हृदययोग का विशेष महत्त्व है। एक अन्तर्गत तांत्रिक प्रभाव के कारण समा और निगुणा प्राण और प्राण

कुडलिनी शक्ति और सत्ताशिव के मधुर मिलन जोर तजय आनन्द का—महारम्यान की बड़ी ही प्रगल्भ कल्पना की गई है। व्यक्तिगत शरीर में महान् विश्व शक्ति का प्रतीक कुडलिनी शक्ति जब जाग्रत होकर त्रयसा मूलधार स्वाधिष्ठान मणिपूरक अनादत, विगुदाख्या आनाचक्रा का भेदन करती हुई सातवें चक्र सहस्रार में प्रवेश करती है तब वहाँ परमात्म पुरुष शिव व महामिलन की अनेकानेक भाव भूमिया की परिवर्तना द्वारा योगिक मधुर रस-साधना का बड़ा ही व्यापक एवं सरस स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

तत्र अद्वैतवाद का साधना-मार्ग है। कुलाणव तत्र के अनुसार परब्रह्म निष्कल शिव सबन आद्यन्तहीन निर्विकार और सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा जीव और जगत् अग्नि-स्फुलिंग के समान उसी से उद्भूत हैं। ब्रह्म अणी है और जीव अण है। पूणता प्राप्ति व शिष्ट अण रूप जीव का अणी ब्रह्म से तात्त्विक भाव ही मधुर रस का तात्त्विक स्वरूप है। तत्र के सप्त आचारा में कौण्डरि को सर्वप्रथम माना गया है। कुडलिनी शक्ति को कुण्ड तथा परमशिव को अनुण्ड मान कर दोनों का संयोग कराने वाले साधक को ही कौण्ड या कुण्डिन की सत्ता दी गई है। शक्ति की प्रतिक्रियाएँ आचार ही कुलाचार हैं जो पंचमकार द्वारा अनुष्ठित हान हैं। कामाचार में मद्य मांसादि-सवन करने एवं पर-स्त्री के साथ मद्युन करने का विधान है। इसमें पंचविधान द्वारा भरवी चक्रा की साधना की जाती है। इसमें माधव माधिकात्रा व माय मद्यादि-सवन तथा परस्पर मनोरथ सुखों की पूर्ति करते हैं। भरवी चक्रा में मुरापान तथा विभिन्न वर्णों की स्त्रिया की पंचशक्ति के रूप में परिवर्तित करने एवं इनका सवन करने व वारण रहस्यमय तांत्रिक माधुय भाव की अवतारणा की गई है जिससे मधुर रस व तांत्रिक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। बीजाकार मङ्गलचक्र आदि तांत्रिक साधना के गुह्य अनुष्ठानों के प्रमुख अंग हैं जिनमें मधुर रस साधना के तांत्रिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

शिवमत में आगमशास्त्र स्पष्टशास्त्र और श्रम्यभिनशास्त्र की त्रिदशान का गणादा गई है। त्रिदशान का सर्वोपरि अनुष्ठानम नामरम्य है। इससे अनुष्ठान शिव धनय-स्वरूप हान के कारण प्रत्येक पन्था के साथ तात्त्विक स्थापित करके जान कराने है अपनी शक्ति व गाय सतन लीलारत होकर प्रीति जगान है और शक्ति व ऊपर बनी होने व कारण अप्रतिहत इच्छा शक्ति उत्पन्न करन है। कामाग्री शिव-साधना का मधुरापासनापरक उपयोग मायना ही जान कम और भक्ति शिव शक्ति और मोक्ष एवं योग जान और शक्ति व समन्वित रूप में पलविन हुई है जिसमें मधुर रस साधना का मार्ग स्वन मिद्ध हो जाता है। शिव-ज्ञान व अनगन स्पष्टवाद एक नूतन दार्शनिक चिन्तन-मार्ग का परिणाम है। जान व गाय भक्ति तथा ज्ञान व गाय भावना का मधुराहाने ही मधुर रस प्रगति होने लगता है। स्पष्टशास्त्र व प्रीति र की भूमि में ऊपर उठकर स्पष्ट या स्फुरण शक्ति के चक्रा में भूमि पर पहुँचाकर मधुर रस-साधना व स्वरूप का स्पष्ट किया गम के द्वन्द्व पर अनन्तता का स्थापना की गई है। स्वभाव सामाजिक व ऊपर उठकर उभरी विरागता में उभर पुन परिचित व समान है। इसमें ब्रह्म अधिक मात्रा में भाग्य का विभाजन में शिव की शक्ति का स्थापना है। उभरता है। मधुर रस व मद्यान्त्रिक निरूपण का दृष्टि

है। विदु दोनों के सयाग का धातव है। ग्राहण-नत्रा व गिव गक्ति-मम्मिलन के समान ही वज्रयान दान का एव तत्त्व प्रतीपाय व युगनद्ध रूप का सूचक है। इसी एव तत्त्व को वज्रय साधना मे युगन मूर्ति तात्रिव साधना मे यामल और बौद्ध साधना मे युगनद्ध के रूप मे स्वीकार कर मधुर रस की मनोरम उद्भावना की गई है। वज्रयान दान के अन्तर्गत गुरुतत्त्व की मियुनाकारता तथा भाव एव मत्ता पान पारमिता साधन एव ब्राह्ममुख बाधित्वाभिपन्न पचध्यानी बुद्ध और उनका भायाओ की सम्भोग लीला पचमुखा-साधना चतुर्विध आनन्द चतुर्कर्म सिद्धान्त महामुख महाराज पचमकार युगनद्ध तत्त्व बोलवक्त्रो योग महामुख सहज विलास आदि दानिक सत्या की अति सूक्ष्म विवेचना की गई है तथा उनका आधार पर मधुर रस के तात्रिक स्वरूप का सूक्ष्म निरूपण किया गया है।

वज्रयान योग गान के अन्तर्गत वज्रयानी नाडीविनाश चक्रविनाश प्राण साधना आदि व माध्यम से सिद्धाचार्यों व सहज विलास की सूत्रधारिणी तथा बाधित्वाभिपन्न मध्यपथ से उष्णीष कमल मे पहुँचाने वाली तथा महामुख रस पान कराने वाली सहज सुन्दरी भगवती नारात्मा के मधुर भाव विनाश के वणन गारा मधुर रस व साधनात्मक स्वरूप का बड़ा ही उन्नत निरूपण किया गया है।

त्याग एक वराग्य प्रधान जन धर्म-गान मे बीतराग भगवान् के प्रति अनुराग भक्ति का विधान किया गया है। आचार्य जोगी-दु के अनुसार पर मे किया गया राग पाप का कारण है। बीतराग परमात्मा पर नहा अपितु स्व आत्मा हा है। अतएव जिनेन्द्र मे किया गया राग स्व का राग बह्मज्ञान व कारण मो र्णायक माना गया है। तात्रिक प्रभाव के कारण जिन गानन की अधिष्ठात्रा देविपति परिमेविन जिनेन्द्र की उद्भावना के मूत्र मे परम्परागत माधुर्य भाव साधना क्रिया-गिष्टि दृष्टिगत होता है।

सलाम के प्रम प्रवण रहस्यवादा साधका का मूफी कहा गया है तथा उनके दान की 'तम-वक्त्र' का सना दी गयी है। मूफिया के अहम व विधायक कमकाड़ी नदी हैं जिन्हें सामियो मे नवा सन्तान कहा गया है। मूफी साधना के सबस्व मात्तन भाव व जन्मदाता मे नदी ही है जिनके मुरा मवन आदि प्रवत्तात्मक भावनात्रा एव धारणात्रा की रक्षा का सच्चा प्रयत्न मूफी मन का तम-वक्त्र है। तमवक्त्र के अनुसार मान का वास्तविक आधार अल्लाह है। उसकी साव भौम सत्ता और गक्ति धर्मिमात्र है। वह अल्लाह एकमात्र सवगतिमान परमेश्वर ही नहीं है अपितु परम प्रमाप्प और निवित्र सौम्य निधि भी है। मूफी साधक इसी प्रियतम के विपोगी हैं और राग निन उमक ममात्र मुन के गिए गगयिन रहते हैं। व अल्लाह की जगदुर्मा के बजाय उनका जमात्र पर अपन का कुत्रान करत हैं। मूफी तत्त्व चिन्तक सम्पूर्ण दस्य जगत् मे एकमात्र परमात्मा का मत्ता का परिव्याप्त दखना है। वज्रन्यास। गृह्णिया नामक मूफी तत्त्व चिन्तक का नाम है जो क्रमग प्रसिद्ध गगनिक मुहिउशन चन्द्र अरजी और गगन करीमेजीली के तत्त्व चिन्तन मे प्रभावित है। अररा और जारा के तत्व गान मे कहा अन्तर है जो अन्तर गगनराचाय और गगननत्रावत्र के तत्व-गान मे है। पीया के अनमार जान जमात्र जगत् और बलात् मे प्रमाप्प के चार गुण हैं। अल्लाह के अनुष्ण प्रमग मना माधुर्य एवय और अद्भुत—अल्लाह के चार गुण हैं। अल्लाह और गगन वक्त्र और पाना की तरफ तत्त्व एव ही है। इस प्रकार ज्ञानात्मा और परमात्मा के अल्लाह-गगन व गुण मे सना हा मत्ता मे प्रम करता है। वयादि

प्रेमी और प्रियतम के मुपक स्वस्व म एक ही मिथुनाकार आत्मा निवास करती है। निविल सौन्दर्य रमानन्द स्वरूप परमात्मा हा मृष्टि के रूप म अपने आपकी अभिव्यक्त करता है। यह जगत् परमात्मा के अनन्त सौन्दर्य का आगार है। सूफी साधक परमात्मा रूपी परम प्रियतम के रोम रोम में समा जाने के लिए निरन्तर प्रेम की पीर म तड़पते रहते हैं। व सतत परम प्रियतम का प्रेमी बनकर ही रहना चाहते हैं। अपने प्रियतम के प्रेम म लीन होना ही उनका चिर काम्य है। इस प्रकार सूफी दान भाव प्रथा अन्तवाद का प्रतिपादक है तथा इस्लामजाजी द्वारा इस्लामीकी की प्राप्त करने का समर्थक है। सम्पूर्ण सूफी दान प्रमवात् पर आधारित है जो मधुर रस का आधार स्तम्भ है।

सामान्य रूप से मधुर रस का साम्य-तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा का भक्त प्रयत्नी और भगवान् प्रियतम का दाम्पत्य प्रेम परक एकात्म भाव है। यही मधुर रस-भाषना का चिर साम्य है। जीवात्मा और परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक प्रेम सवध के निर्धारण एवं मर्मक स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न युगा म विभिन्न धर्माचार्यों ने जिन अनेकानेक द्रुत अद्वैत आत्म अनात्म-परक दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन सबका मधुर पदवसान प्रेम दान के सावजनीन एवं सावभौम सिद्धान्त के रूप म होता है। प्रम-ज्ञान का यह सिद्धान्त अतन्त्रता के रूप म सभी प्रकार के तत्त्व दानों के अनपत विद्यमान है। सगुण निगुण साधनात्मक एवं भावार्त्मक सभी प्रकार के साधकों ने ब्रह्म एवं उनकी शक्तियों के रागात्मक सवध की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम का ही परम पुरुषार्थ माना है और प्रेम-दान के सिद्धान्त को ही प्रमुख साधन-तत्त्व के रूप म स्वीकार किया है। प्रेम-साधन का यह अनुपम आस्वाद भूवास्वास्वतन्त्र केवल अनिवार्य है जिसे प्राप्त कर प्रेमी-साधक प्रेम को ही दस्ता है प्रेम को ही चुनता है और प्रेम का ही चिन्तन और वर्णन करता है। ईश्वरीय प्रेम गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण बद्धमान अविविच्छिन्न, अनिमूर्त एवं स्वानुभवकाम्य है। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्म को ज्ञानमय समझन बा उसका एक लघु-अंग का ही जान पाने हैं किन्तु उसको प्रेममय समझने बा उसका सम्पूर्ण रूप को ही जानन म समय होता है। प्रेम मूलत आध्यात्मिक है। उसमें तत्सुते सुप्तित्व की प्रधानता है। आनन्द प्रेम का आबत घम है। उदात्त दवी अनुभूति का आधार प्रेम-तत्त्व ही है। प्रेम नित्य आत्मा का आबत घम है। यह आत्मा का रममय अनुभव है। आत्मनस्त्व की शिष्य मनोभूमि पर प्रेम की उदात्त अनुभूति ही साधकों की मधुरापायना का मूल मंत्र है। यही मधुर रस का आबत स्वरूप है, जिसकी मधुर परिणति आत्मा और परमात्मा के दाम्पत्य प्रेम सवध म होती है।

प्रसंग के अनुसार रम दान का प्रथा अनन्त अर्थों म किया गया है। रम के भौतिक और मानसिक दो रूप हैं। भौतिक रूप म रम स्पर्श इन्द्रिय-मुप या स्वाद का दान है तथा मानसिक रूप म वह सूक्ष्म अतीन्द्रिय सारभूत तत्त्व और अतीन्द्रिय आनन्द का आनन्द या आस्वाद का उद्बोधन है। इस प्रकार रम मूलत आनन्द-स्वरूप तथा आस्वाद है। भरत ने रम का नाट्य म सौन्दर्य और सौन्दर्य का विषयक माना है। शनिपदाज्ञा म शनिपदाज्ञा बहुर ब्रह्म का रममय और मधुमय कहा गया है। प्राण के अधिभिर पराजल म ही स्पर्श ज्ञान म मधुर रम का अवतरण होता है। प्राणी म मधुर रम का जा अनुभव होता है वह प्राणी मात्रा या मन म मधुर रसता से ही निगूत है। ब्रह्म विषय म मधुरास्वा पानवाग्य मन जब उदात्त शक्ति म पञ्चर

अपनी आत्मा के अंतर्देश में मधुर रमास्वात् खोजता है तब उसे अपने ही चतय-केन्द्र में मधुर रस का भरा हुआ पात्र प्राप्त हो जाता है। इसी मधुरस-कोष की उपलब्धि भक्ति किंवा मधुर रस का आस्वाद और जीवन का उपनिषद् है।

भारतीय चिंतन के इतिहास में रस की कल्पना अति प्राचीन है। आचार्य ब्रह्मि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सस्कृत साहित्य शास्त्र में रस निष्पत्ति रस का स्वरूप रस की सख्या आदि सम्बद्ध विषया पर गम्भीरता पूर्वक विचार होना रहा है। मानव जीवन के विविध मानव चेतना के विकास और उसके स्वभावा की समुल्लता के अनुरूप नये-नये नवरसेतर रसों की कल्पना भी होती रही है जिनमें भक्ति किंवा मधुर रस विशेष उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण है।

वर्णवाचार्थों में भक्ति का प्रधान रस मानते हुए नाट्य दास्य मध्य कामस्य और मधुर को मुख्य रस तथा हास्य लक्ष्म्य वीर कर्षण गैर भयानक और वीरमत्स को गौण रस माना है। गौडीय वर्णवाचार्थों ने राधाकृष्ण का आलम्बन बनाकर मधुर रस का सावयव निरूपण किया है तथा उसे भक्ति रसरस कहा है। भगवान् के प्रति जावाम्ना अथवा भक्त प्रयत्नी की मधुरा रति ही मधुर रस का स्थायी भाव है जो उभय आनन्दप्रद तथा मित्र सम्भोग है। निविल सौन्दर्य रमान् मूर्ति नित्य रसमय प्रममय और आनन्दमय परमेश्वर ही इसका विषयालम्बन तथा जीवात्मा और भक्त रूपा हरि वर्त्तमान ही इसका आलम्बन हैं। भगवान् और उनकी बाल भावा की नित्य प्रणय लाभा ही प्रत्यक्ष मधुर रस की आत्मा है। रूप गुण-लीला धाम भगवान् के गुण चष्टा चारु चरित्रावली तथा उनकी सोला माधुरी से सबद्ध समग्र विषय इसके उद्दीपन विभाव हैं। स्मित नय गाताम् अनुभाव एवं स्तम्भाति सात्विक अनभाव हैं। निर्वो हर्षादि ततोऽस सचारी भाव हैं। स्त प्रकार युक्त विभावा अनभावो सचारी आति भावा द्वारा सहज गुद स्तहधारा अनुकारिणी भक्ति माहात्म्य बोधका प्रम परिष्कृत सात्विक रति रूप भाव या वृत्ति भगवान् के एवम-बोध के साथ नाना भूमिकाओं में विक्षिप्त होकर जत्र भक्त हृदय में रमास्वात् की स्थिति तत्र पट्टवती है तब भक्ति रसरस मधुर रस की निष्पत्ति होती है। सर्वो परि ममता और प्रीति की प्रगाप्ता से परिपुष्ट अनन्य प्रम भाव तथा तात्काल्य भाव से सबलित करना भाव के माधय से मध वदित उव-वर्त्तमान मधुर रस जब परकीया भाव से अनष्टित होता है तब एवम रमास्वात् में माधय का परावष्टा हो जाती है। वस वर्णव रस-साधना में स्वनाया और परनाया दाना भावा में मधुर रस के अनष्टित होना का विधान है। साधन भक्ति द्वारा चित्त के समापन होना पर जब वृत्ति मुम्हिर हो जाता है तब वह वृत्ति-भाज न रहकर भक्ति बन जाता है। इसी स्थिति में भवन का या साधक का भक्ति किंवा मधुर रस की अनभूति होता है।

जन्म का चित्रण का प्रतिफल बन गया है। स्मृति-प्रतिफल के कारण चित्रण और जन्म जन्त में स्मृति का स्थिति में भा भिन्नता आ जाता है। फलतः जन्मभुग होने के कारण जन्म काला रति का निरूपण शृंगार माना जाता है उमा के चित्रमुर हो जान पर उस सर्वोद्भूत मधुर रस का भान हो जाती है। अनन्व मधुर रस शृंगार रस का भक्ति परव नाम नहीं है अग्नि उमय सबवा भिन्न भाना रसतवाग स्वतन्त्र रस है क्योंकि शृंगार जहाँ कामार्तिन एवं लोभित है वहाँ मधुर रस विगुद रूप से प्रमाथित और अलोभित है। मधुर रस में प्रम भक्ति आनन्द और मोक्ष के परस्पर मदद होना के कारण प्रम की आन्तरिकता का

धरमोन्मत्त हो जाता है। अलौकिक माधुर्य से मन लुकी चानक को परितृप्त करने वाले सबभ्रष्ट मधुर रस का उद्भव बड़ा ही कठिन एवं दुर्लभ है।

वष्णव रस शास्त्र के अन्तर्गत मधुर रस के उभय पक्षा में समीप की अपेक्षा विप्रलम्भ को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि विप्रलम्भ की अवस्था में ही प्रेम पूणता को प्राप्त होना है।

प्राचीन आचार्यों के साथ साथ कतिपय आधुनिक विद्वानों ने भी भक्ति किंवा मधुर रस को स्वतन्त्र रस माने जाने का विरोध किया है तथा उसे देवता विषयक रति मानकर भाव की कोटि में ही परिगणित किया है। एवं शृंगार, गात्र, अद्भुत आदि रसों में ही उसके अन्तर्भाव का प्रयास किया है। किन्तु मधुर किंवा भक्ति रस की निष्पत्ति रस विधायक तत्त्व और आस्वाद्य योग्यता को देखते हुए मधुर रस को स्वतन्त्र रस रूप में स्वीकार नहीं किये जाने का परम्परा भिमान को छोड़कर और कोई दूसरा बौद्धिक आधार नहीं है।

वस्तुतः शान्त शृंगार करुण वीर अद्भुत, भयानक बीभत्स आदि रसों से भक्ति किंवा मधुर रस की सबका पृथक् सत्ता है तथा यह अपनी पापकृता प्रेम भाव की तीव्रता विनिमया शीलता और मधुरता की अतिगम्यता की दृष्टि से सबभ्रष्ट रस है। इसकी इसी विलक्षणता को देखते हुए इसे भक्ति रसरत्न कहा गया है। मधुसूदन सरस्वती के शब्दों में ऐकात्मिक रूप में पूण सुखमय मधुर रस के सामने अन्य रस वसे ही क्षुद्र प्रतीत होने हैं जैसे आन्तरिक समझ लघोत्त। रूप गोस्वामी ने तो मधुर रस के आनन्दवाद के समक्ष समाधिजय ब्रह्मानन्द को परमाणु-न्यून भी नहीं माना है। उन्होंने विराट मधुर रस के निस्सीम पयोधि को अलक्ष अपार एवं दुर्बिगाह्य बतलाकर स्पष्ट स्वीकार किया है कि उन्होंने तट पर खड़े होकर ही इस रसाणव का स्पष्ट मात्र किया है—

अतलवादपाररवादात्तोत्तौ दुर्बिगाह्यताम् ।

स्पष्ट पर तटस्थेन रसाग्निमधुरो भवाम् ॥

कामायनी श्री जयशंकर प्रसाद
रस-वन्धु हरिऔध
वदिक सम्पत्ति प० रघुनन्दन शर्मा गारुनी
प्रिय प्रवास हरिऔध
हृदय प० केदारनाथ गारुनी
गवमत डा० यदुबन्धी
रसवन्ती दिनकर
नवरस डा० गुलाबराय
संस्कृति का दार्शनिक विवेचन डा० देवराज
उपाध्याय
परिपद-पत्रिका (अप्रैल १९६१) — बिहार
राष्ट्रभाषा परिपद
प्रागतिहासिक चित्रण (१९०३ ई०) —
जे जी० फजर
कबीर वचनावली — स० हरिऔध
हिंदी साहित्य कोश
कबीर की विचारधारा — डा० गोविन्द
निगुणायन
हिंदुत्व
भक्तमाल नामादास
अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय
डा० दीनदयाल गुप्त
ब्रजबुल्लि साहित्य रामपूजन तिवारी
गौडीय वष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त
रामपूजन तिवारी
सहजोवाई की बानी
भोलासाहब की बानी
दादूदयाल की बानी
रदास की बानी
पद्मावत जायसी
मुन्दर-दान डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
भारतीय दान प० बन्धुदेव उपाध्याय
कल्याण योगाक
मेघदूत अनु० प० केदारप्रसाद मिश्र
कबीर आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
सर्वांगयोगप्रदीपिका मुन्दरदास
हठयोग प्रदीपिका की टीका रामस्वामी
गोरखवानी स० डा० पी० डी० वड्डव्वा
सतमेन का सरभग सम्प्रदाय
डा० धर्मो ब्रह्मचारी गारुनी
सन्तकवि दरिया एक अनुगीतन —
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
बौद्ध-दर्शन प० बल्लभ उपाध्याय
भागवत सम्प्रदाय
नाथ सम्प्रदाय आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

राममन्त्रि म मधुरोपासना
डा० भुवनेश्वरनाथ माधव
पुरातत्त्व ग्रन्थावली
गंगा पुरातत्त्वक
सिद्ध साहित्य डा० घमवीर भारती
तानिक बौद्ध-साधना और साहित्य
नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
बौद्धधर्म दर्शन आ० नरेन्द्रदेव
सर्वज्ञान सग्रह स० माधवाचार्य
विश्वभारती खंड १ अंक १ (मन्त्र गार्ति
मिश्र का निबन्ध)
पल्लुसाहब की बानी
सत कबीर डा० रामकुमार वर्मा
जन परम्परा का इतिहास मुनिनाथमल
परमात्म प्रकाश योगीदु
सर्वांग सिद्धि आचार्य पूर्यपा
सप्तबुद्ध और सुषोम श्री चम्बली पाण्डेय
मध्यकालीन प्रेम साधना
श्री परगुराम चतुर्वेदी
भगवन् रमिक की बानी
सुधम बोधिनी श्री लाडिलीदास
आधुनिक हिन्दी कविता म प्रेम और सौम्य
डा० रामेश्वरलाल खडेलवाल
बयालोस लीला ध्रुवनाथ
चातक चौनीसी गा० तुलसीदास
हिन्दी काय धारा म प्रेम प्रवाह
श्री परगुराम चतुर्वेदी
उद्भव गतक रत्नाकर
बिहारी सतसई बिहारीनाथ
रस सिद्धांत स्वरूप और विन्यास
डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
हिंदी रसगणधर
जनधर्म
रासपञ्चाध्यायी नन्दास
विज्ञापति की पञ्चावली
कीर्तन सग्रह
रम विमल
काव्यरत्न और अर्थ निबन्ध
श्री जयशंकर प्रसाद
मन्त्र साहित्य का इतिहास
संस्कृत-वैयाकरण शोभार
रममजरी नन्दास
आगेचना (विभाषक) अक्टूबर १९५३
जुगल गतक आ० मद्र
महाकापी हरिव्यास

परमावस्था हा जाता है। अतीव मानुष म मन की चेतना का परिपूर्ण कर्म का प्रवर्धन
मपर रस का उद्भव बहा हा कठिन एवं दुःह है।

यद्यपि इस ग्राहक के अन्तिम मनुष्य रसक समय पर्याप्त में समाप्त का प्रयोग विज्ञान को अधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि विज्ञान का प्रयोग म हा प्रम प्रकाश का प्राप्त होता है।

प्राचीन आचार्यों के साधन-साधन नित्यपुत्र आधुनिक विद्वानों ने भी प्रसिद्ध किया मध्यम रूप का स्वतंत्र रूप माने जान का विरोध किया है, तबन्त स्वतंत्र विषयगत गति मानकर मात्र का चर्चा में ही परिगणित किया है एवं शृंगार, गान अद्वितीय आदि मन्त्रों में ही उमर व्यक्तता का प्रमाण किया है। किन्तु मधुर किंचित भक्ति रस की विस्तारित, स्व-विस्तारित मात्र ही आत्म-साधना को दत्त हुए मधुर रस को स्वतंत्र रूप में स्थापित नया नित्य मान का परम्परा विमान का छोड़कर और कोई दूसरा बोद्धि आधार नया है।

वस्तुतः शान्त 'गुमार, वरुण वार अद्भुत भयानक वायुमय शक्ति रमीं में बहिन शिवा
मयूर रस की सवया पूषक सत्ता है तथा यह अपनी व्यापकता प्रेम नाश का भावना निर्द्वन्द्व
शीलता और मयूरता की अनिगम्यता का दृष्टि स सबषष्ट रस है। बरुणी हृदय शिवायना का
देखत हुए हम भक्ति रसराराज वहाँ गया है। मयूरन सगस्वता कर्त्तों में अद्भुत रस का
पूष मुखमय मयूर रस का सामन जय रस बस हा गुण प्रभाव हृदय में प्रेम शक्ति का भाव
सघात। रूप गोस्वामी ने तो मयूर रस का आनन्दभाव का प्रत्यक्ष अनुभव किया है।
परमाणु-भुम भी नहीं माना है। उन्होंने विगत मयूर रस का निष्पाद दर्शाया है।
एव बुविगाह बतलाकर स्पष्टतः स्वीकार किया है कि वह शक्ति का परम रूप है।
का स्पष्ट मात्र किया है—

अतस्त्वादपारत्वादाप्तो मी बुद्धिः ७२५

स्यद्ध पर तदस्मेन रसाग्नियपूरा ॥



सन्दर्भ ग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत

ऋग्वेद
 ऋग्वेद संहिता
 ऋग्वेदोपनिषद्
 स्वेताश्वतरासंहिता
 भागवतपुराण
 गोविन्दलालामृत
 ब्रह्मवैवर्तपुराण
 बृहद् गौतमीय तन्त्र
 ब्रह्म संहिता
 सम्मोहन तन्त्र
 संहिता साहित्य
 बृहद् कौशल खण्ड
 सत्योपाख्यान
 भगवद्गीता
 गाण्डव्य भक्ति-मूत्र
 नारद भक्ति-मूत्र
 भक्ति रसायन मधुसूदन सरस्वती
 भगवद् भक्तिचिन्ता नारायण तीर्थ
 भक्ति सन्तान रूपगोस्वामी
 हरिमन्त्ररसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी
 उज्ज्वलनीलमणि रूपगोस्वामी
 रसायन-मुद्राचर
 रस-मालिका
 श्रीनि-मन्त्र जीवगोस्वामी
 श्रीमन्नायमुद्रा श्रीगुरुजीव
 शाण्डिल्य संहिता
 पातञ्जल योग-संग्रह
 विष्णुपुराण
 छान्दोग्योपनिषद्
 तत्तिरीयोपनिषद्
 दशो मीमांसा संग्रह
 नारद पांचरात्र
 भक्ति रस रत्नो श्री नारायण भट्ट
 बोधपात्र

मनलुमारतत्र
 बृहद् भागवतामृत सनातन गोस्वामी
 सत्यवत्सल जीव गोस्वामी
 विलास कुसुमाजलि रघुनाथ गोस्वामी
 सिद्धान्त रत्नाजलि हरिव्यास
 श्रीगोविन्दभाष्य बलदेव विद्याभूषण
 हनुमत्संहिता
 स्तोत्ररत्न
 गौतमीय तन्त्र
 भक्तिमीमांसा मूत्र
 त्रिपुरमुन्दरी रहस्य
 बह्मरस्योपनिषद्
 महाभारत व्यास
 अग्निपुराण
 ईशोपनिषद्
 नाटयशास्त्र भरत
 दशरूपक धनञ्जय
 साहित्य-रत्न विद्यानाथ
 मनुस्मृति मनु
 अपवर्ग
 मुद्रामागद
 काममूत्र वात्स्यायन
 निबुपुराण धर्मसंहिता
 कुमारसम्भवम् वाल्मिकि
 ब्रह्मसूत्र
 श्रीधायनस्मृति
 ब्रह्मपुराण
 ब्रह्मोपनिषद्
 यजुर्वेद
 गोप्यमूत्र बरिल
 ब्रह्मसूत्रभाष्य चक्रपाथय
 श्रीभाष्य रामानुजाचार्य
 वेदान्त पाणिनान् मोरम भाष्य निम्बार्कपाथय
 पूर्वाभाष्य मध्वाचार्य

वणु भाष्य बल्माचाय
 तत्त्वत्रय रामानुजाचाय
 वायुपुराण
 दारलोकी निम्बार्काचाय
 वान्त कामधनु निम्बार्काचाय
 जैमिनि-पूर्व मीमांसा सूत्रभाष्य बल्माचाय
 सुबोधिनी बल्माचाय
 तत्त्वदीप निबन्ध बल्माचाय
 पञ्चदशी
 लघुभागवतामृत रूपगोस्वामी
 भगवत्सूक्तम् जीवगोस्वामी
 हंसद्वय रूपगोस्वामी
 पट-सदभ जीवगोस्वामी
 वष्णवतोषिणी सनातन स्वामी
 हरिभक्तिविलास सनातन स्वामी
 सांख्यकारिका ईश्वरकृष्ण
 सांख्य प्रवचन सूत्रभाष्य विज्ञानभिल
 धरक सहिता
 पञ्चानन समुच्चय गुणारत्न
 सिद्धमिदंस्तस्यप्रह
 पतञ्जलि-योगसूत्रभाष्य वेदव्यास
 गोरक्ष पद्धति
 योगनारायणी गङ्गाचाय
 गिवसहिता गिवहर स्टेट वासी श्री सिया
 किंगोरी सहचरी द्वारा प्रकाशित
 हठयोगप्रतीपिका
 आगमसार
 योगरसायनम्
 घेरण्ड सहिता
 कामिनी आगम
 बाराही तन्त्र
 गवागम
 कुलाणव तन्त्र
 भावचूडामणि तन्त्र
 स्वच्छन्द तन्त्र
 चर्चाचय विनिर्वाचय
 ब्रह्माण्ड पुराण
 नीलमत पुराण
 मालनीमाधव भवभूति
 देवी भागवत
 सौन्दर्य लहरी : शंकराचाय
 कपूर मञ्जरी भवभूति
 सेनापति की टाका मञ्जरी
 पातुन मूत्र महेश्वर
 रत्न रत्न बल्मा

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र सामानन्द
 गिवसूत्र वसुगुप्त
 स्पन्दकारिका भट्ट बल्मा
 स्पन्दवति
 स्पन्दनिर्णय क्षेमराज
 स्पन्द सन्तोह
 विवृति रामकाण्ड
 प्रदीपिका उत्पल वष्णव
 शिवदष्टि सामानन्द
 ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका विमर्शिणी
 उत्पलाचाय

तन्त्रसार
 तन्त्रालोक
 परमाय शास्त्र
 कामकला विलास पुष्पानन्द
 शारदातिलक
 दुर्गासप्तशती माकण्डेय
 भुवनेश्वरमुनिपद
 सौमरिय भास्कर
 कौलजा ननिर्णय
 ब्रह्मामल तन्त्र देवी रहस्य
 —स० रामचन्द्र काक और हरमट्ट शास्त्री
 कोलोपनिषद्
 महायान (प्रस्तावना) गति भिक्षु
 सद्धम पुण्डरीक
 महावस्तु
 चतु शतक स्तोत्र
 मन्त्र व्याकरण
 अवतान गतक
 कल्पना मण्डोदिका
 ज्ञानकमाला आयमूर
 निध्यावगन
 ललितविस्तर
 अवतान कल्पलता
 अभिधर्मपिटक
 मूत्रालंकार अतग
 वज्रमूची
 दग मूमोवर
 अष्ट साहसिका प्रजापारमिता
 स० रामचन्द्र काक और हरमट्ट शास्त्री
 सुवर्णप्रभास
 स्थावनामूर म० दास और आचार्य
 गङ्गाधर
 तयागन गुह्य
 बुद्धचरित अवधोष

अथवयसग्रह स० प० हृत्प्रसाद गास्त्री
महायान मूलात्कार अवधोप
मानमयाय नारायण
मूल माध्यमिकवारिका नागाजुन
मूल माध्यमिकवारिका वसति चन्द्रकान्ति
पञ्चम
मानमिद्धि
हृदयनत्र
तत्त्वमग्रह
अथवयसग्रह स० डा० विनयनाथ भट्टाचार्य
त्रिकाकारिका स्थिरमति की टीका
मीचक सम्भारतत्र स० काजीगावा समुप
गुप्त समाजतत्र स० विनयनाथ भट्टाचार्य
प्रगाथाय विनिश्चयसिद्धि अनगवच्य
लीममाज तत्र
यागिनी तत्र
विजय सत्र
मेहनत्र
साधनमाला स० वि० तो० भट्टाचार्य
श्री बालचन्द्रमूर तत्र
श्रील-मूत्र
अमरकाग
विन्दवर्ग
गतपथ ब्राह्मण
बाध्य प्रकाश सम्मट
कोषन
रमयगाधर पंडितराज जगन्नाथ
बाध्य दपण
बाध्याकार आमह

व्यातसार
पञ्जीकरणवातिक सुरबराचा
सरस्वती कठाभरण भाजदव
गीतगोविन्दम् जयदेव
पद्मपुराण
रमनरगिणा भानुसुत
अभिनव भारती भाग—१ अभिनवगण
रमयगाधर चन्द्रिका
भागवत सदम जीवगोस्वामी
भक्ति निणय
ध्वयालोच मानवद्वन्द्व
वाल्मीकि रामायण
अल्कार-कौस्तुभ कणपूर
प्रमभक्ति चन्द्रिका नरोत्तमदास
भक्ति रसमत सिन्धु बिन्दु
माधुय काग्निकता विन्दनाथ कक्वर्नी
राधा मुषानिधि स्वामा हिनहरिका
लाचन रोचनी जीवगोस्वामी
आनन्द चन्द्रिका
उदल नीलमणि निरण विशदनाथ चन्द्रवर्ती
भावाय दीपिका
(भागवत की आधरी टीका)
दुग्धम सयमनी—
जीवगोस्वामी
अधरालात्पत्नीपिका—
मुकुन्दनाथ गोस्वामी
अकिन्-भार प्रगिनी—
विन्दनाथ चन्द्रवर्ती

हरिमति
राममत
मिष्टु की
टीकाए ।

हिंदी

भागवत मन्त्रनाथ—प० ब्रजदेव उपाध्याय
विनमणि—आ० रामचन्द्र गुप्त
मध्यरात्रीन धम गाधना आ० हनाराप्रमा
द्विवर्गी
माहिगियत्र निवधावर्गी स० आ० देवदनाथ
गर्मा
निगण धारा—चन्द्रनाथ विन्दनाथ
चनप मन और वज्र-माहिग (भूमिका)—
आ० हनारीमा विन्दो
रामचरिमानता गम्भवासी तुलसीनाथ
बवार प्रदावर्गी डॉ० स्वामिमुक्तनाथ
रमिदवप प० मुमिनाथ पन्ना
मोग प्रवाह डा पी० डी० बहस्पार
मन्त्रनाथ की बानी

रमयान
मूरमागर
आनसमु मुन्दरदास
मीग की पणवर्गी
कयाग भक्ति विरोपाय
वज्रभाषा बह्मनाथ ममाधुय भक्ति—डा०
रुपनारायण
बिहारीन देव का बानी
गीतबालन कविता एव शृंगार रम का विव
चन डा० राजेवगप्रमाद चतुर्वर्ती
रम-माभांग आ रामचन्द्र
रातिनाथ की भूमिका डा० नेनेन्द्र
प्रतिवा
हिन्दी माग

कामायनी श्री जयशंकर प्रसाद
 रस-कला हरिऔध
 वदिक सम्पत्ति प० रघुनन्दन शर्मा नास्त्री
 प्रिय प्रवास हरिऔध
 हृदया प० केदारनाथ नास्त्री
 शवमत डा० यदुवशी
 रसवन्ती निरकर
 नवरम बा० गुलाबराय
 संस्कृति का दार्शनिक विवेचन डा० देवराज
 उपाध्याय
 परिषद्-पत्रिका (अप्रैल १९६१)—बिहार
 राष्ट्रभाषा परिषद्
 प्रागनिहासिक चित्रण (१९०३ ई०)—
 ज० जी० फजर
 कबीर वचनावली—स० हरिऔध
 हिंदी साहित्य कोश
 कबीर की विचारधारा—ज० गोविन्द
 त्रिगणाथ
 हिन्दुत्व
 भक्तमान नामानस
 अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय
 डा० दीनदयाल गुप्त
 ब्रजबुद्धि साहित्य रामपूजन निवारी
 गौड़ीय ध्वज सम्प्रदाय के दार्शनिक मिडाल
 रामपूजन निवारी
 सहजोबाई की बानी
 भीसासाहब की बानी
 दादूनाथ की बानी
 रत्नस की बानी
 पद्मनाभ जायसी
 मुन्तरनाथ डा० बिलासनाथराय दीप्ति
 भारतीय दर्शन प० बालक उपाध्याय
 कल्याण योगाक्ष
 मधूत अत० प० कावप्रसाद मिश्र
 कबीर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
 सर्वज्ञानप्रकाशिका मुन्तरनाथ
 हृदय प्रकाशिका की टाका रामस्वामी
 गायनवादा स० डा० पी० डी० बडव्या
 सतमत का संरक्षण सम्प्रदाय
 डा० परमेश्वरदास नास्त्री
 मन्त्रविदरिदा एक अन्तर्गत—
 विद्या अभिनन्दन पथ
 बौद्ध-दर्शन प० ब्रह्म उपाध्याय
 भावन मन्त्राय
 नाथ सम्प्रदाय आ हजारीप्रसाद द्विवेदी

रामभक्ति म मधुरोपासना
 डा० भुवनश्वरनाथ माधव
 पुरातत्त्व प्रयावली
 भगवा पुरातत्त्वाव
 सिद्ध साहित्य डा० धर्मवीर भारती
 तान्त्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य
 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
 बौद्धधर्म दर्शन आ० नरेन्द्रदेव
 सवन्तान संग्रह स० माधवाचार्य
 विश्वभारती खंड ५ अंक १ (भारत गान्ति
 भिन्न का निबंध)
 पद्मसाहब की बानी
 सत कबीर डा० रामकुमार वमा
 जन परम्परा का इतिहास मुनिनाथमल
 परमात्म प्रकाश योगीश्वर
 सर्वज्ञ सिद्धि आचार्य पूज्यपाद
 तसवुफ और सूफीमत श्री चन्द्रबली पाण्डेय
 मध्यकालीन प्रेम साधना
 श्री परशुराम चतुर्वेदी
 भगवत रमिक की बानी
 सुधम बोधिना श्री लाडिलीदास
 आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौं य
 डा० रामश्वरनाथ लालबाबू
 बयागीस लीला ध्रुवदास
 चातक चौतीसी गाँ तुम्हीनाम
 हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह
 श्री परशुराम चतुर्वेदी
 उदय गतक रत्नानर
 बिहारी सतसई बिहारीनाथ
 रम मिडाल स्वरूप और विस्तारण
 डा० आनन्दप्रसाद दीप्ति
 हिन्दी रसगंगाधर
 जनधर्म
 रामपञ्चाध्यायी नन्दास
 त्रिचापनि की पञ्चावली
 कीर्तन संग्रह
 रम विमल
 कान्यका और अर्थ निबंध
 श्री जयशंकर प्रसाद
 मन्त्र साहित्य का अभिनन्दन
 मठ कान्यका पाठ्य
 रममन्त्रा नन्दास
 आनन्दना (विशेष) अक्टूबर १९५३
 जुगल गतक श्री भद्र
 महावानी हरिव्यास

ध्यानमजरी अग्रदास
शृंगार रम सागर अग्रनाम
श्री सुदन्मणि मन्त्र
माधुर्य कलि कादम्बिनी मधुराचार्य
मिदात मुक्तावली श्री रसिकअली
रससारधय कृपानिवास
रस साहिता रामचरणदाम
शृंगार रम रहस्य जुगलप्रिया
नवरस बाबू गुलाबराय
राधावल्लभसम्प्रदाय मिदात और साहित्य
डा० विजयेन्द्र स्नातक

हितहरिवंश स्वामी सम्प्रदाय और साहित्य
गोस्वामी ललितचरण
सोलहवी गानो क हिंदी और बंगाली के वणव
कवि डा० रत्नकुमारी
राम भक्ति म रसिक सम्प्रदाय
डा० भगवतीप्रसाद सिंह
चतुर्थमत और व्रज-साहित्य प्रभुत्याज मानल
हिन्दी मूपा कवि और काव्य
डा० सरला गुल
निम्बाक माधुरी ब्रह्मचारी बिहारीचरण

अंग्रेजी

- Hindu Psychology Akhilanand
Expression of Emotions Charles Darwin
The Mansions of Philosophy William Durant
Psychological Studies of Rasas Dr Rakesh Gupta
Plato
Edison
Bradley
Psychological Analysis of Rasas Dr Rakesh Gupta
Theory of Rasa and Dhvani Dr A Shankaran
Instinct of Man James Dreyer
Elements of Psychology Mellove and Drummond
Psychology R S Woodworth
Science of Emotions Dr Bhagwan Das
Psychology William James
An outline of Psychology William Mc Dougall
Love's Philosophy William Shell y
Character of Emotions A F Shand
Origins of Love and Hate Jan D Suttie
Studies in the Psychology of Sex Havelock Ellis (Vol I II)
Introduction to Social Psychology William Mc. Dougall
Introduction to Psychology of Religion Thouless
Introductory Lectures on Psychoanalysis —Freud
Basic writings of Sigmend Freud
The Ego and Id Freud
- The Future of an Illusion Freud
Modern Man in Search of Soul C G Yung
The Psychology of Sex Oswald Schwarz
Religious Consciousness William Pratte
The Varieties of Religions Experiences William James
The Psychology of Religion W B Selbie
Psychology and Religion Forsyth
Introduction to the Psychology of Religion Thouless
Study of Religion Morris Jastro
Psychology & Religious que t R B Cattell
Religion and new Psychology Swisher
A short History of Sex worship H Cutner
Marriage and Morality Bertrand Russel
Psycho-analytic Method Freud
Interpretation of Dreams Freud
The Comparative Study of Religions Alban W Wdgery
Studies in Tantras P C Bagachi I & II
Serpent Power Arther A Avalon
An Introduction to the Buddhist Asoterism Dr Binoytosh Bhattacharya
The Occallating Universe Ernest J Opik
The Mahavansham edited by Dr Gaybhanger

कामायनी श्री जयशंकर प्रसाद
 रम-म-म हुरिओष
 यत्कि सग्याति १० रघु-म-म कामा दाम्नी
 प्रिय प्रवास हुरिओष
 हृदया १० के-म-म दाम्नी
 रावमन डा० यदु-म-म
 रगवन्ती निरर
 नवरम या० गुलाबराय
 ससृति का नागिक विवेका डा० देवराज
 उपाध्याय
 परिपद-म-म (अप्रत १६६१) — बिहार
 राष्ट्रभाषा परिषद्
 प्रागतिहासिक चित्रण (१६०३ ई०) —
 जे० जी० फजर
 कबीर वचनावली — स० हुरिओष
 हिन्दी साहित्य का
 कबीर की विचारधारा — ग० गोविन्द
 त्रिगुणायन
 हिन्दुत्व
 भक्तभाऊ नामाग्रास
 अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
 डा० दीनदयाल गुप्त
 अजयु-म-म साहित्य रामपूजन निवारी
 गोडीय वणव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त
 रामपूजन निवारी
 सहजोबाई की बानी
 भीखासाहब की बानी
 दादूदयाल की बानी
 रदास की बानी
 पद्मावत जामसी
 मुन्दर-म-म डा तिलोकीनारायण दीक्षित
 भारतीय दान १० बलदेव उपाध्याय
 कल्याण योगाङ्क
 मेघदूत अनु० १ के-म-म प्रसाद मिश्र
 कबीर आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
 सर्वांगयोगप्रदीपिका मुन्दरदास
 हठयोग प्रदीपिका की टीका रामस्वामी
 गोरखबानी स० डा० पी० डी० बडवाल
 सतमत का सरभग सम्प्रदाय
 डा० धर्म-म-म ब्रह्मचारी गारुडी
 सतकवि दरिया एक अनगी-म-म —
 द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
 बौद्ध दान १० यल्लेव उपाध्याय
 भागवत सम्प्रदाय
 नाथ सम्प्रदाय आ हजारीप्रसाद द्विवेदी

रामभक्ति म मधुगेताना
 डा० भुवनेश्वरनाथ माधव
 गुणाङ्क वपावली
 मगा गुणाङ्क
 मित्र मात्रिय डा० कमवीर भारती
 नागिक बौद्ध-म-म और साहित्य
 नाग-म-म उपाध्याय
 बौद्धधर्म दर्शन आ० नर-म-म
 मव-म-म मवह ग० माधवाय
 विरवभारती सङ्ग ५ अङ्क १ (मन्त्र नागि
 भिन्न का निबन्ध)
 पद्मगात्र की बानी
 सन कबीर डा० रामगुप्त वमा
 अन परम्परा का स्तिहास मुनिनाथमल
 परमात्म प्रसाद योगोदु
 सर्वांग मित्र आषाढ पूज्यपा
 तमग्य और मूर्खमन श्री क-म-मली पाण्डव
 मध्यकालीन प्रेम साधना
 श्री परगुराम चतुर्वेदी
 भगवत रमिर की बानी
 सुधम बोधिनी श्री साहित्यमल
 बाधुनिक हिन्दी कविता म प्रेम और सौम्य
 डा० रामचरणलाल गडलवाल
 ब्यालीस लीला ध्रुवनाथ
 चातक बोतीसी गा तुलसीदास
 हिन्दी काय पारा म प्रेम प्रवाह
 श्री परगुराम चतुर्वेदी
 उद्व-म-म रत्नाकर
 बिहारी सतसई बिहारीलाल
 रस सिद्धान्त स्वरूप और विरूपण
 डा आनन्दप्रसाद दीक्षित
 हिन्दी रसमगाधर
 जनधम
 रासपचाध्यायी नन्ददास
 विद्यापति की पनावली
 कीर्तन सग्रह
 रस विमल
 कायनला और अय निबन्ध
 श्री जयशंकर प्रसाद
 मस्कृत साहित्य का इतिहास
 सेठ क-म-म आठ पोद्दार
 रसमजरी नन्ददास
 आठोचना (विनोपाङ्क) अक्टूबर १६५३
 जुगल-म-म श्री भद्र
 महावाणी हरियास

ध्यानमजरी अग्रदास
शृंगाररससागर अग्रदास
श्री सुन्दरमणि सदाशिव
माधुर्य कलि कान्तिनी मधुराचाय
मिठात मुक्तावली श्री रसिकअली
रसमारग्रय कृपाविवास
रसतालिका रामचरणदास
शृंगाररस रहस्य जुगप्रिया
नवरस बाबू गुलाबराय
राधावल्लभ मन्त्रप्रदाय मिठात और माहित्य
डा० विजयेन्द्र स्नानक

हिन्दुविष्णुस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य
गोस्वामी ललिताचरण
सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली के बणव
कवि डा० रत्नकुमारी
राम भक्ति मे रसिक-सम्प्रदाय
डा० भगवतीप्रसाद सिंह
चतुर्थमत और वज्र-साहित्य प्रभुन्याल मीतल
हिन्दी सूफी कवि और काव्य
डा० सरला गुजर
निम्बाक माधुरी ब्रह्मचारी बिहारीचरण

अंग्रेजी

Hindu Psychology Akhilanand
Expression of Emotions Charles
Darwin
The Mansions of Philosophy
William Durant
Psychological Studies of Rasas
Dr Rakesh Gupta
Plato
Edison
Bradley
Psychological Analysis of Rasas
Dr Rakesh Gupta
Theory of Rasa and Dhvani
Dr A Shankaran
Instinct of Man James Drever
Elements of Psychology Mellove
and Drummond
Psychology R S Woodworth
Science of Emotions Dr Bhagwan
Das
Psychology William James
An outline of Psychology William
Mc Dougall
Love's Philosophy William Shelly
Character of Emotions A F Shand
Origins of Love and Hate Jan D
Suttie
Studies in the Psychology of Sex
Havelock Ellis (Vol I II)
Introduction to Social Psychology
William Mc Dougall
Introduction to Psychology of Reli
gion Thouless
Introductory Lectures on Psycho
Analysis —Freud
Basic writings of Sigmend Freud
The Ego and Id Freud

The Future of an Illusion Freud
Modern Man in Search of Soul
C G Yung
The Psychology of Sex Oswald
S hwarz
Religions Consciousness William
Pratte
The Varieties of Religions Experi
ences William James
The Psychology of Religion W B
Selbie
Psychology and Religion Forsyth
Introduction to the Psychology of
Religion Thouless
Study of Religion Morris Jastro
Psychology & Religious que t R B
Cattel
Religion and new Psychology
Swisher
A short History of Sex worship
H Cutner
Marriage and Morality Bertrand
Russel

eli
gions Alban G W W dgers
Studies in Tantras P C Bagachi
I & II
Surgent Power Arther A Avalon
An Introduction to the Budhist
Asoterism Dr Binoytosh
Bhattacharya
The Occillating Universe Ernest J
Opik
The Mahavansham edited by Dr
Gaybhanger

- Vishva Bharati quarterly I New Series Khatimohan S n
- Indian Philosophy Dr S Radha krishnan
- A History of Indian Literature Winternitz I & II
- Outlines of Mahayan Buddhism D T Suzuki
- A History of Indian Philosophy Surendra Nath Gupta Vol I
- Obscure Religions Cults Dr Shashi Bhushan Das Gupta
- Indian Historical quarterly March 1933 Notes on the Guhya Samaj and the ag of the Tantras Winternitz
- Mystic Tales of Lama Taranath Bhupendra Nath Datta
- Manual of Indian Buddhism H Kar
- Journal of Asiatic Society of Bengal 1998 Sam Vol I & II
- An Introduction to Tantric Buddhism Das Gupta
- To Vajrayan Works Dr Binoytosh Bhattacharya
- The Mystic Significance of Evam M M Gopinath Kaviraj
- G N Jha Research Institute Journal Vol II Part I 1944 Chinese Translation of Hevajratantra Tokyo
- Journal Asiatic Research Society of Bengal 1899 Vol I Part II Yoganaddh th Tantra mode of life Herbert V Gunther
- A History of Indian Philosophy Surendranath Das Gupta Vol II
- Journal of the Asiatic Society of Bengal No 14 Feb 1893 (Not s on the origin of the Kal chakra and Adi Buddha System by Alex D Kerot)
- Encyclopedia of Islam
- Studies in Islamic Mysticism
- New International Dictionary of English Literature - Webster
- Human affection and Divine Love Swami Abh danand
- Psychology of Sex Havelock Ellis Vol V
- Heart of Rama Swami Ram Tirth
- Sadhana Ravindra Nath Tagore
- Among the great (1950) Dilip Kumar Roy
- Phaedrus Plato
- Studies in a Dying culture Christopher Caudwell
- Symposium Plato
- Vaishnava Faiths and Movement S K De
- The Number of Rasas Raghavan

अन्य साप्ताहिक के ग्रन्थ

- चनय चरितामून (बंगला) कृष्णनाथ बविराज
- गीताजि (बंगला) रवीन्द्रनाथ ठाकुर
- महिम निशाय बुद्ध
- बौद्धान ओ दोहा (अपभ्रंश)
- दोहाकोश स० प्रयागचन्द्र शायवी
- कथायत्पु
- चर्यापद (अपभ्रंश)
- मिलदि पहो
- धम्मप
- तजमानुल कुरआन तफ्सीर मून फातवा मोराना अबुलफाज आझा
- कृषि निरवल्कर तामिलव (अजमेर)
- चर्यापद पत्रावली
- बगीच माहिल्य सम्मन्त्र का २१वां अधिवेशन १९३८ (बंगला)
- पञ्चतन्त्र (बंगला)
- जीवन आणि माहिल्य गिराराम पन् (मराठी)
- रस विमर्श (मराठी) डा० वाटवे
- मराठी साहित्यातील मधरा भक्ति श्री प्रह्लाद नरहर जोशी

